

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

जलभेद तथा पञ्चपद्यानि ग्रन्थ कब कहा और किसके लिए लिखे गये इसका विवरण कहीं मिलना नहीं है

जलभेदमे भगवत्कथाके वक्ताके उत्तम मध्यम तथा कनिष्ठ स्वरूप निर्धारित किये गये हैं, तथा पञ्चपद्यानिमे श्रोतारके उत्तम मध्यम और कनिष्ठ स्वरूप निर्धारित किये गये हैं यद्यपि भागवतके प्रथम स्कन्धका भी वर्ण्य-विषय यही है फिरभी सर्वांशमे दोना ग्रन्थ प्रथम स्कन्धका ही अनुसरण करते हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता है

भागवतके प्रथम स्कन्धमे स्वयम् भागवतके वक्ता तथा श्रोता के उत्तम-मध्यम-कनिष्ठ अधिकारोंका निरूपण किया गया है जबकि इन जलभेद और पञ्चपद्यानि मे भागवतोक्त धर्म शरणागति तथा निर्गुणा भक्ति के अगभूत, भगवान्के स्वरूप गुण एवम् लीलाओं के श्रवण-स्मरण-कीर्तनार्थ अपेक्षित, वक्ताआ तथा श्रोताओं के उत्तम मध्यम-कनिष्ठ अधिकारका विवेचन किया गया है यहा भागवतपुराणके प्रवचन या श्रवण का प्रश्न नहीं है अनितु भागवतानुसारी भगवान्के स्वरूप गुण एवम् लीलाओं के श्रवण-स्मरण-कीर्तनके एक व्यापक सन्दर्भमे ही श्रीमहाप्रभुने जलभेद तथा पञ्चपद्यानि ग्रन्थका उपदेश दिया है अतएव भागवतके लिए श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं—

यदोपनिषद ज्ञान श्रीभागवतमेव वा ।

वर्णिनामेव तद्धि स्वात्स्नीशूद्राणा ततोऽन्यथा ॥

(भाग नि ३।१७८)

अर्थ ओपनिषद तथा श्रीभागवतके ज्ञान का अधिकार उपनयन सस्कारवाले द्विजोंका ही होता है—अनुपनीत स्त्री या शूद्रों का नहीं

आजबल चल निकली चन्दा एकत्रित करनेके लिए होती भागवत सप्ताहकी हास्यास्पद रीतिते विपरीत भागवतके प्रवचन और श्रवण के कुछ गम्भीर नियम श्रीमहाप्रभु स्वोकार्ते हैं अतएव आज्ञा करते हैं कि 'भागवत प्रसंगो न यथाकथञ्चिद् यत्तनुञ्चिद् कर्तव्यं किन्तु महान्तश्चेद बहव' शुद्धास्तीर्भनिरता प्रार्थयन्तस्तदैव प्रसंग कर्तव्य एतादृशोपि श्रोतरि न सहसा भागवत वक्तव्य किन्तु तद्दृढदयमवगाह्यैव रीतिरिष्य सदा' (भाग. नि १।२२-२५) अर्थ जैसे मनमे आये वैसे, जहा मनमे आजाये वही, भागवतका प्रसंग छेड नहीं देना चाहिये किन्तु अनेक महापुरुष तीर्थयागनिरत शुद्ध श्रोताआ द्वारा प्रायना किये जानेपर ही भागवतका प्रसंग छेडना चाहिये फिर ऐसीके सम्मुख भी सहसा नहीं—पहले श्रोताकी हादिक उत्कण्ठा एवम् जिज्ञासुता को अच्छी तरह पहचान कर ही प्रसंग छेडना चाहिय आदि—प्रवचनकर्ताआकी यही रीति थी और आज भी तथा सर्वदा यही रीति हमें निभानी चाहिये श्रीपुरुषात्तमजी कहते हैं कि इसके विपरीत जब अनधिकारी लोग यशोलिप्ता, धनलिप्ता

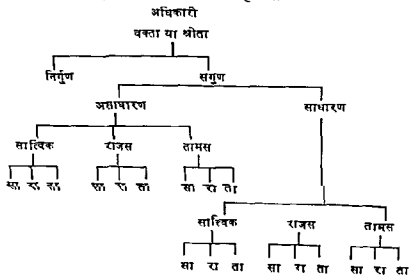
या स्पर्धा के बशीभूत होकर स्वयम्को भागवतप्रवचनके योग्य अधिकारी मान बैठते हैं और यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रवचन करने लग जाते हैं ही भागवतके प्रवचन पाठन या पठन का अधिकार तो दूर भागवतीवत धर्म पालनके अधिकारी भी वे रह नहीं जाते हैं— “ये पुनरेतानि वाक्यान्या-श्रित्य स्वस्यापि पाठाधिकारभाषादयन्ति तेषा मात्सर्गादिदोषप्राप्तेन श्रीभागवतधर्मेष्वन्यत्रधि-कार किं पुन पाठे .. नतु श्रावणीय वा विष्यभावात्’ (भाष्यप्रका १।३।३८)

यहां जलभेद और पञ्चपयानि में किन्तु जिस वक्ता या श्रोताको आदर्श माना गया है उसका उपनीत या द्विज होना अनिवार्य नहीं है क्योंकि इस वक्ताका वेदादि शास्त्रोंका प्रवचनकर्ता होना भी आवश्यक नहीं है वेदादि शास्त्रोंसे अविरोध भगवत्स्वरूप-गुण-लीलाके निर्व्यजि अहंनिश चिन्तनमें सप्रेम तत्पर होना ही यहां पर्याप्त है भागवतमें आता है कि

तद्वाग्विसर्गो जनतायविप्लवो
यस्मिन्प्रतिश्लोकमवद्ववत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यथाकितानि य—
च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधव ॥

अपे भक्तोंके मुखसे नि सत वाणी, लौकिक भाषामें गाये गये गीत-पद अथवा सस्कृत भाषामें गाये गये गीतगोविन्द जैसे कान्य, प्राणिमात्रके सभी पापोंको नष्ट कर देते हैं यह सम्भव है कि इनमें छन्द व्याकरणकी दृष्टिसे कुछ भुटिया हो अथवा गानेकी प्रक्रियामें भगव-प्रायके अक्षरोंका तानकर गान करनेमें परस्पर सहभाव टूट जाता हो पर अनन्तकीर्ति भयवानके पद्योक्ति अनन्त नाम भक्तिमान् वक्ताओंके मुखसे सुने जानेपर या भक्तिमान् श्रोताओंके सम्मुख गाये जानेपर अथवा स्वयम् भी एकाकितया लिये जानेपर सारे कर्मयोंको दूर कर देते हैं (सुवो १।५।११)

अतएव भागवतमें वक्ता और श्रोता के उग्रीस भेद माने गये हैं यथा



इस वर्गीकरणमें निर्गुण अधिकारी उत्तम माना गया है असाधारण अधिकारीके सात्त्विक-सात्त्विक राजस-सात्त्विक आदि नौ भेद होने हैं, ये मध्यम अधिकारी हैं, इसी तरह साधारण अधिकारीके भी पूर्वोक्त रीतिके अनुसार नौ भेद होते हैं और इन्हें कनिष्ठ माना जाता है यह उत्तम-मध्यम-कनिष्ठ कक्षा भक्ति वंराग्य तथा द्विविध ज्ञान (अनुभवपर्यवसायी अर्थज्ञान तथा अनुभवविहीन केवल शाब्दिक ज्ञान) की चारों कसोटीपर खरे उतरनेवाले को उत्तम, अनुभवपर्यवसायी अर्थज्ञान तथा भक्ति रहनेपर भी वंराग्यरहित होनेपर मध्यम; तथा वंराग्यरहित केवल शाब्दिक ज्ञान एवम् भक्तिवाले अधिकारीकी कनिष्ठ कक्षा मानी जाती है

तदनुसार ही जलके भेद भी सुबोधनीमें उन्नीस ही माने गये हैं, जहा श्रीमहाप्रभु यह विवेचन करते हैं कि "उन्नीस भेद होनेपर भी बहुता हुआ जल और स्थिर जल ये दो मुख्य भेद हैं" (द. सुबो १०।३।३) जबकि यहा जल और वक्नुभाव दोनोंके बीस भेद स्वीकारे गये हैं इससे भी यही सिद्ध होता है कि प्रथम स्कन्धमें निर्धारित अधिकारभेद केवल भागवतके सन्दर्भमें ही विवक्षित है जबकि यहा भगवत्स्वरूप भगवद्गुण या भगवद्दलीला का भागवतानुसारी या भागवत-अविरोधी होना अनिवार्य होनेसे, वक्ताका भी भागवतानुसारी या भागवत-अविरोधी होना अनिवार्य है, परन्तु एतावता प्रत्येक वक्ताका भागवतपुराणपर प्रवचनकारी होना आवश्यक नहीं है यहा तो पुष्टिमागीय श्रोताको भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन कैसे वक्ताके सत्संग द्वारा सम्पन्न करना चाहिये यही विवक्षित सन्दर्भ है अतएव श्रोताके भी उन्नीस भेद न दिखलाकर केवल तीन या चार भेद ही दिखलाये गये हैं अतएव उन्नीस और बीस के भेदको विवक्षाप्रयुक्त मानना चाहिये

फलत पुराणप्रवचनकी अनिवार्य शर्तें उपनयन-संस्कार या द्विजत्व अथवा पुरुष होना भी यहा अनिवार्य नहीं लगता है, परन्तु इसके सिवा अन्य गुण जो भागवतके वक्ताकी उत्तम-ताके परिचायक हैं यथा उसका स्वसम्प्रदायकी परम्पराके अनुसार सत्पुरुषके मुखसे भगवद्दलीला एवम् सिद्धान्त का श्रवण किये हुए होना, स्वयम् धनोपार्जनके हेतु भगवत्कथामें प्रवृत्त न होना एवम् ज्ञान-भक्ति-वंराग्य-सम्पन्न होना आदि, उन्हें इस सन्दर्भमें भी आवश्यक माना जा सकता है— "वक्ताधिकारी सर्वज्ञ सम्प्रदायेन सन्मुखात् श्रुतभागवतो भवती...." (भाग नि १।२३).

जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि, श्रीमहाप्रभुके अनुसार, चित्तका श्रीकृष्णमें तन्मय हो जाना है इसके दो साधन दिखलाये गये—

- १) तदाश्रय— प्रपत्ति
- २) तक्षीयता— भक्ति

विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थमें तदाश्रयके उपायरूप विवेक धैर्य एवम् अतन्व्याश्रय का निरूपण किया गया है इसी तरह तक्षीयताके उपायरूप आत्मनिवेदन सर्वसमर्पण, सर्वभावसे तनुचित्तजा सेवा, भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन आदिका सिद्धान्तरहस्य नवरत्न चतुस्लीकी

सिद्धान्तमुस्तावनी तथा भक्तिवर्धिनी में निरूपण किया गया है-

भक्तिवर्धिनीमें भक्तिके बीजभावको दृढ़ करनेका उपाय, यदि व्यक्ति अव्यावृत्त हो तो, स्वग्रहमें स्ववर्णाश्रमाचारको निर्माते हुए भगवत्सेवा-कथा-मय जीवनयापन करना माना गया है। व्यक्तिके व्यावृत्त होनेके कारण यदि भगवत्सेवाका निर्वाह शक्य न हो तो उसे भगवत्कथाके श्रवण-स्मरण कीर्तनमें तत्पर रहना चाहिये, बीजभावको दृढ़ करने के लिए। बीजभावके दृढ़ होनेपर गृहत्यागकी प्रेरणा भी दी गयी है। गृहत्यागकी शक्यता न हो तो भगवत्सेवा-कथा-परायण भगवदीयो द्वारा की जाती भगवत्सेवामें परिवारक-सहायक बननेका और अथवा भगवत्कथा (जब वे करते हो)में श्रवणार्थ सम्मिलित होनेका विधान भी किया गया है। इस तरह अनेकविध उपायोंसे बीजभावसे लेकर प्रेम आसक्ति व्यसन सर्वात्मभाव या अलौकिक सामर्थ्य तक के विकसतकी रूपरेखा दिखलायी गयी है

इन सभी विकल्प ओर अनुकल्प द्वारा भक्तिमार्गमें भगवत्कथाकी असाधारण महत्ता एवम् उपादेयता स्पष्ट होती है भगवत्कथामें वक्ताकी अपेक्षा रहती है श्रवणार्थ, तथा श्रोताकी अपेक्षा रहती है कीर्तनार्थ. स्मरण स्वतः भी सम्भव है परन्तु फिरभी किसी समानशील भगवदीयकी सतसगतिमें भगवत्स्मरणका एक अलग ही रूप निखरता है इसमें संदेह नहीं।

कुल मिलाकर श्रोता एवम् वक्ता दोनोंको भगवत्कथाके श्रवणार्थ एवम् कीर्तनार्थ परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा रहती ही है-ऐसी स्थितिमें योग्य वक्ता तथा योग्य श्रोता के ब्रह्मत्वमें न केवल भगवत्कथामें रसाभास होनेकी अपितु बीजभावके भी दृढ़ होनेके बजाय सङ्घटित होनेकी सम्भावना रहती है अतएव जलमेदमें योग्य वक्ताका स्वरूप श्रोताके श्रवणार्थके रूपमें समझाया गया है तथा पञ्चपद्यानिमें योग्य श्रोताका स्वरूप वक्ताके कीर्तनार्थके रूपमें समझाया गया है

नित्याभिधानदीप श्रीहरिके सर्वतापहारी एवम् सर्वसुखकारी गुण भी वक्ताओंके हृदयके भावधानमें भरे होनेपर कुछ न कुछ भिन्न रूप धारण कर लेते हैं जैसे जल स्वतः शीतल तत्र कुछ अभ्यक्तमधुर सर्वतोद्यक एवम् तापशामक होनेपर भी जिस आधारभूमिमें (उदाहरण-तथा रूप-तलाव-नदी-समुद्र-सरना-नाला-गड्ढे आदिमें) भरा हुआ होता है वहाने गुणधर्मोंति गुप्त हो जाता है, वैसे ही

तेसिरीय संहिताक सातवें काण्डमें जलके बीज रूप श्रुतिमें गिनाये गये हैं यथा (१) सूप (२) नहर (३) घंठकी नाली (४) नदीके जलमें बना गड्ढा (५) गड्ढे नाले या मोरी के जलमें बना गड्ढा (६) नदीके जलसे बने बड़े तालाव (७) पीने लायक पानीवाले बड़े तालाव (८) मुन्दर मरोत्रादि पुष्पवाले बड़े सरोवर (९) छोटे तालाव (१०) एकवहल तालाव (११) वर्षाका जल (१२) स्नेहजल-यसोना (१३) जलप्रपात-सरना (१४) ओसके जलविन्दु (१५) सरसानी नदी-नालो जैसा अस्तिपर प्रवाहवाला जल (१६) बारहमासी नदियोंका स्तिपर-गर्भदा समान रूपमें अनेकाना जल (१७) निरन्तर उद्गमवाली ऐसी नदिगा जिनका जल वर्षा या घोषमें वरुण या पट्टा ही (१८) समुद्रमें मिलनेवाली महानदिगा (१९)

समुद्र (२०) अन्य भी इनमें से भरे गये अथवा गिरे हुए जल

स्वभावात् एकरूप भी जल अपने इन आधारोंके गुण-धर्मोंके अनुरूप अनेकरूपता प्रकट करता है. इसी तरह भगवान्के एकरूप गुण भी भगवत्कथाके वक्ताकी योग्यता एवम् भावोंके अनुरूप अनेकरूपता धारण कर लेते हैं. यथा:

(१) भगवद्-गुणोका स्वर-ताल-लयाश्रित गान करनेवाले विश्रुत गन्धर्वोंके जैसे लोग कुएकी तरह होते हैं कुछ कुए मीठे जलके होते हैं तो कुछ खारे जलके कुछ पवित्र शास्त्रीय माहात्म्यवाले होते हैं यथा न्यग्रोध वृक्षसे उत्तरकी दिशामें स्थित रूप अथवा द्वारकाका दामोदररूप या प्रजका गोपकूप कुछ कुए अपवित्र-मलिन जलवाले होते हैं ऐसे ही सभी भेद गायकोंमें भी होते हैं कुछ गायक स्वर तालके अग्ररूपेण भगवद्-वर्णनात्मक शब्दोंका योजन करते हैं, तो कुछ गायक भगवद्-वर्णनात्मक शब्दोंके अग्ररूपेण स्वर तालका योजन करते हैं. प्रथम प्रकारके गायकोंको खारे जलवाले कुएकी तरह समझना चाहिये और दूसरे प्रकारके गायकोंको मीठे जलके कुएकी तरह गहरे कुएका जल ठडीमें गरम और गरमी ठडा लगता है. इसी तरह भावगान्भिर्भवाले गायकों द्वारा किया गया भगवद् गुणगान सांसारिक तापसे तप्त श्रोताको आध्यात्मिक-आधिदैविक शीतलता प्रदान करता है, और सांसारिक मोहसे जडीभूत-ठिठुरते हृदयको भगवद्-भावकी कुछ उष्मा भी इन गायकों द्वारा किये गये भगवद्-गुणगानसे मिल सकती है

(२) पौराणिक - पुराणकथा सुनानेवाले नहरकी तरह होते हैं नहरका जल अपना-स्वयम्कानही होता किन्तु किसी नदी या सरोवर से जुड़ा हुआ होता है. इसी तरह पुराणकथा सुनानेवाले वक्ताका भाव स्वयम् उसका न होकर केवल पुराणकथा करते समय कथावेशसे प्रमुक्त होता है अतएव अश्रुपात कण्ठावरोध या उल्लास केवल कथाकालमें ही प्रकट होते हैं सर्वदा नहीं

(३) अपने कुटुम्बपोषण धन या यश की कामनासे जो कथा करते हैं वे खतको जल पहुचानेवाली नालियोंकी तरह होते हैं खेतकी नालीके जलका मुख्य प्रयोजन धान्योत्पादन है उसी तरह इन वक्ताओंकी भगवत्कथाका भी मुख्य प्रयोजन मसार बढ़ाना ही होता है अत वही फल श्रोताको भी मिलता है

(४) वेश्या या स्वरिणी स्त्रियोंके घिरे, दूत और मद्यपान आदि व्यसनोसे प्रमत्त वक्ता नदीके जलसे बने गन्दे जलके गड्ढेकी तरह होते हैं इन्हें घेदम 'प्रदर' कहा गया है तथा इनका आचमन भी निषिद्ध माना गया है

(५) भगवान्के गुणगानको आजीविका बनाकर उदर या कुटुम्ब का पोषण करनेवाले गायक या पौराणिकोंके भाव, धरकी गन्दी मोरियोंसे निकलनेवाला मलिन जल पारो और फल न जाये इसके लिए जो गड्ढे खोदे जाते हैं उनमें भरे हुए जल जैसा अपवित्र होता है जैसे उस गन्दे जलका स्पर्श अशुचिकर होता है वैसे ही भगवद्गुणगानको आजीविका बनानेवालाका प्रवचन भी

(६) नदियोंके जलसे जैसे कहीं जलाशय बनाया जाता है या कभी नैसर्गिक रूपसे स्वयमेव भी बन जाता है इसी तरह गीता भागवत पाञ्चरात्रादि भगवद् शास्त्रोंके निरन्तर अभ्यासमें व्यक्तिके हृदय और बुद्धि में भगवद्-भावका एक विशाल जलाशयसा भर जाता है बड़े जलाशयका जल न तो धूपके कारण सूख सकता है और न उसे भँस जैंगे पशु मलिन हो बना सकते हैं ठीक इसी तरह इन शास्त्राभ्यासियाका भाव न तो सांसारिक तापोंसे नष्ट होता है और न कुर्तक या असम्भावना-विपरीतभावना से मलिन ही.

(७) स्वयम् निरन्तर शास्त्राभ्यास करना एक बात है और श्रोतान्ते सन्देशोंको निवारण कर पानेका सामर्थ्य दूसरी बात है अतः सन्देश निवारक वक्ता मानो पीने लायक पानीवाले बड़े जलाशयकी तरह होते हैं ऐसे स्वच्छ निर्मल जलाशय कि जिनमें न नो पक और न शैवाल हो पैदा होते हो

(८) स्वयम् भगवद्-शास्त्रोंका निरन्तर अभ्यास तथा दूसरोंके सन्देशोंको भी निवारण करनेकी क्षमता होनेपर भी कभी-कभी वक्तामें स्वयम् भक्ति-भाव नहीं होता. परन्तु वह भी यदि प्रकट हो जाये तो ऐसे वक्ताको सुन्दर सरोजवाले रम्य सरोवरकी तरह समझना चाहिये

(९) कुछ वक्ताओंमें भगवत्प्रेम होता है पर वे स्वयम् अल्पश्रुत होते हैं ऐसे वक्ताओंकी छाट तालावोंकी तरह समझना चाहिये, जो स्वयम् स्वच्छ जलवाले होनेपर भी भँस जैसे पशुओं द्वारा मलिन बनाये जा सकते हैं, अल्प जलराशियोंके कारण ही ऐसे ही अल्पश्रुतताके कारण इनके भाव कुतर्कोंसे दूषित हो सकते हैं.

(१०) जिन वक्ताओंमें स्वयम् न तो शास्त्रोप विषयोंका भ्रवण भलीभाँति किसी सद्गुरुके मुखसे किया हो और न भगवद् भक्ति ही जिनमें पर्याप्त हो, फिर भी जिनकी निष्काम धर्मावस्था-वर्मानुष्ठानमें निष्ठा दृढ़ हो, ऐसाको यदि भगवत्प्रिया-प्रवचन करनेकी वृत्ति जगे तो इनके भाव भी छोटे तलावकी तरह ही समझना चाहिये छोटे तलावका जल शीघ्र ही सूख भी जाता है और शीघ्र मलिन भी हो सकता है

(११) जिन व्यक्तियोंका मन योगध्यान आदिकी प्रक्रियामें लगा हुआ हो, उनके भाव स्वतः ता निर्मल हो सकते हैं, परन्तु श्रोताओंसे घिरने ही इनके भावोंमें परिवर्तन आने लगता है योगी साधनाका निवारण एकान्तमें आता है अतः जनतामें घिरे रहनेकी वृत्ति-वाला योगीकी समुची योगसाधना निष्कन चली जाती है अतएव इनका भाव वर्षाजलकी तरह हाता है जो स्वयम् स्वच्छ होनेपर भी जहाँ गिरा वहाँके गुणधर्म शीघ्रतया स्वीकार लेता है.

(१२) जबल तपो ज्ञान-वेदाभ्यासिकी साधनामें निरत व्यक्ति जब भगवत्कृपाका प्रवचन करने हुए मिलें तो उनके भावको स्वेदजलकी तरह समझना चाहिये. स्वेदजल-पत्तीना त्रिग आता है वर उनके परिश्रमका ता घातक होता है, परन्तु दूसरेके वक्ता यह नहीं होता इसी तरह व्यक्तिको तपस्वर्षा या भक्तिहीन शुद्ध ज्ञानवेदाभ्यास-साधना स्वयम् व्यक्तिके द्वारा लिए हुए आध्यात्मिक परिश्रमकी घातक तो होती है, परन्तु अन्य श्रोताओंके लिये

तो व्यर्थ हो !

(१३) पर्वतनरसे गिरते जलप्रपात-झरने का जल, निर्मल शीतल मयूर सतत तथा श्रवण दर्शन स्पर्शन स्नान आचमन पान आदिमें मनोहारी तापहारी एवम् सुखकारी लगता है. इसी तरह भगवत्कृपाके कारण अथवा महान् भगवदीयोकी कृपाके कारण, जिन्हें स्वयम् श्रीहरिके दिव्य मयूर गुणोंका अलौकिक ज्ञान प्राप्त हो गया हो तो ऐसे वक्ताओंके मुखसे भगवद्-गुणगान सुनना किसी मनोहारी झरनेके सामने पहुँच जानेकी तरह एक सुखद प्रसंग होता है. यह सर्वत्र-सर्वदा सुलभ नहीं होता. जैसे झरनेके सामने पहुँचनेसे पहले, कुछ दूरीपर से ही उस जलप्रपातकी ध्वनिसे उसके अस्तित्वका बोध हो जाता है. इसी तरह इन भगवदीयोके पद-ग्रन्थ आदि रूपमें शब्दोंके श्रवणमात्रसे ही इनकी अलौकिक अनुभूतिका निर्णय हो जाता है.

(१४) सकाम उपासनाके अंगभूत श्रोत्र या पौराणिक, वरुण इन्द्र दुर्गा गणपति भैरव नवग्रह आदि, देवताओंके उपासक यदि श्रीकृष्णकी कथा करते हैं तो उनके भावोंको ओसके बिन्दुओंकी तरह समझना चाहिये. ओसके जलबिन्दु जिस स्थानपर गिरते हैं वहाँ उभरे हुए दिखलायी पड़ते हैं. पर वह वास्तविकता नहीं होती. इसी तरह अन्यदेवोपासक वक्ताके मुखसे श्रीकृष्णकथा अन्यदेवोंकी उपासनाभूमिपर श्रीकृष्ण द्वारा गिराये गये ओसके क्षुद्र बिन्दुओंकी तरह होती है. ओसकी जैसे केवल देखने भरकी शोभा होती है, इसी तरह इस कृष्णकथाकी केवल श्रवणमात्रकी ही शोभा होती है. स्नान-पानमें ओसके जलबिन्दु अनुपयोगी होने हैं और थोड़ी सी धूप निकलते ही ओझल हो जाते हैं इसी तरह इनके भाव भी श्रोताके लिए उद्योगी नहीं होते. कथाकालमें ही केवल प्रकट होकर पश्चात् वे ओझल हो जाते हैं.

(१५) वर्णाश्रमधर्मको निभाते हुए श्रीकृष्णकी नवधा भक्तिमें तत्पर वक्ताओंमें यदा-कदा प्रेमावेशके कारण भगवदीय धर्मोंका स्फुरण होता रहता है, इनके भावको बरसाती नदीके प्रवाहकी तरह समझना चाहिये.

(१६) कुछ नदिया बारहमासी होती हैं. इनमें न तो पूर आता है और न इनका जल घटता है. इसी तरह भगवत्कथामें न जिन्हें प्रेमावेशका पूर आता हो और न उनकी छवि ही कभी क्षीण होती हो ऐसे मर््यादापार्थीय वक्ताओंके भाव स्थिर प्रवाहवाली नदीके तुल्य होते हैं.

(१७) कुछ नदियोंके उद्गमस्थलपर निरन्तर पानी उभरता रहता है. अतः इनका प्रवाह कभी रुकता नहीं, पर वर्षा-भातपके कारण इनके जलस्तरमें निरन्तर वृद्धि-ह्रास होता रहता है. इसी तरह जिन वक्ताओंका भाव उनके आसपासके व्यक्तियोंकी सगतिके कारण कभी वृद्धिगत होता हो और कभी क्षीण होना रहता हो परन्तु भावप्रवाह कभी अवरुद्ध न होता हो, तो ऐसीका भाव अनेक जन्मोंसे चली आ रही भावसाधनाके कारण निरन्तर उद्गम-वाली नदीके समान होता है.

(१८) कुछ महानदिया समुद्रगामिनी होती हैं जो ऋतुबद्धमें अप्रभावित रहती हैं. इनमें पूर आता है पर जल कभी कम नहीं होता. जिन वक्ताओंके भाव संगदोषसे अप्रभावित रहते

है उन्हें समुद्रगामिनी महानदियोंके तुल्य समझना चाहिये.

(१९) समुद्रोके अनेक भेद शास्त्रोंमें वर्णित हैं. यथा (क) क्षारोद (ख) इक्षुरोद (ग) सुरोद (घ) घृतोद (ङ) क्षीरोद (च) दधिमण्डोद (छ) शुद्धोदया अमृतोद. ये सब अगाध एवम् वृद्धि-क्षयरहित होते हैं इसी तरह, लौकिक गुणोंके मिश्रण, वैदिक गुणोंके मिश्रण तथा लोकावेदमिथित गुणोंके मिश्रण से, भगवद्गुणोंके वर्णन करनेवाले समुद्रोपम वस्तुओंके भाव भी अनेकविध होते हैं.

(क) श्रीराम या श्रीकृष्ण को साक्षात् परमेश्वर न मानकर केवल महापुरुष अर्थात् महान् मनुष्य माननेवाले वक्ताओंके भाव क्षारोद समुद्रके जलकी तरह खारे होते हैं. इनमें भक्तकी तृप्ता मिट नहीं सकती. भगवदवतारोंके चरित्रकी मानवीय व्याख्या करनेवाले वक्ताओंका भाव भक्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे खारा अरुचिकर तथा तृप्ता-अनिवर्तक होता है

(ख) परमात्माको अप्राकृत गुणधर्मोंसे युक्त माननेपर भी अवतारोंको प्राकृत गुण-धर्म-युक्त माननेवाले वक्ताओंका भाव इक्षुरोदके तुल्य होता है गन्ना चूषनेपर प्रारम्भमें मधुर लगता है किन्तु अन्तमें विरस हो जाता है.

(ग) स्वयम् मोहवश अथवा मोहप्रवर्तनकी भगवदाज्ञाके वशीभूत होकर जो भगवान्के गुणोंको मायिक मानते हैं तथा ब्रह्मको निर्गुण निराकार निधमक मानते हैं, उनको भगवत्कथाका श्रवण सुरोदके आचमनकी तरह होना है. सुरोद जैसे स्वस्न-विस्मृति आदि अनेक प्रमादप्रकट होने हैं, वैसे ही प्रह्लाको अथवा भगवदवतारोंको निर्गुण अथवा मायिक गुणोंवाला माननेवालोंके उपदेश सुननेसे भी अनेकविध मोह उत्पन्न हो जाते हैं. बहुधा ऐसे वक्ता स्वयम् परम भगवदीय होते हैं-अगाध समुद्र जैसे, पर उपदेश इनके भक्तिमार्गी-विरोधी होते हैं जैसे परम भागवत श्रीमहादेवको भगवदाज्ञावश मायावादका प्रवर्तन करना पडा.

(घ) भगवान्के दयालुता आदि गुणोंपर जो भार देते हुए भगवत्कथा करते हैं उनसे भगवद् गुणगान सुनना घृतोद समुद्रके आचमनकी तरह भक्तिबल को बढ़ानेवाला होता है

(ङ) श्रोत्रिके सर्वज्ञ सर्वज्ञविमान् सर्वदुःखहर्ता आदि गुणोंपर भार देते हुए जो भगवत्कथा करते हैं उनसे भगवद्-गुणगान सुनना क्षीरोदके आचमनकी तरह होता है यह स्वादिष्ट-शक्तिवर्धक और पवित्र होना है.

(च) केवल वैदिक मर्यादाओंकी स्थापनाके सोमित प्रयोजनको प्रस्तुत कर जो वक्ता भगवदवतारचरित्रोंकी व्याख्या करते हैं उनके भाव दधिमण्डोदकी तरह होते हैं. दधिमण्ड-मठा गुणगण्य तथा स्वादिष्ट होनेपर भी भक्तोंके निकल जानेसे सारहीन होता है वैसे ही भक्तोंकी स्वरूपानुभवोंके द्वारा परमानन्दका दान, जो अवतारका मुख्य प्रयोजन है, इनकी भगवद्-गुणगानकी रीतिसे वारण कथामें से बाहर निकल जाता है फलत इन्की कथा सारहीन ही जाती है.

(छ) शुद्धोद समुद्रको ही श्रीमहाप्रभु 'अमृतोद' भी कहते हैं. श्वेतदीपके घृतदिक:

परिखा-खाइके रूपमें भरे हुए 'अर' और 'प्य' नामक समुद्रोका वर्णन वाराह पुराणमें भी उपलब्ध होता है— "अरजामामृतान्मोधिः प्यनामामृतमागर" ऐसे ही छान्दोग्योपनिषद्में भी "अरश्च वै प्यश्च अणवो ब्रह्मालोके .. तदंरमदीय सरः" कहा गया है इनसे प्रतीत होता है कि 'सुद्धोद' और 'अमृतोद' पर्यायवाची हैं.

सनत्कुमारोको उपदेश देनेवाले सकापर्ण शेष, अपने आत्मज मुकको भागवत पढ़ानेवाले भगवद्-ज्ञानावतार महर्षि वादरायण व्यास, अग्निपुराणके वक्ता अग्नि, वायुपुराणके वक्ता मास्रत या हनुमान भी, रहूगण राजाको ज्ञानोपदेश करनेवाले अवधूत जडभरत, अनेकपा भक्तिशास्त्रोके उपदेशक नारद, सनत्कुमारके शिष्य तथा विदुरके गुह मैत्रेय; और भी ऐसे पूर्ण भगवदीयोके उपदेशश्रवणको अमृतोदके पानके तुल्य समझना चाहिये.

जलभेदके इस अंशपर एक स्वतंत्र लेख लिखनेवाले श्रीश भट्टके अनुसार इन उल्लिखित भक्तोको परम्पराकी घरोहरको सम्हालनेके लिए प्रकट हुए शेषावतार श्रीरामानुजाचार्य, व्यासावतार श्रीविष्णुस्वामी, अग्निके अवतार महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य, वायुके अवतार श्रीमध्वाचार्य, जडभरतके अवतार श्रीरामानन्द, नारदके अवतार श्रीचैतन्य, सनकके अवतार श्रीनिम्बार्काचार्य आदि मुख्य चार वैष्णव सम्प्रदाय तथा अवशिष्ट उपसम्प्रदायोके आचार्य या भवर्णके उपदेश भी अमृतोदके तुल्य मानने चाहिये स्वयम् श्रीमहाप्रभुने भी मुख्य चारो भक्तिसम्प्रदायोका भगवत्प्रवर्तित होना तृतीय स्कन्धकी सुबोधनीमें स्वीकारा है— "एवम् चतुर्विधोपि भगवता प्रतिपादित" वह कर. अत इस श्रीश भट्टकी व्याख्यारीतिमें कोई विप्रतिपत्ति दिखलायी नहीं देती है

प्राकृत या मायिक गुणोंसे रहित श्रीविष्णुके सभी अप्राकृत-दिव्य-शुद्ध सच्चिदानन्दरूप गुणोंके वर्णन-स्मरण कीर्तन करनेवाले ये विचक्षण वक्ता अमृतोद सिन्धुके समान है इनके वचनामृत का पान वस्तुतः जीवनकी सुदुर्लभ उपलब्धि है इनमे से कुछ पुष्टिभक्तिमार्गीय और कुछ मर्षादामार्गीय है पर सभी अमृतोद सिन्धुन समान हैं

विष्णुदूतोंके वचन जैसे अजामिलके कानोमे पड़े तो उसकी कृति मति और भावना सभीमे चमत्कारिक परिवर्तन आगया. इसी तरह अकस्मान् भी इन अमृतोदके तुल्य वक्ता-आके एकाद वचन अमृतके बिन्दुपानके समान होनेसे तृप्तिप्रद न भी हा पर निश्चयेन मुक्त-प्रद तो होते ही हैं और जब इनके वचनामृतोंके सतत श्रवणसे राग अज्ञान काम क्रोध आदि मनोविकार दूर हो जाते हैं तो वह अमृतके बिन्दुपानकी तरह नहीं किन्तु लेहनकी तरह समझना चाहिये अमृतोदके अमृतका ऐसा लेहन कि जिसमे परमानन्दकी अभिव्यक्ति हो जाती है श्रोता वृत्तार्थ हो जाता है !

(२०) इनके अलावा अन्य जो वक्ता या उनके भाव होते हैं उन्हें इन्ही कूप आदि उन्नोस जलस्यानोमें से भरे गये अथवा गिर गये जलकी तरह समझना चाहिये तदनुसार उनसे कथा श्रवण करनेके फलका भी यथायथ स्वरूप विचार लेना चाहिये.

इस तरह विष्णुके एकरूप गुण तत्तद् जीवोंकी वागिन्द्रिय-बाणीपर कैसे अनेकरूप धारण

कर लेते हैं, और कैसे फल उनसे मिलते हैं आदि बातोंका निरूपण सम्पूर्ण हुआ.

पञ्चपद्यानिमें व्यक्त श्रोताका स्वरूप

वक्ताके अधिकार और स्वरूप तथा तदनुसार उनके मुखसे श्रवण-कीर्तनके फलके निरूपणके बाद अब श्रोताके अधिकार तथा स्वरूप का निरूपण श्रीमहाप्रभु पञ्चपद्यानिमें करते हैं.

भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन भगवत्स्वरूपसेवाके साथ-साथ सेवाके अनवसरमें चलता रहे तो वह भगवत्सेनेहके पूर्वोत्तर दल (संयोग एवम् विप्रयोग) दोनोंमें भक्तिके पूर्ण आविर्भावका उपाय बनता है, परन्तु किसी व्यक्तिको भगवत्स्वरूपसेवाकी सुविधा आजीवन सम्भव नहीं हो पाती. ऐसी स्थितिमें केवल भगवत्कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनकी प्रणालीसे भी प्रेम-आसक्ति-व्यसन-सर्वात्मभाव या अलौकिकरामय्य आदिके क्रमिक सोपानोंपर भक्तिका आरोहण शक्य बन जाता है.

तदनुसार सेवाके साथ-साथ जो कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनका भी उचित निर्वाह कर पाते हैं वे उत्तम श्रोता होने हैं. अथवा सेवाके अनुकूलनके रूपमें जो भगवत्कथाका निरन्तर समाश्रयण करते हैं वे मध्यम प्रकारके श्रोता होते हैं. जो यदा-कदा श्रवण कर पाते हैं वे निम्न प्रकारके श्रोता होते हैं. यह एक दृष्टि श्रोताके उत्तम-मध्यम-निम्न प्रकारोंको निर्धारित करनेकी दिखलायी देती है.

दूसरी दृष्टि यह है कि शुद्धपुष्टि पुष्टिपुष्टि मर्यादापुष्टि तथा प्रवाहपुष्टिके अधिकारिभेदके अनुसार श्रोताकी त्रिविध कक्षायें निर्धारित की जायें. शुद्धपुष्टि या पुष्टिपुष्टि आदि अधिकारोकी पहचान पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें— "पुष्ट्या विमिथा. सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रिया-रताः . " में दी गयी है.

तीसरी दृष्टि, श्रोताके उत्तम-मध्यम-कनिष्ठ अधिकारकी, वक्ताके ज्ञान-भक्ति-वैराग्य गुणोंके अनुरूप (१) जिज्ञासुता-श्रवणोत्सुकता (२) शक्ति तथा (३) इनर साधनोंके दुराग्रहपूर्ण अनुष्ठान या अभिमान का अभाव, तज्जन्म क्षुद्र फलमें अनासक्ति, इस तरह तीनों गुण जित श्रोतामें मिलते हैं वह उत्तम, दो मिलते हैं वह मध्यम, तथा नितो एकाद गुणका विद्यमान होना उसके निम्न अधिकारका सूचक होता है.

चतुर्थ दृष्टि— पुष्टिमार्गीय उत्तम, मर्यादामार्गीय मध्यम, तथा प्रवाहमार्गीय या चषण्णो श्रोताको भेद माननेकी— उचित होनेपर भी यहाँ अप्रासंगिक लगती है. क्योंकि पुष्टिमार्गीय जीवोंके लिए ही श्रीमहाप्रभुने षोडशग्रन्थका प्रणयन किया है अतः जिन जीवोंका प्रपुष्टि-मार्गीय होना निश्चित हो उन्हें पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त या भगवल्लीला का उपदेश ही श्रीमहाप्रभुके अनुसार अनुगोदनीय नहीं है. जलभेदमें भी जो मर्यादामार्गीय लक्षणका स्वरूप दिखलाया गया है वह उन वक्ताओंके पुष्टिमार्गीय उपदेशको जाना न रखनेके लिए ही है क्योंकि वस्तुवचनमें अधिक सावधानी अपेक्षित है, अतः जलभेद जितना विस्तार पञ्चपद्यानिमें अपेक्षित नहीं है.

पाँचवीं दृष्टिके अनुसार, जैसे सास्त्रार्थ प्रकरणके अन्तिम भागमें भगवत्सेवा करनेवालोंके

त्रिविध अधिकार दिखलाये हैं— उन्हें मगवत्कृपावे श्रवणाधिकारका भी उपलक्षण माने तो यह असंगत नहीं होगा यथा :

जिज्ञासुता— श्रवणोत्सुकता दो तरहकी हो सकती है (१) प्रमाण (शास्त्र) तथा प्रमेय (भगवान्के स्वरूप गुणधर्म एवम् सीला) दोनोंके बारेमें, अथवा (२) इन प्रमाण या प्रमेय में से किसी एकके बारेमें, इसे केवल 'शब्दनिष्ठा' तथा 'अर्थनिष्ठा' भी कहा जा सकता है

इसी तरह कथारतिके भी दो भेद सम्भव हैं (१) सामान्य रुचि, और (२) उत्कट रति. इनके परस्पर मिश्रणमें अनेक प्रकारके विकल्प बन सकते हैं. यथा .

(१) कथाश्रवणकी उत्कट रति एवम् कथाने उभयपक्ष—छन्द (प्रमाण) पक्ष और अर्थ (प्रमेय) पक्ष—में जिज्ञासुता-श्रवणोत्सुकता रखनेवाले उत्तमाधिकारी ज्ञानी-भक्त जैसे माने जाने चाहिये.

(२) कथाश्रवणमें उत्कट रति न होनेपर भी उसमें सामान्य रुचि रखनेवाले तथा कथाके उभय पक्षोंमें से शब्द पक्षपर भार देनेवाले शब्दनिष्ठ जिज्ञासु प्रेमके अभावके कारण मध्यमाधिकारी ज्ञानी जैसे माने जाने चाहिये

(३) कथाश्रवणमें रति रखनेवाले तथा कथाके शाब्दिक प्रमाणपक्षके बारेमें श्रवणोत्सुक न होनेपर भी अर्थ (प्रमेय)पक्षके बारेमें जिन्हें तीव्र जिज्ञासा हो ऐसे अर्थनिष्ठ श्रवणोत्सुकोंको ज्ञानाभावके कारण मध्यमाधिकारी भक्त मानना चाहिये.

(४) जिन्हें न तो उत्कट रति और न अर्थनिष्ठा (कथाके अर्थ-प्रमेय भगवान्के स्वरूप गुण या लीलाके बारेमें श्रवणोत्सुकता) ही तीव्र हो ऐसे सामान्य रुचिवाले-ज्ञान-प्रेम-उभय रहित श्रोताको कनिष्ठ निम्न या अधम कोटीका मानना चाहिये

(दृष्टव्य शा नि "एव सर्वं तत् सर्वं स इति ज्ञानयोगत यः सेवते हर्षि प्रेम्णा श्रवणा दिभिर्हृत्तम. प्रेमाभावे मध्यम स्यात् ज्ञानाभावे तथादिम उभयोरप्यभावे" कारि. स १०१-२)

छठी दृष्टि यह भी सम्भव है कि आरम्भके मुख्य-मध्यम-अधम श्रवणाधिकार, क्रमशः 'रसविक्षिप्तमानस', 'रसविकल्पमानस' तथा कदाचित् रमावेगसे 'रसावेशविकल्पमानस' विशेषणोंके द्वारा, भक्तिमार्गीय श्रवणाधिकारके रूपमें विवक्षित है पाचवें अन्तिम श्लोकमें वर्णित 'अनन्यमानस' विशेषणद्वारा अन्याश्रय रहित प्रपत्तिमार्गीय श्रवणाधिकार विवक्षित है पुष्टिमक्तको इस भूतलपर मिलती परमफलकी अनुभूति अलौकिक-सामर्थ्य या तन्तुनवरवका लाभ प्रपत्तिमार्गीय अधिकारीको नहीं मिलता. पर विद्यमान देहके पातके बाद उन्हें सायुज्य-भोक्त मिल सकता है. अतएव देह-काष्ठ द्रव्य कर्ता-मन्त्र-कर्मादिके अन्याश्रयके त्यागके कारण इन अधिकारियोंमें उत्तम होनेपर भी, विद्यमान देहादिते भूतलपर परम फलकी अनुभूतिसे वञ्चित होनेके कारण, इन्हें 'मर्त्य' कहा गया है. व्योकी श्रीकृष्ण-सायुज्यका लाभ इन्हे मृत्युके पश्चात् ही होता है पञ्चभक्तानिके प्रथम चार श्लोकोंमें वर्णित अधिकारियोंको 'मर्त्य' नहीं कहा इसमें उनका भक्तिमार्गीय होना ध्वनित होता है

सर्व. निबन्धमें— “सर्वव्यागेऽन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसे सामुज्य कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवम् फलम्” कारिकाके प्रकाशमें—“एव देहपातनपर्यन्तं कृष्णैकमानसस्य सामुज्यं शीघ्रमेव भवति कायवाग्बिनियोगामावेपि स्वस्नेहाभावेपि मनोमानस्यती फलमेतद्” कहकर प्रपत्तिमार्गीय श्लोकके ‘अनन्दमानस’ होनेपर उसे उत्तमाधिकारी माना है.

इन विभिन्न दृष्टीकोणोंसे श्रवणाधिकारका विचार करनेपर पञ्चपर्यायिके पाच पद्योंमें भिन्न-भिन्न कक्षाके पाच अधिकारियोंकी चर्चा है — मुख्याधिकारी एकविध है और अमुख्याधिकारी त्रिविध यो कुल चार प्रकारके अधिकारियोंकी चर्चा है — ‘मुख्य’ तथा ‘उत्तम’ को पर्यायवाची शब्द मानकर तथा उपक्रम और उपसंहार में एक ही अधिकारियोंको विवक्षित मानकर कुल त्रिविध अधिकारियोंकी चर्चा है — इनमें से द्वयमित्यतया किसी एक व्याख्या-रीतिका समर्थन जरा कठिन काम है. फिर श्री मुख्य और अमुख्य तथा भक्ति और प्रपत्ति के भेदको लक्ष्यमें रखकर आरम्भके प्रथम श्लोकमें मुख्य भक्तिमार्गीय श्रोताका निरूपण तथा अवशिष्ट चार श्लोकोंमें भक्तिमार्गीय त्रिविध अमुरुप श्रोता तथा एक प्रपत्तिमार्गीय श्रोता का वर्णन है ऐसा सोचनेमें कोई असंगति सामने नहीं आती है. क्योंकि जो बात श्री महाप्रभु कह रहे हैं पाच श्लोकोंमें वह इस तरह है.

(क) दशम स्कन्धके सातवें अध्यायकी “यद्वृष्णवतोपेत्यरतिवितृष्णा सत्त्व च शुद्धत्यपि रेण पुन. भक्तिर्हृदी तत्पुरुषे च सख्य तदेव हार वद मन्यसे चेत्” कारिकाकी सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने भगवत्कथाके पाच परिणाम गिनाये हैं

- (१) भगवत्-चरित्रमें अरतिकी निवृत्ति
- (२) भक्तिका प्राकटभ
- (३) सांसारिक तृष्णाकी निवृत्ति
- (४) सत्त्व-अन्त करणकी शुद्धि
- (५) भगवदीयोंके सत्सगरूप सख्यकी वृद्धि

ये पाच परिणाम जिस श्रोतामें प्रकट होने जा रहे हों उसे भगवत्कथाके श्रवणका मुख्याधि-कारी मानना चाहिये. अतएव श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि भक्तिरसके आलम्बन-विभावरूप श्रीकृष्णके नामात्मक स्वरूपकी कथाश्रवण—कालमें वाह्यानुभूति तथा भक्तिरसके स्थायि-भावरूप (माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुद्द सर्वतोधिक स्नेह) रसकी आन्तर अनुभूतिके चक्रके तीव्रवेगमें चल पड़नेके कारण जिनका मानस विशिष्ट साहो जाता है, उनके लिए भगवत्कथा दुस्त्वत्र हो जाती है अर्थात् वे चाहें या न चाहें उनकी वाणी और कर्णेंद्रिय निरन्तर भगवत्कथा करते रहने और सुनते रहनेके व्यसनवाली हो जाती है

ऐम कृष्णरसविशिष्टमानस श्रोताओंकी भगवत्चरित्रम स अरति निवृत्त हो जाती है अत उन्हें ‘अरतिवज्रिता’ कहा जाता है.

इनका चित्त न तो लौकिक विषयोंकी ओर आकृष्ट होता है और न वैदिक मोक्षादि फलाणी ओर ही. सामान्य विषयोंमें तृष्णाबन्धनके दूट जानेमें उन्हें इन विषयोंमें निवृत्ति

अर्थात् सुख-सन्तोषकी अनुभूति नहीं होती.

भगवत्कृपाकी प्रणालीसे इनके सत्व-अन्तःकरणकी शुद्धि हुई होनेसे केवल ज्ञानी या विरक्तों की तरह वैदिक कल स्वयं-मोक्ष-अपवर्गकी कामना भी इनके मनमें रह नहीं जाती. अतः इन्हे वेदमें भी अनिर्वृत्ति हो जाती है.

ऐसे श्रोता भगवत्लीलाके श्रवणकी उत्सुकताके कारण निरन्तर भगवदीयोंका सम्प या ससंग खोजते रहते हैं.

निरोधकी सिद्धिके कारण इन्हे भक्तिमार्गीय मुख्य श्रवणाधिकारी समझना चाहिये.

(ख) कुछ श्रोताओंका मन श्रीकृष्णभवितके रससे इतना आर्द्र-विलस्य हो पाता है कि कथाश्रवणकी बेलामे ये भगवत्स्मृतिसे विह्वल हो जाते हैं. भगवत्कृपाके शाब्दिक प्रमाणपद-में इनकी रुचि तीव्र नहीं होती. परन्तु अर्थनिष्ठा-कथाके प्रेमय अर्थात् भगवत्स्वरूप-गुणधर्म-लीलाके श्रवणमें इनकी निष्ठा बड़ी प्रबल होनी है, इसी अर्थनिष्ठाके कारण इनमें ज्ञानकी लालसा कम होनेपर भी प्रेमकी स्पष्ट दिव्यमानताके कारण इन्हे भक्तिमार्गीय मध्यम कक्षाके श्रवणाधिकारी समझना चाहिये.

(ग) कुछ अन्य श्रोताओंमें ऐसी अर्थनिष्ठा नहीं होती पर शब्दनिष्ठा तीव्र होती है. फलतः प्रमाण विवेचनकी प्रक्रिया द्वारा इन्हें निःसंशय ज्ञानके प्राप्तिकी लालसा रहती है. ऐसे श्रोताओंकी मात्स्या तो स्पष्ट होती है कि केवल श्रीकृष्ण ही सर्वभावसे भजनीय है परन्तु भाव निरन्तर उद्बुद्ध नहीं होगा रहता. कभी-कभी कथारसके आवेशके कारण अथवा प्रपञ्च-विस्मृतिपूर्वक भगवदात्मिकताके तात्कालिक अभिष्पन्दिके कारण ये स्नेहविकल हो पाते हैं; अन्यथा ज्ञानिजनोचित स्वास्थ्य (!) इनका बना रहता है.

तात्कालिक पूर्ण भावोदयके कारण यह पूर्ण अर्थनिष्ठा भी इनकी तात्कालिक ही होती है अतएव ये कथाश्रवणकालकी लम्बवृत्तके बाद पुनः अन्यासक्त हो जाते हैं. ये भक्तिमार्गके अन्तर्गत कनिष्ठ प्रकारके श्रवणाधिकारी हैं.

(घ) प्रपत्तिमार्गीय जीव अन्यमार्गीय श्रोताओंकी अपेक्षा उत्तमाधिकारी माना जा सकता है, पर शर्त इसमें यह है कि देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्म-आदि अनेकविध धार्मिक साधनों-के अभिमानोंको छोड़कर श्रीकृष्णके स्वरूप-गुणधर्म-लीलाओंके श्रवण-स्मरण-कीर्तनमें जब उसके मनकी अनन्यरुचि पनप जाये यह प्रपत्तिमार्गीय श्रवणाधिकार अन्य मर्यादामार्गीय कमंजानोपासनाके अधिकारोंसे तो उत्तम ही होता है.

इस तरह वक्ता एवम् श्रोता के अधिकारोंका विवेचन यहाँ सम्पूर्ण होता है.

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. १९७६ में प्रकाशित संस्करणका आंकशतप्रोसेसद्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. उस संस्करणमें इन दो ग्रन्थों जलमेद और पञ्चपद्यानिके अलावा परिशिष्टके रूपमें मेवाकणकी तीन टीकायें भी प्रकाशित हुई थी. उन्हें यथास्थान रखनेके उद्देश्यसे यहाँ प्रकाशित नहीं किया गया है. उक्त संस्करणके सम्पादक श्रीमूलचन्द तुलसीदास तैलीवालाल तथा

श्रीधोरजलाल व्रजदास साकलिया और प्रकाशक गोस्वामी १००८ श्रीजीवनलालजी महाराज (पोरबंदर) से इन रामी महानुभावोंका हम इस पुनःप्रकाशनके अवसरपर हार्दिक कृतज्ञता-पूर्वक स्मरण करते हैं

शोधपत्रम् ।

आ सप्रथं मुद्रितं पड़े गया पछी श्रीमद्गोस्वामिश्रीअनिरुद्धलालजी महाराजधीनी कृपायी जलभेदनी भाषार्थबोधिनी तथा श्रीपुण्योत्तमजीनी पञ्चपद्यटीका ए वे हस्तलिखित मुक्तको आमनगरस्य श्रीमदनमोहनलालमन्दिरस्य अध्वर्याना प्राप्त थया, तदापरे भा द्वितीय शोधपत्र आवश्यक जणायु छे.

जलभेदशोधः ।

पं. सं.	अशुद्धम्	शुद्धम्	पं. सं.	अशुद्धम्	शुद्धम्
३८११	क्रिया	ह्रया	४४१२७	सर्वाभोग्यवत्तमिलाधिकं	सुधानिशोपणम् ।
३९११०	दोष	विषय	४४१२७	देव	देह
३९१२९	निवर्तन	निवर्तन	४४१३०	प्रापक	प्रापक
४०१११	शीतलगुण	शीतलकमलगुण	४५१९	न कार्य	कार्य
४०१२०	कडिचं	पङ्किल	४५११५	रहित	सहित
४३११०	दहक	दाहक	४५१२०	यदा	सर्वथा यदा
४४१२	मोहन	मोहिन	४५१२२	तिरोहित-	मायसा तिरोहित
४४११५	असौ भक्त्यर्थ	सायुज्यार्थ	४५१२७	पूर्वोक्ता अमृत	पूर्वोक्तामृत
४४१२४	शुणान् न्यून	शुणान् नहु न्यूनोपिनय	४५१३१	मल	बाह्य

अन्तिमश्लोकविवरणभेदे वाचनीयम्—यता जीवानां भगवदंशत्वाप्रानात्व वा प्राप्त एतादृशा भगवतो विष्णोर्व्यापकस्य सर्वेषु भावस्वेषु प्रकटस्य शुणा स्वरूपत एतादृशं स्वरूपमिति फलतश्च एतादृशं फलमिति निरूपिता नितरां रूपिता स्वरूपेण प्रकटीकृता इत्यर्थः ।

श्रीमदाचार्यपादान्तरेणो मवि संततम् । कृपवन्तु सदा स्वीयं मन्वा कृष्णप्रबोचका ॥ १ ॥

श्रीविद्वत्पादाम्भोत्रेणुषकाशिया मया । विश्रुतिनैलभेदस्य कृता भाषार्थबोधिनी ॥ २ ॥

पञ्चपद्यशोधः ।

पं. सं.	अशुद्धम्	शुद्धम्	पं. सं.	अशुद्धम्	शुद्धम्
५४१७	भक्तिहेतु	भक्तिहेतुहेतु	५५११	अथ	तत्र
५४११०	भगवत्कीर्तन	भगवत्कृत्या कीर्तन	५५११	संबन्ध	संबन्धाद्य
५४१११	संबन्ध	संबन्धि	५५१२	दे	तत्
५४११५	भावसम्भवरूप	भावसंभवरूप	५५१२	दिरयते	शीरो
५४११८	विदुरस्येयज्ञान	विदुरे येयेयज्ञानसकमस्य	५५१७	तथाहि	तत्र हि
		सैत्रेये विदुरभक्तिसकमस्य	५५१४	पठितपावनार्थिक	पठितपावनत्वादिकं
५४१२९	तादृशमेव	तादृशमेव			यानारोपितरूपं

પ્રસ્તાવના ।

શ્રીમુદામાડુરીય શ્રીમદ્ગોસ્વામિ શ્રીત્રીવનલાલજીના નિ સંકોષ દ્રવ્યસાહાય્યથી ચાર ટીકા સહિત સેવાફલ, છ ટીકા સહિત નિરોધલક્ષણ, અને અષ્ટ ટીકા સહિત સન્યામનિર્ણયનુ પ્રાકટ્ય યયુ છે. ડક પ્રણ પુસ્તકના મુદ્રણમાં ઘણાયલુ દ્રવ્ય પુસ્તકોનો વિક્રય કરી યાલુ લેવાની આપથીની ઇચ્છા ન હતી, પરન્તુ વિક્રયમાંથી પ્રાપ્ત થતાં દ્રવ્યથી અન્ય સાંપ્રદાયિકમન્યો છપાવવા પૂચી હતી તદ્વિચ્છાનુ સાર ડક પ્રણ પુસ્તકોના વેચાણમાંથી ઉત્પન્ન થયલા દ્રવ્યસાહાય્યથી ચાર ટીકા સહિત જલમેદ, તેના એ સ્વતંત્ર લેખ, એ ટીકા સહિત પંચપદ્ય, તથા નૂતન પ્રાપ્ત થયલી સેવાફલની પ્રણ ટીકા-ઓ યુ સર્વેનુ મુદ્રણ યાય છે. અર્થાત્ આ મન્યનુ પ્રાકટ્ય પળ ઉપર દર્શાવ્યા પ્રમાણે શ્રીત્રીવનલાલજી મહારાજધીની સ્પૂર્ણ કૃપાથી યયુ છે, અને વૈષ્ણવો પૂતદ્ય યુઓધીના પ્રણો છે આપથીની કૃપા હરો અને વૈષ્ણવોનુ સૌમાગ્ય હરો તો ચતુર્દશ ટીકા સહિત મત્કિયર્થિનીનુ દર્શન પળ સત્વર યરો

૧ જલમેદ ઉપર ચાર ટીકાઓ પ્રાપ્ત થઈ છે તેમાં પ્રથમ શ્રીકલ્યાણરાયજીની છે. ઉષ ટીકાની યુક પ્રતિ તો શ્રીહરિરાયજીના નિજ ધીદસાક્ષરમાં લલેલી છે. આ ટીકાના મુદ્રણમા મુલ્ય આધાર તેનો જ લીયો છે. પરન્તુ અન્ય પ્રતિઓ પળ ચારચાર મુદ્રણમાં ઉપયોગી થઈ પડી હતી. નીચે જણાવેલી પ્રતિઓને આધારે આ ટીકાનુ મુદ્રણ યયુ છે : ૧ શ્રીહરિરાયજીના ધીદસાક્ષરની, ૨ મટપુસ્ત્ય મહાણ વૈષ્ણવ તાપીવાઈની, ૩ પઠિત મદૂલાલાજીની ૪ શ્રીત્રીવનલાલજી મહારાજની, ૫ ય મદૂલાલાજીની નૂતન, ૬ ય મદૂલાલાજીની પ્રાનીન, ૭ ય મદૂલાલસપ્રદસ્ય મૂલ શ્રીપીતાંવરજીની પ્રાચીન આ સસ પુસ્તકોને આધારે આ ટીકાનુ સોધન કરી મુદ્રણ કર્યુ છે. ટીકાકાર શ્રીકલ્યાણરાયજી શ્રીમુસાંઈજીના પીત્ર યાય અને શ્રીહરિરાયજીના પિતૃચરણ યાય વિદોષ પરિચય યુઓધીનો સેવાફલમા કરાલ્યો છે.

૨ દ્વિતીય ટીકા શ્રીપુરુષોત્તમજી મહારાજની છે. યુઓધીનો પરિચય સેવાફલાદિમાં કરાલ્યો છે. યુઓધીની ટીકાનુ મુદ્રણ નીચે જણાવેલી પ્રાતઓના આધારે યયુ છે : ૧ શાશ્વી માઈ મારાયણની પ્રાચીન મુદ્ર, ૨ ય મદૂલાલાજીની નૂતન, ૩ ય મદૂલાલાજીની નૂતન મુદિત ૪ ય મદૂલાલાજીની પ્રાચીન મુદ્ર, ૫ શ્રીમદ્ગોસ્વામિ શ્રીત્રીવનલાલજીની નૂતન મુદ્ર, ૬ મ્મખનીયસ્ય શાશ્વી મંદ્રશકરની પ્રાય આ સર્વ પુસ્તકો મુદ્ર છે.

૩ તૃતીય ટીકા અમે ધીવલ્લભ શ્રીમોકુલનાયજીના નામથી મુદ્રિત કરી છે, પરન્તુ યુ ટીકા ધીવ હમની છે. યુમ કહેવામાં અમારી કલ્પના વિના અન્ય પ્રમાણ નથી. અમારી કલ્પનાનો આધાર આ છે. આ ટીકા અમને હરીષ્છાથી ધીનાયઘ્વારાદિ અમે યયા હતા ત્યા પ્રાપ્ત થઈ યુ પ્રતિ ઉપર નામ નથી માત્ર ચાલુ ઉપર 'જલ ટી મો' આટલુ પ્રાયેકપત્ર ઉપર લલ્યુ છે. સવત્ ૧૭૫૮ માલરોલી છે. પરપરા પળ છે. શ્રીમોકુલનાયજીયુ જલમેદની ટીકા લલ્થી છે. આ ટીકાની ખાયા તથા આરમ તથા અમ્તના મગલાચરણના શ્લોકો શ્રીમોકુલનાયજીની નિરોધલક્ષણ તથા સેવાફલની ટીકાઓના સદસ છે. 'અધિ, શબ્દનો અર્થ ધીકલ્યાણરાયજીયુ શ્રીમદ્ભક્તમાચાર્યજીપરલ્લે પડાલ્યો, તે સવન્ધમા સપ્રદાયમાં મહાન્ક ડ્વાપોહ યયો હતો યુમ શ્રીહરિરાયજીના 'પૂર્ણ મગવત્રીયા' યુ શ્લોકના સ્વતંત્ર લેલથી માલ્કમ પઢે છે. આ ટીકામાં ભેજ સાપર્થ્ય રાગદ્વેપથી મુક્ત થઈ સ્વીકાર્યું છે. શ્રીમોકુલનાયજી નિજ શિષ્ય ધીકલ્યાણરાયજી તપા શ્રીહરિરાયજીનુ મત અયુક્ત નથી યુ દર્શાવે છે, છતાં 'અધિ' શબ્દનો હક્ર' અથ કરનાર ટીકા કાર પ્રતિ સમમાવ રાલે છે. 'અધિ નો અથ રદ્ છે યુમ કલ્પનાર ટીકાકાર જો શ્રીદ્વારકેસરી-તૃતીય શાલ્કજી શ્રીમાલકૃષ્ણજીના જ્યેષ્ઠ પુત્ર હોય તો ઉપર જણાવેલુ અનુમાન સર્વેયા અસમ્ભવિત નથી લાગતુ.

૪ ચતુર્થ ટીકા કૌની કહેલી યુ પળ સગાયમલ્લ છે. અમારી પાસે મત્કિયર્થિનીની યુક ટીકા છે, જેનુ મગલાચરણ અને અત્ર મુદ્રિત ટીકાનુ મગલાચરણ યાચતા ઉખપનુ ંકકન્નૈવ સ્પદ સુરે છે. ડક

૧ રલાવેલેલેવિન્દુમિતમુપકમલસામવટમ્ય જાતો નિચ્ચન્દ આનિયુકો મલયજવનનાસેવિત મુપ્પત્તરે ।
શ્રીરાખાવકુપમાકુતમપુવિતર યાનપૂર્ણોપમાનોદ્રિક સેહાદરહિ પ્રનિકલ્પુ હુશો ડીમ્મવેવ ત્રવેશ ॥ ૨ ॥

મકિલર્ષિનીની ટીકામી ર્ષે પ્રતિ ધમાગી પાસે છે, તેમાં એક ડપર શ્રીવાલકૃષ્ણાગીકૃત ટીકા એમ છેલેલુ હોવાથી અમે 'શ્રીવાલકૃષ્ણાકૃત' આ ટીકા છે એમ ઠરવ્યુ છે પરન્તુ તેજ પુસ્તકની અન્ય પ્રતિ ડપર શ્રીદ્વારકેશકૃત ટીકા એમ છેલેલુ છે જો એમ જ હોય તો આ ટીકા શ્રીદ્વારકેશકૃત માનવી ડચિત છે. શ્રીદ્વારકેશજીની શાલ્લબોધકૃષ્ણાબ્રવાદિ ડપર કરેલી ટીકાઓજુ શ્રીન આપણને ઘાય છે શ્રીપુરુષોત્તમગી પળ આ ટીકાકાર શ્રીદ્વારકેશજીના મતનો ડપન્યાસ શાલ્લબોધાદિમાં કરે છે અથ્ર સુદિત કરેલી જલમેદની ત્વીય ટીકાના કર્તા-શ્રીગોકુલનાયજીને આ ટીકાકારની ડપર છે અમિ શબ્દનો અર્થ રૂઢ આજ ટીકાકાર કરે છે આ ટીકા એળ ધાથી ઘુ પ્રાચીન ડરે છે આ ટીકાની એક જ પ્રતિ ડહિત ઘટ્ટલાલાના સપ્રદ્ધમાર્ષી ઘ્રાસ ઘઈ હતી, આ પ્રતિ અનેક સ્થલે સુદિત, સદિગ્ધ અને અશુદ્ધ હતી ઘુ પ્રયાસથી આ ટીકા અમે ડોધી છે, ડતાં એમ સ્વલનો અમે ન જ ડયાં હોય તો પ્રસુકૃપા જ સમજવી

૫ 'પૂર્ણા ધગવદીયા' ડ શ્લોક ડપર નિજપિત્તરળ શ્રીકલ્યાણરાપજીની ટીકા અયુક્ત નથી ડુ ડર્ણાવનાનો કાઢક રાગયુક્ત પ્રયત્ર શ્રીહરિરાયજીપ્ અથ્ર ડયાં છે આની ડ્રળ પ્રતિ ઘ્રાસ ઘઈ છે એક ડ ઘટ્ટલાલાની, ઢિતીય યાત્રામાર્ષી, અને ત્વીય કચરામાંથી આ ડરિશિષ્ટ પ્રથમ છે

૬ 'પૂર્ણા ધગવદીયા' ડપર કોઢનો શ્રીશ-ઘટેશ શ્રીનાયમદ્દનો સ્વતત્ર લેલ છે આ લેલ શ્રીવાલ કૃષ્ણજીની શ્રીમપુરાશકની ટીકાના પુસ્તકને અન્તે છેલેલો હતો આ લેલ યુક્ત ઘા અયુક્ત છે ઘા આઠાર્ણા શય પ્રકાશ કરે છે કે નહિ તે ડર્ણામાં નહિ ડતરવા ડટલુ તો કહોશુ કે ડ યાઠવામા ડિનોડ છે આ પુસ્તક ડ ઘટ્ટલાલાનુ છે આ ડરિશિષ્ટ ઢિતીય છે

૭ ડપ્રપઢની ટીકા પ્રથમ શ્રીહરિરાય-ગીકૃત છે આ ટીકાનુ સુદ્રળ ડ્રળ પુસ્તકના ધાધારે ડુ ઢે એક શ્રીજીવનઢાલજી ઘ્રારાજનુ અને અન્ય હ્ય ડ ઘટ્ટલાલાજીના સપ્રદ્ધના

૮ ડપ્રપઢની ઢિતીય ટીકા શ્રીપુરુષોત્તમગીકૃત છે આ ટીકાનુ સુદ્રળ ઢે પુસ્તકના ધાધારે ધયુ છે પ્રથમ ડ ઘટ્ટલાલાજીનુ, અને ઢિતીય ધગવદ્ધર્મપરાયળ ડ ઘલઢદ્રશર્માનુ

૯ સેવાફલની અસુદિત ડ્રળ ટીકાઓ છે આ ટીકાઓ અમને યાત્રામા ઘ્રાસ ઘઈ છે પ્રયેકની એક એક પ્રતિ ઢઢી હતી આ ટીકાઓના કર્તાઓના નામ અમને જઙ્ઙાત છે આ સર્વ ટીકાઓ પ્રાચીન છે.

૧૦ જલમેદ પ્રમ્ય તૈષિતીયસહિતામા ઢષ્ર ડપરથી સુષિત ઢયલો છે એમા જલદહાન્તયી ઘકાના ગુળ-ઢાયનુ નિરુપળ છે ઢાં રાજેન્દ્રલાલમિત્ર કલ્પે છે તેમ રોગીના ઢલોપઢારનુ નિરુપળ નથી ડષ ઢઢમાં ડ્યોતાના ગુળઢાયનુ નિરુપળ છે

૧૧ જલમેદની શ્રીકલ્યાણરાયજીની ટીકાની પ્રતિ ઢીરજઢાલ કાશીનાય ડઢ્યાઇ કરી હતી શ્રીપુરુષોત્તમગીની ટીકા તથા 'પૂર્ણા ધગવદીયા' ડપરનો શ્રીહરિરાયજીનો લેલ, તથા ડષપઢની ઘલ્લે ટીકા ઘલ્લેઢરદાસ ધગનલાલ શાઢે પ્રેસમાટે ઢલ્લી ઢાપી હતો શ્રીઘલ્લમવો ટીકા શાઢી કલ્યાણજીપ્ ઢલ્લી ઢાપી હતી અને શ્રીવાલકૃષ્ણાકૃત ટીકા તથા 'પૂર્ણા ધગવદીયા' નો ઢિવીય સ્વતત્ર લેલ શાઢી ઢદ્રશકાર જયશકરે ઢપી ઢાપ્યો હતો આ સર્વનુ નિરેપ્લ સાહાય્ય સ્તુત્ય છે ડ સર્વનો ડપકાર સ્તીકારીપ્ ઢીપ્

પુસ્તક સપ્રદ્ધમાં ઢહિત ઘટ્ટલાલાનીની સલ્યાનો ડપકાર સર્વમા ઢલિસરળીય છે તતુપરાન્ત ડ ઘલઢદ્રશર્મા, ડ ગોકુલદાસઢી, શાઢી ઢદ્રશકર, નટપુરાસ્ય ઢેળ્ળઘતાપીઢાઈ ડુ સર્વનુ સાહાય્ય ઢિલ્લ રળીય નથી

આધિન શુદ્ધ ઢત્તમી }
૧૧૫૫.

શુલ્લચન્દ્ર તેલીવાલા.
ઢૈર્પલાલ સાર્કઢીયા.

कृष्णयजुः तैत्तिरीयशाखासंहिता का. ७ प्र. ४ अ. १२.

कृष्याभ्यः स्वाहा कृल्याभ्यः स्वाहा विकृष्याभ्यः स्वाहाऽवृष्याभ्यः स्वाहा खन्याभ्यः
स्वाहा इद्याभ्यः स्वाहा सूद्याभ्यः स्वाहा सरुस्याभ्यः स्वाहा वैश्वन्तीभ्यः स्वाहा पल्व-
ल्याभ्यः स्वाहा वष्याभ्यः स्वाहाऽवष्याभ्यः स्वाहा ह्यादुर्नीभ्यः स्वाहा पृष्याभ्यः
स्वाहा स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा स्थानुराभ्यः स्वाहा नाद्रेयीभ्यः स्वाहा सैन्धवीभ्यः
स्वाहा समुदियाभ्यः स्वाहा सर्वाभ्यः स्वाहा ॥ १३ ॥

जलभेदः ।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।
भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥
शुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।
गायकाः कूपसङ्काशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥
कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि सम्मताः ।
कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥
क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।
वेद्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥
जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।
हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥
सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः ।
सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥
अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।
कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतिभक्तयः ॥ ७ ॥
योगध्यानदिसंयुक्ता गुणा वष्याः प्रकीर्तिताः ।
तपोज्ञानादिभावेन खेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥
अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।
कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥
देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरियोद्भूताः ।
साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥ १० ॥
प्रेमपूर्व्या स्फुरद्दर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।
यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥
स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।
अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥

सद्भाविगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।
 निरन्तरोग्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥
 एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत् सिन्धवः परिकीर्तिताः ।
 पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥
 जडनारदमैत्रायास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।
 लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥
 वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः पद् प्रकीर्तिताः ।
 गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥
 सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।
 तेऽमृतोदाः समारूपातास्तद्राक्पानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥
 तादृशानां कश्चिद्वाक्यं दृतानामिथ वर्णितम् ।
 अजामिलाकर्णनचङ्चिन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥
 रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।
 तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥
 उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।
 उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥
 इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।
 रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥
 इति श्रीमद्ब्रह्माचार्यप्रकटितो जलभेदः समाप्तः ।

पञ्चपद्यानि ।

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसा रतिवर्जिताः ।
 अनिर्वृता लोकवेदे मुख्यास्ते श्रवणोत्सुकाः ॥ १ ॥
 विह्वलमनसो ये तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः ।
 अर्थकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः ॥ २ ॥
 निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः ।
 ते स्वावेशास्तु विकला निरोधादा न चान्यथा ॥ ३ ॥
 पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचिन्न तु सर्वदा ।
 अन्यासक्तास्तु ये केचिदधमाः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥
 अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु ।
 देशकालद्रव्यकर्तृमध्यकर्मप्रकारतः ॥ ५ ॥
 इति श्रीमद्ब्रह्माचार्यविरचितानि पञ्चपद्यानि ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीकल्याणरायविरचितविवृतिसमेतः ।

भावितं विविधैर्भावैः प्रेष्टभाविताया मुहुः । भावये राधया कृष्णं भवितुं भावभावुकः ॥ १ ॥
यद्वाक्पीयूषभावानां भावनादभवो भवः । भावये तान्निजाचार्यपदो भावोपलब्धये ॥ २ ॥

श्रीकृष्णे केवलभावेनापि 'केवलेन हि भावेने'ति वाक्यात् तत्प्राप्तेः 'नैष्कर्म्यमप्यच्यु-
तभाववर्जित'मित्यादिभिर्भावहीनस्य ज्ञानादेरप्यसमर्थत्वाद्देहभोजनमिव भावहीनं सर्वमिति
श्रीवल्लभाचार्यचरणाः स्वीयानां भावपोषार्थं कृपया भावनिरूपणं प्रतिजानते नमस्कृत्येति ।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।

भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसन्देहचारकान् ॥ १ ॥

नमसो गतिसंज्ञकत्वात् कुगतिप्रादय इति समासादत्र त्यप् विसर्गस्य सकारो 'नम-
स्युरसोर्गलो'रिति । 'यो भावान् भक्तमाहात्म्यं ज्ञापयित्वाद्देवादियु । अहरत्सर्वदुःखानि
वन्दितोभीष्टदोस्तु स' इत्याशयेनाहुः हरिं नमस्कृत्येति । भगवति नमनातिरिक्तस्य
कर्तुमशक्यत्वात् । वक्ष्य इति । निरूपिता भावाः प्रथमत आत्मने फलन्तीत्यात्मनेपदम् ।
तद्गुणानां विभेदकानिति । ते प्रसिद्धाश्च ते गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि तेषां विभेद-
कान् निवर्तकानित्यर्थः । यद्वा । भगवतो ये गुणा धर्मास्तेषां निवर्तकान् । भगवतो
भक्तार्थं सर्वसमत्वादेस्त्वागात् । 'ये भजन्ती'ति वाक्यात् । यद्वा । तेषां जीवानां गुणा
धर्मास्तेषां वैलक्षण्यसम्पादकानित्यर्थः । अथवा भगवतो ये धर्मास्तानानीयात्र दायकानि-
त्यर्थः । भावान् विंशतिधा भिन्नानिति । भावशब्दस्यानेकार्थत्वेप्यत्र स्नेहस्तज्ज-
न्याश्रावणाविशेषा भावा उच्यन्ते । 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते' इत्यादिभिः
स्नेहभिधानात् । गुणभेदैः कृत्वा विंशतिप्रकारैर्भिन्नान् । सर्वसन्देहवारकानिति ।
विधेयविशेषणमेतत् । भगवद्भजने सर्वेषां साधनानां स्वरूपतः फलतश्च ये सन्देहास्तन्नियार-
कान् । यद्वा । भावैर्भगवति स्फुरिते सर्वे सन्देहाः स्वत एव निवर्त्यन्तीत्यर्थः ॥ १ ॥

भावानां स्वत एकस्वरूपत्वेपि गुणभेदैरेव भेदाद्भावभेदकान् गुणभेदानेवाहुः गुणेति ।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।

गायकाः कूपसङ्काशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

जले यावन्तो भेदा वेदेन सम्मता ज्ञाता वा तावन्तो गुणभेदास्तथेत्यर्थः । वेदोक्त-

जलभेदद्वयान्तकरणाद्भावानां शुद्धत्वालौकिकत्वतापहारकत्वशोधकत्वाप्यायकत्वानि ध्व-
नितानि । अत्र 'कूप्याम्यः स्वाहे'त्वारम्य 'सर्वाम्यः स्वाहे'त्यन्ता तैत्तिरीयश्रुतिरनुसन्धेया ।

तत्र प्रथमं गानप्रियत्वाद्भोविन्दस्य गायकानां भावमाहुः गायका इति । गन्धर्वा
इति प्रसिद्धाः गाननिपुणाः कूपतुल्यास्तेषां भावः तजलतुल्य इत्यर्थः । यथा कूपजलं
जाड्यकाले क्रीष्णत्वाद्वाड्यनिवर्तकमुष्णकाले शीतलत्वात्तापनिवर्तकं व्यवहियमाणं वर्धते,
समीचीनं च भवति, तथैतेषां भावोतिजाड्ये पुंसि जाड्यनिवर्तकः, संसारतप्ते तापनिव-
र्तको गीयमानो वर्धते, समीचीनश्च भवति । यथा रज्जादिभिः कूपजलं गृह्यते तथा गान-
द्वारैवैतेषां भावो आहः ॥ २ ॥

ननु गायकाः सर्वे तुल्या एव नेत्याहुः कूपभेदास्त्विति ।

कूपभेदास्तु पावन्तस्तावन्तस्तेपि सम्प्रताः ।

कुर्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥

यथा केचित् कृपाः स्वादुपरिणामसुखकारिजलाः, केचिदमिष्टजलाः, केचित् क्षार-
जलाः, तिक्तजलाः, परिणामदुःखजलाश्च, तथा गायका अपि पुरुषोत्तमतद्विभूतिगुणाव-
तारांशदिलीलाभेदेन भगवन्तं गायन्तः सत्त्वगुणादिरूपलक्षिताश्चाकामा मोक्षकामाः स्व-
र्गकामा लौकिककामाश्चेति बहुधा इति पूर्वोक्तकूपविशेषैस्तुल्या इति तेषां भावस्तजलतुल्य
इत्यर्थः । अत एवोक्तं कपिलदेवैर्देवहृतिं प्रति 'भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भूमिनि
भाव्यते । स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते । अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भमा-
त्सर्पमेव च । संग्मी भिन्नदग्भावं मयि कुर्यात् स तामसः । विषयानभिसन्धाय यश्च
ऐश्वर्यमेव वा । अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः । कर्मनिर्हारीसुद्दिश्य परस्मिन् वा
तदर्पणम् । यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सान्त्विकः । महृणश्रुतिमात्रेण मयि सर्व-
गुहाशये । मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ । लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणसा-
प्सुदाहृतम् । अद्वैतुक्यप्रतिहता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।' इत्यादि । अत एव स्वभाव-
भूतानां गुणानां मार्गेण वृत्तिभेदेन पुंसांमभिप्रायो भिद्यते इति फलसङ्गलभेदाद्भक्तिभेद
इति गुणानां मिश्रणेन तामसादिभक्तिषु त्रयस्यैव प्रकारा इति श्रवणादिषु प्रलेक नवनव
भेदा इति सगुणा भक्तिरेकाश्रुतिप्रकारा, निर्गुणा, स्वैकविधैवेति, द्व्यश्रुतिप्रकारा भक्तिः
प्रयतेतराम् । तदेव श्रीमदस्मद्भुचरणैर्भक्तिहंसे निरूपितम् । 'श्रवणादिनवकमप्यधिकारि-
रिभेदेन क्रियमाणं सत्कर्मज्ञानोपासनाभक्तिमार्गीयत्वेनानेकविधं भवती'ति । द्वितीयं
भावमाहुः कुर्याः पौराणिका इति । कुर्या अल्पा कृत्रिमा सरित् । पुराणमधीयते
निदन्ति वा पौराणिकाः पुराणेतिहासपाठकाः कृत्रिमात्पनदीतुल्याः, तेषां भावस्तजल-
तुल्य इत्यर्थः । यथा मूत्रं कुन्या जलाशयेन पारम्पर्ययुताः पारम्परासम्बद्धान्तया एतेपि
भुवि पुराणाधिपती पारम्पर्ययुताः सद्गुरूपदेशादवगतपुराणाधीः । सद्गुरूपदेश विना

श्रीभागवतविष्णुपुराणादौ भाषात्रयासुरव्यामोहकलीलास्वरूपाज्ञाने सर्वमनर्थकं स्यात् । यथा प्रत्यहं यत्रे क्रियमाणे कुल्या प्रवहति, नान्यथा, तथा पुराणपाठ एव तेषां भावोदयो, नान्यदेति दृष्टान्तेन सूचितम् ॥ ३ ॥

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।

वेद्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥

तृतीयं भावमाहुः क्षेत्रप्रविष्टा इति । च पुनस्ते पूर्वोक्ताः । 'क्षेत्रं पत्नी-शरीरयो'रिति कोशादेहकुडुम्भयोः पोषार्थं पुराणेतिहासपाठकाः स्वसंसारस्योत्पत्तिहेतवो भवन्तीत्यर्थः । कुल्याजलान्यपि क्षेत्रप्रविष्टानि सम्यक् सारस्यान्नस्योत्पत्तिहेतवो भवन्ति । न बहिरन्तःशुद्धिहेतुस्नानाचमनादौ हेतवस्तथैतेपि न स्वर्गापवर्गहेतवो भवन्ति । अपिशब्दात् क्षेत्रप्रविष्टा गायका अपि संसारहेतवो भवन्तीत्यर्थः । अत एवोक्तं भक्तिहंसे 'वृत्त्यर्थं चेत् कृपिवह्नौकिक एवे'ति । गीतायां च 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति । श्रीभागवते चोक्तम् । 'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् । आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः ॥ त्वत्पादुके ह्यविरतं परि ये चरन्ति ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गृणन्ति । विन्दन्ति ते कमलनाभमवापवर्गमाशासते यदि त आशिष ईश नान्य' इति । चतुर्थं भावमाहुः वेद्यादिसहिता इति । आदिपदात् कुलटातत्संगिधृतादय उच्यन्ते । 'न तथास्य भवेन् मोहो धन्वश्चान्यप्रसङ्गतः । योपित्सद्गायथा पुंसो यथा तत्सङ्घिसङ्गत' इति कपिलदेववाक्यात् । एतादृशा गायका गर्ततुल्यास्तेषां भावस्तजलतुल्य इत्यर्थः । यदि विपर्यैर्वाध्यमाना अपि दुराचारा अपि समयभेदेनापि भगवन्तमेव भजेयुस्तदापि समीचीना भवेयुस्तदपि नास्तीत्याहुः मत्ता इति । अतः स्वस्वाम्यनुसन्धानरहिताः । नक्षेत्रे प्रीत्या माहात्म्यधिया वा कृष्णं गायन्ति, किन्तूत्तमस्वर्गीतवशात् कदाचिदतो गर्ततुल्या एवेत्यर्थः । अतो तेषां भावस्य कूपकुल्याजलवदाप्यायकत्वादिगुणयोग इत्यर्थः । अमत्तास्तु कूपभेदेषु ज्ञेयाः ॥ ४ ॥

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।

हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्परः ॥ ५ ॥

पञ्चमं भावमाहुः जलार्थमेवेति । प्रक्षालनोच्छिष्टजलप्रक्षेपार्थमेव ये गर्तास्तुल्या नीचा गानोपजीविन इत्यर्थः । नीचत्वेन वासोत्कर्षाभावाद्गानोपजीवनेनान्तरोत्कर्षाभावाद्दुच्छिष्टजलगर्ततुल्यत्वमेवैषां, तेनोच्छिष्टगर्तजलवत्तेषां भावो न सद्भिर्प्राद्य इत्यर्थः । यद्वा । जलनिःसरणार्थं गर्ता इत्यर्थः । पौराणिकनिरूपणानन्तरं पुनर्निरूपणनिरूपणं तदेतादृशानां पौराणिकानामेतद्गायकतुल्यत्वज्ञापनार्थम् । षष्ठं भावमाहुः हृदास्त्विति । तुशब्दः पण्डित-प्रकरणबोधनार्थः । भगवच्छास्त्रं गीताभागवतादिकं तत्र तत्परः । न तु भाषावादादिमते । एतादृशाः पण्डिता हृदतुल्यास्तेषां भावो हृदजलतुल्य इत्यर्थः । यथा हृदजलमन्तःशी-

तलत्वादगाधत्वाच्च नातपेन पश्वादिभिश्च तापयितुं कलुपयितुं वा शक्यमेवमेषां भावोपि सांसारिकतापेन कुतर्कादिभिश्च न तापयितुं कलुपयितुं वा शक्य इति भावः ॥ ५ ॥

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः ।

सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥

सप्तमं भावमाहुः सन्देहेति । भगवच्छास्त्रे सन्देहवारकाः गंभीरं मानसं येषामित्यन्तर्निष्ठा एतादृशाः पण्डिताः । सुष्ठु उदकं येषां तादृशहृदविशेषतुल्यास्तेषां भावस्तजलतुल्य इत्यर्थः । यथोत्तमोदकानां जलं मनःप्रसादहेतुरप्येवं भगवच्छास्त्रसन्देहवारकानामन्तर्निष्ठानां भावोपि मनःप्रसादहेतुरपीति भावः । वाप्यो वा सूदा उच्यन्ते । अष्टमं भावमाहुः सरःकमलसम्पूर्णा इति । भगवच्छास्त्रे संदेहवारकाः अन्तर्निष्ठा वा ज्ञातारः प्रेमयुक्ताः सन्तः, सरःसंबन्धिकमलानि सम्पूर्णानि यासु तादृश्य आप एतत्तुल्यभावा इत्यर्थः । जलाशयं विहायात्र जलदृष्टान्तकरणदेतेषामपि भावतुल्यत्वं सूचितम् । यथा एतादृश्य आपः सकलेन्द्रियसुखहेतवः कमलसौरभमृद्गसरसादिसाहित्यात् तथैतेषां भावा अपीति भावः ॥ ६ ॥

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।

कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतिभक्तयः ॥ ७ ॥

नवमं भावमाहुः अल्पेति । अल्पं श्रुतमध्ययनं येषां ते प्रेमयुक्ताः सन्तो वेशन्तोऽल्पसरस्तुल्यास्तेषां भावस्तजलतुल्य इत्यर्थः । दशमं भावमाहुः कर्मशुद्धा इति । कर्मभिः शुद्धाः, कर्माणि कृत्वेश्वरे ये समर्पयन्ति तेषां कर्म चित्तशोधकं भवतीति कर्मशुद्धाः । 'यत्करोषि यदश्नासि यञ्जुहोसि ददासि यत् । यत्तपस्वसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पण'मिति भगवद्वाक्यात् । एते पल्वलमल्पसरोविशेषस्तुल्यास्तेषां भावस्तजलतुल्य इत्यर्थः । अत्याश्रुतिः पुराणादिश्रवणं भक्तिर्येषाम्, अल्पश्रुत्या वा भक्तिर्येषामिति तेषि तथा, पल्वलजलतुल्या इत्यर्थः । यथा वेशन्तपल्वलयोरल्पतडागत्वात्तजलं पूर्वं निर्मलमपि वराहाद्यवगाहितं कलुषं भवति, तथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' 'स्वर्गकामः अग्निष्टोमेन, स्वर्गकामो यजेते'त्यादिवाक्यात् सकामानामेव यागाद्यधिकारात् फलाश्रवणेपि विश्वजिज्ञ्यायेन फलकल्पनात्पेश्वरार्पणार्थं कर्म कर्तव्यम्, किन्तु फलार्थमेव, यागानधिकारिणामेव भक्ताधिकार इत्यादिभिः कर्मजडानामसदादिस्तेषामपि भावः कलुषो भवति । तेषां 'मत्कर्मपरमो भव, मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्ससि, मन्मना भवे'त्यादिप्रमाणानामज्ञानादित्यर्थः । वेशन्तपल्वलयोर्लोकैः पर्यायत्वेपि 'वेशन्तीग्यः स्वाहा, पल्वल्याम्यः स्वाहे'ति श्रुत्या तपोर्जलयोर्भेदनिर्देशात् । स्वादुसौरमादितदमावास्यां वा भेदो ज्ञेयः ॥ ७ ॥

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा यत्पर्याः प्रकीर्तिताः ।

तपोशानादिभायेन स्वदेजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

एकादशभावमाहुः योगध्यानादीति । योगोपायः, ध्यानं प्रादेशमायादेः,

आदिपदाद् षाष्ट्यपदायांस्मृतिः, एतत्समानाधिकरणा गुणा भावा वप्याः प्रकीर्तिताः ।
 घृष्टिजलतुल्याः कथिता इत्यर्थः । यथा घृष्टिसमये घृष्टिजलं सर्वदेशं व्याप्नोति,
 सर्वत्र सुलभमाधारगुणमादाय कार्यविशेषमन्नादिकं च जनयति, तथैतेषां योगादि-
 समय एव भगवद्भावो देहेन्द्रियादि सर्वं व्याप्नोति, सुलभः पात्रविशेषे स्वसजा-
 तीयं भावविशेषं च जनयति, अत एव संयुक्ता इत्यनेन सम्पद्योगो निरूपित इति
 भावः । द्वादशं भावमाहुः तपोज्ञानादिभावेनेति । तपः पश्चात्प्रसहनादि, ज्ञानं जी-
 वात्मनः, आदिपदाद्वर्णाश्रमाचारश्च, प्रत्येकमेतान्येव भावस्तपोज्ञानादिभिर्वा यो भावस्ते-
 नोपलक्षिताः खेदजलतुल्याः कथितास्तेषां भावः खेदजलतुल्य इत्यर्थः । केचित् तपसैव
 भगवानाराध्य इति मन्यन्ते । वस्तुतो भक्तिप्राप्य एव । 'मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौ-
 जस्तेजःप्रभाववलपौरुषबुद्धियोगाः । नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो भक्त्या तुतोप
 भगवान् गजयूयपाये'त्यादिवाक्यैः । केचिदितरभिन्नत्वेन स्वार्त्तज्ञानान्मोक्ष इति तदेव भजन-
 मिति मन्यन्ते । वस्तुतस्तु 'तमेवं विद्वानमृत इह भवती'त्यादिर्भगवज्ज्ञानमेव मोक्षसाध-
 नम् । 'श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विमो ह्यिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धय' इति वाक्ये केव-
 लात्मज्ञानस्य निन्दितत्वाच्च । केचित्तु 'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् । विष्णुरारा-
 ध्यते पन्था नान्यत्ततोपकारण'मिति वाक्याद्वर्णाश्रमाचारमेव भगवद्भजनं मन्यन्ते । तदपि
 न विचारक्षमम् । वर्णाश्रमाचारसाधिकारिविशेषणत्वादााराधनं तु श्रवणादिरूपं भिन्नमेव ।
 'धर्मः सत्यदयोपेतः, धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसाम्, विप्राद्विपद्भुण्युतादरविन्दनामपादारविन्द-
 विमुखात् श्वपचं वरिष्ठम् । मन्ये तदर्पितमनोयचने हितार्थः प्राणं पुनाति स कुलं न तु
 मूरिमान्' इत्यादिभिर्भगवद्भजनाभावे भगवद्भैमुख्ये च धर्मस्याप्रयोजकत्वनिरूपणात् । 'वर्णा-
 श्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः । स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः पर' इति भगवतो-
 ऽर्द्धं प्रत्याचारभक्तयोर्भेदेन निरूपणात् । द्विजपद्भ्यनुग्रहे द्विजैर्भगवद्भैमुख्ये त्रिवृद्धिद्या-
 दीनां धिक्कारोक्तेश्च । 'ये त्विहासक्तमनस' इत्यादिवाक्यैः सर्वकर्माणि कुर्वतामपि भग-
 वद्भैमुख्योक्तेश्च । अत एव 'परमापदमापन्नो ह्येवं वा समुपस्थिते । नैकादशीं त्यजेद्यस्तु यस्य
 दीक्षास्ति वैष्णवी ।' 'समात्मा सर्वजीवेषु निजाचारादविच्युतः । विष्ण्वर्षिपिताखिलाचारः
 स हि वैष्णव उच्यते' इत्येभिः पुराणवाक्यैर्माधवाचार्यैः कालमाधवीये वैष्णवलक्षणमभि-
 धाय वैष्णवस्मार्तयोर्भेदो निरूपितः । वर्णाश्रमाचारस्यैव भजनरूपत्वे सम्प्रत्युक्तसकलविरो-
 धात् । यथा खेदजलं न शुद्धिहेतुस्नानाचमनाद्युपयोगि तर्पणनिवर्तकं तापहारकं वा भवति,
 तथैतेषां भावोपीति भावः ॥ ८ ॥

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।

फादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

त्रयोदशं भावमाहुः अलौकिकेनेति । महदनुग्रहादिना प्राप्तज्ञानेन ये सर्वदुः-

खट्वर्तुणा ऐश्वर्यादयः प्रोक्ताः कदाचिदेव प्रतीयमानाः वेदादिगम्यास्ते गुणाः दूरात् पर्वतादीर्घारूपेण पततां जलानां ये शब्दास्तत्सदृशाः प्रकीर्तिताः कथिता इत्यर्थः । यथा धाराजलशब्दाः (पर्वतपतित) धाराजलानां ज्ञापकास्तयोच्यमाना मगवद्गुणा अपि वक्तृणां धाराजलसदृशभावज्ञापका इत्यर्थः । यथा धाराजलं नैर्मैत्यशैल्यमाधुर्याविच्छेदयोगाद्दर्शनस्पर्शनस्नानाचमनपानादिभिर्मनोहारि तापहारि सौहित्यसुखकारि, तथैतेषां काव्यादिषु प्रतीयमानो भावोपीति भावः ॥ ९ ॥

देवाद्युपासनोद्भूताः पृथ्वा भूमेरिबोद्धताः ।

साधनादिप्रकारेण नवधाभक्तिमार्गतः ॥ १० ॥

प्रेमपूर्व्या स्फुरद्धर्माः स्पन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

चतुर्दशं भावमाहुः देवा इति । श्रीपुरुषोत्तमव्यतिरिक्तानां देवानामादिपदात् पितृमातृपतिज्येष्ठभ्रात्रादय उच्यन्ते । एतेषामेव उपासनेऽयमेव देवः परमेश्वरो, वयं परमेश्वरमजनमेव कुर्मः । पितृवासाकमीश्वरः, पितृसेवां विष्णुमजनमेव कुर्म इत्येवमादयो ये उद्भूता भावास्ते, अयं च देवाः शिवादयः आदिपदाद् गक्षरक्षःपिशाचादयः । तेषां देवादीनामुपासनमुद्भूतमुद्भूतं येषु भगवद्भावेषु ते भावा देवाद्युपासनेन सह बोद्धता भगवद्भावास्ते च भूमेरुद्भूताः पृथ्वा इव । 'अवस्था यजन्याः पृथ्वा' इति वेदभाष्ये । पृथ्वा जलविन्दवस्तुपाकणाः जलबुद्बुदा वा त इत्येवार्थः । तेषां आन्त्या भजनात्तुल्यतयैव सर्वमजनाच्च । महापुरुषाणां भगवद्भक्तानां भजनं तु भगवत्प्रीतिमक्तिशुद्ध्यादिसाधकत्वाद्भिन्नरूपमेव । अत एव श्रीभागवते 'मद्भक्तपूजाभ्यधिका । तुलयां लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः । प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् । सतां प्रसङ्गान्मम कीर्यसेविदः । न तथा ह्यपवान् राजन्पूथेत तपआदिभिः । यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया । किरातहृणान्ध्रे'त्यादि । पित्रादिसेवायाः स्वर्गादिसाधकत्वान्न भगवत्फलसाधकत्वम् । अत एव भगवता गीतायां 'येष्वन्यदेवतामक्ता' इत्यत्र, स्वयजने विधिपूर्वकत्वाभाव उक्तो, विध्यभावे कर्मणि फलभाववदत्रापि भगवत्फलं न भवतीत्याशयेन । ('यान्ति मद्याजिनोपि माप् । देवान् देवयजो यान्ती' तिवक्तव्यैः पुरुषोत्तमभजनकर्तुरेव पुरुषोत्तमप्राप्तिस्तस्यैव भगवान् योगक्षेमं वहतीति 'पुरुषोत्तमप्राप्तौ पुरुषोत्तमभजनमेव विधिर्नैतु केनापि प्रकारेणान्यमजनमित्यत्र विध्यभावात् फलभावो युक्त इति भावः ।) यथा विन्दवस्तुपाकणाः बुद्बुदजलं वा न स्नानाचमनपानादिभिः शुद्धितृप्त्यादिसाधकं तथैतेषां भावोपि न शुद्ध्यादिसाधक इत्यर्थः । पद्यदशं भावमाहुः साधनादिप्रकारेणेति । साधनादिः फलात् यस्मिन् प्रकारे तेन प्रकारेण नवधा भक्तिरेव मार्गो भगवत्प्राप्तिसाधनं तस्मात् क्रमेण प्रेमपूर्व्या स्फुरन्तो धर्मा येषां श्रवणादयो

१. () एतच्छब्दान्तरितभागः प्राचीनपुस्तकेषु न दृश्यते ।

नटवेशादयो वा ते स्यन्दमानाः प्रसवणजलतुल्यमावाः प्रकीर्तिता इत्यर्थः । भक्तिमार्गे मर्यादया भगवद्भक्तिकारादकामोपहृतरखिलवर्णाश्रमधर्मैः सत्त्वशुद्धौ भगवद्भक्तिरेव पुरुषार्थ इति शास्त्रार्थनिश्चयान्ध्रवणादिभिस्तेषां भाव इति । यया पर्वतोपरि वृष्टितडागादिसद्भावे प्रसवणजलं वर्षते तदभावे हसत इति तत्सापेक्षं शुद्ध्यादिहेतुश्च, तथैतेषां भावोपि साधनानुसारी शुद्ध्यादिहेतुश्चेति भावः । इदमेवोक्तं भक्तिहंसे । 'आद्यस्तु तत्साधने भवति प्रवृत्तस्तथैव तद्भरणान्, परन्तु स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधिरेव तत्र प्रयोजकस्तदुत्पत्त्यनन्तरं च रागादेव तत्सम्बन्धिपदार्थे यतिष्यत इति विधेरप्रयोजकत्व'मिति । एकादशस्कन्धे च 'भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेनच । पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम् । श्रद्धामृतकयायां मे शशन्मदनुकीर्तनम् । परिनिष्ठा तु पूजायां स्तुतिभिः सावनं मम । आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् । मद्भक्तपूजाम्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः । मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा महुणेरणम् । मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् । मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च । इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्गतं तपः । एवं धर्मैरनुष्याणामुद्भवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोऽसावशिष्यते' इत्यादि-मिर्निरूपितम् । नवधा भक्तिस्तु 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुंसापिता विष्णोर्भक्तिश्चेन्नवलक्षणा । क्रियते भगवत्पद्मा तन्मन्थेऽधीतमुत्तम'मिति प्रह्लादैर्निरूपिता ॥ १० ॥

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥

स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

षोडशं भावमाहुः यादृशा इति । यादृशाः पूर्वमव्यवधानेन प्रोक्तास्तादृशा वृद्धि-क्षयविवर्जिताश्चेत्, मर्यादैकप्रतिष्ठिताः मर्यादायामेव केवलाः प्रतिष्ठिताः, न तु ततोधिक-विशेषाङ्गीकारयुक्तास्ते स्थावरा आपः स्थिरजलतुल्यमावाः समाख्याता इत्यर्थः । यद्वा । ये केचित् येनकेनचित् प्राप्तवृद्धिक्षयविवर्जितप्रेमाणस्ते तथाप्रोक्ता इत्यर्थः । अत एव प्रे-मस्वरूपं श्रूयते । 'आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तानीयानपि क्षीयेतापि न चापराध-विधिना नत्या नयद्बर्धते । पीयूषप्रतिवादिनस्त्रिजगतीदुःखद्रुहः सांप्रतं प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य कर्तव्यं वाद्दिनघटा लपव'मिति । यथैतज्जलं नातपेन शुष्यति स्नानादिहेतुश्च भवति, तथैतेषां भावोपि न संसारतापकुतर्कादिभिर्गन्धति शुद्ध्यादिहेतुश्च भवतीति भावः ॥ ११ ॥

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥

सद्भादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।

निरन्तरोद्गमयुता नव्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥

सप्तदशं भावमाहुः अनेकजन्मेति । ये भावा अनेकजन्मसु 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः । नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते' इति वाक्यात् तपे-

ध्यानसमाधिभिः सम्यक्सिद्धाः तत्रन्मारभ्य सदा भुवि आधारभूते चात्मनि सङ्गः सत्सङ्गः आदिपदादन्नकालविशेषदेशविशेषोपाः दुष्टसङ्गादयथ तेषां यौ गुणदोषौ ताम्यां क्रमेण वृद्धिक्षययुताः, निरन्तर उद्गम उद्भवो गमनं च तेन युताः । एतादृशास्ते भावा नद्यः स्वतोऽ-समुद्रगामिनदीजलतुल्याः परकीर्तिता इत्यर्थः । यथा नदीजलं वृष्ट्यातपाम्यां वृद्धिक्षयवद्भवति, भूमिपर्वतादिगुणदोषाम्यां गुणदोषवद्भवति, शुद्धितृष्यादिहेतुश्च भवति, तथैते भावा अपि तपोध्यानसमाधिसाध्यपापक्षयद्वारा जनिता इति शुद्ध्यादिहेतवः सत्सङ्गादिभिर्गुणवन्तो भवन्ति, वर्धन्ते च, दुष्टसङ्गादिभिर्दोषवन्तः भवन्ति, हीयन्ते चेति भावः ॥ १३ ॥

एतादृशाः स्वतश्चास्ते सिन्धवः परिकीर्तिताः ।

पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥

जडनारदमैत्राघ्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

अष्टादशं भावमाहुः एतादृशा इति । अव्यवधानेनोक्ता भावाः स्वतश्चाः निरु-पाधिकाश्चेत्तदा ते सिन्धवः स्वतःसमुद्रपामिन्यो महानद्यस्तजलतुल्याः परिकीर्तिता इत्यर्थः । सिन्धुषु नदा अपि गृह्यन्ते । यथा महानदीजलप्रविष्टाः समुद्रं प्रविशन्ति, तथैतद्भावानुसारिणोपि दयासमुद्रं भगवन्तं प्रविशन्ति, महानदीजलवदेते भावाः शुद्ध्या-दिहेतवोपि भवन्तीति भावः । एकोनविंशं भावमाहुः पूर्णा भगवदीया इति । ये भगवदीयाः मत्स्या सेवया पूर्णा 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः' येषामात्मा-दिकं भगवदर्थमपेक्षितं नत्वात्मावर्थं भगवान् सेव्यस्ते समुद्राः रत्नाकरतुल्याः प्रकी-र्तितास्तेषां भावस्तजलतुल्य इत्यर्थः । भगवदीयशब्दस्तु नामधेयस्य विकल्पेन वृद्धत्वाच्छे-पार्थं छपासौ 'बहुलं छन्दसी'ति छसो विधानात् सिद्धः, पुराणप्रसिद्धोपि, वाचस्पत्या-दिवल्लोके ज्ञेयः । तान् प्रसिद्धान् गणयन्ति शेषव्यासाग्निमारुता इति । जडनारद-मैत्राघ्या इति । शेषो भगवद्गुणपरः शय्यादिभावेन भगवन्तं सेवते विभूतिरूपश्च । 'अन-न्तश्चास्मि नागाना'मिति वाक्यात् । व्यासः कलावतारः सदा भगवद्दर्शनरूपणपरो यस्य पूर्णभगवद्दर्शनरूपेणात्मप्रसादः । अग्निर्भगवदास्वरूपाः स्वयमेव येषां सर्वांशे सर्वस्वरूपः कृष्ण एव । मारुतो हनुमान् श्रीरघुनाथतद्गुणतत्परः । जडो जडमरतो योन्तः पूर्णभावाद्बहिर्जड इव प्रतीयते । नारदः सदा पुरुषोत्तमगुणगानैकतानः । मैत्रो मैत्रेयः पराशरशिष्यो भगवद्दर्मे-वक्ता । आषपदादुद्धवाद्यः । समुद्रदृष्टान्तेन यथा चन्द्रदर्शनादब्धिरुत्तुङ्गतरलिततरङ्गो भवति, तथा भगवन्मुखचन्द्रदर्शनादेतेषु प्रवर्धमानभावा भवन्तीति भावः । अयमेव गीवः कपिलदेवैरुक्तः 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः । स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत' इति ॥ १४ ॥

पूर्णभावान् स्वरूपज्ञानभेदेन विलक्षणाग्निरूपयन्ति लोकचेदगुणैरिति ।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥

वर्णयन्ति समुद्रास्तौ क्षाराद्याः पद् प्रकीर्तिताः ।

एके लोकमिश्रभावेन । एके वेदमिश्रभावेन । एके गुणैर्मिश्रभावेन हरिगुणान् वर्णयन्ति । ते क्रमेणोच्यन्ते । रामकृष्णादयो मनुष्या एव, परं बलादिनाधिका इति ज्ञात्वैके हरेर्गुणान् वर्णयन्ति । ते क्षारसमुद्रतुल्यास्तेषां भावस्तु तत्रलतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षारजलं न तृपादिनिवर्तकं न वा तृप्तिमुखकारि तथैतेषां भावोपीति भावः । एके 'तूद्धतासि वराहेण कृष्णेन शतघ्राहुना' इत्यादिना वेदे मूमुक्षुद्धारदेः कृष्णकर्तृकत्वेन निरूपणात् जगत्कर्तृव विविधशरीरेषु आविश्य कार्यं कृत्वा तानि त्यजतीति ज्ञात्वा हरेर्गुणान् वर्णयन्ति । ते दधिमण्डोदतुल्यास्तेषां भावस्तत्रलतुल्य इत्यर्थः । यथा दधिमण्डस्वासारत्वात् पुष्टिहेतुत्वम् । तथैतेषां भावस्यापीति भावः । मायागुणैर्विना भगवतः कर्तृत्वाभावात्तद्गुणैरेव भगवान् सर्वं करोतीति ज्ञात्वा हरेर्गुणान् ये वर्णयन्ति ते सुरोदतुल्यास्तेषां भावः सुरातुल्य इत्यर्थः । यथा सुरायाः स्वरूपविस्मारकत्वं दोषजनकत्वं तथैतद्भावस्यापीति भावः । भगवान् सर्वेश्वरः सर्वं कर्तुं समर्थ इति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान् वर्णयन्ति ते क्षीरोदतुल्यास्तेषां भावः क्षीरतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षीरं स्वाद् मधुरं पुष्टिजनकं तथायं भावोपीति भावः । भगवान् महावीर्यः स्वमत्तानपि वीर्यवतः करोतीति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते घृतोदतुल्यास्तेषां भावो घृततुल्य इत्यर्थः । यथा घृतं वीर्यहेतुस्तथायं भावोपीति भावः । 'तं यथा यथोपासत' इति श्रुतेः 'भगवान् लक्ष्मीकलत्रः सेवितो मुक्तिं मुक्तिं च यच्छती'ति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते त्रिपुरसोदतुल्यास्तेषां भाव इक्षुरसतुल्य इत्यर्थः । यथेक्षुरसो मधुरोन्तस्तापनिवर्तकस्तथायं भावोपीति भावः । 'यशःश्वातुद्धरेत् कृष्णो यादृशांस्तादृशानपि । सर्वथा शरणं यातानतः सेव्यः स एव ही'ति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते शुद्धोदतुल्यास्तेषां भावः शुद्धोदकतुल्य इत्यर्थः । यथा शुद्धोदकं तापनिवृत्तिर्नैर्मल्यतृप्त्यादिहेतुस्तथायं भावोपीति । भगवान् विद्रूपो ज्ञानपूर्णो ज्ञानगम्यः सर्वसमो मोक्षार्थं सेव्य इति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते दधिमण्डोदतुल्यास्तेषां भावो दधिमण्डतुल्य इत्यर्थः । भगवान् वैराग्यपूर्णो न किञ्चिदपेक्षते गृह्णाति वा सर्वैः पावित्र्यार्थं विहितत्वात्सर्वं समर्प्यते स्तुयते चेति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते क्षारोदतुल्यास्तेषां भावः क्षारजलतुल्यो, भगवद्द्वैराग्यस्य मित्ररूपत्वादिति भावः । केवलसमुद्रदृष्टान्ते क्षारोदः शुद्धोदो वा ज्ञेयः ॥ १५ ॥

पूर्णाभगवदीयेष्वत्युत्तमान्निरूपयन्ति गुणातीततयेति ।

गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥

सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।

तेऽधृतोदाः समाख्यातास्तद्राक्पानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥

तादृशानां कचिद्राक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।

अजामिलाकर्णनवद्विन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।

तदा लेहनमित्युक्तं स्नानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥

ये भगवदीयाः 'तमु स्रोतारः' 'यस्मात्क्षरमतीतोद्गम्' 'मच्चिष्टं निर्गुणं स्मृतम्' 'लोकवत्तु लीला कैवल्य'मित्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायैर्भगवन्नामरूपधर्माणां गुणातीतत्वं, निश्चित्य भगवन्नाम सन्निदानन्दात्मकं भगवान् क्षराक्षरातीतः पुरुषोत्तमो भगवच्चिष्टं सर्वं निर्गुणं भगवतो लोकवदपि या लीला सैव कैवल्यं मोक्षः फलरूपा गुणातीता स्मरणादिगान्धेयां मोक्षसाधिका चेत्येवं निरूपणेन विष्णोः पुरुषोत्तमस्य सर्वानेव गुणाञ्जवनीतादिचौर्ध्वगोचारण-वेणुवादनगोवर्धनोद्गरणादीनपि शुद्धान्गुणातीतत्वेन मायासंयन्धरहितात्रित्यान्ताधिदानन्द-रूपवतो वर्णयन्ति तेऽमृतोदाः सुधासमुद्रतुल्याः समाख्याताः कथितास्तेषां भावः सुधातुल्य इत्यर्थः । ते भगवच्चौर्यादिप्रयोजनज्ञातारो, यतो विचक्षणाः, ततस्त्रयस्त्रयाणां तेषां वचना-मृतस्य पानमन्तनिवेशनं तत्र उपदेशग्रहणं सादरश्रवणं च सुदुर्लभं सुतरां दुःप्रापम् । अत एव नामस्वरूपज्ञानार्थमेतादृशानामुपदेष्टृणामुपसत्तिः कार्येत्याशयेनाह श्रुतिः 'महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे' इति । ते स्वस्ववन्धिनं सुमतिं निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भगवन्तं जानन्तं भगवद्भक्तमित्यर्थः । अत एव तत्त्वसागरेषुक्तं 'दुर्लभे सद्गुरूणां तु सात्त्वत्सङ्ग उप-स्थिते । तदनुज्ञा यदा लब्धा स दीक्षावसरो महानि'ति । अत एव नित्यानन्दमयपुरुषो-त्तमत्वेन भगवत्स्वरूपाज्ञाने ज्ञानकर्मादिकं व्यर्थमित्याह भगवा'नवजानन्ति मां मूढा' इत्यारभ्य 'प्रकृतिं मोहिनीं धिता' इत्यन्तेन । नित्यानन्दमयपुरुषोत्तमत्वेन भगवज्ज्ञाने सर्ववित्त्वं सर्वभावेन स्वभजनं चोक्तं भगवता 'यो मामेवमसंमूढ' इति श्लोकेन । तद्वाचो महिमानमाहुः तादृशानामिति । पूर्णभगवदीयानां वाक्यं कचित् यत्र प्रसन्नतया स्नेह्यया वदन्ति, नत्वनुतोषेन प्रेरणया वा, तत्र दूतानां सन्देहहराणामिव वर्णितं ज्ञेयं, यथा दूतमुखेन राजा वदति, तथा तन्मुखेन भगवानपि दूतानामिव प्रमू-क्तवर्णने तेषां न शङ्का चेति भावः । अतो भगवत्कृपया फले भाविन्येतादृशानां समा-गमो भवति । अत एव श्रीभागवते 'भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यन्युत्स-स्समागमः । सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सन्नतो परावरोशे स्वयि जायते मतिः । महद्विचलनं वृणा'-मित्यादि । अत एवैतद्वचनामृतविन्दुपानमेभ्य उपदेशग्रहणं श्लोकमात्रश्रवणं शिक्षा ध्याप्यजामिलाकर्णनवत् । अजामिलस्य यत्राकर्णनं विष्णुदूतेभ्यो भगवद्दर्भबलश्रवणं शिक्षा वा तद्वत् प्रकीर्तितम् । यथाजामिलस्य तदनन्तरं न पुनर्नैरकसम्बन्धो भगवद्दर्भोचरणेनोत्कृष्ट-फलप्राप्तित्तथैतद्विन्दुपानकर्तुरपीति भावः । यद्वा । अजामिलसाकर्णनं यस्मिन् तदजामि-लोपाख्याने तेन यथा भगवद्भूषणामादिमाहात्म्यं ज्ञातं भवति, तथैतद्विन्दुपानेनापि भवतीति

भावः । अत एव श्रीभागवते 'किरातहृणान्भ्रे'ति 'यत्पादपङ्कजे'ति । एतद्विन्दोः पानापेक्षया रसास्वादोधिक इति तत्परिचायकमाहुः रागाज्ञानादिभावानामिति । रागः स्नेहो गृहादिषु, अज्ञानं भगवत्स्वरूपस्य, आदिपदात् गृहाद्यासक्तिः, एतान्येव भावाः । यद्वा । अज्ञानमविद्या आदिर्येषां भावानां शोकमोहादीनां तेषां यदा सर्वथा नाशनं, तद्वासनापि न तिष्ठति, तदा लेहनं रसास्वादनं पूर्णमुक्तम् । यद्वा, रागाज्ञानादिभावानां यदा सर्वथा नाशनमस्फूर्तिस्तदेति । इदमेव विन्दोः पानं लेहनं रसास्वादनमुक्तम् । श्रवणादौ व्यसने सम्पन्ने तदेवास्वाद्यमानममृतं भवतीत्यर्थः । तत्त्वानन्दोद्गमकारणं स्वस्य यो भगवदानन्दसो-
द्गमस्तस्य नित्यत्वात् तत्र कारणम् । 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवती'ति श्रुतेः । स्वस्य तिरोहितानन्दस्य य उद्गमः प्राकट्यं ज्ञानफलं तत्कारणतुल्यं यत्रेति च । प्रक्षमभावानन्तरं भक्तिप्राप्तेः । भगवति क्रमेण प्रेमासक्तिव्यसनैः प्रापशिकास्फूर्तौ न किञ्चिदवशिष्यते । अत एवोक्तमेकादशे 'भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते । मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दा-
नुभवात्मनि । एवं धर्मैर्मुक्त्याणामुद्भवात्मनिवेदिना'मित्यादिना च । तद्योक्तं भक्तिव-
र्धिन्यां श्रीबलुभाचार्यचरणैः 'स्नेहाद्रागविनाशः सादासक्त्या साद्गृहारुचिः । यदा साद्वासनं कृष्णे कृतार्थः सात् तदैव हि' ॥ १६-१९ ॥

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।

उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥

विंशं भावमाहुः उद्धृतोदकवदिति । अव्यवधानेनोक्तामृतोदतुल्यातिरिक्तानां वाक्यानि तथा तेषामेव सर्वे भावाश्च भाववतामप्रत्यक्षदशायामादरेण गृहीतानि वाक्यानि भावाश्चोद्धृतोदकवदुपकारं कुर्वन्ति । यथा कथञ्चिद्गृहीतानि पतितोदकवज्जलाश-
यात् पृथक् स्थितोदकवत् । अथवा, प्रासादादितः पतितोदकवदुपकारं कुर्वन्ति । अथवा । भाववदप्रत्यक्षदशायां सर्वे भावा अमृतोदतुल्यातिरिक्तानामुद्धृतोदकवत्फलं साधयन्ति । वाक्यानि च पतितोदकवत् फलं साधयन्तीत्यर्थः । ततस्तेभ्यो भावेभ्यो वाक्येभ्यश्च फ-
लमपि तथा तदतुरुपमेवेत्यर्थः । यथोद्धृतजलानि स्वप्रभवगुणसदृशानेव गुणान् विद-
धते, न तु तानेव, तथा तत्तद्भावा अपि तत्तद्गुणसदृशान् गुणान् विदधते । सुधा तु सदै-
करूपमेव गुणं विधत् इति भावः ॥ २० ॥

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।

रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

उपसंहरन्ति इतीति । इतीति समाप्तौ । अनेन प्रकारेण वा । जीव आत्मा इन्द्रियाणि च तेषु गताः प्राप्ताः । अत एव भुवि आधारे नानाभावं अनेकविधं सा-
त्त्विकादिभावं गताः प्राप्ताः, नानात्वं वा प्राप्ताः, एतादृशा विष्णोर्भगवतो गुणास्तेषां भावानां भगवदीयत्वात् तद्रूपत्वाद्वा । रूपतः स्वरूपतः ईदृशमिति यत् स्वरूपमिति । फलत

इतीदृशमेतत्फलमिति निरूपिता विवेचिता इत्यर्थः ॥ २१ ॥

जलानामिव भावानां भेदा यत्र निरूपिताः । जलभेद इति ख्यातो ग्रन्थोयं भावबोधकः ॥१॥

श्रीविठ्ठलेशाङ्घ्रिसरोजपीठं कल्याणरायेण मुदा प्रणम्य ।

ताताङ्घ्रिपद्मे च गुरुन् पितृव्यान् टीका कृतेयं जलभेदनाम् ॥ २ ॥

श्रीगोविन्दसुतभोक्ता टीका रागवतां हरी । भावपूर्णा मुदे भूयास्सुन्दरीवाल्मीकिणी ॥३॥

मृषोद्यमनवद्यं वा बालसेव कृपालवः । क्षमन्तां विठ्ठलाधीशचरणाः प्रभवो मम ॥ ४ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरचरणैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता

जलभेदटीका सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिसमेतः ।

नत्वा श्रीब्रह्मचार्यान् भगवन्तं च तद्गुणान् ।

गुणसभावबोधार्था या वाचस्ता उपास्महे ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः भक्तिवर्धिन्यां त्यागिनां गृहस्थानां च भक्तिवृद्ध्यर्थं श्रवणरूपं कीर्तनरूपं च साधनमुक्त्वा तदर्थमर्थयलात्कीर्तयितुः श्रोतुश्च प्राप्ते सङ्गे स किं यस्य कस्यापि कर्तव्य उत भगवदीयत्वेन परीक्षितस्यैत्याकांक्षायां यद्येकादशस्कन्धे 'समूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्तया लोचनं नृणां, गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः, आन्ध्रिय कीर्तिं सुष्ठोकां वितत्य द्वाष्टसानु कौ, तमोनया तरिप्यन्तीत्यगात्सं पदमीश्वर' इति शुकवाक्ये भगवत्कीर्तः संसाररामकतमस्तात्कत्वेन कथनात्साश्च गुणजन्यत्वात्तेषामपि श्रूयमाणानां कीर्त्यमानानां स्मर्यमाणानां कश्चित् दृश्यमाणानां च संसारतारकत्वमेवोचितं, भगवता तदर्थमेवानवतारदशायां कीर्तिद्वारा प्रकटनात्, 'साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोत्रं देहजन्मेव वा, यैकुण्ठनामग्रहणमशेषादहं विदु'रिति षष्ठस्कन्धे शुकवाक्यादजामिलस्य पुत्रोपचारितनामकीर्तनमात्रेणैव संसारत उद्धाराच्च, यस्य कस्यापि सङ्गः कर्तव्य इत्यङ्गीक्रियते, तदा 'मिक्षाशया ये गृह्णन्ति मम नामानि चार्जुन, अमुख्यास्ते जनाः पार्थ दुरतः परिवर्जये'दित्यादिपुराणवाक्येषु निन्दास्मरणस्य, सप्तमस्कन्धे समाप्तौ, 'अहं पुरामवं कश्चिद्भ्रन्धर्व उपग्रहणं' इत्यादिभिर्नारदेन स्वपूर्वजन्मवृत्तान्तकथने गायतो गतस्य मत्तत्पत्नीपरिवृतत्वपुरुलम्पटत्वैः स्वस्य विश्वसृग्दत्तशापकथनस्य च कथमविरोधः । किञ्च, प्रथमस्कन्धे नारदेन स्वस्य शूद्रजन्मनि योगिसङ्गतदुक्तभगवत्कथाश्रवणाभ्यां स्वस्य भ-

गवद्रत्यादिकथन, एकादशस्कन्धे च भगवता कथाश्रवणापर्यं सत्सङ्गस्यैव कथन च कथ सङ्गच्छते, तथा गुणकर्मानुरूपभगवन्नामोच्चारयित्वा मिक्षाशामात्रेण कथ निन्द्यत्व, गुणगातुरूपवर्हणस्य च कथ विश्वसृग्म्य शाप । किञ्चैव भावभेदेन नामाद्युच्चारयित्वा गुणगातुप्रभृतीनां च स्वरूपभेदे फलभेदे चावगम्यमाने कथ द्विविधवाक्यानामविरोध इति सन्देहे स्वीयानां जाते तद्धारणार्थं 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् स' इति न्यायेन भगवानाकाशादिभूतेष्वधारयेत् तत्तद्रूपेण स्थित्वा तत्तत्कार्यं करोति, तथा भगवद्गुणा अपि भगवद्रूपत्वाद्भौतिकेषु तत्तद्भावरूपेष्वधारयेत् तत्तद्रूपेण स्थित्वा तत्तद्भावानुसार्यैव कार्यं कुर्वन्तीति भगवद्गुणानामाधारवशेन फलत स्वरूपतश्च नानाप्रकारता वदिष्यन्तस्तदाधारनिरूपण प्रतिजानते नमस्कृत्येति ।

नमस्कृत्य हरि वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।

भावान्विशतिषा भिन्नान्सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥

हरिं 'हराम्यथ यत्सर्वज्ञा'मिति' भारतवाक्यात्स्मरतामपहर्तारं भगवन्त नमस्कृत्य, तद्गुणानां तच्छब्दस्य सन्निहितपरामर्षित्वात्तस्य हरे गुणानामुत्कर्षाधायकानाम् धर्माणां विभेदकान् विशब्दो नानार्थं नानाभेदजनकान् विशतिप्रकारेण भिन्नान्, सर्वसन्देहवारकान् गुणस्वरूपफलविषयका सर्वे पूर्वोक्तप्रकारका अन्ये च ये तादृशा सन्देहास्तोषा निवर्तकान् भावान् जीवानां मनोविकारान् वक्ष्ये कथयिष्यामि । अत्र सर्वसन्देहवारकानिति विशेषणेन सन्देहनिवृत्तिरूपफलसूचनात्तदर्थं गुणाधारभूतान् भावान् वक्ष्यामीत्यर्थं । न चात्र गुणेषु तदभिध्यानन्यायाङ्गीकारे किं मानमिति शक्यम्, उपसहारवाक्ये, 'इति जीवेन्द्रियगता नानाभाव गता भुवी त्यत्र जीवेन्द्रियगतानां नानाभावप्राप्तिकथनेन तदभिध्यानसूत्रोक्तन्यायस्यैव सूचितत्वादिति ॥ १ ॥

नन्वाधाराणां जीवेन्द्रियधर्मत्वेनानन्त्यात्कथं विशतिषाभिन्नत्वमेव प्रतिज्ञायत इत्याकाक्षायां षोडशोक्त्याः श्रौतवासनया दृष्टान्तेन तथा भिन्नत्व बोधयन्त्यर्धेन गुणभेदा इत्यादि ।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मत्ताः ॥ १ ॥

तु शङ्कानिरासे, उक्तसख्याविषयिणी शङ्का न कार्या, हि यतो हेतो गुणभेदास्तावन्तः यावन्तः यत्सख्याका जले मता श्रुतिसमता । तथा चाधारानन्त्येपि यथा जलस्य विशतिभेदास्तथा गुणानामपि । जल हि शैत्यगुणक स्वच्छ अव्यक्तमधुररस सर्वशोधक स्वसम्बन्धेन द्रव्यान्तरस्य भूयस्त्वापादकमाप्यायक च स्वभावतः सदपि यादृगाधारे पतति तादृक्स्वभाव लोके भवति, गुणदोषौ च जनयति, तथा गुणा अपि स्वभावतः एकविधा आनन्दरूपा ब्रह्मण सकाशात्प्रकाशाश्रयन्यायेन भिन्नाभिन्ना अप्यनेकस्वभाववत्ता-मनेकगुणदोषवत्ता चापघ्नन्ति इति तद्दृष्टान्तेन तथोच्यते । श्रौतदृष्टान्तस्यैव बोधार्थमङ्गी-

कारादित्यर्थः । तत्र तैत्तिरीयसंहितायां सप्तमकाण्डे 'कूप्याम्यः स्वाहा, कूल्याम्यः स्वाहा, विकर्याम्यः स्वाहा, अवद्याम्यः स्वाहा, खन्याम्यः स्वाहा, हृद्याम्यः स्वाहा, सूद्याम्यः स्वाहा, सरस्याम्यः स्वाहा, वैशन्तीम्यः स्वाहा, पल्वल्याम्यः स्वाहा, वर्ष्याम्यः स्वाहा, अवर्ष्याम्यः स्वाहा, छादुनीम्यः स्वाहा, पृथ्व्याम्यः स्वाहा, स्यन्दमानाम्यः स्वाहा, स्यावराम्यः स्वाहा, नादेयीम्यः स्वाहा, सैन्धवीम्यः स्वाहा, समुद्रियाम्यः स्वाहा, सर्वाम्यः स्वाहेति मध्येषु विंशतिविधा अपि अर्पां होमे उक्ताः ॥ १३ ॥

तत्र प्रथमं कूप्या उक्ता इतीहापि कूपसमानं गुणाधारं प्रथममेकेनाहुः गायका इत्यादि ।

गायकाः कूपसंकाशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि संमताः ।

गायका गानकर्तारः कूपसंकाशाः कूपोपमाः, कूपाश्च केचिदुत्तमाः यथा स्कान्दे पुरुषोत्तममाहात्म्ये, 'न्यग्रोधादुत्तरे कूपः सर्वतीर्थमयोस्ति वै,' यथा च द्वारकायामवन्त्यां च दामोदरकूपः, केचिच्च कदाचिदुत्तमाः, यथा ब्रजे गोपकूपः, 'सोमवत्याममायामेव सर्वतीर्थमयो नान्यदा', एवं साधारणा अप्रयोजकाश्च ज्ञातव्याः, तथा गायका अपि, तेषु न साधारणाः, किन्तु गन्धर्वा इति पुराणे वेदे च श्रुताः विशेषेण प्रसिद्धाः । तु पुनः यावन्तः कूपभेदास्तावन्तस्ते गन्धर्वा अपि संमताः सम्यग्विचारिताः । तथा च कूपे मवाः कूप्यास्ता यथा कूपरूपाधारभेदेन रूपतः फलतश्च नानाविधा भवन्ति, एवं गन्धर्वैर्गायमाना गुणा अपि गन्धर्वस्य भगवद्भक्तत्वे तदभक्तत्वे साधारणत्वे लम्पटत्वादिदोषविशिष्टत्वे च तद्भावसमानाकारा भवन्तस्तदनु रूपमेव फलं जनयन्ति । एतेनोपबर्हणस्य शापोऽन्येषां गन्धर्वाणां शापामावः 'भिक्षाशया ये गृह्णन्ती'तिवाक्यं च समर्थितं ज्ञेयम् । तेन 'गुणमाने सुखावाप्ति'रित्यादिना निरोधलक्षणग्रन्थे गुणमातृणां स्वरूपफलोत्कर्षी यावुक्तौ तावपि 'निवृत्ततर्पणसमीपमाना'दिति श्लोकोक्तीरतिकेष्वेव पर्यवस्यत इति बोधितम् । इदं 'पर्णा भगवदीया य' इत्यत्र स्फुटिष्यति ॥ २३ ॥

कूल्याम्यः स्वाहेति श्रुतिमनुसृत्य द्वितीयं भावमाहुः कुल्या इत्यादि ।

कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारंपर्ययुता मुचि ॥ ३ ॥

श्रुतौ कुल्या इति दीर्घः छान्दसो वर्णविकृतिरूपः । पौराणिकाः कुल्याः प्रोक्ताः 'कुल्या स्यात् कृत्रिमा सरि'दिति कोशात् महतो जलाशयात् क्ष्वयत्र जलानयनार्थं या कृत्रिमा नदी क्रियते सा कुल्या । पौराणिकाः पुराणवाचयितारस्ताः प्रोक्ताः । अग्रोपमायाचकपदमावाद्भक्तं ज्ञेयम् । 'उपमैव तिरोभूतोभेदा रूपकमिष्यते' इति काव्यादर्शे लक्षणमात्रमापीदमाधिक्यन्यूनत्वयोरनुक्तत्वाद्भक्त्योक्तिरूपकं ज्ञेयम् । केपासिदलङ्काराणां क्रियत्ययोजनायं शास्त्रेदीकारस्वानुमानिकस्यै तद्विषयश्रुतौ च दर्शनादिति । एवमत्रेपि योष्यम् । पौराणिकानां कुल्यातीत्ये हेतुगर्भं विशेषणमाहुः पारंपर्ययुता मुचीति । तथा

च भूमिष्ठत्वात्परंपरया मूलसम्बन्धाच्च ते कुल्यातुल्या इत्यर्थः । तेन यादृश्य आपः कु-
ल्यायां भवन्ति तादृशस्तेषां भावः । ता यथा नद्यादिरहिते देशे कृत्रिमोपायेन नीताः
श्रवहन्त्यः पानस्नानाचमनादिरूपपरोपकाराय भवन्ति, तथा तेषां भावोपि । पात्रे माघमा-
हात्म्ये वैश्यं प्रति देवदूतवाक्यजाते 'विचारयन्ति ये शास्त्रं वेदाभ्यासरताश्च ये ।
पुराणसंहितां ये च श्रावयन्ति पठन्ति च । व्याकुर्वन्ति स्मृतिं ये च ये धर्मप्रतिबोधकाः ।
वेदान्तेषु निविष्टा ये तैरियंजगती घृता । तेषामभ्यासमाहात्म्यैः सर्वे ते हतकिस्विपाः ।
गच्छन्ति ब्रह्मणो लोकं यत्र मोहो न विद्यते । ज्ञानमज्ञाय यो दद्याद्देदशास्त्रसमुद्भवं । जपि
देवास्तमर्चन्ति भवबन्धविदारक'मिति पौराणिकानामुत्कृष्टत्वकथनात् । अत्र भुवि-
तिकथनात् पूर्वश्लोकोक्ताः स्वर्गस्था इति घोषितम् । अन्यथा तद्वैयर्थ्यापातादिति ॥ ३ ॥
अतः परं 'विकर्याम्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य तृतीयं भावमाहुः क्षेत्रेत्यादि ।

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।

च पुनः ते पौराणिका अपिशब्दाद्गन्धर्वाः क्षेत्रप्रविष्टाः, क्षेत्रशब्देन यथा
केदार उच्यते, तथा 'क्षेत्रं पत्नीशरीरयो'रिति कौशात् 'बलेः क्षेत्रे महीसुज' इति
'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यमिधीयत' इत्यादिवाक्याच्च शरीरपत्न्यावप्युच्येते ।
एवं सति कृत्रिमजलमार्गे कृते तद्वारा केदारप्रविष्टाः कुल्याया आपो यथा उसस
वीजस्य वृक्षस्य वा यः संसारः अभिवृद्धिः तदुत्पत्तिहेतवो भवन्ति, तथा पौराणिका
गन्धर्वाश्च स्वदेहे पत्न्यां वाभिनिविष्टाः संसारस्याहन्तात्ममत्तारमकस्रोत्पत्तिहेतवो भवन्ति ।
अतस्तेषां भावो विकर्यातुल्यः । कृ विक्षेपे, सदोरप्, विशेषेण विविधं वा कीर्यते विक्षिप्यते
असौ विकरः, केदारे कुल्याजलानयनार्थं कृतो मार्गस्तत्र भवाः विकर्याः, ता यथा क्षे-
त्रिभिः स्वान्नसिद्धयर्थं यतस्ततो नीयन्ते तथा तद्भावा अपीति । तादृशा गन्धर्वपौराणिकाः
विकरतुल्या इत्यर्थः । एवं च द्वितीयस्कन्धसुयोधिन्यां कामनाकरणमुपक्रम्य 'वसुकामो वसू-
देवा'नित्यस्य द्वितीयव्याख्याने यदुक्तम् । 'एवं धनस्यापि, भगवद्भक्तेष्वानत्यर्थं श्रव-
णादिसिद्धयर्थं उपदेशनार्थं वा देयमपेक्ष्यते, साधनरूपश्रवणादिकं तादृशैरेव भवती'ति ।
तत्रापि धनदातुः सत्फलं प्रतिगृहीतुस्तु संसारोत्पत्तिः । 'भिक्षाशये'ति वाक्यात् । यदि तु
तत्राविचारार्थमुदरभरणोपयोग्यन्नमात्रं गृह्णाति, तदा तु तीर्थपर्यटित्वन्न दोष इति धो-
ष्यम् । एतदपि तदा यदा पौराणिकानां पारंपर्यस्युत्त्वं भवति । तदभावे तु वक्तृश्रो-
त्रोरुभयोरपि संसार एव । स्वबुद्धान्ययाव्याख्यानान्ययाचोषयोः संभवाच्चेति ज्ञेयम् ।
ननु ब्रह्मदेवतं श्रीकृष्णजन्मस्रण्डे 'कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमङ्गलम् । कुर्वन्ति वि-
श्रयं ये वै तेषां मारेण पीडिते'ति ब्रह्माणं प्रति पृथिवीवाक्यात्, 'मन्नामविकरयी विप्रो न
दि मुक्तो भवेत् ध्रुवं । मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते' इति श्रीनन्दं प्रति भग-
वद्वाक्याच्च, नामविक्रयस्य दोषत्वे शिष्येभ्यो भगवन्नामोपदेशस्यापि दोषत्वापत्तिः । तत्र

शिष्योपदौकितग्रहणेन नामविक्रयसंभवादिति चेत् । सत्यम् । तथापि गुरुत्वस्य साहजिक-
 ब्राह्मणवृत्तित्वेनात्याज्यत्वात्, 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोपमपि न त्यजेत् । सर्वारम्भा हि
 दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता' इति भगवद्वाक्यात् । श्रुतावपि पडाचार्यब्राह्मणारम्भे जनक-
 समीपे याज्ञवल्क्य आगते जनकेन, 'याज्ञवल्क्य ! किमर्थमचारीः पशुनिच्छन्न'
 'एवं ता'निति गोर्थं सूक्ष्मवस्तुनिर्णायकप्रश्नान्मत्तः कारयितुं वागतोसी'ति पृष्टे या-
 ज्ञवल्क्येन 'उभयमेव सम्रा'डित्युक्त्वा, राजप्रश्ने अमवी'न्म उदङ्गः शौल्वायन' इत्यादिना
 प्राणब्रह्मविद्योपदिष्टा, ततो जनकेन हस्त्यृषभसहस्रं ददामीत्युक्ते याज्ञवल्क्येन 'पिता मे-
 मन्यत नाननुशिष्य हरेते'त्युक्त्वा पूर्णा ब्रह्मविद्योपदिष्टा, ततो जनकेन विदेहाः स्वात्मा
 च याज्ञवल्क्याय समर्पितः, तदा याज्ञवल्क्यस्तदङ्गीकृतवानिति थावितत्वेन ब्रह्मविद्योप-
 देशोत्तरं शिष्योपदौकितग्रहणस्य प्राप्ततया तत्रयायस्यात्रापि वक्तुं शक्यत्वाच्च । किञ्च,
 गीतायामेव सहजकर्मात्यागमुक्त्वा, 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः । नैष्कर्म्य-
 सिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छती'त्यत्र असक्तबुद्धित्वादिभिस्तत्कर्मसंन्यासेन नैष्कर्म्यसि-
 द्धिप्राप्तिं कथयता भगवता तदोपपरिहारोपायस्योक्तत्वाच्च तथा करणे दोषाभावादिति ।
 एवञ्च यत्प्रभुचरणेरुक्तं 'विचार्यैव सदा देवं कृष्णनाम विशेषतः । अविचारितदानेन स्वयं
 दाता विनश्यती'ति । तत्रापि स्वस्य शिष्यस्य चोद्धारं विचार्यैव देयम् । लोमादविचा-
 रितदाने तु नामविक्रयापत्त्या दाता स्वयमपराधभागभवतीत्यर्थो ज्ञेयः । प्रकृतमनुसारायः ।
 तेन गन्धर्वाणां पौराणिकानां च सङ्गखल्वस्वरूपं विचार्य कार्यं इति बोधितम् ॥ ३३ ॥

अतः परं 'अवघाम्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुष्ठय चतुर्थं भावमाहुः वेद्यादीत्यादि ।

वेद्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥

आदिपदेन स्वैरिणीसङ्गहः । ईदृशाः गायकाः गर्तसंज्ञिकाः । गर्तलक्षणं तु कात्यायन-
 स्मृतौ 'धनुःसहस्राण्यष्टौ तु तोयं यासां न विधते । न ता नदीशब्दबद्धा गर्तास्ते परि-
 कीर्तिताः' इति । आपः नदीसम्बन्धिन्योपि नदीशब्दबद्धा न, किन्तु ते जलाशया गर्ताः
 शस्त्रेषु सर्वत्र कीर्तिता इत्यर्थः । तथा च 'नद्या यच्च परित्यक्त'मित्यादिवाक्यान्तरात् तज्जलं
 षड्गुलमपि न शिष्टानां स्नानपानादियोग्यम् । तथा तादृशां भावोपीत्यर्थः । यद्वा, 'प्रह्लादो
 ह वै कायाध्वः विरोचन'स्त्रपुत्रमुदास्यत्, स प्रदरोऽभवत्, तस्मात्प्रदरस्य नाचामे'दिति
 श्रुतावापसम्बन्धस्मृतौ च न वर्षाचारास्त्राचामेत्तया च प्रदरोदक इति तज्जलाचमननियेषात् ।
 तत्र 'प्रदरो गर्त' इति सापथीयादौ व्याख्यानात्तेषामपोऽवघाः, न उदन्त इत्यवघाः पूर्वो-
 क्तश्रुतिस्मृतिभ्यां तदाधारनिन्दातः ता अपि निन्द्या इत्यर्थः । तादृशां भावस्य दुष्टत्वात्तद्गोता
 गुणा न समीचीनफलदाः गादृषां श्रोदृषां चेति तादृशां सङ्गो न कर्तव्य इति भावः ॥ ४ ॥

अतः परं 'खन्याम्यः साहे'ति श्रुतिमनुष्ठय पञ्चमं भावं वक्तुमन्यापि ततो
 हीनानाहुः जलार्थमित्यादि ।

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।

हस्तपादप्रक्षालनगण्डूपादिदुष्टजलस्य सर्वत्र प्रसारामावार्थं ये गर्ताः कृतास्तादृशाः ।
तथा च तज्जलं न समीचां योग्यम् । जाल्या नीचाः गानोपजीवनेनैव ये उदरं गरयस्ते
यथा तथा तेषां भावोपीति तद्वता गुणा अपि तादृशा इति तत्सङ्गो न कार्य इति भावः ।
श्रुतौ 'अवधाम्यः स्वाहे'त्यनन्तरं 'खन्याम्यः स्वाहे'त्युक्तम् । अत्र खननेन निष्पन्ना आपः
खन्या इति व्याख्यानम् । तथा सति तत्सङ्गहार्थमत्रापि प्रकारान्तरेण पुनर्व्याख्येयम् ।
तुशब्देन तथा सूचनात् । तथा च नीचा गानोपजीविनः जलार्थमेव गर्ताः । तु पुनः नीचा
गानोपजीविनः जलार्थमेव गर्ता इति । एतस्मिन् पक्षे चायमर्थः । जलार्थं जलनिष्पादनार्थं
खननेन निष्पादिता ये गर्तास्ते जलार्थमेव गर्ताश्चोद्राणीति यावत् । नीचा गानोपजी-
विनस्तादृशाः तेषु नीचत्वं जातिदोषः, गानोपजीवित्वं च कर्मदोष इति । चोद्रजलं पुनः
खननात्कलुषं निर्मलमपि संस्कारं विना नानाजातीयजनोच्छिष्टसंसर्गदोषाच्च यथा शिष्टायोग्यं,
तथा तद्भावनिविष्टा गुणा अपि स्वरूपतः फलतश्च दुष्प्यन्तीति तादृशामपि सङ्गो न कार्य इति
योधितम् । एवं पञ्चविधा भावा उक्ताः । एवमत्र गातृविषयकाः सन्देहा निवारिताः ॥४३॥

अतः परं कीर्तयितृविषयकांस्तान् निवारयितुं 'हृद्याम्य स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्योत्तमं
पष्ठं भावमाहुः हृदास्तिचत्यादि ।

हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः ।

सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता येशन्ताः परिकीर्तिताः ।

कर्मशुद्धाः पल्पलानि तथाल्पश्रुतभक्तयः ॥ ७ ॥

अत्र तुशब्दः प्रकरणं भिनत्ति । पण्डा शास्त्रजन्या बुद्धिः स्वामीष्टार्थेप्रादिका च
तद्वन्तः पण्डिताः प्रकर्षेण पुराणादिपूक्ताः । शास्त्रदर्शित्वेपि विशेषमाहुः भगवच्छास्त्रत-
त्परा इति । भगवता प्रोक्तं शास्त्रं गीताश्रीमागवतपञ्चरात्रवाराहपुराणादि तन्निष्ठाः ये ते
हृदाः । 'जलाशयो जलाधारस्त्राणधजलो हृद' इति कोशात् महान् जलाशयो हृदः, परं न-
पेकदेशमूलो नदीसंलभः । 'कालिन्यां कालीयस्यासीत् हृद' इति 'शुष्यद्भद्राः कृशतटा
पत सिन्धुपत्न्य' इत्यादी तादृशेष्वेव हृदपदप्रयोगात् । तथा च तेषां भावे निविष्टा भगवद्गुणा
अपि हृद्यजलतुल्याः । तद्यथा सर्वकार्येषु स्वरूपतः प्रशस्तं फलतश्चोत्तमं, तथा तैर्विचार्य-
माणास्तेभ्यः श्रूयमाणाश्च गुणाः स्वरूपतः फलतश्चोत्तमा इत्यर्थः । अत्रापि 'विचारयन्ति
ये शास्त्रं वेदान्यासरताश्च ये' इति पूर्वोपन्यस्तमाधमाहात्म्योक्तं स्वरूपवाक्यं फलवाक्यं
चानुसन्धेयम् । सूद्याम्यः स्वाहेति श्रुतिमनुसृत्य तस्मादुत्कृष्टं सप्तमं भावमाहुः सन्देह-
त्यादि । तत्र तेषु भगवच्छास्त्रतत्परेषु येऽज्ञानां श्रोतॄणां भगवच्छास्त्रविषयकं सन्देहं वार-

यन्ति, ते सूदाः, सुष्ठु समीचीनं स्वाहु सद्गुणं उदमुदकं येषां ते सूदाः । तत्र हेतु-
 माहुः गंभीरमानसा इति । अगाधं दुरवगाहं हृदयं येषां तादृशाः । तथा च श्रोतुर्हृदयं
 बुद्ध्या तदधिकारानुसारेण तद्धितं बोधयन्ति, न तु सर्वं शास्त्रार्थमित्यर्थः । तेन यादृशं ज-
 लमुक्तं तादृशस्तेषां भावः स्वरूपतः फलतश्चोत्तम इति तादृशां सङ्गः कर्तव्य इति भावः ।
 अत्रापि 'पूर्वोक्तज्ञानमज्ञाय यो दद्या'दिति वाक्यं 'गच्छन्ति ब्रह्मणो लोक'मिति तत्फल-
 वाक्यं चानुसन्वेयम् । एवमत्र मर्यादामार्गीयं भावद्वयमुक्तम् । श्रीकल्पाणरायास्तु 'सूदा
 इत्यनेन वाप्योदा उच्यन्ते' इति पक्षान्तरमाहुः । तदा तस्मिन् पक्षे गंभीरत्वं निम्नत्वं स-
 न्देहवारकत्वं च तत्र सोपानस्थानापन्नं ज्ञेयम् । तत्रैव श्रोतॄणां विशेषतस्तत्सङ्गादिति ।
 अतः परं 'सरस्याम्यः स्वाहे'ति श्रुत्यनुसारेण तत् उत्कृष्टं पुष्टनुसृतमष्टमं भावमाहुः सर
 इत्यादि । भगवति प्रेम्णा युक्ताः निवृत्तलौकिकरागाः, तथा पूर्वोक्तवत् शुधाः भगवच्छा-
 स्रतयराः श्रोतुः सन्देहवारकाः ये ते सरःकमलसंपूर्णाः, सरसि यानि कमलानि तैः स-
 म्पूर्णा सम्यग्भरिता या आपस्तादृशाः । न च श्रुतौ सरस्यापदेन सरोधिकरणकत्वमात्रला-
 भादत्र कमलसम्पूर्णत्वस्य कृत उक्तिरिति शक्यम् । सरस्यापदस्य 'सारसं सरसीरूह'मिति
 कमलनामस्मारणेन तत्संबन्धार्थमेव तद्व्ययोगात् । अन्यथा ह्यासृद्याम्यां विशेषामावात्तद-
 नुल्लेखापत्तेरिति बोध्यम् । अत्र पूर्वं जलधाराणां दृष्टान्तत्वमुक्तत्वात् यदाप एव दृष्टान्त-
 त्वेन सूचितास्तेन तेषां भावव्याप्तत्वं सूच्यते । तथाच यथा ता आपः सौगन्ध्यग्रमर-
 शंकारप्रभृतिभिः सर्वेन्द्रियाह्लादिन्यस्तथा तेषां भावोपि श्रोतॄषु ज्ञानमक्ती संक्रामयन्
 तेषां सर्वेन्द्रियाह्लादी भवति, फलतश्चोत्कृष्टत इति तद्व्रता गुणास्तथेत्यर्थः । अत एवका-
 दशस्कन्धे संवादसमाप्ती भगवतोक्तं 'य एतन्मम भक्तेषु संप्रदधात्सुपुष्कलं, तस्माहं
 ब्रह्मदायस्य ददाम्यात्मानमात्मने'ति । अतःपरं 'वैशन्तीम्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य ततो
 न्यूनं नयनं भावमाहुः अल्पश्रुता इत्यादि । अल्पं श्रुतमप्ययनं श्रवणं वा सत्पुरुषवा-
 क्यसम्यग्नि येषां ते अल्पश्रुताः भगवद्विषयकप्रेमयुक्ताश्च । ते वैशन्ताः अल्पसरस्तुत्याः ।
 'वैशन्तः पत्वलं चाल्पसरे' इति कोशात् । 'विश प्रवेशने विशन्त्यास्मिन् भेकादय' इति
 निरुक्तम् । अत्र चाल्पश्रुतप्रेमयुक्तपदयोः समभिव्याहारात्कदापि स्वत्पत्वं सूच्यते । तेन
 'वैशन्तीम्यः स्वाहे'ति श्रुत्युक्ता या आपस्तादृशस्तेषां भाव इति पोषितम् । तथा च
 प्रेमवत्त्वेन पूर्वोक्तजातीयत्वेष्वप्यप्यत्वाद्यथा तत्रतं महिषादिभिरवगाढं क्लृप्यं भवति, तथा
 तद्गानोपि श्रुतप्रेम्णोरत्पत्वाद्दिजानीयशास्त्रादिसंसर्गेण क्लृपितो भवतीति तत्सहोऽप्रयोजक
 इत्येवमर्थः । अतः परं 'पत्वत्याम्यः स्वाहे'ति श्रुत्यनुसृतं वैशन्तसजातीयं दशमं भावमाहुः
 कर्मत्यादि । श्रुतं च भक्तिम् श्रुतमक्ती, तथा पूर्वोक्तपदत्वे श्रुतमक्ती येषां ते तथात्प-
 श्रुतमक्तयः । पूर्वोक्तादिशेषः कर्मश्रुद्धा इति । भगवद्विषयेन फलासङ्गरहितेन कर्म-
 निहारोदेशतो वा श्रुतेन कर्मणा श्रुद्धाः तदनुसृतपिचश्रुदिसुक्ताः पत्वलानि । वैशन्तपत्व-

लयोः शक्यतावच्छेदकतौल्येपि श्रुतौ 'पत्वत्याम्यः स्वाहे'ति निर्देशमेदात् पलगतौ पलति पल्यते वेति निरुक्तिभेदाद्य तयोः कश्चित् भेदो वाच्यः । स चात्र कर्मशुद्धिभेदादवगन्तव्यः । तेनैवं पूर्वस्मादाधिष्येपि गन्तृत्वान्महिषादिगम्यतया कालुष्याच्च तत्तुल्यकक्षत्वमेव । तथा च तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति तत्सङ्क्षोभ्यप्रयोजक इत्येत्यर्थः । एवमत्र कीर्तयितृविषयकाः सन्देहा निवारिताः । कीर्तयितृषु च श्रोत्रणामुपकाराय वाच एव प्राधान्यात्तस्माच्च पहिन्द्रियत्वात्तदाधारभूतस्थूलदेहे प्राधान्येन गुणाधारा एव जलाधारसाम्येन निरूपिताः ।

अतः परं भावयितृविषयकान् सन्देहान् वारयितुं तेषु लिङ्गशरीरस्य मनस एव प्राधान्याद्गुणा विशेषतो वह्निं निर्गच्छन्तीति दुर्लभत्वाद्गुणानामेव जलतुल्यत्वं निरूपयन्ती 'वर्ष्याम्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य पूर्वस्माद्विलक्षणमेकादशं भावमाहुः योगेत्यादि ।

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः ।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधो, यमाद्यष्टाङ्गसहितः । यथा द्वितीयस्कन्धे प्रथमाध्याये 'गृहा-
द्यप्रजितो धीर' इत्यादिना स्थूलभगवद्विषयकधारणावानुक्तः । 'यतः सन्धार्यमाणायामां यो-
गिनो भक्तिलक्षणः । आशु संपद्यते योग आश्रयं भद्रभीक्षत' इत्यनेन तस्यापि भक्तिसा-
धकत्वोक्तेः । ध्यानं सप्रयत्नश्चित्तव्यापारः । यथा 'केचित्स्रस्त्रदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं
पुरयं वसन्तम् । चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गसङ्गदाधरं धारणया स्मरन्ती'त्यादिपूर्कं, आदिपदेन
धारणा, एतैस्त्रिभिः समुच्चितैरेकैकेन वा संयुक्ता भगवतो गुणा योगप्रभावादयो रूपली-
लादयश्च । कपिलदेवैः 'सितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गृहाशय'मिति ध्यानविषये लीला-
नामप्युक्तत्वात् । तादृशा गुणा वर्ष्याः वृष्टिर्वर्षस्तत्सम्बन्धिन्य अपो वर्ष्याः, ता यथा
दिव्याः भूमौ पतन्त्यो जलाशयान् स्वकाल एव भरन्ति, तथा योगादियुक्ता भगवद्गुणा
अपि योगिषु वर्तमानाः भूमौ दुर्लभाः अधिकारिविशेषान् कृतार्थयन्ति, न सर्वानित्यर्थः ।
यद्यपि वृष्टिर्जलं क्षेत्रादौ पतितं सत् संसारहेतुर्भवति, तथापि सौशो नात्र दृष्टान्तफल-
तयाभिप्रेतः । तेषां योगित्वादान्तर्निष्ठत्वेन तयात्वस्य वस्तुभगवन्व्यत्वात्, कुयोगित्वापा-
त्तेन विद्वरकाष्ठत्वापाताच्च, 'वैराग्यं सांख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे, पञ्चपर्वेति विद्येयं
यथा विद्वान् हरिं विशेदि'ति निबन्धे योगस्य विद्यापर्वत्वेनोक्ततयात्रोत्कर्षार्थं तद्गृहणाच्च ।
दार्ष्टान्तिकतयात्र गुणानामेवोक्तत्वाच्च । अन्यथा तु भावकथनस्योपक्रान्तत्वेन तद्विरोधाप-
त्तेश्च । तस्मात्पूर्वोक्तमेव दृष्टान्तफलं प्राप्स्यम् । इतः पूर्वं कर्मशुद्धानामुक्तत्वाद्वा तत्प्रस-
ङ्गेन योगस्मरणं, योगस्यापि कर्मविशेषत्वादिति ॥ ७३ ॥

अतःपरं 'मवर्ष्याम्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य कर्मसम्बन्धिनमेव द्वादशं भावमाहुः तप इत्यादि ।

तपोज्ञानादिभावेन खेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

तुः प्रकरणभेदकः । 'तप सन्तोषे,' शरीरेन्द्रियादिकं तपति यत्कर्म कृच्छ्रध्यानाद्य-
पानशनादिरूपं ततः, ज्ञानं सेश्वरसांव्यादिसिद्धं, आदिपदेन त्यागः, तेषां भावेन वि-

धमानतया संयुक्ता ये गुणास्ते स्वेदजाः प्रकीर्तिताः । अत्र योगध्यानादिसंयुक्तपदैकदेश-
मूलं संयुक्तं पदमनुपजते । तथा च तादृशा गुणाः स्वेदजाः प्रकीर्तिताः, 'ध्विदा मात्रप्रक्ष-
रणे,' धर्मश्रमादिना सन्तसाद्रात्रात्प्रसृतं यद्गलं सः स्वेदस्तस्माज्जाता वर्षजलभिन्नत्वेपि
विन्दुरूपत्वाद्दर्शयितुल्या अवर्ष्याः या आपो वस्त्रादावेकीभूतास्तुत्याः । ता यथा न समी-
चीनव्यवहारयोग्याः, किन्तु तद्गात्रस्यैव तापनिवारिकाः, नान्यस्य, एवं तद्गता गुणा अ-
पीत्यर्थः । तेन तादृशमपि सद्गो न प्रकृतोपयोगी । तपष्वादिष्वेव विशेषाभिनिवेशेन
गुणानां गौणत्वात्कचिन्मुख्यत्वेपि प्रकृतानुपयोगित्वादिति । अवर्ष्यत्वं च वर्ष्यभिन्नत्वे
सति तत्समानत्वं, तच्च भूयः प्रक्षरणाद्बोध्यम् ।

सायणीये तु वर्ष्यनैरपेक्ष्येण भूमाववस्थिता अवर्ष्या इति व्याख्यातम्, तन्नास्माकं
रोचते । पर्सुदासस्य सद्यग्राहित्वेन भूमाववस्थिते तत्सदृशत्वामावात् । अतस्तदर्थं तत्र
स्वेदजलमेव ग्राह्यं, भूयः सादृश्यादिति ॥ ८ ॥

अतः परं 'हादुनीम्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य कीर्तयितुनिष्ठमुत्कृष्टं त्रयोदशं भावमाहुः
अलौकिकेनेत्यादि ।

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।

पादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

तुः पूर्वोक्तसादृश्यभेदकः । अलौकिकं भगवत्कृपाजन्यं महदनुग्रहजन्यं वा
अलौकिकार्थप्रकाशकत्वालोकाविलक्षणं यत् ज्ञानं, तेन प्रत्यासत्तिभूतेन मनसि तेषां भाना-
त्तेनैव श्रोतुरधिकारस्यापि भानात् प्रकर्षेण तदधिकारानुसारिणोक्ताः कादाचित्काः श्रोतृणां
करिमाश्रित्कालविशेष एव बुद्धिगोचराः शब्दगम्या आसवाक्यादेव ज्ञायमाना ईदृशा ये हरेः
सर्वदुःखहर्तृगुणाः रूपलीलाविशेषाः प्रकर्षेण कीर्तिताः । 'पल्ल गतौ,' पतन् सर्वतो गच्छन्
शब्दो हादो यासामपां ताः पतच्छब्दास्तादृशाः प्रकर्षेण कीर्तिताः । तथा च भगवतो रहसा
ये गुणास्ते तादृशेभ्य एव कीर्तयितव्यः श्रोतृभिः प्राप्यन्ते, न सर्वैः । अतस्तादृशाधिकारस-
म्बन्धो तादृशां कीर्तयितृणां सद्गः सर्वथा कार्य एवेति भावः ॥ ९ ॥

गतः परं 'ष्ट'गम्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य चतुर्दशं जपन्यं भावमाहुः देवेत्यादि ।

देवानुष्मसनोद्भूताः ष्टभ्या भूमेरिवोद्भूताः ।

टैतः श्रौताः 'राणिता' शिवादिगुणगणपतिगृह्यत आदिशब्देनान्ये विदु-
माप्रादयस्तेषामुपासनं भस्वरूपगन्तनं सेवनं वा तेनोद्भूता उपासके उद्भूताः स्वयम-
न्यैधानुभूयमाना इति यावत् । ईदृशा ये गुणाः ज्ञानफलसामर्थ्यादयस्ते ष्टभ्याः अवस्थाप-
जन्ता आपः ष्टभ्या इति सायणभाष्ये व्याख्यातं, तनुत्याः । ता यथा पापाणममौ पतिताः,
तत्र उद्भूता इव भासन्ते, न तु तास्तदीयाः, एवं तेजसि गुणा भगवदीया एव, 'यद्यद्रिगूनि-
मन्वत्वं श्रीमद्भूतमेव वा, तच्छेवावगच्छ त्व मम तेनोऽसम्भव'मिति गीतावाक्योक्त-

न्यायात् । परन्तु तानुपासकाः स्वीयत्वेन देवीयत्वादिना वा भ्रमान्मन्यन्ते, तेन च उरिसन्यन्ते साहंकारा भवन्तीति यावत् । अतस्तेषां स्वरूपं फलं च जघन्यमेव । नीहारेण प्रावृता इति श्रुतौ नीहारस्य ज्ञानतिरोपायकत्वेनोक्तत्वादिति तेपूत्कर्षबुद्धिस्तादृशां सद्गन्धन कार्य इत्यर्थः ।

अतःपरं 'स्यन्दमानाम्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य पञ्चदशं भावमाहुः साधनेत्यादि ।

साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥ १० ॥

प्रेमपूर्व्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

साधनानि वर्णाश्रमधर्मास्ते आदयो यस्य तादृशो यः प्रकारो मर्यादामार्गीयो निष्कामतत्करणरूपत्वेन प्रकारेण यो नवधा भक्तिमार्गः । 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुंसांपिता विष्णौ भक्तिश्चैत्रवलक्षणो'ति वाक्योक्तो मार्गो भगवत्प्राप्त्युपायः । ततो या प्रेम्णः भगवद्भक्तिरूपस्य पूर्तिर्हृदये व्याप्तिस्तया कृत्वा स्फुरन्तो भगवद्धर्मा येषु ते स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः । स्यन्द प्रसवणे, प्रसवणरूपा या आपस्तादृशाः । ता यथा स्नानपानाचमनादौ प्रशस्ताः स्वसंयुक्तां भूमिं शीतलां कुर्वन्ति, मर्यादुपकुर्वन्ति च, तथा तादृशगुणाधाराः पुरुषा अपि पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वान् श्रोतृन् द्रष्टृश्च स्वात्मनश्च भगवदुपयोगिनः कुर्वन्तीति तादृशां सद्गः कार्य इत्यर्थः ॥ १० ॥

अतःपरं 'स्थावराभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य षोडशं भावमाहुः यादृशा इत्यादि ।

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥

स्थावरास्ते मया ख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

यादृशाः साधनादीत्यारम्य धर्मा इत्यन्तेन यत्प्रकारकाः सिद्धास्तादृशास्तत्प्रकारकाः सन्तः प्रोक्ताः प्रकर्षेण शस्त्रे उक्ताः, ये गुणाधारा वृद्धिक्षयविवर्जिताः न वर्धन्ते, न वा क्षीयन्ते, किन्त्वेकरूपास्तिष्ठन्ति । किञ्च, मर्यादैकप्रतिष्ठिताः । 'एके मुख्यान्येकवलाः' मर्यादायामेव एके च ते प्रतिष्ठिताश्च एकप्रतिष्ठिताः मुख्याः प्रतिष्ठां च प्राप्ताः ते गुणाधारा मया स्थावरा एकत्र प्रतिष्ठिता या आपस्ताः स्थावराः तत्तुल्याः ख्याताः प्रकथिताः । ता यथा एकत्रैव तिष्ठन्ति स्वाधारमेव च शीतलीकुर्वन्ति, गुणवत्तया ख्यापयन्ति च । नतु स्वत उच्यमान्यानुपकुर्वन्ति, तथा ते गुणाधाराः पुरुषा अपि स्वसम्बद्धान् स्वाधारं च ख्यापयन्ति । तेन तादृशां सद्गस्तावन्मात्रगुणकः, न तु विशेषानुग्रहफलक इत्यर्थः । अत्र मयेत्युक्त्या नान्येषां सम्मतिरिति बोधितम् । अन्येषां मर्यादाप्रतिष्ठितत्वेन पुष्टिरूपस्याज्ञानान्मार्यादिकेपूत्कर्षबुद्धेरिति ॥ ११ ॥

अतःपरं 'नादेयीभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य सप्तदशं भावं सार्धेनाहुः अनेकेत्यादि ।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥

सद्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।

निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥

अनेकेषु जन्मसु संसिद्धाः सम्यक्सिद्धाः पूर्वानुरूपतया सिद्धाः । जन्मप्रभृतीति क्रियाविशेषणम् । एतज्जन्मारभ्य, सर्वदा सर्वस्मिन्काले सद्वातगुणदोषाभ्यां, आदिशब्देन कालकर्मदेशस्वभावास्तत्कृतौ यौ गुणदोषौ ताम्यां कृत्वा भुवि भवनं भूः उत्पत्तिर्विधमानता वा तस्यां वृद्धिक्षययुताः सत्सङ्गेन समीचीनदेशकालकर्मस्वभाववैर्बुद्धिमन्तः दुःसंगादसमीचीनकालकर्मदेशस्वभावैः क्षयं प्राप्नुवन्तः, ईदृशाः सन्तोपि निरन्तरोद्गमयुता निरन्तरो यदुद्गमः प्रवाहस्त्वेन युतास्तादृशा ये गुणास्ते नादेयीनामपामाधारभूता या नद्यस्तत्तुल्याः कीर्तिताः । तथा च नद्यो यथा काश्चित्स्वभावतः शुभाः काश्चिद्दुष्टाः, यथा गङ्गा-दयः, कर्मनाशायश्च, काश्चन कालतः, यथा 'कलौ वेत्रवती गङ्गे'ति । गङ्गा च न पूर्ववत्स्नानमात्रेण कुष्ठं हरतीति, तथा देशतः, यथा-भागीरथी महानदी च प्रवाहदेशभेदात् । एवं संगापि ज्ञेयाः, यथा श्रीयमुनासङ्गेन गंगा उत्कृष्टा जाता, तासां जलं च तादृशमेव, तथा तद्भावा अपीति तन्निष्ठा गुणा अपि तत्स्वरूपा इति तादृशां संगो न निश्चयेनोत्तम-फलद इत्यर्थः । अत्र च नदीनामेतावद्विशेषणकथनं दार्ष्टान्तिके एतेषामेव धर्माणां प्राप्त्यर्थम् । तेन भावेषु गुणेषु तदाधारेषु चैत एव धर्मा अतिदेष्टव्याः, नेतर इति सूचितम् । अन्यथैतावत्कथनवैयर्थ्यापत्तेरिति ॥ १२ ॥ १३ ॥

अतःपरं 'सैन्धवीभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्याष्टादशं भावमाहुः एतादृशा इत्यादि ।

एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत् सिन्धवः परिकीर्तिताः ।

अत्रैतादृशा इत्यनेनाद्यन्तविशेषणयोः संग्रहः । स्वतन्त्रा इत्यनेन मध्यविशेषणनि-
रासः क्रियते । तथा चैतादृशा अनेकजन्मसंसिद्धा निरन्तरोद्गमयुताः स्वतन्त्राः जन्मप्रभृति सर्वदा संगगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षयरहिताश्चेत्युः तदा ते जीवाः सिन्धवः समुद्रगामिन्यो महानद्यो महानदाश्च तत्तुल्याः परिकीर्तिताः । तेषां भावो महानदीजलतुल्यः । तद्यथा दृष्टं स्पष्टं समीचीनव्यवहारेण शुभफलं गृहादावानीतमपि शुभम्, तथा तद्रता गुणा अपि स्वरूपतः फलतश्चोत्तमा इति तादृशां संगः कर्तव्य इति भावः ॥ १३ ॥

अतःपरं 'समुद्रियाम्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य तत् उत्तममूलविंशं भावमाहुः पूर्णा इत्यादि ।

पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥

जडनारदमैत्रायास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

पूर्णाः ज्ञानक्रियामकिसाफल्ययुक्ताः भगवदीया भगवत्सम्बन्धिनः । भगवदीय-
शब्दो अन्युत्पन्नो वैदूर्यादिशब्दवद्बो 'भगवदीयत्वेनेव परिसमाप्तसर्वायां' इति श्रीभाग-
वतप्रथमस्कन्धे प्रयोगादवगन्तव्यः । य इति दुर्लभत्वं तेषां सूच्यते । तान् गणयन्ति
शेषेत्यादि । शेषः संकर्षणः सनत्कुमारोपदेष्ट । व्यासो भगवान् यादरायणः, भगवतो
ज्ञानावतारः, समाप्तौ भगवत्स्वरूपं लीलां चानुभूय श्रीभागवतमुक्तान्, शुकं च पाट्टिन-

वान् । अप्रिरमिपुराणवक्ता, मारुतो वायुपुराणवक्ता, जडो रह्यगणोपदेष्टा, नारदः प्रसिद्ध एव, सनत्कुमारशिष्यः प्राचीनपरिहंसुरुरुः, मैत्रो मैत्रेयः त्रिपुरोपदेष्टा, आदिपदेन शिवादिसङ्ग्रहः । ते समुद्राः प्रकीर्तितास्तेषां भावः समुद्रजलतुल्यः । समुद्रजलं यथातिगम्भीरं अक्षोभ्यं रत्नानामाकरमूलं तथा तेषां भावोप्यत्यन्तगम्भीरोऽक्षोभ्यो नानाविधभावाकरश्चेति तन्निष्ठा गुणा अपि तथेति तादृशां संगःसेवा च स्वरूपतः फलतश्चोत्तमेति सा कार्यत्वर्थः ॥१४३॥

पूर्वं भावनिरूपणारम्भे श्रुतिपुराणसिद्धाः गन्धर्वाः 'कूपमेदास्त्वित्'त्वर्येन यथा नानामेदा उक्तास्तथा अन्ते पुराणादिप्रसिद्धान् भगवदीयानपि नानामेदान् द्वाभ्यामाहुः लोकैक्यादि ।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥

वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराव्याः पट्ट प्रकीर्तिताः ।

गुणातीततया शुद्धान्सचिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥

सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।

तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्याकपानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥

लोकश्च वेदश्च गुणाश्च लोकवेदगुणास्तेर्मिश्रभावेन मिलितत्वेन एके मुख्यभगवदीयाः हरेः सर्वदुःखहर्तुर्भगवतो गुणान् वर्णयन्ति । यथा वाल्मीकी रामायणे रामगुणान् लोकमिश्रानुक्तवान् । यथा चाध्यात्मरामायणे शिवो रामगुणान् वेदमिश्रान् । यथा विष्णुपुराणे पराशरः सत्त्वगुणमिश्रान् । यथा च मनुःस्मृत्यारम्भे रजोमिश्रान् । 'स्वयंभुवे नमस्कृत्ये'-त्युक्त्वा पश्चादग्रे सृष्टिं वर्णयिष्यन् 'ब्रह्मा नारायणाख्यस्तु सुष्वाप सजिले तदे'त्युक्तवान् । यथा च वासुदेववर्षीये शिवरूपमेव ब्रह्मत्वेनोक्तवान् । न च मनोर्भगवदीयत्वाभावः शंभयः । तृतीयस्कन्धे तस्य तथात्वसाधनात् । न वा यायोः । हनुमदवतारे तस्य रामभक्तत्वेनैव सुप्रसिद्धत्वादिति । न च गुणमिश्रवर्णने गुणामिमानिवर्णनमिति शंभयम् । तत्र तदुक्तेषु ब्रह्मविष्णुमहेश्वरेषु अभिमानित्वापादकस्य कालमयस्यानुक्तत्वात् । अतो गुणावतारा एव तयोच्यन्ते, न जीवाः । एवमत्र लोकवेदगुणमिश्रभावेन पञ्चैव सिध्यन्ति, न षष्ठः, अतो लोकवेदगुणेष्वलक्षितान् मिश्रभावेनोपलक्षितान् हरेर्गुणान् वर्णयन्तीति व्याख्येयम्, तथा सति संकीर्णपुराणवक्ताः यथा भविष्यन्तीति तैः संख्यापूर्तिः । एवञ्च तत्तद्भाष्यसत्प्रलतुल्योवगन्तव्यः । तज्जलं यथा क्षाराम्लमादान्यायुक्तमगुरसैहयुक्तमगुरगुणकम्, तथा तेषां भावोपीति तन्निष्ठा गुणा अपि लोकादिप्रधानास्यदत्तुरुपफलदा इति तत्संगोपि तथेत्वर्थः । न च गुणाद्युपलक्षिता गुणा न मूलगुणा इति शंभयम् । 'यदादित्यगतं तेज' इति न्यायेन तेषामपि मागवत्त्वे बाधकाभावादापाततः प्रतीतिरप्रयोजकत्वाच्च, अत एव निष्पन्धे 'सर्वस्वरूपी कृष्णस्तु कर्ता तेषु तयोदित' इति स्थितमिति न काचिच्छङ्का । एवं षट् समुद्रतुल्यान् भगवदीयानुक्त्वा सर्वत उत्तमान् सप्तमानाहुः गुणातीततथेत्यादि । स्वस्य गुणातीततया शुद्धान् लोकवेदगुणामिश्रान् सचिदानन्दरूपिणः सचिदान-

न्दात्मकान्, विष्णोरित्यस्य वा विशेषणं, तथा च सच्चिदानन्दरूपिणो विष्णोः तादृशान् शुद्धान् सर्वान् गुणान् स्वयं गुणातीततया विचक्षणाः सर्वज्ञातारः सन्तो ये वर्णयन्ति, ते अमृतोदाः शुद्धोदसमुद्रतुल्याः सम्यक्प्रकारेण आख्याताः कथिताः । अतस्तादृशां भावो गुणातीत एवेति । तत्र भगवद्गुणा अपि स्वस्य यथावत्स्वरूपतया प्रकाशमाना भवन्तीति तेषां संगो दुर्लभ इति तद्वाक्यानां तेषां या वाचस्तासां स्वान्तःप्रवेशं सुतरां दुर्लभमित्यर्थः । अत्र शुद्धोदा इत्यनुक्त्वा यदमृतोदा इत्युक्तं तेन श्वेतद्वीपादिपरिखाभूतावरण्याख्यौ 'अरश्च ह वैण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके' इति श्रुत्युक्तौ 'अरनामामृतांभोधिर्ण्यनामामृतसागर' इति वाराहपुराणोपवृंहितौ समुद्रावपि संगृहीतौ ज्ञेयौ । किञ्च, 'कूप्याम्य' इत्यादिश्रुतौ 'सर्वाभ्यः स्थाहे'ति समाप्तायुक्तम् । तत्र सर्वशब्दस्य पूर्वोक्तसंग्राहकत्वे अपां ऊनविंशति भेदा एव भवन्तीत्यभिप्रेत्य सर्वशब्दस्य समुद्रजल एव निवेशः कृतः । एतदभिप्रायेणैव 'नयः प्रसन्नसलिला' इत्यस्य सुबोधिण्या 'मापो बहुविधा एकोनविंशति भेदा' इत्युक्तम् । न च पूर्वं शेषादीन् सप्तोक्त्वा ततो लोकेत्यादि सार्धद्वयेन समुद्रविभागस्योक्तत्वाच्छेषादय एव सप्ताय ग्राह्याः, नेतर इति शङ्क्यम् । तत्र यथायथं क्रमेण ग्रहणे शेषण्यासयोः क्षारदधिमण्डोदतुल्यत्वापत्त्या प्रतिलोमग्रहणे च मैत्रेयनारदयोस्तथात्वापत्त्या निकर्षापत्तेः । अतस्तथापशब्दोक्ता इतर एव किञ्चित्दर्मसाम्येन पद् ग्राह्याः । तेन पूर्वोक्ताः सप्तामृतोदेष्वेव प्रविशन्तीति मम प्रतिभाति ॥ १५-१७ ॥

नन्वेवं सति तेषां तादृशां च दुर्मिलत्वात्तद्वाक्यानामिदानीन्तनानां कालादिदोषदुष्टानामलम्ब्यमेवेति वक्तव्यं, न तु सुदुर्लभमिति शङ्कायामाहुः तादृशानामित्यादि ।

तादृशानां कश्चिद्राक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।

अजामिलाकर्णनवद्विन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

तादृशानामपि कश्चिद्भगवतोद्धार्यत्वेन विचारिते केनचिदपराधादिना भगवद्वियुक्ते पुंस्ये भगवत्सद्ब्रह्मोद्दिधीर्षीयां वाक्यं श्रुतिगोचरं भवतीति शेषः । तत्र प्रमाणमाहुः दूतानामिव वर्णितमिति । यथा पृष्ठस्कन्धे भगवद्दूतानां वर्णितं वाक्यमजामिलस्य श्रुतिगोचरमभूत्तथेदानीमपि भगवदुद्दिधीर्षीविषयस्य भवतीति नालम्ब्यम्, किन्तु सुदुर्लभमेवेत्यर्थः । एवं तादृशां सङ्गं तद्वागन्तःप्रवेशं च साधयित्वा श्रोतृणामुद्दिधीर्षीविशेषपरिपक्वप्रकारज्ञापनाय पाने विशेषमाहुः अजामिलेत्यादि । अजामिलेन यथा यभदूतान् प्रत्युच्यमानं भगवद्दूतवाक्यमाकर्णितं, तथा चेदाकर्णयत्तदाकर्णनं विन्दुपानं प्रकीर्तितम् । जलविन्दोर्यया पानं न तृप्तिदं, किन्त्वीपत्सुरादं, तथा स्वोद्देशेनान्यान् प्रत्युच्यमानं तद्दुद्देशेन वा तान् प्रत्युच्यमानं स्वयमाकर्णयत्तदा तद्विन्दुपानतुल्यं स्वदोषज्ञानेन सान्भारिकम्लानिजनकं पथाग्रन्थान्तरे भगवत्प्रातिफलकं चेत्यर्थः । यदा त्वेतद्दुद्देशेनैव

भगवद्गुणबोधकं वाक्यममृतोदतुल्यैरुच्यते, तदा त्विहैव भगवत्प्राप्तिफलमिति तत्स्वरूपमाहुः रागेत्यादि ।

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशानं यदा ।
तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥

रागश्च अज्ञानं च ते आदिर्येषां तादृशा ये भावाः कामक्रोधादिविकारभाजस्तेषां यदा नाशानं निवृत्तिरमृतोदानां वाक्येन भवतीति 'शेषः । तदा तद्वाक्यानां तत्कालमेव स्वगुणं जनय-
लेहनमित्युक्तं, लिह आस्वादाने, आस्वादनमित्युक्तम् । तत्र हेतुः । स्वानन्दोद्गमकारण-
मिति । स्वस्य भगवतो य आनन्दः स्वरूपात्मको लीलात्मको वा तस्य य उद्गम उच्चैः प्राकट्यं
तस्य कारणं, तथा चैवं दोषनिवृत्तिपूर्वकपरमानन्दसाधकत्वात्तत्पानं लेहनरूपमित्यर्थः । एव-
मपां ऊनविंशतिभेदपक्षादरणेन सर्वे भावास्तदन्तो जीवास्तद्रता गुणाश्च प्रपञ्चेन निरूपिताः ।

अतः परंसायणीये 'सर्वाभ्यः स्वादे'त्यस्य तद्व्यतिरिक्ता इत्यर्थ उक्त इति तमनुसृत्य
पूर्वेष्व्यतिरिक्तं विंशं भावमाहुः उद्धृतैत्यादि ।

उद्धृतोदकवत्सर्वं पतितोदकवत्तथा ।
उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥

सर्वे पूर्वोक्तातिरिक्ता ये गुणा भावास्तदाधाराश्च ते उद्धृतोदकवत् क्षूतढागादिभ्यः
पात्रेषूद्धृतं यदुदकं तद्वत्, उद्धृतं जलं यथा परिमितं यादृशमाण्डस्यं तदनुरोधेन शुद्ध-
शुद्धिमच्च भवति । क्वचित्किञ्चित्स्वाकारानुकार्यपि भवति । तथा ते उक्तातिरिक्ता भावा
अपि परिमिता आधारानुसारेणाकारानुसारेण च शुद्धशुद्ध्यादिभाजः । तथेति वैयधिकर-
ण्यदृष्टान्तबोधकं, उक्तातिरिक्तानां भावाधिकरणानां वाक्यानि, पतितोदकवत् पात्रेभ्यः
पतितं यदुदकं तद्वत् । पतितोदकं यत्र पतति तदाद्रीकुर्वत् क्वचिद्गुणं क्वचिदोषं च
विधत्ते । तथा तेषां वाक्यानि आधारमाद्रीकुर्वन्ति, तदनुसारेणैव गुणदोषकरणि । चैत्य-
नादरे, आत्मनः फलमपि तथा, आत्मनो गुणाधारस्य फलमपि तथा भाववदेव । चकार-
पाठे तु च पुनरित्यर्थो वक्तव्यः ॥ २० ॥

एवं भगवद्गुणाधारभूतान् जीवानां भावान् तदधिकरणभूतान् जीवांश्च भगवद्गुण-
स्वरूपफलभेदार्थं निरूप्योपसंहरन्ति इतीत्यादि ।
इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।

रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

इति उक्तप्रकारेण भुवि मूलोके जीवेन्द्रियगताः, जीवाः शरीरविशिष्टाश्चेतनाः,
इन्द्रियाणि मनोवाक्चक्षुःप्रभृतीनि, तद्रतास्तेषु स्थिताः नानाभावं गताः, तत्र स्थित्यैव

१ रागनिवृत्तिः प्राचीनवर्द्धिप. जाता । यथा आशाननिवृत्तिः रद्दगणस्य जाता । यथा च आदिशब्देन
द्वेषस्तद्विद्वृत्तिः विदुरस्य जाता । एवमन्वयः ।
४ जल०

रूपतः फलतश्च अनेकभावं प्राप्ताः, विष्णोर्व्यापकस्य भगवतो गुणा धर्माः निरूपिताः, नितरां कथिताः । तथा च भगवन्निष्ठत्वेनैकरूप्येप्याधारभेदेन तद्विज्ञास्तदनु रूपफलाश्च भवन्तीति तदाधारस्वरूपं विचार्य तज्ज्ञानार्थं जीवसङ्घो भगवद्भक्तैर्विधेयो, नतु कथञ्चित् गुणसत्तामात्रेणेत्यर्थः । अत्रोपसंहारे गुणा निरूपिता इति कथनेन गुणनिरूपणमेव मुख्यम् । भावतदाधारनिरूपणं तु तदुपोद्घाततथा प्रासङ्गिकमिति बोधितं ज्ञेयम् ॥ २१ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मभार्यार्यचरणैकतानपीताम्बरात्मजपुरोत्तमविरचिता
जलभेदविवृतिः सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीवल्लभकृतविवृतिसमेतः ।

श्रीमदाचार्यचरणसरोजे शरणं सदा । तेनैव खलु तद्वाक्यमावार्थीवगतर्मम ॥ १ ॥
नानामार्गेषु विविधभावेस्तो तेऽधिकारिणः । प्रवृत्तास्तत्तदेवात्र मन्यन्ते भजनं हरेः ॥ २ ॥
अतस्तन्मार्गभावाधिकारिणां तत्स्वरूपतः । फलतश्च निज्जाचार्याः सन्देहविनिवृत्तये ॥ ३ ॥
वेदबोधितकूपादिजलदृष्टान्तभेदतः । विषेकं चक्षिरे तत्तद्भावार्थो हि प्रकाशयते ॥ ४ ॥

तत्र प्रथमं 'निवृत्तपरैरुपगीयमाना'दित्यत्र भगवद्गुणानुवादे 'आत्मपाती कर्मजडो निन्दितार्थतः सदा । पशुस्त्री च' एतद्व्यतिरिक्तानां सर्वेषां प्रवृत्तिरुक्ता । ते च मुक्तमुमुक्षुविपयिणः । तत्र मुक्तानां 'आत्मारामाश्च मुनयः' इत्युक्तप्रकारेण प्रवृत्तिः । मुमुक्षुणां विहितभक्तिज्ञानयोगतपःकर्मादिसाधनप्रकारेण बहुधा सा भवति । विपयिणां तु तत्र रागादिमाधुर्यतः प्रवृत्तिर्न तु धर्मतः । तथा च, 'वेदे रामायणे चैव भारते' इत्यत्र 'हरिः सर्वत्र गीयते' इत्युक्तत्वात् सर्वत्र सर्वेषु धर्मेषु भगवद्गुणप्रवेशस्यावश्यं वक्तव्यत्वात् तेषां सर्वेषां साधनफलयोगैकरूपत्वं वा नानात्वमिति सन्देहे तद्विशिष्टाधिकं ग्रन्थं निरूपयितुं श्रीमदाचार्यचरणाः प्रतिबान्ते—

नमस्कृत्य हरिं चक्ष्यं तद्गुणानां विभेदकान् ।

भावान्यिद्विप्रतिधा भिन्नान्सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥

हरिं नमस्कृत्य भावान् वक्ष्ये । यावास्तु 'इति जीवेन्द्रियगता' इत्यत्रोपसंहारे जीवगता एषोक्ता इत्युपक्रमेणैव त एव ज्ञेयाः । तैरेव भगवद्गुणानामनेकरूपत्वम्, अन्वयाद् भगवद्गुणाः सर्वे तत्तत्स्वरूपात्मका इत्येकरूपत्वमेव, गुणगुणिनोरभेदात् । आपारगुणसम्बन्धादेव तेषां भेद इति विशेषणमाहुः तद्गुणानां विभेदकानिति । भगवद्गुणानां

स्वरूपतः पृथक्कारकान् भिन्नत्वेन ज्ञापकानित्यर्थः । अथवा स्वस्वभावानुसारेण फलसाधकान्, न तु तदनुसारेणेत्यर्थः । एतदेव भेदकत्वं भावानाम् । ते भेदाः कतीति प्रमाणमाहुः विंशतिधा भिन्नानिति । तत्रापि द्वैविध्यम् । एके जीवाधिकारानुसारिणः । एके पुनः कृपया भगवद्दानजन्याः स्वरूपनिष्ठाः स्वतन्त्रास्ते भिन्नाः, ते एवाग्रे अमृतोददृष्टान्तेन वाच्याः । एते सर्वेपि भेदा वेदे कथिताः 'कूप्याभ्यः स्वाहा' इत्यादिना । एतद्विवेचने सर्वेषां स्वरूपज्ञानेन सर्वे सन्देहा निवर्तन्त इत्याहुः सर्वसन्देहचारकानिति । एतदर्थमेव वेदेषुक्ताः ॥ १ ॥

ननु कृपादिदृष्टान्तेन भेदज्ञानं कथं भविष्यति तत्राहुः—

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।

गायकाः कूपसंकाशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

नह्यत्र कृपादिदृष्टान्तः, किन्तु तत्स्थितगुणदोषसहितजलदृष्टान्तोभिप्रेतः । तेन यावन्तो जले भेदास्तावन्तो भेदा गुणानामपि भवन्तीति भावः । तत्र प्रथमं प्रथमाधिकारित्वाद्विषयिणां भावमाहुः गायका इति । गायका भगवद्गुणगायकाः । ते तु गन्धर्वा विश्रुताः प्रसिद्धाः । तेषामयमेव सहजो धर्मः यत्सङ्गीतशास्त्रोक्तं भगवद्वशः प्रबन्धरागतानाध्यालापकुशला रागादिमाधुर्यविषयत्वेन गायन्ति, न तु भगवद्दर्भस्वरूपं ज्ञात्वा, परन्तु भृत्काध्यापनवन्न गायन्ति, तादृशास्ते कूपसङ्काशाः कूपतुल्याः प्रोक्ताः । सामान्यतः कूप उक्तो, न तु गुणदोषयुक्त इति । यथा कूपो महान् रमणीयः, जलमपि समीचीनमेव, परन्तु दूरे अधस्त्रलं, तेनेतरविषयप्रयत्नलयागेन रज्ज्वादिसाधनपूर्वकं तदाहरणे तत्रापि भवेत्, तथा तेषां भगवद्वशो गानं तूत्तममेव, परन्तु तस्य परमफलमन्यविषयकप्रयत्नलयागे तदेकनिष्ठगुणगानेन प्राप्तं भवेत्, नो चेद् दूर एवेति भावः सूचितः । वस्तुस्वभावात्तथा भवेदपीति सामान्यदृष्टान्त उक्तः ॥ २ ॥

एतादृशा गन्धर्वा अपि बहुविधा इति तद्वेदानाहुः—

कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि संमताः ।

कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारंपर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥

यथा कूपभेदा बहवस्तथा गायका अपि बहुविधा ज्ञेयाः । तानेवाग्रे 'वेश्यादिसहिता' इत्यनेन वक्ष्यन्ति । मध्ये पौराणिकान्निरूपयन्ति कुल्या इति । यद्यपि गायकप्रकरणमध्ये पौराणिकनिरूपणं न संभवति, तथापि यन्निरूपितं तत्तादृशपौराणिकानां गाप्रकरणमध्ये पौराणिकनिरूपणं न संभवति, तथापि यन्निरूपितं तत्तादृशपौराणिकानां गायकतुल्यत्वमेवेति ज्ञापनायोक्तम् । अत्रायं भावः । गानं द्विविधम् । एकं संगीतशास्त्रोक्तं रागतालमूर्च्छनादिभेदेन । अपरं वक्तृश्रोतृसद्भावे पुराणाकथनद्वारा गुणानुकीर्तनम् । उभयेपि तत्तदुपजीविनः, परन्तु भृत्काध्यापनवन्न गायन्तीति सामान्यदृष्टान्तेन ज्ञायते । वृत्त्युपजीविनामग्रे निन्दितत्वात् । एवं सति सामान्यत उभयेषां समानधर्मत्वादायकानां

मध्ये सामान्यतः पौराणिकानपि निरूपयन्ति कुल्या इति । तेषां पुराणादिकथनं तु परंपराप्राप्तम्, न तु कश्चनोद्दिश्य ते कथयन्ति, तादृशास्ते कुल्या अल्पा कृत्रिमा सरितः प्रवहणशीलास्तत्कुल्या इत्यर्थः । यद्यपि ता अपि पारंपर्ययुता, यत आनीयन्ते तत्रागाधता, तथापि स्वयं त्वत्वा कृत्रिमा, न तु सहजा । तेनोपरोधे रुद्धा अपि भवन्तीति सूचि-
तम् । तथा तेऽपि यत पुराणार्थोऽवगतः स गुरुर्महान्, परन्तु स्वयं त्वत्पाररूपा । साहजिकभगवद्भर्मप्रवृत्तिरहिता । ससारस्थिता । उपरोधे रुद्धा अपि भवन्ति तादृशा । परन्तु प्रवहणशीलत्वात् कुल्यानां तद्दृष्टान्तेन पुराणकथनद्वारा यथाधिकारं धर्मोपदेशका इति गायकसंकाशादेतावान् विशेषः । अत एव द्वितीयभावत्वेन निरूपणम् ॥ ३ ॥

तादृशा अपि केवलं वृत्त्यर्थमेव पुराणपाठका, तदा ततोपि हीनत्वमाहुः —
क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि ससारोत्पत्तिहेतवः ।

ते च पुनः क्षेत्रप्रविष्टा 'क्षेत्रं पत्नीशरीरयो'रिति स्त्रीपुत्रादिभरणपोषणार्थं पुराणा-
दिपाठे प्रविष्टास्तदा ससारोत्पत्तिहेतवो भवन्ति । यथा कुल्यासंबन्धिन्य आपः क्षेत्रेषु
प्रविष्टा यदा तदा ससारोत्पत्तिहेतवो रजोगुणयुक्तत्वेन स्ते पोषकवस्तुत्पादकत्वादविद्या-
धर्माणामेवोत्पादिका भवन्ति, न तु प्रवहणदशावच्छेधकत्वमुपकारकत्वं वा तेषां, तथा
तेषां सासारिकस्त्रीपुत्रादिभरणपोषणमात्रोपयोगित्वेन पुनः पुनर्जन्ममरणादिसुक्ता एव
भवन्ति, न परोपकारका स्वात्मशोधका वा भवन्ति । तादृशश्रवणपाठात् शक्तिहासे पुरा-
णार्थां फलदा न भवन्तीति भावः । एतेन तेषां तृतीयमार्गप्रवेशो निरूपितः ॥ ३ ॥

एव भेदद्वयमुक्तमतं परं गायकभेदानाहुः —

वेद्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥

पुत्रोक्ता गायका भूतकधर्मरहिता । तेषामन्यधर्माधिकाराभावात् गाने भूतकधर्म-
राहित्यमात्रमेवोत्तमत्वम् । तादृशा पुनर्वेद्यादिसहिता, आदिपदेनान्येषां विधर्मा पाता-
दयः सूचिता । अत एव मत्ता, स्वपरधर्मविवेकरहिताश्चेत्तदा गर्ततुल्या । गर्तोऽत्र जलर-
हितान्धकृप । स यथापहस्तपर्यन्तगतः दुष्टनीयकङ्कालादिस्नानभूतोऽन्येषां पतनहेतुश्च
भवति, तथैतेषां स्वयं त्वधोगता एतान्येषामपि पातहेतवो भवन्तीति भावः ॥ ४ ॥

एव चतुर्थं भावमुक्त्वा पञ्चमं भावमाहुः —

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।

गर्ता अपि बहुविधा इति ये जलार्थं जलसङ्ग्रहार्थमेव क्रियन्ते, गानोपजीविनो भूत-
काध्यापनान्तं गन्धर्वास्तत्कुल्या । यथा तत्रलस्य प्रयोजनमुपजीवनमेव, नान्यत्, कर्माशु-
पयोगित्वाभावात्तीर्थरूपत्वाभावाच्च । तथा तेषामपि तेन गानेनोपजीवनमेव भवति, न
तु कश्चन निश्चितो धर्मो भवति, प्रत्युत पापमपि भवेत्तिपिद्वत्वात्तस्तेति भावः । एष
गन्धर्वाणां प्रयो भेदा उक्ता ॥ ४ ॥

एवं विपयिणां भावानुक्त्वा गुगुक्षूणां भावानिरूपयन्तः पष्ठं भावमाहुः—

हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥

हृदास्त्विति । पूर्वं तु सन्मतित्वाभावादपण्डिताः, एते तु पण्डिताः धर्माधर्मविवे-
किनः कर्ममार्गीया यद्यपि गृहादिसंभक्तास्तथापि निवृत्तिमुक्ताः । अत एव मोक्षेच्छया
भगवच्छास्त्रे तत्परा जाताः । तादृशास्त्रे हृदा हृदतुल्या इत्यर्थः । अत्रापि सामान्यतो हृद
उक्तो, न तु कश्चन विशेषः । तेन हृदो यथा प्रवाहधर्मरहितो निर्मलः, तथा तेषु प्रवा-
हधर्मान्निवृत्ता निर्मलप्रज्ञा इति सूचितम् । तत्परत्वकथनेन तद्धर्मजिज्ञासेवास्ति, न तु
निःसन्दिग्धं धर्मा ज्ञाता इति ज्ञाप्यते । एतेन तेषां प्रथमप्रवृत्तिः सूचिता ॥ ५ ॥

ततोप्रेतनभावविशिष्टं स्वरूपं निरूपयन्तः सप्तमं भावमाहुः—

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गम्भीरमानसाः ।

सरःकमलसंपूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥

तत्र भगवच्छास्त्रेषु ये सन्देहवारकाः, गहूनां मतानां कथनात्तेषु सन्देहा उत्पद्यन्ते,
तेषां ये निवारकास्ते सूदाः । सुष्ठु शोभनमुदकं येषां तादृशा हृदास्तद्रूपाः । शोभनत्वकथ-
नेन गुणविशेष उक्तः । किञ्च, गम्भीरमानसा इति गंभीरं मानसं येषां, भगवद्धर्मज्ञाने-
नान्यथाभावनाविपरीतभावनादिना कलुषितं न भवतीति भावः । पूर्वेषु गंभीरत्वसूदत्वा-
दिगुणाभावात्सामान्यत्वमुक्तम् । तत्र विशिष्टधर्मत्वात्ततो विशेष उक्तः, तथा दाष्टान्ति-
केषु सन्देहवारकत्वविशेषः । परन्तु ज्ञानस्वैव विशेषो न क्रियाया इति दृष्टान्तेन सूचितं
भवति । अतः परं पूर्वतो विशिष्टमष्टमं भावमाहुः सरःकमलसंपूर्णा इति । पूर्वं तु
शास्त्रज्ञानेन पूर्णा उक्ताः, गंभीरमानसत्वकथनेन ज्ञानस्वैर्यमप्युक्तम् । एते तु बुधाः
ज्ञानिनः पुनः प्रेमयुक्ता भक्तियुक्ता इति सरःसंयन्धिन्यः कमलैश्च संपूर्णाः आच्छादिताः
तादृश्य आपस्तद्रूपाः । सरस्तु विहितं भवति । तत्र कमलं भक्तिरूपं, तेन पूर्णा आपः
रसरूपाः । तत्तुल्यत्वकथनेन विहितभक्तिसहितप्रेमयुक्ताः ज्ञानेन च वासितास्तादृशास्त
इति सूचितम् । तेनात्र क्रियापि सूचिता । रसस्य विहितसरःसंयन्धित्वेन विहितभक्त्यनु-
सार्यैव प्रेमापि तेष्विति सूचितम् । एवमेते त्रयोपि क्रमत उत्तरोत्तरविशिष्टधर्मसहिताः
सामान्यतो विहितभक्तिमार्गीया उक्ताः ॥ ६ ॥

अतः परमेतेष्वप्यवान्तरभेदाभिरूपयन्तो नवमं भावमाहुः—

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।

कर्मशुद्धाः पल्यलानि तथाल्पश्रुतभक्तयः ॥ ७ ॥

पूर्वोक्तेषु सरोच्छ्रान्तीयेषु केचनालं श्रुतमध्ययनं येषामेतादृशाः, परन्तु भगवद्गुणेषु
प्रेमयुक्ताः, ते वेशन्ताः अल्पसरोरूपाः परिकीर्तिताः । प्रेमयुक्तत्वेपि विहितत्वेन प्रवृत्त-
त्वात् संपूर्णभगवद्धर्मज्ञानं विना गच्छिष्ये न भवतीत्यल्पसरोच्छ्रान्त उक्तः । यथाल्पसरो

नष्टमपि भवेत्तथैतेषां भावा अपीति भावः । एतेन पूर्वापेक्षया हीनभावत्वमुक्तम् । एतदेवोक्तं तत्त्वार्थदीपे 'शास्त्रज्ञानाभावेपि प्रेम्णा भजते स मध्यम' इति । एवं सर्वमित्यत्र । अतोपि हीनत्वेन दशमं भावमाहुः कर्मशुद्धा इति । कर्मणैव शुद्धाः निःकामकर्मादिना चित्तशुद्धियुक्ताः, नतुत्पन्नज्ञानभक्त्यादयः, ते तु पल्लवतुल्याः । यद्यपि वेशन्तपल्लवयोर्न भेदस्तथापि वेदे यथेन्द्रमहेन्द्रयोर्भेदः स्वीकृतस्तथा वेशन्तपल्लवयोरपि 'वेशन्तीम्यः स्वाहा पल्लव्याम्यः स्वाहे'त्यत्र भेदनिर्देशः कृत इति तथात्वेन दृष्टान्तः । परं तत्रैतावान् विशेषः । पल्लवमपि द्विविधम् । एकं कमलादिरहितम्, अपरं तत्सहितम् । पूर्वोक्तेषु भक्तित्वा(सत्त्वा)त् कमलसहितवेशन्तदृष्टान्त उक्तः, कर्मशुद्धेषु विहितैकनिष्ठेषु तद्रहितदृष्टान्त इति, यथा पल्लवं स्वत्वं सर्वदा स्थिरजलं न तिष्ठति, वर्षाकाले पुनः पूर्णं भवति, तदपि स्वरूपतः स्वत्वं, तथा कर्मपूर्ता पूर्णता, तस्य क्षये शुष्कतेति जन्ममरणादिसहिता निरूपिताः । पूर्वोक्तेषु कमलादिसहितवेशन्तदृष्टान्तेन भक्तिमत्त्वेन जन्ममरणाद्यभावोपि संभवति । यथा कमलादिसंपत्तिशोभादर्शनादिना कदाचित्तस्य महत्त्वं रक्षां च कश्चित्कारयति तथेत्यर्थः । एतेषु तदभावान्न तथेति भावः । कदाचिज्जन्मान्तरे तादृशो ज्ञानी भवतीति निबन्धे निरूपितम् । किञ्च, यथा एतादृशाः पल्लवरूपाः प्रोक्तास्तथा वेशन्तदृष्टान्तीयानां पूर्वमल्पश्रुतत्वं प्रेमयुक्तत्वं च निरूपितम् । ते पुनरल्पश्रुतभक्तयो भवन्ति, तदा पल्लवतुल्या एवेति भावः । श्रुतं तु पूर्वमल्पत्वमेव केवलं प्रेमयुक्तत्वेन कमलसहितवेशन्तदृष्टान्त उक्तः । तदभावात्पल्लवतुल्यत्वं युक्तमेव ॥ ७ ॥

एवं कर्ममार्गीयानां स्वरूपमुक्त्वा योगादिभावानां स्वरूपं निरूपयन्तः एकादशं भावमाहुः ।

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा चर्प्याः प्रकीर्तिताः ।

तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

योगोऽष्टाहः । तत्र ध्यानादिः कल्पितमूर्तेस्तेन संयुक्ता ये गुणास्ते चर्प्याः वर्षासम्बन्धिजलतुल्या इत्यर्थः । वर्षा यथा शून्यावलम्बिन्यः, न स्वरूपावलम्बिन्यस्तत्रापि फलसात्पत्वात् ता अपि प्रथमोद्भूता विरलाः पतनमात्रेण शुष्का भवन्ति, न तु क्वचिदार्द्रतां संपादयन्ति, तथा तादृशा अपि न भक्तिफलाधिकारिणः । किन्तु तत्साधनानुसारिफलाधिकारिण इति भावः । अतः परं द्वादशं भावमाहुः तपोज्ञानादीति । केचन तप एव परं मत्वा कुर्वन्ति, केचन ज्ञानमेव केवलं परं मन्यन्त इति तेषां स्वरूपमाहुः—तपः पश्चात्तपसादीनि, ज्ञानं केवलं, तत्र प्रवृत्तानां भावाः स्वेदजा स्वेदजलतुल्याः कथिता इत्यर्थः । यथा श्रमेण स्वेदजलं भवति । जम्भणा वा । अपवित्रमप्रयोजनकं च भवति, तथैवैते भावाः श्रमसाधकाः, न तुल्लुष्टफलदाः । अत्रेपि तापकारकाः संसारकरणादिति भावः । अत एव 'रह्मणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद्दहाद्वा । न छन्दसा नैव जलाभिसूर्यैर्विना महत्पादरजोमिपेक'मित्युक्तम् ॥ ८ ॥

अन्ये केचन वेदमाहात्म्यज्ञानैकनिष्ठास्तेषां स्वरूपं कथयन्तश्चोदशं भावमाहुः—
अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।

कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

अलौकिकेन ज्ञानेन वेदोक्तार्पणज्ञानेनेत्यर्थः । ब्राह्मणानां वेद एव परस्तदग्यास एव
तेषां धर्म इति तत्पाठकरणरूपा ये गुणाः प्रोक्ताः, तेषि कादाचित्काः, न सर्वदा स्थिराः,
तेषि शब्देनैव गम्याः, शब्द एव गम्यो येषां, नत्वर्थ इति वा, तादृशास्ते पतन्तः उच्यते
पतन्तो ये जलौघास्तेषां शब्दा इव । अथवा दूरात् कर्णे पतन्तः शब्दा इव प्रकीर्तिताः ।
यथा ते निरर्थकाः, दूरात् पतनजशब्देनैव ज्ञायन्ते, न तु ते प्राप्तुं शक्यन्ते, तथा वेदपाठका
एव, न तु ते वेदार्थं जानन्ति, न मुख्यफलं प्राप्नुवन्तीति भावः । आपाततो ज्ञानेपि का-
दाचित्कत्वेन न मुख्यफलमिति भावः ॥ ९ ॥

नतु तेषि देवाद्युपासनां कुर्वन्ति, वेदार्थाज्ञाने तु साक्षोपासना न भवेदित्याशङ्का-
निरासाय चतुर्दशं भावमाहुः ।

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्ट्वा भूमेरिवोद्भूताः ।

साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥ १० ॥

प्रेमपूर्व्यां स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

यद्यपि केचन देवादीनामुपासनां कुर्वन्ति । न ह्येतावानेव वेदार्थं इति तावन्मात्र-
ज्ञानेन क्रियमाणा सा न परमफलदायिनीति तादृशा गुणा भावाः भूमेरुद्भूताः पृष्ट्वा जल-
विन्दवो सुहुदास्तद्रूपाः । यथा ते यत्रैवोत्पन्नास्तत्रैव लीना भवन्ति, तथा यस्य देवस्यो-
पासना तत्रैव पर्यवस्यन्ति, न तु ब्रह्मपर्यवसाना इत्यर्थः । अतः परं वैष्णवधर्मेनिष्ठस्य भा-
वाभिरूपयितुं पञ्चदशं भावमाहुः साधनादीति । देशादिसाधनेषु भूतशुद्ध्यादिप्रका-
रेण नवधा भक्तिमार्गतः श्रवणकीर्तनादिद्वारा प्रेमपूर्व्यां स्फुरन्तो धर्माः अशुभकृत्कारिरूपा
येषां तादृशाः स्यन्दमाना भूमितः प्रसवणशीला आपस्तम्भपाः । पूर्वपिक्षया प्रसवणशील-
त्वात् किञ्चिदुपकारकत्वं सूच्यते । तेनोपासनायामपि ताञ्चिकरीत्या विष्णुपासना ज्ञेया ।
परन्तु वृद्धिक्षयसहिताः, श्रवणस्याल्पत्वाद्भिर्मृतिपर्यवसानत्वाच्च ततोप्यागमनगमनादिकं
संभवतीति सूचितम् । एतेन सकामतापि सूचिता ॥ १० ॥

एते तु वृद्धिक्षयसहिताः, ते एव पुनर्वृद्धिक्षयरहिता भवन्ति, तेषां भावमाहुः षोडशम् ।

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥

स्यावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

यादृशाः पूर्वं प्रोक्तास्तादृशा वृद्धिक्षयविवर्जिताश्चेतदा स्यावराः स्थिरजलतुल्याः
स्थिरजलाशयाः स्थिरप्रवाहा नदीरूपा वा, तत्सदृशाः । स्थिरात्स्वरूपमाहुः मर्या-
दैकप्रतिष्ठिता इति । यावत्प्रमाणमर्यादिया विहितास्तावन्मर्यादया सर्वदा स्थिराः ।

अत एव तावति धर्मे वृद्धिक्षयरहितत्वमुक्तम् । तेन निरन्तरपूजाप्रवाहसहिताः स्वमर्यादाधर्मयुक्तास्तादृशा भक्ताः जन्ममरणादिरहिता भोक्षपर्यवसायिनः स्वमर्यादयेति ज्ञापितम् । यथा तादृश्यो नद्योपि परंपरया नद्यन्तरसङ्गेन समुद्रगामिन्यस्तथेति भावः । जलाशयपक्षे वृद्धिक्षयराहित्यमेव जन्ममरणाभाव इति तथात्वम् ॥ ११३ ॥

अथ भक्तिमार्गीयभेदान् वक्तुं सप्तदशं भावमाहुः ।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥

सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।

निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥

प्रथमजन्मारभ्यानेकजन्मसाधनैः सम्यक् सिद्धिं प्राप्ताः । सर्वदेति साधनैरन्तर्यमुक्तम् । तेन 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभि'रित्युक्तसाधनसिद्धाः प्रावाहिकभक्तिमन्तो भक्ताः सामान्यनः श्रोक्ताः । ते प्रथमं साधनदशायां सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुक्ता भवन्ति, परन्तु निरन्तरमुद्गम उदयस्तेन युता भगवद्धर्मप्रयत्नवन्तः सङ्गदोषेषु क्षयेपि तद्धर्मनिष्ठां न त्यजन्ति । तादृशा नद्यः नदीरूपा नदीजलतुल्या इत्यर्थः । यथा नद्यः वर्षाजलेन वर्धन्ते, ग्रीष्मसङ्गेन क्षीणा भवन्ति, परन्तु मूलतः प्रवाहस्य निरन्तरमुद्गमस्तिष्ठति, तेन परंपरया समुद्रगामिन्यो भवन्ति, तथा तादृशभावा अपि सत्सङ्गेन वर्धन्ते, असत्सङ्गेन क्षीयन्ते, तथापि निरन्तरं भगवद्धर्मनिष्ठात्यागाभावात् कदाचिद्गमवत्समुद्रगामिनो भविष्यन्तीति भावः । पूर्वोक्तापेक्षया हीनाधिकार उक्तः ॥ १३ ॥

अतः परं च शिष्टान् निरूपयन्तोऽष्टदशं भावमाहुः ।

एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत्सिन्धवः परिकीर्तिताः ।

पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥

जलनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

एतादृशा पूर्वोक्तधर्मवन्तः प्रवाहमार्गीयाः स्वतन्त्राश्चेत् न केनचिद्द्विद्धि क्षयं वा प्राप्नुवन्ति, ते समुद्रपर्यन्तं समुद्रगप्रवहणशीलाः सिन्धवः महानद्यो नदा वा तद्रूपा ज्ञेयाः । यथा तादृश्यो नद्यः स्वयमप्रतिवद्धाः सत्यः समुद्रं प्रतिशन्ति, तथा तादृशा भक्ता अपि स्वमार्गातुसारेण भगवन्तं प्राप्स्यन्तीति भावः । अतः परं केनल भगवद्धर्मैकपूर्णान् निरूपयन्त एकोनविंशं भावमाहुः पूर्णा इति । एते सर्वे भगवदीयाः भगवद्धर्मैकनिष्ठाः ज्ञातारो यत्कारश्च सर्वदा तदेकरसपूर्णाः, न तु कदाचिदपि न्यूनभावयुताः शेषादयः । तत्र श्रेयो गुणगानपरः सर्वदा भगवद्धर्मवक्ता । व्यासः सकलपुराणकर्ता, तद्द्वारा समस्तधर्मवक्ता । अग्निः स्वयमेव । अयं भारः । श्रीनदाचार्यस्वरूपे अशुद्रयमन्ति, मर्यादामार्गीयदेष्टुं पुष्टिमार्गीयदेष्टुं च । तेन स्वरूपमपि द्विविधम् । एतं सति मर्यादामार्गीयान् प्रति तादृशपूर्णेन प्राकृत्यं भवति, न त्वलौकिकस्य यत्प्रभाष्टरसर्वोत्तमास्तुक्तस्येति तादृशस्य तन्म-

ध्यपातित्वेन गणना कृता, अत एव 'व्यासोस्माक गुरु'रित्युक्तम् । अन्यथा पुष्टिमागं गुरु-
वस्तु स्वामिन्य इति तद्भावात्मकभगवन्मुत्पारविन्दाधिष्ठात्रलौकिकाभिरूपस्य स्वस्य व्यास-
गुरुत्व न समवतीति न तथोक्तं स्यात् । एव सति शेषादिमध्यपातित्वेन भगवद्गुणनिरूप-
णसाम्याद्युक्तैव गणनेति सर्वगनवधम् । केचित्तन्नि रुद्राभिरिति वदन्ति । रुद्रस्य भक्त-
त्वात् । मास्तो हनूमान् परमभक्त । जडो जडभरत । नारद पञ्चरात्रागमप्रवर्तक ।
मैत्रो मैत्रेयो धर्मवक्ता । एते सर्वे मर्यादामार्गाया भक्ता गुणज्ञा, न तु स्वरूपनिष्ठेकभावा
इति समुद्ररूपा प्रकीर्तिता । समुद्रो यथा स्वमर्यादायामेव तिष्ठति, तथेतेपीति भाव ।
अत्र समुद्रोपि शुद्धोदो ज्ञेय । अन्यानग्रे वक्ष्यन्तीति । किञ्च, एतेषु सामान्यत समुद्र-
दृष्टान्त उक्तो, न तु कश्चन गुणदोषनिशिष्टो धर्मस्तस्योक्त इति प्रनाहमार्गाद्भिन्नत्व पूर्ण-
त्वागायत्वादयो धर्माश्च सूचिता । यथा समुद्रमध्ये रत्नानि सारभूतानि, तथैतेषा हृद-
येषु भगवद्दर्मा इति भाव ॥ १४३ ॥

अत पर समुद्रा अप्यनेकविधा इति तद्वेदान्निरूपयन्तो विंश भावमाहु ।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥

वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः ।

अयं भाव । एके भगवतो गुणा लोकसमाना एव, लोको यथा प्राकृतस्तथा
भगवद्गुणा अपि प्राकृता एव, भगवानपि नास्ति, कर्मणैव सर्वं भरतीति मन्यन्ते, ते
क्षीरोदतुल्या, न काचन तै पुरुषार्थसिद्धिरिति भाव । केचन वेदानुसारेण धर्मान् म-
न्यन्ते, ज्ञानेच्छादयो जगत्कर्तृत्वादयो धर्मा भगवति सन्तीति तादृशा दधिमण्डोद-
तुल्या । उभयाशसत्वात्तत्तुल्यता । तेषु तावन्मात्रधर्मानेव मन्यन्ते, न तु स्वरूपमव-
तारादिक चेति तादृशा भावा न पुत्र्यार्थसाधका इति भाव । अपरे गुणैः प्रकृतिगुणैरपि
घाघर्मं कृत्वा धर्मा भासन्ते, यस्तुतो धर्मा एव न सन्तीति मन्यन्ते, ते सुरोदतुल्या,
स्पर्शमात्रेपि धर्मनाशका मिथ्यावादिन पुरुषार्थनाशका इति सर्वथा त्याज्या एवेत्यर्थ ।
एते त्रयोप्यमिश्रा । अयं मिश्रानाहु । केचिच्च ये धर्मा लौकिकभावसहितास्ते लौकिका
एव, ये ब्रह्मधर्मास्तेल्लौकिका सर्वे सन्तीति मन्यन्ते, ते मिश्रा क्षीरोदतुल्या । स यथा
स्वरूपतो ह्युत्तमस्तथापि मथनानन्तर नि सारो जात, सऋलरत्नाना निर्गमात्, तथा
तेषा तावन्मात्रधर्मवत्त्वेपि परमपुरुषार्थं न मिष्यतीति, न ते ग्राह्या इति भाव । यतो
भगवतो 'लोकरह्नीलापि केवल्य मित्युक्त्यात् तत्रालोकिरुद्धिनिष्ठाभावात् न सत्सम्मतौ
इत्यर्थ । अन्ये वेदोक्तधर्मा जगत्कर्तृत्वादयो यद्यपि सन्ति, तथापि न तास्तथा अविद्या
सवलित्वा, ब्रह्म तु निर्विकारमेवेति मन्यन्ते, ते घृतोदतुल्या, घृत विकृत भवति, क्षीर-
परिणामो दधि तत्परिणामो घृतमतस्तेपि विकृतत्वाद्दोकारात्त्र ग्राह्या, पुरुषार्थासाधकत्वात् ।
एके पुनर्भगवति धर्मा सन्ति, पर तत्रतारादिधर्मास्तु प्राकृता इति मन्यन्ते, ते इक्षु-

रसोदतुल्याः, यथेश्वरसः स्वरूपतो महुरः, परन्तु परिणामविरसस्तथैते धर्मा अपि परिणामे विरसत्वाङ्गीकारात् पुरुषार्थसाधका इति भावः । पूर्वापेक्षया पण्णामेतेषां हीनभावत्वमुक्तम् । एवं विंशतिधा जीवाधिकारानुसारिणो भावा निरूपिताः । साधनसाध्या लोकवेदप्रसिद्धा इति ॥ १५ ॥

अतः परं लोकवेदातीतः साधनासाध्यो भगवदानेनैवोत्पद्यते, नान्यथेत्येतादृशोपि कश्चन भावो वर्तते इति स्वकीयानां ज्ञापनार्थं कृपया तादृशभावस्य यथार्थस्वरूपं वदन्त एकविंशमपि भावं लक्षयन्ति ।

गुणातीततया शुद्धान्सच्चिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥

सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति त्रिचक्षणाः ।

तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥

ये पुनर्विष्णोर्व्यापकस्य रसात्मकस्य च भगवतः सर्वे गुणाः, लोकानुसारिणो पालयत्रिणादयो, वेदानुसारिणो माहात्म्यप्रतिपादकाः ब्रह्मधर्माः गुणानुसारिणः स्थित्युद्भवप्रलयरूपाः, रसात्मकलीलारूपाश्च, गुणातीता एव शुद्धा दोषरहिता निर्विकाराः सच्चिदानन्दरूपिणः सन्तीति मन्यन्ते, ते भक्ता अमृतोदतुल्याः, यथा अमृतस्य षड्रसात्मत्वेपि महुरत्वमेवैवं भगवद्धर्माणामपि तत्तद्भूतत्वेपि सच्चिदानन्दरूपत्वमेव, न त्वन्यथा । यथा स्वरूपमानन्दरूपं रसात्मकम्, तथा गुणा अपीति निरूपितम् । किञ्च, समुद्रस्यामृतरूपत्वेनान्येभ्यो विशेष आधिक्यं दूरत्वमगाधत्वं मरणादिदोषनिवर्तकत्वं देवोत्तमैरेव भोग्यत्वं चोक्तं यथा, तथैते धर्मा अप्येतावद्धर्मवन्त एतदधिकारिभिरेव भोग्या इति सूचितम् । अत एवाधिकारिविशेषणं त्रिचक्षणा इत्युक्तम् । तथा चोक्तं 'महुरहो रसिका भुवि भावुकाः' इति । अत एव रसिकजनानुभवेकवैचल्यत्वादेते भावाः सर्वोत्तमाः । तादृशभाववन्तो भक्ता अपि सर्वोत्तमा इति सर्वोत्तमाद्युक्तस्वरूपाद्येः कथनभेदेषु युक्तम्, न तु पूर्वोक्तेषु शेषादिषु, सर्वसाधारणत्वात् । अतस्तत्राग्निशब्दस्य तथा निरूपणं कृतम् । यत्पमिश्रणस्य कथनान्योप्यर्थो भवेत्तदा स एवोत्तमः, नास्माकं तत्राग्रहः । यथा विरोधो न भवेत्तथा ग्रन्थार्थो ध्यास्त्येव इति भावः । एवं स्वतन्त्रभक्तिभावस्वरूपनिर्देशमपि कृत्वा तस्य दुर्लभत्वमाहुः तद्वाक्पानं सुदुर्लभमिति । अत एव 'भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभे'त्युक्तत्वाद्वापि ते भावा नोच्यन्ते इति भावः । अत एव 'शुद्धा प्रेम्णातिदुर्लभा' इत्युक्तम् ॥ १७ ॥

एवं दुर्लभत्वं को हेतुस्तत्राहुः ।

तादृशानां फण्डिकाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।

अजामिलाकर्णनयद्विन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

तादृशानां धाम्यं कथिदेव भवति । उत्तमाधिकारिसंयोगे भवति, यथा शुरुपी-

क्षितयोः । यथा वा 'अक्षण्वता'मित्यादि । यथा वा भ्रमरगीते उद्धवं प्रति श्रीस्वामिनी-
वान्यानि । पुनस्तत्स्वरूपज्ञानेनोद्भववान्यानि । तादृशं वाक्यं दूतानामिव वर्णितं भ-
वति । दूतास्तु यथार्थवक्तारो यथानुभूतं कथयन्ति, तथा तेषां वाक्यं खानुभूतत्वेन
तथार्थमिति प्रमाणमित्यर्थः । ननु तादृशवाक्यस्यातिदुर्लभत्वेनाशक्योपदेशकथनं व्यर्थमि-
त्याशङ्क्य तत्राहुः अजामिलेति । यथा अजामिले सर्वयानधिकारिण्यपि परमकृपया स्व-
नाममाहात्म्यं प्रकटितवान् प्रभुः, तथा तादृशे निःसाधनेपि कृपया परमानुग्रहेण तादृग्-
वाक्यं कदाचित्प्रकटीकरोति । अत एव क्वचिद्वाक्यं भवतीत्युक्तम् । अत एव तद्वाक्यम-
मृतरूपविन्दुपानं प्रकीर्तितम् । यथा मृतरसं विन्दुपानेप्यमरत्वं सिध्यति, तथा तावन्मात्र-
वाक्यश्रवणेपि तादृग्मूल्यं समस्तभगवन्माहात्म्यस्वरूपज्ञानं च भवतीति भावः ॥ १८ ॥
ननु माहात्म्यज्ञाने जातेष्वविद्याधर्माणां विद्यमानत्वात्कथं परमफलं सेत्स्यतीति तत्राहुः ।

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यद्वा ।

तदालेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥

तद्विन्दुपानमात्रक्षणे स्त्रीपुत्रादिषु यो रागः स्नेहः, अज्ञानं भगवत्स्वरूपधर्मयोः,
आदिपदेनासंभवावनाविपरीतभावनादीनां च सर्वथा नाशनं नाशकारकं तद्वाक्यं भवति, एतद्यदा
भवेत्तदालेहनं भगवत्स्वरूपनिष्ठभावैस्त्वास्वादनं जायते, तेन प्रतिबन्धनिवृत्तिः सूचिता ।
इष्टप्राप्तिमाहुः स्वानन्दोद्गमकारणमिति । तदास्वादे पूर्वं तिरोहितानन्दस्य प्राकट्यम्,
पश्चात्प्रेमासक्तिसङ्कल्पव्यसनोत्पादनेनान्तर्भगवत्स्वरूपानन्दाविर्भावो भवतीति भावः ॥ १९ ॥
ननु पूर्वोक्ता शेषादयः पूर्णा उक्ताः, तथाप्येतदपेक्षया न्यूनत्वात्तेषां धर्माणां कथं
पूर्णत्वं फलसाधकत्वं च तत्राहुः—

उद्धृतोदकाद्यत्सर्वं पतितोदकवत्तथा ।

उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥

उक्तातिरिक्ता अमृतोदतुल्यातिरिक्ताः शेषादयः तेषां वान्यानि उद्धृतोदकवत्, यथा
गङ्गात उद्धृत्य गृहे समानीतं जलमपि गङ्गाजलमेव, तथापि मर्यादामार्गीविधिना स्नानपू-
जादिकं प्रवाहस्यजल एव भवेन्नस्मिन्, तथा तेषां धर्माणामपि भगवद्दर्मरूपत्वं पूर्ण-
त्वादिकं च तिष्ठत्येव, परन्तु पुष्टिफलप्रापकत्वं नेति भावः । पुष्टिफलं तु तादृग् विन्दु-
पानजनितरसास्वादेनैव भवेन्नान्यथेति सूचितम् । एवं सति मर्यादामार्गीयभक्तिरसपूर्णत्वं
पुरयोत्तमसायुज्यफलकत्वं तेषां सम्पन्नमिति ज्ञापितम् । किञ्च, एतत्पोषकत्वेन द्वितीयं
दृष्टान्तमाहुः पतितोदकवदिति । यथा वर्षाजलमाकाशात् पतितं यद्यपि शुद्धं निर्मलं,
तथापि मध्ये गृहीतं चेत् कर्मादियोग्यं न भवति, मूढो पतितं चेत्कर्मादियोग्यं भवति,
तथा तानि वान्यानि शुद्धानि निर्मलानि, तथाप्येतादृशभक्तिरसभावाद्यसंबलितत्वाभावा-
देतरफलरूपस्वरूपसवन्धकारकाणि न भवन्तीति भावः । एतदेवोक्तं फलं चापि तथा

तत इति । यादृशो मार्गं यादृश वाक्यं तादृशमेव फलं भवेदिति भावः । अथवा, पूर्वं स्वतन्त्रतया प्रमेयबलमाश्रित्योक्तम्, अधुना शास्त्रकमानुसारेणोच्यते । तथाहि, उक्तगतिरिक्ता अमृतोदतुल्यातिरिक्ता शेषादयस्तेषां वाक्यानि उद्धृतोदकप्रदुष्कारं कुर्वन्ति । यथा जलाशयादुद्धृतं घृहे समानीतं जलं गृहादिशोधकत्वेन स्नानाचमनादिनात्मशोधकत्वेन पाकादिकर्मकारकत्वेन तृपादिनिवर्णकत्वेन चोपकारकं भवति, तथा तेषां वाक्यानि वाक्योक्तधर्माचरणानिना अविधौपाधिककर्मनाशकत्वेन ज्ञानादिधर्मोत्सादकत्वेन सासारिकवापनिवर्तकत्वेन मुक्तिफलकत्वेन च प्रतिक्षणमुपकुर्वन्तीति यावत् । तादृशस्थितौ विशेषानुग्रहश्चेत्तदा पुष्टौ प्रवेशः, नो चेत्प्रदुष्कारं घृष्येत्यर्थः । एतदेवोक्तं सिद्धान्तमुक्तावस्थायां 'उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वाक्तेन फलिष्यतीति । अतएव पुष्टिमार्गाधिकारो मुक्तानामेवेति 'मुक्तोपसृप्य' इत्याद्युक्तम् । किञ्च, एतत्सोपकत्वेन द्वितीयं दृष्टान्तमाहुः पतितोदकवदिति । वर्षाजलं पतितमुपकरोति, परन्तु मर्यादया पतितं चेत् । नो चेत्सर्वमम्यादिनाशकं भवेत् । एव मर्यादया धर्माचरणे फलं भवेत्, नो चेदौदलेन सर्वधर्मनाशो भवेदिति तेषां वाक्यानामुपकारकत्वं पूर्णत्वं फलसाधकत्वं चोक्तम् । अत एव फलं चापि तथा तत्र इत्युक्तम् । ततस्त्रादृशवाक्यात् फलं च तथा तदनुसारेणैव सायुज्यं भवेदिति भावः ॥२०॥

अतः परमुपसहरन्ति ।

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गतां भुवि ।

रूपतः फलनश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

इति प्रकारका जीवेन्द्रियगता, जीवगता आत्मगामिता, इन्द्रियगता त्रिययगामिताः । अत एव भुवि स्थाधारे नानाभाव गतास्त्रादृशा विष्णोः व्यापकम् रसात्मकम् च गुणा भावा रूपतः स्वरूपतः फलतश्च निरूपिताः । एतेन सन्देहनिवृत्तिपूर्वकं भगवन्मार्गप्रवृत्तौ फलं भविष्यतीति ज्ञापितम् ॥ २१ ॥

यथागतं मया भावा रूपतः फलतोपि हि ।

निरूपितास्तत्र किञ्चिद् बुद्धिदोषेण यद्भवेत् ।

अन्यथा तत्संरुषणा क्षमन्ता प्रभवो मम ॥ १ ॥

इति श्रीबह्मभट्टनं श्रीजलभेदचिबरणं संपूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीबालकृष्णकृतविवृतिसमेतः ।

श्रीराधिकावदनपद्मरन्दपानघूर्णायमाननयनः स्फुटलाञ्छनश्रीः ।

मन्दस्मितो रतिविलासजयोदिताङ्गकान्तिः सदा स्फुरतु मद्दृदि गोपिकेशः ॥ १ ॥

भावाब्धिमथनाचार्यचरणान् नौमि संततम् ।

गोपीशभावभावासिर्वत्कृपातो न दुर्लभा ॥ २ ॥

श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयानां भावज्ञानेन पूर्णप्रेमभावोत्पत्त्यर्थं भावनिरूपणं प्रति-
जानते । यथा निर्विघ्नतासिद्ध्यर्थं मङ्गलाचरणस्य शिष्टाचारत्वं, तथात्र स्वीयेषु निर्विघ्नमा-
वोत्पत्तिसिद्ध्यर्थं भगवद्भक्तमस्करणात्मकं मङ्गलमाचरन्ति नमस्कृत्येति ।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।

भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥

हरिमकारणसर्वदुःखहर्तारं नमस्कृत्य तद्गुणानां तदीयभक्तगुणानां विभेद-
कान् विशेषेण भेदबोधकान् भावान् वक्ष्ये इति सम्बन्धः । विंशतिप्रकारेण भिन्नान्
तान् वक्ष्ये इत्यर्थः । ननु एतत्कथनं किंप्रयोजनकमित्याकाङ्क्षायामाहुः सर्वसन्देहवा-
रकानिति । यच्छ्रवणात् सर्वेषां सन्देहाभावः स्यादित्यर्थः । यद्वा, सर्वे भगवति प्राप्ति-
सन्देहवारका इति भावः ॥ १ ॥

एवं प्रतिज्ञाय भेदानैवाहुः गुणभेदा इति ।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।

गायकाः कृपसङ्काशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

यावन्तो जले भेदा वेदोक्तास्तावन्तो गुणभेदा ज्ञातव्या इत्यर्थः । अत्र 'कृप्याभ्यः
स्वाहे'त्यारभ्य 'सर्वाभ्यः स्वाहे'त्यन्ता श्रुतिरनुसन्धेया । गुणानां जलसाम्योक्त्या
स्वतः शुद्धत्वं बोध्यते । 'आपः स्वभावतो मेध्या' इत्यादिवाक्येभ्यो जलानां स्वतःशुद्धत्वं,
तथैव भगवत्सम्बन्धित्वाद्गुणानामिति भावः । यथा जलमन्यमेलने तदात्मकतां भजते, तत्र
च स्वस्वरूपात्मकतां च करोति, तथा भगवानपि भक्तभावमेलने स्वगुणान् तद्भावसा-
म्यान् करोति, तं च स्वीयं स्वसमं करोति ।

ननु भक्तस्य प्रभुसाम्यता कथमिति चेदुच्यते । तदसाम्यत्वे भक्तत्वमेव न स्यात् ।
अत एवोक्तं 'देवो भूत्वा देवान् यजेत्' 'यो यच्छुद्धः स एव सः' इत्यादि च । तस्मान्न-

क्तत्वेपि न हानिर्धतो तद्भजनस्यैव स धर्मो, न त्वन्यधर्म इति त्वदुक्ताशङ्कागन्धलेशोपि नैत्यलम् । तत्र प्रथम भगवतो रसरूपत्वाद्भ्रमणैकस्वभावत्वात् तत्र च गानमुख्यता श्रुत्योच्यते 'यदा खलु वै पुरुषो श्रियमश्नुते तदा वीणास्मै वाद्यते' इत्यादि । तस्माद्गानप्रियो भगवानिति गायकानां भावमाहुः गायका इति । विश्रुताः प्रसिद्धा गानरसज्ञा ये गायकास्ते कूपसङ्गाशास्त्रेषां भावः कूपजलतुल्य इत्यर्थः । यथा कूपोदकं शीतकाले अन्तरुष्णं, धर्मकाले बाह्यतः शीतं, तथैतेषामपि भावोपि श्रवणानन्दत्वेनोपरि शीतलसादनन्तरस्योभे भगवत्प्राप्त्यर्थं मनस्तापकः । तथा सति अतिप्रचुरवाद्यतापे सति भगवच्छ्रवणसुखदत्वेनान्तःशीतल इति भावः । ननु एतेषां भगवद्गुणसम्बन्धत्वेन गानाभावात् कथं भगवद्भाव इति चेत् ? उच्यते । भगवत्स्वरूपस्य नादब्रह्मात्मकत्वाद्यथास्थितनादस्वरूपज्ञाने भगवत्प्राप्तिरिति भावः । अत एव सङ्गीतशास्त्रे निरूपितं 'वीणावादनतत्त्वज्ञं श्रुतिजातिविशारदं । तालक्रियाप्रयासेन मोक्षमार्गं लभेत हि' इति । यथा कौपंजलं गुणेनैव ग्राह्यं, तथैतेषां भावो भगवत्त्वगुणत्वेनैव गृह्यत इति भावः ॥ २ ॥

ननु गायकानामनेकभेदवत्त्वात् कथं सर्वेषां तुल्यतेत्याशङ्क्याहुः कूपभेदादस्त्विति ।

कूपभेदास्तु गायन्तस्तावन्तस्तेपि सम्मताः ।

कुल्या पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥

यावन्तः कूपभेदाः सन्ति तावन्त एव गायकभेदाः सम्मता इत्यर्थः । यथा केचित् कूपा मिथ्याभ्रपरिपाचकत्वे सुरतरुपक्षशा, केचिद्दुरुत्वादभ्रपरिपाचकारिण, केचित् क्षारा शुद्धादिहेतुः, एवमनेकभेदास्तथा तेषां भगवद्गुणनिबन्धार्थज्ञानयुक्ता, केचित् नादब्रह्मात्मकस्वरूपज्ञा, केचिद्गानमाधुर्यपरा बहुभेदाः सन्ति इति यावन्तस्ते तावन्तस्तेषामपि भेदा ज्ञेया इति भावः । प्रथमभागे निरूप्य द्वितीयमाहुः कुल्याः पौराणिका इति । पौराणिका पुराणज्ञा कुल्या प्रोक्ताः । कृत्रिमसरित्तुल्या उक्ता इत्यर्थः । यतो भुवि पारम्पर्ययुता, परंपरा यथा परंपरया पुराणं श्रुत्वा वर्णयन्ति, न तु स्वतो विचारयन्ति, तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा कृत्रिमा नदी प्रत्यहं खननादियनिरेव प्रवहति, प्रमादादप्यप्रयत्नतो वातुकादिभिः सुनिहता भवति, तथा तेषामपि नित्यं पुराणादिदर्शनं एव भावो भवति, नान्यदा । यथा तस्यां पारम्पर्यता भुव्येव तडागादिषु, न तु स्वतः प्रवहन्दीनलवत् सादित्यं सपुद्गल्यं च, तथैतेषामपि पुराणदर्शनकाल एवोत्पत्तिस्तत्रैव च मनासिर्न तु दयासमुद्रभगवद्भामित्वम् ॥ ३ ॥

तृतीयमाहुः क्षेत्रप्रविष्टा इति ।

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि ससारोत्पत्तिहेतवः ।

षेट्यादिसर्जिता मत्ता गायका गर्तसञ्ज्ञिकाः ॥ ४ ॥

ते च पौराणिका । गायकनिरूपणानन्तरं पौराणिकनिरूपणेन पुनश्च गायकनि-

रूपेण पुराणोक्तभगवद्गीतानिरूपका गायका इत्येत्यर्थः । गानस्य यथा चित्तहारकत्वम्, तथा पुराणानामपीति तन्मध्यनिरूपणमिति भावः । क्षेत्रप्रविष्टाः स्वकुटुम्बपोषणाजीविकार्यं पुराणनिरूपकाः ये ते संसारोत्पत्तिकुटुम्बपोषणसाधनोत्पत्तिहेतवो भवन्ति इत्यर्थः । चकारेण भगवद्गुणवर्णकानामनुचितः संसारः, तथापि तदर्थमेव कृतत्वात् तथेति भावो धोष्यते । अपिशब्देन संसारोत्पत्तिरपि भगवद्गुणविक्रेतुर्न भवेत्, परं भगवन्माहात्म्यवत्येवेति धोष्यते । यथात्पसरिदपि क्षेत्रे प्रविष्टा सती संसारोत्पत्तिहेतुरन्नाद्युत्पादिका भवति, न तु स्नानपानयोग्या । तथैतेषां भावोपि पुराणदर्शनेन स्वान्मशोधको न भवति, किन्तु जीविकाहेतुरेव भवतीत्यर्थः । अत एव पुराणोपजीविका नीचा उक्ताः । 'नीचा पौराणिकाः काहेतुरेव भवतीत्यर्थः । अत एव पुराणोपजीविका नीचा उक्ताः । 'नीचा पौराणिकाः स्मृता' इति । चतुर्थं भावमाहुः वेद्यादिसहिता इति । वेद्यादिसहिता मत्ता ये गायकास्ते गर्ततुल्या इत्यर्थः । यदि गानस्वरूपज्ञानेन दोषरहिताः स्युस्ते नादं ज्ञात्वा मुक्त्यधिकारिणो भवेयुः, परं मत्तत्वाद्भिषयाभिनिविष्टास्तेन तेषां भावो गर्तजलतुल्य इत्यर्थः । यथा गृहमध्यकृतगर्तसञ्चितजलस्य तद्गृह एव व्यवहारयोग्यत्वम्, न तु कूपादिवत् सर्वोपयोगित्वं शुद्धिकरत्वं वा; तथैतेषां भावो गानमाधुर्यादिना तद्गृहयानन्दकर एव, न तु पुरुषार्थसाधकोपि, तदर्थमपि नादस्य ब्रह्मात्मकत्वाद्भवतो गानप्रियत्वात् तद्रसज्ञत्वात् चेष्वपि ध्यानन्दोद्भवो भगवता दीयत इति भावः । मत्तत्वादिदोषरहिताः पूर्वोक्तसहिता गायकाः कूपादितुल्या इति भावः । यथा कूपोदकं गुणैकग्राह्यं भवति, जलमद्गुणपर्यन्तमेव गुणकार्यं, न तु तदनन्तरमपि, तथा स्त्रीगानस्य मधुरत्वात् तद्वारा नादब्रह्मानन्दानुभवार्थमेतत्साहिल्यमिति भावः ॥ ४ ॥

पञ्चमं भावमाहुः जलार्थमेव गर्तास्त्विति ।

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।

हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥

तुशब्दः पूर्वगतसाम्यत्वं निराकरोति । प्रक्षालनोच्छिष्टजलनिःसरणार्थं ये गर्ताः तस्युल्या गानोपजीविन इत्यर्थः । यथा गर्तजलं नीचादिस्पर्शयोग्यमेव, न तु शुद्धादिकरं, तथैतेषां भावोपीत्यर्थः । नीचत्वादेतेषां गानश्रवणमपि भगवद्भक्तैर्न कार्यमिति भावः, तद्गानस्नानन्दराहिलादित्यर्थः । पण्डिताः हृदाः प्रोक्तास्तेषां भावो हृदजलतुल्य श्रीभागवतादिषु तत्परास्तदेकनिष्ठाः पण्डिताः हृदाः प्रोक्तास्तेषां भावो हृदजलतुल्य इत्यर्थः । तुशब्देन भगवच्छास्त्राभ्यासरतो न स्वन्य इत्यर्थो ज्ञाप्यते । यथा हृदजलं तरङ्गावर्तादिरहितं अन्तःशीतलं जलक्रीडादियोग्यं भवति, तथैतेषां भावोपि पण्डितत्वात् चान्तरहितमनोनिवर्तनाद्यनुपहतो भगवच्छास्त्रतत्परात् अनिरूपितभगवत्क्रीडानिरूपणयोग्य इति भावः ॥ ५ ॥

सप्तमं भावमाहुः सन्देहवारका इति ।

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः ।

सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥

तत्र भगवच्छास्त्रसन्देहवारकाः सर्वमतनिराकरणपूर्वकमगवन्मार्गस्थापका गम्भीरं मनो येषां ते सूदाः सुष्ठु उदकं येषामेतादृशा हृदविशेषतुल्याः । तेषां भावस्तद्भेदोदतुल्य इत्यर्थः । जले शुक्तिशैवालाघावरणरहिताः गम्भीरमानसोक्त्या अन्तः कालुष्यान्याश्रयादिदोषरहिता इति भावः । यथा हृदजलं गम्भीरत्वे घर्मकालेऽन्तःशीतलं उपरि तप्तञ्च भवति; तथैतेषां भावोप्यन्तर्भगवत्सम्बन्धाच्छीतलो पहिलीकिक्तनिवृत्त्यर्थं सन्तस इति भावः । अष्टमं भावमाहुः सरःकमलसम्पूर्णा इति । यथा पूर्वोक्तप्रकारकसन्देहवारकाः बुधाः प्रेमयुक्ताः सन्तः सरःसम्बन्धिकमलपरिपूर्णाः, परन्तु नादगायकतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं सुरभिशीतलयुक्तत्वात् लक्ष्मीनिवासयुक्तभगवत्सेवोपयोग्यं, तथैतेषां भावोपि । सौरभवत् प्रसररूपः परतः पावनो हृत्कमले प्रजसीमन्तिनीभाबस्थितिसहितभगवत्सेवोपयोग्यो भगवचरणान्जमकरन्दपानमत्तमधुपायितचित्रकुन्तलालिश्वेति भावः ॥ ६ ॥

नवमं भावमाहुः अल्पश्रुता इति ।

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।

कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतिभक्तयः ॥ ७ ॥

अल्पं श्रुतमध्ययनं येषां ते प्रेमयुक्ताः सन्तो वेशन्ताः सरस्तद्वत् परिकीर्तिताः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं वर्षीशरत्काले निर्मलं घर्मकाले पश्चात्प्रसन्नाच्च कलिलं भवति, तथैतेषां भावोपि भगवत्सेवादिषु प्रेमयुक्तत्वान्निर्मलो भवति, परगल्पाध्ययनत्वात् असङ्कलौकिकतापादिना कालुष्यादिकमाप्नोति इत्यर्थः । दशमं भावमाहुः कर्मशुद्धा इति । कर्मत्वेन ये भगवत्परिचर्यां कुर्वन्ति ते कर्मशुद्धाः, अत एव भगवतोक्तं 'मत्कर्मपरमो भवे'त्यादि । अन्यथा कर्मणा न शुद्धत्वकारणं स्यात् । अत एव 'यस्य स्पृह्या'दि स्मर्यते । तस्मात् सर्वोत्कृष्टत्वयज्ञकर्मात्मकत्वमेव सेवायज्ञत्वात् सेवन्ते, ते कर्मशुद्धास्तेषां भावः पल्वलमल्पसरोविशेषतुल्य इत्यर्थः । यथाल्पसरोजलं पानयोग्यं भवति, न तु स्नानावगाहनयोग्यं, तथैतेषां भावोपि भगवत्पूजाकर्मत्वाद्यत्किञ्चित् फलदो, न तु भगवदवगाहनयोग्य इति भावः । तथैवाल्पश्रुतिभक्तयः अल्पं श्रुतिः श्रवणं भागवतादिषु भगवन्माहात्म्यस्य, तथा भक्तिर्येषां तेषु तत्तुल्या एवेत्यर्थः । अल्पश्रुत्युत्पन्नभक्तित्वेनादृष्टत्वात् तथेत्यर्थः ॥ ७ ॥

एकादशं भावमाहुः योगध्यानादिना संयुक्ता इति ।

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्वाः प्रकीर्तिताः ।

तपोज्ञानादिभावेन खेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

योगोऽष्टाङ्गः, ध्यानं प्रादेशाहुष्टमात्रादेः । तत्संयुक्ताः गुणाः भावाः वर्णाः तजल-
तुल्याः प्रकीर्तितास्तेषां भावस्तुल्य इत्यर्थः । यथा वर्षाकाले जलं सर्वत्र सुलभं परम-
चिरस्थायि तथैतेषामपि योगादिसमय एव भगवद्भावो, न सर्वदेति भावः । द्वादशं भाव-
माहुः तपोज्ञानादिभावेनेति । तपः कृच्छ्रादि, ज्ञानं जीवात्मनः । आदिपदेन विद्या-
विद्याबन्धमोक्षज्ञानं षोडशपदार्थज्ञानं लौकिकैः (कर्म)मियों भावस्तेन संयुक्ताः स्वेदजास्तु
प्रकीर्तिताः स्वेदजतुल्याः कथिताः इत्यर्थः । तेषां भावः स्वेदजतुल्य इत्यर्थः । केचित् तप-
सैव भगवान् प्राप्यत इति ज्ञात्वा तप एव कुर्वन्ति, केचित् ज्ञानेन जीवात्मज्ञानेन मोक्षो
भवति, 'ज्ञानादेव हि कैवल्य'मिति ज्ञात्वा ज्ञानार्थमेव यतन्ते । केचित् षोडशपदार्थज्ञा-
नेनैव मोक्ष इति तज्ज्ञानार्थं न्यायादिकं पठन्ति, ते सर्व एवाज्ञाः । यतो भगवत्प्राप्तिस्तु
भक्त्यैव, न तैः, अत एव भगवतोक्तं 'नाहं वेदैर्न तपसे'त्यारभ्य 'भक्त्या त्वनन्यया
शक्य' इत्यन्तम् । 'रहूगणैतत्तपसे'ति च । तस्मात् तेषां भावस्तुल्य इत्यर्थः । यथा
स्वेदजं जलं स्नानाद्ययोग्यं, अस्त्राद्, तापकरम् । तथैतेषां भावोपि नात्मशोधकः, नापि
भगवत्प्राप्तिकरः, तापक्षेशादिकर एवेत्यर्थः । जलसाम्यत्वेन हेयार्थश्च वर्णित इत्यर्थः ॥ ८ ॥

त्रयोदशं भावमाहुः अलौकिकेन ज्ञानेनेति ।

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।

कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

अलौकिकेन भगवद्भक्तेन महत्तमचरणरजोभिषेकजेन वा ज्ञानेन हरेरकारणसर्वदुः-
खहर्तुः कादाचित्काः कदाचिदेव स्त्रीयानां दर्शनतापनिवृत्त्यर्थं प्रकटीकृताः प्रतीयमाना गुणाः
शब्दगम्याः वेदादिगम्याः श्रुतिरूपप्रजवरवधूरूपैकगम्याः ये वर्णयन्ति ते पतच्छब्दाः पर्वत-
शिखराद्वारापतने ये शब्दाः तत्सदृशाः प्रकीर्तिताः निरूपिताः इत्यर्थः । तेषां भावस्तजलतुल्य
इत्यर्थः । यथा धाराजलशब्दाः तत्र जलस्थितिज्ञापकास्तथा तद्वर्णनमपि तद्वृद्धि भगवत्स्थिति
शोधयतीत्यर्थः । धारा अपि शब्दगम्या भवन्ति, भावा अपि तथैवेत्यर्थः ॥ ९ ॥

चतुर्दशं भावमाहुः देवाद्युपासनोद्भूता इति ।

देवाद्युपासनोद्भूताः शृण्वा भूमेरियोद्भूताः ।

साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥ १० ॥

प्रेमपूर्व्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता घृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥

स्यावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

देवाः शिवादयः, आदिपदाहुमाहुर्गाभैरवादयः, तेषां उपासने प्रोद्भूताः तत्र भग-
वत्त्वेन सर्वेश्वरत्वेन मोक्षसाधकत्वेन ये भावास्ते भूमिः सकाशादुत्पन्नाः तुपाराजलकणा इये-
त्यर्थः । तेषां भावस्तजलतुल्य इत्यर्थः । तेषां तद्भजेन किञ्चित्फलं, किन्तु भगवतो-

ऽन्यथा चिन्तितवान्नरकः । अत एव 'यो न्यथा सन्त'मित्युक्तम् । यथा तज्जलं न खाना-
द्वियोग्यं किन्तु स्वाधारमपि पंक्तिं करोति, तथैतेषां भावोपि न शुद्ध्यादिकमुत्पादयति,
मोक्षसाधको वा भवति, परं देवानां भक्तत्वात् स्वाधिसाम्यतया भजन्तमनुकारयति इत्यर्थः ।
पद्मदशं भावमाहुः । साधनादिप्रकारेणाग्निहोत्रमित्यकर्मादिसहितश्रवणादिनवधाम-
क्तिरूपो मार्गस्तेनैव प्रेमपूर्व्या ये स्फुरद्भर्मास्ते स्पन्दमानास्ते प्रसवणतुल्याः प्रकीर्तिता
इत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं पर्वतादिवृष्टिवाहुत्वात् वर्धते, आतपादिपु
त्र हीयते, तथैतेषां भावोपि साधनसत्पद्मैर्वर्धते, दुःसद्गादिभिश्च गौणतां प्राप्नोतीत्यर्थः ।
अत एव कपिलदेवैः साधनत्वेन देवहृतिं प्रति सत्पद्म उक्तः 'सद्गत्सोप्यथ ते प्रार्थ्य' इति ।
यद्वा, नवधाश्रवणादिरूपभक्तिमर्यादागार्गीयसाधनादिप्रकारेण स्फुरद्रूपा धर्माः दानव्रतत-
पोद्दोमेत्यादिरूपाः येषु तेषां भावः स्पन्दमानजलतुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं वृष्ट्यादिसापेक्षं
तथैतेषां भावोपि धर्मसापेक्षः इति भावः । षोडशं भावमाहुः षाडशाः पूर्वमुक्ताः षाडशाः
सद्गादिना वृद्धिक्षयविचर्जिताः सम्यक् प्रकारेण प्रसिद्धा इत्यर्थः । निरूपिता वा । यथा
नवधाभक्तिमार्गमर्थादायामेव मुख्यतया प्रतिष्ठिताश्चेत् तदा ते स्थावराः समाख्याताः
सम्यक् प्रकारेण प्रसिद्धा इत्यर्थः । निरूपिता वा । यथा तज्जलं नानपादिभिर्ह्रांसं प्राप्नोति, न वा
वृष्ट्यादिभिर्वर्धितं, न तरङ्गफेनावर्तादिभिः क्षुब्धं भवति तथैतेषां भावोपि दुःसद्गादिभिर्न
क्षीणतां भजति, न वा भक्तसङ्गेन वर्धते, तद्दर्शनेन न क्षुब्धो भवतीत्यर्थः ॥ ११३ ॥

सप्तदशं भावमाहुः अनेकजन्मसंसिद्धा इति ।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥

सद्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।

निरन्तरोद्गमयुता नचस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥

अनेकजन्मभिः कृत्वा सम्यक्प्रकारेण सरसद्गादिभिः भगवत्कृपया वा सिद्धाः
साक्षात् सेवायोग्यं जन्म प्राप्तवन्तः जन्मप्रभृति आजन्मतो भगवद्भजनतराः सर्वदा
सर्वजन्मसु एतादृशाः भगवद्भक्ताः समुद्रगामिनदीतुल्याः परिकीर्तिताः कथिता इत्यर्थः । तेषां
भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तेषां जलानां वर्षादिजलवृद्धिसापेक्षत्वं, स्वतश्च समुद्रगा-
मित्वं, तथैतेषां भावोपि सापेक्षो भगवद्गामी चेत्यर्थः ॥ १३ ॥

अष्टादशं भावमाहुः एतादृशा इति ।

एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत्सिन्धवः परिकीर्तिताः ।

पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमाकृताः ॥ १४ ॥

जडनारदनैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

एतादृशाः पूर्वाकाः स्वतन्त्राः श्रवणसद्गाद्यपेक्षारहिता निरुपाधिकाः । स्वतन्त्रा
एव भगवद्भजनपराः सिन्धवः समुद्रगामिनदीतुल्या इत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य

इत्यर्थः । यथैतज्जलं न वृष्ट्यादिजलसापेक्षं स्वतः समुद्रगामि, तथैतेषां भावोपि नान्यसापेक्षो दयासमुद्रं भगवन्तं प्रविशतीति भावः । एकोनविंशं भावमाहुः पूर्णा भगवदीया इति । ये पूर्णा भगवदीया भगवत्तोषं विना नान्यं जानन्ति, येषां सेवयैव तापापगमः, भगवदाज्ञाकारिणस्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः कथिता इत्यर्थः । तेषां भावो रत्नाकरतुल्य इत्यर्थः । तानेव वर्णयन्ति शेषव्यासाग्निमारुताः इति । शेषो भगवत्सेवापरः स्वसुखादिक-मविचार्य शय्यादिभावेन भगवन्तं सेवते, तेनैव चात्मसुखं मन्यते । व्यासः कलावतारः सर्वोद्धारार्थं भगवद्गुणनिरूपणपरः, यस्य साक्षात् समाधिलब्धभगवद्दर्शनानन्तरं भक्ति-शास्त्रनिरूपणेनात्मप्रसादः । अग्निर्महादेवो यः सर्वविरुद्धमोहशास्त्रमपि सृष्ट्याद्यर्थं भगवदाज्ञया स्वस्य तदीयत्वेन कृतवान् । अत एव 'वैष्णवानां यथा शम्भुः' इति श्रीभाग-वते । अत्र महादेवस्य नाम विद्यायाष्टमूर्तिस्थामित्वकथनेन मोहशास्त्रकरणे जयापदहक-त्वेन । अत्र महादेवस्य नाम विद्यायाष्टमूर्तिस्थामित्वकथनेन मोहशास्त्रकरणे जयापदहक-त्वमुक्तम् । मारुतो हनुमान् श्रीकोशलेन्द्रचरणसेवनपरः । जडो जडभरतः भगवल्लभ-मानसत्वाज्जडवत् तिष्ठति । नारदः सदा भगवद्गुणगानेन भगवतोऽप्यानन्दजनकः । अत एव श्रुतिः 'यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्रुते तदा वीणाऽस्मै वाद्यत' इति । मैत्रो मैत्रेयः पराशरशिष्यो भगवद्धर्मवक्ता । आद्यपदात् प्रह्लादादयः । तेषां भावो समुद्रतुल्यः रत्नाकर-तुल्य इत्यर्थः । यथा समुद्रोन्तः रत्नमयस्तथा चैतेऽप्यन्तर्भावयुक्ताः, अत एव कपिलैरुक्तं 'भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते' इति ।

पूर्णभावान् मार्गस्वरूपज्ञानभेदेन विशेषतो वर्णयन्ति लोकचेदगुणैरिति ।

लोकचेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥

वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः पद् प्रकीर्तिताः ।

एके लोकमिश्रभावेन एके वेदमिश्रभावेन हरेर्गुणान् वर्णयन्ति । ते यथाक्रमं क्षाराद्याः क्षार आदियेषां ते पदसंख्याकाः प्रकर्षेण कीर्तिताः कथिता इत्यर्थः । तेषां तेषां भावो भिन्न-भिन्नतया तत्तत्समुद्रजलतुल्य इत्यर्थः । रामकृष्णौ मनुष्यावैव परं बलतेजोधिकाविति देवौ वेति ज्ञात्वा गुणवर्णनपराः क्षारसमुद्रतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षा-रजलं न तृपानिवर्तकं, नापि स्नानादिसुखकारि, किन्तु गम्भीरं मलादिनिवर्तकं तथैतेषां भावोपि न संसारतापनिवर्तको, नापि श्रवणेऽन्येषां भक्तिसम्पादकः, किन्तु देवादिज्ञानेन तत्स्वरूपशोधकः । बलाधिक्यादिगुणश्रवणेनान्येषां मर्यादाभक्तानां यत्किञ्चिदानन्दका-रीति भावः । ये तु वेदरक्षार्थं भगवदवतारः, नतु भगवानानन्दमयः श्रीकृष्ण एवेति ज्ञात्वा गुणवर्णनपरास्ते दधिमण्डोदतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति भावः । यथा दधिमण्ड-स्यासारत्वात् न प्राणपोपूक्तत्वं न वा चित्ततापनिवर्तकत्वं, तथैतेषां भावस्यापि सच्चिदानन्द-मयज्ञानाभावात् मोक्षोपयिकत्वं न वा संसारनिवर्तकत्वमिति भावः । मायया सत्त्वा-दिगुणैर्गुणमयं देहमाश्रित्य भगवान् सृष्ट्यादिकं करोति न स्वत इति ये गुणान् वर्णयन्ति

तेषां भावः सुरोदतुल्य इत्यर्थः । यथा सुरा स्वरूपविस्मारिका पानकर्तुरिन्द्रियदोषजनिका, तथैतेषां भावोपि भगवद्गुणानां सम्बन्धित्वेपि मायामोहनस्वरूपविस्मरणं कारयति, स्वसम्बन्धेनान्यस्यापि तयात्वं सम्पादयतीति भावः । हरिः सर्वदुःखहर्ता 'स सर्वज्ञः सर्वशक्ति' इत्यादिश्रुतिगोचरात् कारणमूतः सर्वं स्वेच्छैव करोतीति ये गुणान् वर्णयन्ति ते क्षीरोदतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षीरे स्वादुलं वीर्यजनकत्वमहितमत्वे माधुर्योधिक्यं, तथैतेषां भावस्यापि मनोहरत्वमधिकगुणगानार्थं शुद्धाधिक्यं तापानन्तरं च रसात्मकलीलाकर्तृत्वज्ञानानन्तरं तन्निरूपणेन माधुर्यत्वमिति भावः । भगवानलौकिकवीर्यवान् स्त्रीयान् साधनरहितान् अपि स्ववीर्येणैव मोचयतीति ये गुणान् वर्णयन्ति तेषां भावो घृतोदतुल्यः इत्यर्थः । यथा घृतं अन्यसम्बन्धं विनापि स्वपानेन बलवन्तं रोगमुक्तं च करोति, तथैतेषां भावोपि संसारसागरतरणाय योग्यदेहं करोतीति भावः । भगवान् हरिः शिवदुर्गाप्रभृतिभिः प्राप्तस्थानलक्षणस्त्रैर्मुहुरभिप्रार्थ्यचरणरेणुरिति चतुर्वर्गार्थं स एव सेव्य इति ये गुणगानपरास्तेषां भाव इक्षुरसतुल्य इत्यर्थः । यथेक्षुरसो मधुरोन्तस्तापनोदी, तथैतेषां भावोपि सर्वसेव्यत्वज्ञानेन मधुरः सेवनप्रवृत्तौ च त्रिविधतापनिवारकश्चेति भावः । 'अन्ये षांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इत्यादिवाक्येभ्यः पुराणपुरुषोत्तमो भगवान् एवात्पाश्रयरहितोऽसौ भक्त्यर्थं सेव्य इति ये गुणवर्णनपरास्ते शुद्धोदतुल्यास्तेषां भावः शुद्धोदतुल्य इत्यर्थः । यथा शुद्धोदं तृषादिनिवर्तकं स्नानादिना मलनिवर्तकं तापापहारी च, तथैतेषां भावोपि तृष्णादिनिवारकः पापनिवर्तकस्तापनिवर्तक इति भावः ॥ १५ ॥

पूर्णभगवदीयेषु गुल्यान्निरूपयन्ति गुणातीततयेति ।

गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥

सर्वानेव गुणान् विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।

तेऽमृतोदाः समाख्याताः तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥

ये गुणातीतभावनाशुद्धाः केवलं सच्चिदानन्दरूपिणो भगवद्भाषाः गुणा इति ये सर्वानेव गुणान् न्यूनाधिकभावेन सर्वान् एव, श्रीयशोदायामाविर्भावमारभ्य रासोत्सवप्रभृत्यानृतपर्यन्तं विष्णोर्व्यापकस्य सर्वत्र तत्तद्रूपस्य ये वर्णयन्ति विचक्षणाः भगवद्दीलादिकरणरसज्ञातारः ते अमृतोदाः समाख्याताः सम्यक् प्रकारेण कथिताः । तेषां भावः सुधासम इति भावः । यथा सुधायाः अमृतसम्पादकत्वं देवभोग्यत्वं तथा एतेषां भावस्यापि भगवत्सेवायोग्यदेहसम्पादकत्वं भगवद्भोग्यत्वं तदितराभोग्यत्वं चेति भावः । एताद्यथानां तद्वाक्पानं तेषां वचनामृतस्य पानं श्रवणं सादरं मनसा ग्रहणं जन्तुनिवेशनं सुदुर्लभं सुतरां दुष्प्राप्यं, सुदुर्लभत्वोक्त्या तत्सङ्गस्य भगवत्प्रापकत्वमुक्तमिति भावः । अत एव भगवतोक्तं 'सत्सङ्गेनैव' इत्यारभ्य 'सिद्धा मामीशुरक्षसे' इत्यन्तेन, 'अधीते'

इत्यारम्य 'सत्सङ्गान्मामुपागत' इत्यन्तं च । तद्वाक्यमाहात्म्यमाहुः तादृशानामिति ।

तादृशानां कचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।

अजामिलाकर्णनवद्विन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

पूर्णभगवद्भक्तानां वचनानामृतपानं दुर्लभम्, ते कचित् कृपया वाक्यं वदन्ति, तद्वाक्यं दूतानामिव सन्देशहाराणामिव वर्णितं कथितमित्यर्थः । यथा दूतवाक्यं तत्प्रमुखाक्यमेव, तथा तादृशानामपि वाक्यं भगवद्वाक्यमेव । भगवान् उद्दिधीर्षुः स्वीयमुखेन स्वधर्मान् न ज्ञापयतीति भावः । अत एव कपिलदेवेनोक्तं 'सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्य' इति तस्सङ्गस्य भगवति प्रार्थनमुक्तं, न तु स्वकरणत्वं, तद्भगवानेव फलं दास्यन् करोतीत्याशयेनान्यथा न कार्यं इत्येवोक्तम् । तस्मात्तु तादृशानां वाक्यश्रवणं सादरं मनसोपदेशवत् ग्रहणं विन्दुपानममृतविन्दुपानं प्रकर्षेण कीर्तितमित्यर्थः । यथामृतपानेनामरत्वं देवत्वं, तथैतत्पानेन नाशाभावपूर्वकभगवत्सेवैपयिकत्वमेवेति भावः । अत एव श्रीभागवते 'परस्परं त्वद्गुणवादसीधुपीयूषनिर्यापितदेहधर्मा' इत्युक्तम् । 'महिमामृतसमुद्रविषुष' इति च । अत्रानुभूतनिदर्शनमाहुः अजामिलाकर्णनवद्विन्दुपानं । यथा विष्णुदूतेभ्यो भगवद्दर्शबलश्रवणेन भगवद्दर्शमेव एव रुचिरमूत्, तदितरेष्वरुचिः, तथैतद्विन्दुपानकर्तुरपि भवति ॥ १८ ॥

लौकिकाद्यासक्तिरहितविन्दुपानेन रसास्वादो न भवति, तदर्थमाहुः रागाज्ञानादि-
भावानामिति ।

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।

तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥

रागः स्नेहः पुत्रादिषु, अज्ञानं भगवत्स्वरूपस्य, आदिपदेन सर्वविषयाद्यासक्तिः, तद्भावानां यदा नाशनं स्यात्, तदा लेहनमित्युक्तं भवति, रागादिभावानां नाशनं नामादर्शनं सवासनं तत्त्याग इत्यर्थः । तदेव लेहनं रागाद्यभावपूर्वकविन्दुपानं स्वानन्दस्य भगवदानन्दस्योद्गमार्थं कारणं भवतीति भावः । स्वस्य जीवभावेन तिरोहितानन्दस्योद्गमे प्राकट्ये सम्यक् तत्कारणं भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

विंशं भावमाहुः उद्धृतोदकवदिति ।

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।

उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥

पूर्वोक्ता अमृतोदतुल्यातिरिक्तानां वाक्यानि तथैव तेषां सर्वेषां भावाः भगवद्भाववचनेन गृहीताः । वाक्यानि च तथैवादरेण श्रुतानि उद्धृतोदकवदुपकुर्वन्ति यथा, तथा गृहीतानि प्रासादात् पतितोदकवत् उपकारं कुर्वन्तीत्यर्थः । उद्धृतोदकं यथा स्वस्य स्वानपानदशासु यन्नगृहीतत्वात् यत्किञ्चित्सङ्कोचेन योग्यं भवति, तथैतेषां भावोपीति भावः । तथैतेषां फलमपि भवति । पतितोदकं यथा मलखानादियोग्यं, न तु पानादिषु, तथैतेषां

भावोपीत्यर्थः । उद्धृतोदकं यथा पानादिदशायामेव तृपाशान्तिं करोति, स्रोतपतिस्थानसद-
शान् गुणान् विदधति, स्वस्थितिवशाच्च शीतोष्णभावं भजते, सुधा तु सदैकरूपेति सदै-
करूपमेव गुणं विदधातीति भावः ॥ २० ॥

उपसंहरन्ति इतीति ।

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।

रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

इतीति समाप्तौ प्रकारेण वा । जीवे इन्द्रियेषु गताः प्राप्ताः भुवि नानाभावं सा-
त्त्विकादिभावं गताः प्राप्ताः एतादृशा विष्णोर्भगवतो गुणाः स्वरूपतः फलतश्च निरू-
पिता विवेचिता इत्यर्थः ॥ २१ ॥

इति श्रीयालकृष्णकृतजलभेदविधृतिः समाप्ता ॥

परिशिष्टम् प्रथमम् ।

पूर्णा भगवदीया इत्यत्र । अत्र हि सामान्यतः पुष्टिमर्यादामार्गीयोः पूर्णा ये
भगवदीयास्तु उच्यन्ते । अत एव विवृती भक्त्या सेवया च पूर्णा इत्युक्तम् । तत्र म-
र्यादामार्गीयास्तु भक्त्वा माहात्म्यज्ञानसहितस्नेहेन पूर्णाः सर्वदा गुणपरा धर्मद्वारैव धर्मि-
पराः, पुष्टिमार्गीयास्तु धर्मिमात्रपराः, तेषां परोक्षे गुणपरत्वं धर्मिपरतयैव । तद्विरहे स्वरूपं
विना स्थातुमशक्त्या तत्परत्वात् । तत्र पुष्टौ गुणा अपि गीयमाना धर्मिरूपा एव । अत
एव 'तव कथासृते'मित्यत्र कथाया अपि गुणरूपाया भगवत्समत्वबोधनाय पद्गुणत्वमु-
क्तम् । तैत् स्वरूपालम्बकत्वं एव सम्भवति । अन्यथा गुणे गुणानङ्गीकारेण तेषु पद्गुण-
स्वोक्तिर्विरुद्धा स्यात् । तत्र शेषः पुष्टिमार्गीय एव, अन्तरङ्गलीलासम्बन्धित्वात् । न्या-
सस्तु मर्यादामार्गीयः, समाधिरूपसाधनेन भगवद्दर्शनवत्त्वात् । 'अपश्यत् पुरुषं पूर्ण'मिति
वाक्यात् । अग्निस्तु प्रसुरस्माकं पुष्टिमार्गीय एव, पुष्टिभक्तिरूपमुखारविन्दरूपत्वात् ।
मारुतोपि तथा, मर्यादापुरुषोत्तमेषु पुष्टिमार्गीयप्रकारेणान्तरङ्गभक्तत्वात् । अत एव श्रीसी-
तामनःसमाहितये लङ्गायां दूतिकाया इव तस्य प्रेपणम् । जडो मर्यादामार्गीयः, पूजा-
परत्वाद्दुःसङ्गसमयलात् देहावसानप्रतीक्षकत्वात् । नारदोपि तथा, सततं गुणपरतया
तावन्मात्रेण स्वस्थत्वात् । मैत्रेयोपि मर्यादामार्गीय एव, भगवत्पारोक्ष्येषु विदुरोपदे-
ष्टत्वेन स्वस्थत्वात् । अन्ययोर्द्वय इव क्रिद्येनुभूतान् निजस्वामिगुणानेव स्थातुमशक्तयानु-
वदेत् । एवं सति पुष्टिमर्यादामार्गीयत्वाविशेषेण भक्तेषु पूर्णत्वमेवादाय समुद्रस्वमश्रोच्यते, न

तु विशिष्य । तथा च यथा समुद्राः पूर्णाः, तथैतेपि गुणैर्भगवदीयैर्भावैश्च पूर्णाः । यथा वा ते चन्द्रदर्शनेन तरलिततरङ्गाः, तथैवैतेपि गुणगानावसरे भावभावनावसरे च भगवद्भवनविधुदर्शनेन भावतरङ्गितान्तःकरणा इति तात्पर्याज्ञानादेव पुष्टिमार्गीयाचार्याणां मर्यादामार्गीयमक्तप्रकृष्टिपाठोक्तुचित इति मत्सरिकथनं नीरमयनसदृशमेव । अत एवाग्रे 'लो-
कवेदगुणैर्मिश्रमावने'त्यनेन समुद्रसदृशभक्तेष्वेव पङ्क्तिः मित्राः कृताः, एकविधाः पुष्टि-
मार्गीया गुणातीततया 'शुद्धा' नित्यनेन मित्राः कृताः । भगवद्गुणानां पङ्क्तिधत्वेन मर्या-
दामार्गीयाणां पङ्क्तिधत्वम्, पुष्टिमार्गीयाणां तु धर्मिस्वरूपमात्रपरत्वेनैकविधत्वम् । पूर्वं हि
मिश्रभावाः, तद्भावेऽपि गुणानां मिश्रणात् । तद्वारैव तेषां प्रभौ भाववत्त्वाच्च । उत्तरे तु
शुद्धभावाः केवलस्वरूपेण तन्मात्रपरत्वात् । अत एव तद्वीर्यमानगुणेष्वपि स्वरूपात्मक-
त्वमभिप्रेत्याग्रे 'गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिण' इत्यनेन शुद्धत्वमुक्तम् । अत एव
विवृतौ 'पूर्णभगवदीयैष्वत्युत्तमान् निरूपयन्तीति गुणातीततये'त्यस्यामास उक्तः । तदर्थस्तु
पुष्टिमर्यादासाधारण्येनोक्तपूर्णभगवदीयैष्वत्युत्तमान् केवलपुष्टिमार्गीयान् निरूपयन्तीति
ज्ञेयः । अत एव पूर्णत्वेन समुद्रसदृशत्वस्य सर्वेषु सत्त्वेऽपि तेष्वसृतोदतुल्यत्वनिरूपणम् ।
तस्मादेवमभिप्रायमवगत्य नास्मत्पितृचरणविवृतावज्ञमत्सरिभिः संशयलेशोपि विज्ञेयः । ननु
तथापि तादृशपंक्तिपाठस्त्वदीयानां तानेव सर्वोत्तमत्वेन जानतां न मनोरमो भवतीति
चेत् ? सत्यम् । नेदं तदीयजनवाक्यं, येन संभावितमप्यन्यत्र तत्साम्यमुच्यमानं न स-
द्देयुः, क पुनर्वदेयुः, किन्तु निजाचार्यचरणानाम् । ते तु कश्चिद् धर्ममादाय बहुषु स्व-
लेषु तथा वदन्त्येव, अन्यथा 'अर्थं तस्य विवेचितु'मिति वाक्ये 'मां व्यासव'दिति दृष्टा-
न्तेन व्याससाम्यं कथं वदेयुः । न हि भगवता निजाचार्यवत् पुष्टिपथप्रकटनाय व्यास
आविर्भावितः, किन्तु कीरवत् तन्मुखतः शब्दात्मकं श्रीभागवतमाविर्भावयितुम् । अर्थस्य
भगवद्रूपत्वेन तत्प्रकटनं तु 'स्वयमेवात्मनात्मान'मिति वाक्यरूपेणैव भवतीति तत्प्रकट-
नाय तदात्मकानाचार्यानेव, तत्रापि भागवतार्थो भक्तिरूप इति भक्तिरूपास्वरूपानेवा-
विर्भावितवान् । तथा च शब्दात्मकं श्रीभागवतं व्यासात् प्रकटितम्, अर्थात्मकमेतेभ्यः
प्रकटितमिति तावद्धर्ममादाय यथा तत्र स्वस्मिन् तद्दृष्टान्त उक्तः, एवमत्रापि पूर्णभग-
वदीयत्वमात्रमादाय तन्मध्ये स्वस्यापि गणनेति न दोषः । वस्तुतस्तु पूर्णत्वं भगवदी-
यत्वं चाचार्येषु मिश्रमेव । भगवदीयत्वं तदास्वरूपत्वेन, तत्त्वेन भक्तिरूपत्वं, प्रभौ
रसात्मकत्ववत् । अत एव यथा प्रभौ रसलीलायां तद्धर्मविर्भावो ब्रह्मत्वं च तादृशस्यैव,
तथात्रापि भगवदाज्ञया अवतीर्य जनशिक्षार्थं भजने भक्तिधर्माविर्भावो, भगवत्त्वेपीति
भगवत्त्वभगवदीयत्वे अपि संभवत इति नानुपपत्तिः काचित् । पूर्णत्वमप्यत्र स्वरूपपूर्ण-
त्वमेव । चेतस्तत्प्रवणसेवायां निरोधे पश्चात्प्रकस्वरूपेणैव पूर्णत्वात् । अत एव 'रासस्त्री-
भावपूरितविग्रह' इति प्रभोर्नाम । इतरत्र तु गुणैरेव तथात्वमिति विभेदः । पूर्णभगवदी-

यत्वं तु सामान्यतः सममिति तमादाय तथोक्तिरुचितैव । अन्यथैकादशे प्रमुष्णा स्वामिनीभावनिरूपणे 'यथा समाधौ मुनयोऽपि तथैव' इति स्वामिनीषु मुनिदृष्टान्तकथनं न सङ्गच्छेत । स्वामिनीभावयोगयोः सुमेरुसर्पपवत्तारतम्यात् । अत एवात्र स्वस्य श्रीभागवतप्रकटकत्वेन तत्समतया व्याससमीप एव निरूपणम् । नैतावताचार्येष्वंशतोपि तत्स्वरूपसाम्यमायाति । कलावतारपुरुषोत्तमयोः साम्यसम्भावनाया अप्यसम्भवात् । अन्यथा भगवति पुरुषोत्तमे पुरुषरूपत्वसंभावनाऽसंभवेन 'पुरुषः शक्तिरियंथे'त्यादिना पुरुषदृष्टान्तकथनं धाध्येत । अतो धर्मेणैव केनचित् सर्वत्र समतोक्तिरिति नात्र दोषलेशोपि । अत एव, आनन्दरूपतया सहजनीले भगवति नीलनीरदृष्टान्तोपि युज्यते । किञ्च, 'अङ्गीकृतौ समर्याद' इति सर्वोत्तमे नामनिरूपणेन प्रादुर्भावदशायां मर्यादापरिग्रहात् तत्पूर्णत्वमपि स्वस्मिन् घोषयितुं तत्पङ्क्तिपाठो निरूपितः । नैतावता न्यूनत्वमायाति । 'अधिकं तत्रानुप्रविष्टं, न तु तद्धानि'रिति न्यायात् । अपरञ्च, यथा शुक्रेण सर्वावतारगणनायां श्रीकृष्णमपि निरूप्य 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मिति तत्र विशेष उक्तः, अवेतारकार्यकरणात् पुष्टिकार्यकरणाच्च । तथाचार्येष्वपि यज्ञादिमर्यादाकार्यकरणात् सेवादिपुष्टिकार्यकरणाच्चोभयविधकार्यकर्तृत्वमस्तीति घोषयितुं प्रथमतस्तन्मध्ये निरूपणं विधाय पश्चादाचार्याणां 'गुणातीततये'त्यादिना निरूपणं कृतमित्यस्मत्पितृपदविभृतावन्ययामतयोऽविज्ञातस्वपतय एवेति विद्वद्भिराचार्यचरणाश्रयैरवधेयमिति दिक् ।

अभिज्ञविभृतावज्ञाः पूर्वपक्षं प्रकुर्वते । अशक्ता अपि मुञ्जास्तु विश्वसन्ति तदीरिते ॥ १ ॥
शक्तास्तदाश्रयवलादभिप्रायं विदन्ति हि । समादधति ते सर्वमतिमूढजनोदितम् ॥ २ ॥
गुरवः पितृपादा मे कथितेन सुते मयि । दासीभूते प्रसीदन्तु यच्छन्तु विमलां मतिम् ॥ ३ ॥

इति श्रीहरिदासविरचितं 'पूर्णा भगवदीया' इत्यस्य संशय-
निराकरणम् ॥

परिशिष्टम् द्वितीयम् ।

अथेदं विचार्यते । श्रीवल्लभैः 'पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाभिमा-
रुताः । जडनारदमैत्राचास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः' इति जलभेदभावग्रन्थे
चतुर्दिशं सामान्यतः चत्वारः समुद्रा इव शेषाद्या उक्ता भगवदीयाः (बुष्टिपत्रम् ।)
अत्र समुद्रशब्दो यौगिकोऽपि ग्राह्यः । तथा च मुद्रया सहिताः समुद्राः । मुद्राऽत्र वै-
दिकतात्रिकमिश्रमखवैष्णवधर्मप्रवर्तनसम्प्रदायरूपा तसशीतलचक्रादिचिह्नधारणरूपापि

श्राद्धा । तेऽत्र चत्वारो वैष्णवधर्ममार्गसम्प्रदायिन आचार्याः परिगृहीताः । तत्र शेषः श्रीमन्नारायणोपासनमुख्यकवैदिकधर्मपरायणतत्समुद्राङ्कितसात्त्विकाचार्यरामानुजरूपः सम्भूत उक्तः । व्यासः श्रीगोपीजनवल्लभोपासनमुख्यकृतात्रिकधर्मपरायणशीतलमुद्राङ्कितराजसोपचाराचार्यविष्णुस्वामिस्वरूप उक्तः । अग्निः पुन उत्सन्न एव तत्सम्प्रदाये विलक्षणप्रकारतः सर्ववेदेतिहासपुराणादिसारोद्धारसम्मिश्रितश्रीगोपीजनवल्लभसेवनमुख्यकधर्मपरायणशीतलमुद्राङ्कितनिर्गुणभक्तिमार्गाचार्यश्रीवल्लभरूपः तत्स्थान उक्तः । मारुतो वायुजो हनूमान् महाविष्णुपूजनोपचारमुख्यकवैदिकतात्रिकधर्मपरायणतत्सशीतलोभयविधमुद्राङ्कितराजसतामसोपचाराचार्यमध्वाख्यरूपः सम्भूत उक्त इति चत्वारो मुख्यसम्प्रदायिन आचार्या उक्ताः ।

अथ तेषां क्रमेणाग्रिमानुपसम्प्रदायिनो निरूपयन्ति जडनारदमैत्राया इति । जडनारदमैत्राणामाद्या मूलभूता इति । जडो रामानन्दस्वरूपः सन् सर्ववर्णसंकलितो वैष्णवधर्मप्रवर्तकत्वात् शेषरामानुजस उपसम्प्रदायीभूतः । नारदस्तु कृष्णचैतन्यमुनिस्वरूपः । तथैव व्यासविष्णुस्वामिबल्लभा(चार्यो)पसम्प्रदायकप्रवर्तकः सनातनमैत्रो मैत्रेयः श्रीरूपाख्यः सम्भूतः । उत्सन्ननिम्बार्कमार्गसोपसम्प्रदायप्रकाशकश्रीभट्टहरिव्यासमतस्य इति केचित् । वस्तुतस्तु श्रीरूपः सहजीव एव स्वयं मूलभूताचार्यवायुरूपमध्वाख्यसोपसम्प्रदायी जात उक्तः । एतदुपष्टम्भकं श्रीमदाचार्याणामेव स्वेषां वचनं, यथा श्रीमागवते तृतीयस्कन्धे 'प्रावोचं भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विध'मित्यत्र 'भेदः पारमार्थिक' इति शास्त्रं पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोग उक्तः । ते च सम्प्रति विष्णुस्वाम्यनुसारिणः तत्त्ववादिनो रामानुजीयाथेह तमोरजःसत्त्वैः भिन्नाः (भक्ताः), अस्मत्प्रतिपादितश्च नैर्गुण्यः । एवं चतुर्विधोपि भगवता प्रतिपादितः, 'अभिसन्वाय योऽर्हिसां' इत्यादिभिरिति । पद्मपुराणे तु 'श्रीब्रह्मरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः । चत्वारस्ते कलौ भाव्याः सम्प्रदायप्रवर्तकाः । श्रीविष्णुस्वामिनिम्बार्कमध्वरामानुजाख्यया । भविष्यन्ति प्रसिद्धास्ते ह्युत्कले पुरोत्तमा'दित्युक्तम् । तत्र श्रीसम्प्रदायिकाः शेषरामानुजीयाः, ब्रह्मसम्प्रदायिनो मध्वाः, रुद्रसम्प्रदायिनो व्यासविष्णुस्वामिसम्प्रदायानुवर्तिनः, सनकसम्प्रदायिनो निम्बार्कश्रीभट्टहरिव्यासीयाः साम्प्रतम् । एतदभिप्रेत्यैवमेव सम्प्रदायप्रदीपे ग्रन्थे गदाधरद्विवेदिनावेदितम् । भारतीयैश्चैशम्पायनोक्तसहस्रनामस्तत्रेपि 'अहःसंवर्तको वह्निरनिलो धरणीधर' इत्यत्र पृथक् पृथगेतदाचार्यचतुष्टयस्वरूपनामैवोक्तम् । तदेतत्सहस्रनामटीकायां श्रीविष्णुवल्लभाख्यायां द्रष्टव्यम् ।

वियदर्थवस्तुग्लोभिर्मितेऽब्दे मोदनामनि ।

चेन्ने सिते शुरौ द्वेते श्रीशः काश्यामदोऽलिखत् ॥ १ ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

पञ्चपद्यानि ।

श्रीहरिरायकृतविवरणसमेतानि ।

एवं जलभेदे पूर्वश्लोकैर्विंशतिषा मित्रा मक्तास्तद्भावाश्च निरूपिता जलदृष्टान्तेन, तेषामन्यहृदयसार्दीकर्वृत्तज्ञापनाय । तेषां च पुनर्भक्तानामष्टादशविधाप्रतिपादितभगवद्दृष्टानामष्टादशविधत्वेन तन्मात्रपरतया केवलमर्यादामार्गीयाणामष्टादशविधत्वात्, पुष्टिमार्गीयाणां मिश्रशुद्धभेदेन द्विविधत्वात्सगुणनिर्गुणभेदेन दशविधानां मर्यादापुष्टिभेदेन द्विविधत्वाद्वा विंशतिविधत्वम् । तद्भावानामपि तद्वर्तित्वेन तथा संख्यावत्त्वम् । अतः परं तद्भावाद्वा तद्भावग्राहकान् श्रोतॄन् पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विविधान्, पुष्टिमार्गीया एकविधा उत्तमा एव, मर्यादामार्गीयास्तु मध्यमाधमोत्तमभेदैद्विविधा इति चतुर्विधांश्च निरूपयितुं प्रथमं मुख्यत्वेन पुष्टिमार्गीयान्निरूपयन्ति ।

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसारतिवर्जिताः ।

अनिर्वृता लोकवेदे सुखपास्ते श्रवणोत्सुकाः ॥ १ ॥

श्रीकृष्णः श्रिया परमशोभया लक्ष्म्या वा युतः कृष्णः सदानन्दो निर्दोषतित्यगुणपूर्णो रसिकशिरोमणिस्तास्य यो रसो भजनानन्दरूपः, अथवा स एव रसः स्याद्यिभावात्मा विरहरूपः, तेन परोक्षे हृदयागत्येन विक्षिप्तं स्थानात् प्रचलितं यन्मानसमन्तःकरणं तत्र याञ्जतिश्चरतिश्रवणविपयिणी तथा वर्जिता इत्यर्थः । अयमर्थः । भगवच्चरिताकर्णनविपयिणी अरतिर्दिधा निवर्तते, मर्यादापुष्टिमार्गभेदेन । तत्र मर्यादामार्गे 'शुश्रूषोः श्रद्धानस्ये'ति वाक्यान्महत्सेवापुण्यतीर्थनिषेवणादिभिः रुचिरुदेति, ततोऽरतिनिवर्तते । पुष्टिमार्गे तु तद्रसस्वामोन्वादेव 'दुस्त्यजस्तत्कार्ये' इति वाक्याच्चिर्वर्तते । तथा च पूर्वोक्तेषु पुष्टिमार्गीयत्वावगतय एवमुक्तम् । एवं चरित्रश्रवणे तेषामरत्यभावं निरूप्य तन्मात्रविपयकरतिं निरूपयितुं लोकवेदानिर्वृतिमाहुः अनिर्वृतां लोकवेद इति । लोकमुक्ते वेदे प्रवृत्तिमार्गीयधर्मबोधके भगवदितरभजनविधायके । अथवा लोके वेदे चानिर्वृता निर्वृतिरहित्वा अत्यस्ता इत्यर्थः । उपरोरति लोकवेदयोः 'ये त्यक्तलोकधर्मो'ति वाक्यात्त्वाज्यत्वेन तुल्यताबोधनाय समस्तं पदम् । अत एव लोकानिर्वृतिबोधनाय 'पतिसुतादिभिरातिर्दैः कि'मित्यादिवाक्यान्मुक्तानि । वेदानिर्वृतिबोधनाय 'मममुद्धर गोविन्दे'त्युक्तम् । स्वमेव साक्षादतिदुःखसागरे निमग्नं ब्रजमुद्धर, नतुद्धतेन वेदेन वयमुद्धर्तव्या इत्याशयेन । एवं ये पुष्टिमार्गीयप्रकारेणारत्यभावरतिभावमुक्तास्ते मुल्याः पुष्टिमार्गीयत्वेन श्रेष्ठाः ।

अथवा, मुखं पुष्टिमार्गीया भक्तिस्तत्रभवा भक्तिरूपमगवन्मुखारविन्दसंलग्नाः ककुल-
त्वेनोच्यमानाः सम्भूय भक्तिमाश्रयेण पुष्टिमार्गीयुक्ता जीवा मुख्या इत्यर्थः । ननु पूर्व-
निर्दिष्टा लोकवेद इत्यनेन भगवति रतिरुक्ता, न श्रवणादिष्विति तेषु गौण्येव सेति
कथं मुख्यश्रोतृत्वमित्याशङ्क्याहुः श्रवणोत्सुका इति । भगवति रतावपि वियोगे
श्रवण एवोत्सुकाः । औत्सुक्यं तत्रैव । प्रियप्रीत्यापि परोक्षे तत्सन्देशहारके प्रीतौ श्रव-
णौत्सुक्यस्य स्पष्टत्वात् । अत एवोक्तं 'इति स्म सर्वाः परिवतुस्तुकास्तमुत्तमश्लोकपदा-
म्युजाश्रय'मिति । तथा च रसिका रसविक्षिप्तमनसश्चरितसहजभावाः वियोगार्तियुताः
पुष्टिमार्गीयान्भक्तान् निरूप्य मर्यादामार्गीयांस्तान्निरूपयितुं तत्रोत्तमा अति-
दुर्लभा इति प्रथमं मध्यमान्तिरूपयन्ति ।

विक्रिन्नमनसो ये तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः ।

अथैकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः ॥ २ ॥

विशेषेण क्लिप्तं तदेकपरतया कोमलत्वादार्द्रं मनो येषामित्यर्थः । यथार्द्रं वस्तु स्व-
सम्बद्धमप्यार्द्रयति, तथा येषां मनः स्वसम्बन्धिनामपि रूक्षत्वेन शुष्काणां चेतः सार्द्रं
विदधाति, शुकादीनामिव त इत्यर्थः । य इत्यनेन सर्वत्र प्रसिद्धाः मर्यादामार्गीया उक्ताः ।
शुशब्देन पूर्वोक्ताः पुष्टिमार्गीया व्यावर्तिताः । ननु विक्रिन्नमनस्त्वं पुष्टिमार्गीयेष्वपि त-
प्रीत्या भवतीति तद्भावावर्तकं धर्ममाहुः भगवत्स्मृतिविह्वला इति । श्रवणावसरे
या चरित्रसम्बन्धितया भगवतः पङ्क्त्यपूर्णस्य स्मृतिः स्मरणं तेन, न तु स्थायिभावात्मकेन
रसेन विह्वलास्तल्लीलाविशिष्टप्रमुदशैनाय व्याकुला इत्यर्थः । ननु पूर्वोक्तधर्मद्वयेनापातत
उत्तमत्वमेव तेषु भासत इति व्यक्ततया मध्यमत्वबोधकं धर्ममाहुः अथैकनिष्ठा इति ।
ते पूर्वोक्तधर्मयुग्मेनोत्तमतया भासमाना अपि अर्थः पुरुषार्थो मोक्षादिः, अथवाऽर्थः प्र-
योजनं स्वकृतार्थत्वादिः स एवैको मुख्यस्तान्निष्ठाः, न तु मुख्यतया चरित्रनिष्ठाः । फल-
सापेक्षत्वान्मध्यमा इत्यर्थः । ननु तादृशाः श्रोतार एव न भवन्ति, तत्र तालर्याभावा-
दित्याशङ्क्याहुः श्रवणोत्सुका इति । तैसाध्यफलतात्पर्यवक्ष्येपि श्रवणे भगवच्चरित्र-
श्रवणे उत्सुका औत्कण्ठ्यवन्त इति तेषां श्रोतृत्वेन मध्यमत्वमित्यर्थः । यथा परीक्षिदा-
दीनाम् । तेषामितरापेक्षया पूर्णवैराग्यवस्त्वेनोत्तमत्वेपि सोपार्थिकप्रवृत्तेर्विदुरोद्धवाद्यपेक्षया
मध्यमत्वमेव । अत एव 'प्रायोपविष्टो गङ्गाया'मिति वाक्यात्परीक्षितः स्वकृतार्थताहेतु-
त्वेन गङ्गाद्यपेक्षा । अन्यथान्यत्रैवोपविष्टः स्यात् । भगवच्चरित्रं तु भगवानिव न स्वफल-
साधनेन्यदपेक्षत इति स्वार्थनिष्ठत्वमेव तत्र प्रयोजकमिति तत्र तथात्वम् । विदुरस्य तु
'यत्र मित्रासुतो मुनि'रिति वाक्याद्भवत्सन्निहितस्थलत्वेनैव तत्र गमनं, न गङ्गोदेशेनेति
स्वार्थनिष्ठत्वाभावाच्चरित्रमात्रनिष्ठत्वेनोत्तमत्वमेवेत्यर्थः । मर्यादामार्गीयत्वं तु परीक्षिदि-

दुरयोः समानं शुद्धिसापेक्षफलसिद्धेः । अत एव तीर्थाटनसत्सद्भाव्यामेव विदुरे श्रवणा-
धिकारः सिद्धः । परीक्षिति तु स्पष्ट एव । अत एवासदाचार्यरुक्तं 'मर्यादास्यस्तु गहायां
श्रीभागवततत्पर' इत्यन्येषामपि तथाविधानां चित्तचायत्याभावसाधनत्वाभिप्रायेण ॥२॥

एवं मध्यमान्निरूप्याधमानामप्रयोजकत्वेन मिश्रतयाऽनिरूपणीयत्वाद्दुत्तमनिरूपण-
मध्य एव केनचिद्धर्मेण तास्मिरूपयितुमुत्तमानेव प्रथमं निरूपयन्ति ।

निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः ।

ते त्वावेशान्तु विकला निरोधाद्वा न चान्यथा ॥ ३ ॥

कृष्णस्य सदानन्दस्य तत्त्वं वास्तवं रूपं रसात्मकं तादृशकरपादादितुक्तत्वेन सा-
कारं व्यापकं स्वेच्छया मायापसारणेनाविर्भाववत् निःसन्दिग्धं शास्त्रस्वानुभवान्यां सन्दे-
हरहितं तत्रापि सर्वभावेन 'यावान् यथास्मी'ति वाक्याद्रसात्मकः साकार एव सर्वरूप
इति भावेन तात्पर्येण विदुर्जानीयुरित्यर्थः । नन्वेवं दृढज्ञाने श्रवणापेक्षाऽभावाच्च श्रोतृ-
त्वमुपपद्यत इत्याशङ्काद्वाहुः ते त्विति । ते पूर्वोक्ता दृढज्ञाना अपि ज्ञानेन हृदये भगव-
दावेशात् तु विकला ज्ञातृत्वेन स्वस्फूर्तिरहिता इति तदुपपद्यत इत्यर्थः । अत एवोक्तं
'हरेर्गुणाक्षिसमतिर्भगवान् वादरायणि'रिति । तुशब्देन रसावेशवन्तो व्यावर्तिताः । तेषां
रसावेशस्य सार्वदिकत्वेन कदापि स्वरूपज्ञानानुदयात् । ज्ञानस्य च रसोदयप्रतिषन्धक-
त्वात् । अत एव सर्वव्यापकस्य स्थान्तःस्थितस्यापि प्रभोरन्वेषणादौ प्रवृत्तिः । (सर्वदा
रसावेशवतामन्वेषणादौ प्रवृत्तिः । रसात्मकस्वरूपव्यापकस्वरूपज्ञानोदये सति अन्वेष-
णादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् । गोपिकानां तु सर्वदा रसावेशवत्त्वम् । अतः प्रवृत्तिः ।) तदेवोक्तं
सिद्धज्ञानेन श्रीशुकेन 'पप्रच्छुराकाशवदन्तरं चहिर्भूतेषु सन्त'मिति प्रभुविशेषणकथनेन ।
अत एवोक्तं प्रभुणापि 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवे'दिति । ननु भगवदावेशे
भगवत इव सर्वज्ञत्वमुचितं, तत्कथमेतेषां वैकल्यं, यतो हेतोरुणश्रवणे प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य
पक्षान्तरमाहुः निरोधाच्चेति । तेषां गुणैरेव निरोधात् । प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं भगवदा-
सक्तिसम्पादनात् । गुणानामपि स्वातन्त्र्येण निरोधकत्वं श्रूयते 'महृणश्रुतिमात्रेण'त्यादौ ।
अतो निरोधेन वा वैकल्यमित्यर्थः । नचान्यथेति स्वरूपनिरोधाच्च तथेत्यर्थः ॥ ३ ॥

एवं श्रोतृत्वमुपाध कदाचिन्मोक्षाद्यर्थनिष्ठतेतेषामपि भविष्यतीत्याशङ्क्यार्थकनि-
ष्ठत्वप्रयुक्तं मध्यमत्वं वारयन्त आहुः ।

पूर्णभावेन पूर्णाधाः कदाचिन्न तु सर्वदा ।

अन्यासक्तास्तु ये केचिद्धम्माः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥

सर्वत्र पूर्णो यो भगवद्भावो ज्ञानेन भगवदावेशाद् निरोधाद्वा सर्वत्र भगवत्स्फुर-
णात्तेनैव पूर्णः अर्थः पुरुषार्थो येषामिति, न तेषामन्यः स्वार्थ इति, तन्निष्ठत्वेन मध्यमत्वं
न, किन्तु भगवन्मात्रनिष्ठत्वेनोत्तमत्वमित्यर्थः । नन्वेवं पुष्टिमार्गाद्येभ्यो न मेद आपाति,
तेषामप्येवंविधत्वादित्याशङ्काद्वाहुः कदाचिन्न तु सर्वदेति । एतेषां भावनावसरे गुण-

गणाकर्णनावसरे वा तात्कालिकनिरोधात् तयात्वम् । पुष्टिमार्गीयाणां तु सदैव तयात्व-
मित्यर्थः । अत एव शुकादीनां न सर्वदा लीलेतराननुसन्धानम् । अन्यथा 'मयुराया व्रजं
गता' इति ताटस्थ्येनोक्तिर्नोपपद्येत । पुष्टिमार्गीयभक्तभावस्य तु सार्वदिकत्वं प्रसुरेवाह
एकादशे 'ता नाविद'न्निति पद्ये नीरनिधिनीरप्रविष्टनदीदृष्टान्तेन । नहि महाजलधिजल-
प्रविष्टा नद्यः कदापि पूर्वभावं प्राप्नुवन्ति । स्वरूपेण स्थिता अपि न भेदेन व्यपदिश्यन्ते ।
अतः पुष्टिमार्गीयेषु भगवदितरस्फूर्तिरहितभाववद्भगवदीयत्वं भगवत्त्वं च, भगवता सहौ-
त्प्रोतन्यायेनैक्यात् मर्यादामार्गीयेषु श्रवणादिना भगवदीयत्वमेवेति महानेव भेद इत्य-
लमुक्त्या । एवं वहिःसंवेदनाभावदशायां मर्यादामार्गीयोत्तमान्निरूप्य वहिःसंवेदनद-
शापन्नांस्त्वान्निरूपयितुं वहिःसंवेदनप्रसङ्गेन मध्येऽधमान्निरूपयन्ति अन्यासक्ता इति ।
ये केचित् शास्त्रणत्वशुद्धत्वादिभिरुत्कर्षापकर्षयुक्ता अप्यन्यद्ब्रह्मादिकं तत्रासक्त्या घृत्यादि-
सम्पादकत्वेन लोकानामग्रे कथनार्थं भगवद्गुणश्रोतारः 'क्षेत्रप्रविष्टा' इत्यादिनोक्तगुण-
गायकभावग्राहका अधमाः परिकीर्तिता इत्यर्थः । तुशब्देन भगवदर्थकग्रहासक्ता व्याव-
र्तिताः । तस्यास्तु पुष्टिमार्गीयमोक्षरूपत्वेन उत्तमत्वसम्पादकत्वात् ॥ ४ ॥

एवं मध्येऽधमान्निरूप्य पुनर्वहिःसंवेदनदशापन्नानुत्तमान्निरूपयन्ति ।

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु ।

देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मप्रकारतः ॥ ५ ॥

वहिःसंवेदनदशायामपि न विद्यते अन्यः भगवदतिरिक्तो यत्र एतादृशं मनो
येषामित्यर्थः । ननु को विशेषस्तदान्तःसंवेदन इत्याशङ्क्यानन्यचेतस्त्वे प्रकारभेदमाहुः
देशकालेत्यादि । अन्तःसंवेदने हि देशादयो भगवत्त्वेनैव स्फुरन्ति, न देशत्वादिभिः ।
केवलभगवदाकारान्तःकरणे सर्वत्रावरणनाशात्, वहिःसंवेदने त्वन्तःकरणस्य प्रपञ्चप्रवे-
शेन तदाकारत्वे देशत्वादिप्रकारेण तत्स्फूर्तौ तत्र भावनामात्रेण भगवद्बुद्धिरिति विशेष
इत्यर्थः । ननु तदानीं कथं भगवत्त्वेन सर्वस्फूर्तिः, नेदानीम्, अन्तःकरणस्य तस्यैव स्व-
रूपतः सत्त्वादित्याशङ्काहुः मर्त्या इति । अन्तःसंवेदने हि ते भगवद्भूता एव, भाव-
नया तदात्मकत्वात्, अतो न तेषामन्यस्फूर्तिस्त्वादा, वहिःसंवेदने तु मर्त्यत्वादितरस्फूर्ति-
रिति तत्र देशादिषु शास्त्रेणाह्वार्या भगवद्बुद्धिरित्यर्थः । एतादृशा मर्यादामार्गे श्रवणादिषु,
आदिपदेन कीर्तनप्रभृतिषु चोत्तमा इत्यर्थः ॥ ५ ॥

भाववतस्तद्भावान् निरूप्य पूर्वं ततो भक्ताः ।

मार्गद्वयेन चोक्ताः श्रोतारः श्रीमदाचार्यैः ॥ १ ॥

आचार्या निजकरुणामात्राः कुर्वन्तु सन्तुष्टाः ।

नाम्ना मां हरिदासं रूपेणापि स्वतः प्रभवः ॥ २ ॥

इति श्रीहरिदासीयं श्रोतृचतुर्विध्यकथने निजाचार्यश्लोकपञ्चक-
विवरणं संपूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

पञ्चपद्यानि ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवरणसमेतानि ।

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः भक्तिरधिन्त्या धीजभावदाढ्योत्तरं भक्तिवृद्ध्यर्थं श्रवणकीर्तने साधनत्वेनोक्तवन्तः, धीजदाढ्यार्थं च पूजां श्रवणादीनि च नवापि साधनत्वेनोक्तवन्तः । तत्र, श्रवणं नाम भगवद्वाचकपदवाक्यानां शक्तितात्पर्यनिर्धारः । कीर्तनं च तद्विधार्पूर्वकं मुखादुच्चारणम् । एवं तयोः स्वरूपस्य साधारणत्वे त्यागानन्तरं क्रियमाणयोः कुतो भक्ति-हेतुत्वम्, ततः पूर्वं क्रियमाणयोश्च कुतो धीजदाढ्यमात्र एवोपकारकत्वमित्याकांक्षायां निरोधलक्षणे 'महतां कृपया यावत्' 'महतां कृपया यद्'दिति श्लोकाभ्यां यथा कीर्तने विशेष उक्तः, महत्कृपाभिष्यक्तभगवत्कीर्तनसानन्दसन्दोहजनकत्वमिति प्रथमाधिकारे महतां कृपया यथा भगवदीयकृतं कीर्तनं सुखदं, तथा लौकिकसम्बन्धकीर्तनं न सुखदं, किन्त्व-रुचिविषय इति, तत उत्कृष्टाधिकारे विशेषः कीर्तनस्याधिकार्यनुभवमेदविचारणोक्तः । तथा श्रवणस्य कुत्रापि नोक्त इति तदर्थं पञ्चश्लोकान् श्रीकृष्णरसविक्षिप्तसेत्यादिकान् दरेर्भक्ता इति निगमनान्तान्वदन्ति । प्रथममुत्कृष्टं भक्तिवृद्धिजनकं त्यागिनां भावमाहुः श्रीकृष्णेत्यादि । किञ्च, ननु यथा स्वस्मिन्भगवद्भावं सम्भवरूपं श्रवणफलसिद्ध्यर्थं श्रवणस्योत्कर्षार्थं च वक्तृभावान् परीक्ष्य तत्सङ्गः श्रवणार्थं विधेय इति जल-भेदे प्रतिपादितम्, तथा वक्त्रापि भगवद्भावसम्भवरूपकीर्तनफलसिद्ध्यर्थं श्रोतृभावः परीक्षणीयः, तृतीयस्कन्धे विदुरमैत्रेयसंवादे विदुरमैत्रेयज्ञानसंक्रमस्य च परस्परसंवादेन प्रतिपादितत्वात् । अतः कीर्तनसिद्ध्यर्थं श्रोतृन् विचारयन्ति श्रीकृष्णेत्यादि ।

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसा रतिवर्जिताः ।

अनिर्धृता लोकवेदे ते मुख्याः श्रवणोत्सुकाः ॥ १ ॥

अत्र अनिर्धृता लोकवेद इति विशेषणं त्यागवत्त्वबोधकम् । तादृशमेव हि लोके वेदे चानिर्धृतेः । रतिवर्जिता इति विशेषणं तु रती रमणं ब्रह्मिर्भगवत्प्राकट्येव भगवता सह संलापादिकं, तद्रहिता इत्यर्थकम् । एतेन निरोधलक्षणे 'क्लिश्यमानान् जनान् दष्टे'ति श्लोकद्वयेन यादृशोपकार उक्तस्तद्ब्राह्मिलं सूचितम् । तेन ततः पूर्वं यो गुणगानाधिकारः, यथोत्कृष्टः कीर्तनाधिकारस्तदुभयं कोडीकृतम् । तदत्र आहुः श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसाः श्रवणोत्सुका इति पदद्वयेन । तथाच श्रीकृष्णस्य भगवतो यो रसो लीलासम्बन्धिभजनानन्दात्मकः, तेन विक्षिप्त मानसं येषां ते तथा, एतेन तेषां स्वार्थाननुसन्धानं सूचितम् । एते पुष्टिमार्गीया उक्तधर्मेणावगन्तव्याः । किञ्च, श्रवणे

उत्सुका उत्कण्ठायुक्तास्ते भक्ता मुख्याः श्रवणाधिकारिणः । अथ यत्तदोर्नित्यसम्बन्ध इत्यध्याहारः । एतेन ये कीर्तने द्वितीयाधिकारिणो ये च गुणगाने प्रथमाधिकारिणस्ते तुल्या इत्युक्तम् । कीर्तनगानयोर्ज्ञानपूर्वकत्वात्तस्य च श्रवणपूर्वकत्वादि दृश्यते, श्रवणे तादृशत्वस्यैव सिद्धेरिति । नन्वेकादशस्कन्धे 'अथ भागवतं श्रुत यद्धर्मो यादृशो नृणाम्' यथाचरति यद्भूते वैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रिय' इति जनकप्रश्ने हरिणा योगीश्वरेण 'सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मन' इत्यादिभिरेकादशभिः श्लोकैः कर्मज्ञानभक्तिमिश्रा भागवता उक्ताः सुषोधिभ्यां व्याख्याताश्चेति त एवात्र कुतो नोक्ता इति चेत् ? उच्यते । तथाहि, प्रश्ने नृणामिति पदात्साधारणा एव भागवताः पृष्ठाः, नत्वात्यन्तिका इत्यतस्तदनुक्तिः । किञ्च, तत्र तेषां फललक्षणे 'विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्दरिवशमिहितोप्यघौषनाशः, प्रणयश्नया धृतांघ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्त' इत्यनेन भगवतः सर्वदा तद्धृदयस्थितिर्भागवतप्रधानलक्षणत्वेनोक्ता । सा च स्वमात्रगम्यत्वेन तत्र स्फुटति, नत्वन्यगम्यत्वेनैतन्न्यगम्यं लक्षणं तत्सद्भावं वक्तव्यम्, तदत्रोच्यत एवेति पुष्टिगार्णे यादृशा विवक्षिताः तत्र लक्ष्यन्त इति तदनुक्तिरिति जानीहि । तत्र प्रथमविशेषणद्वयेन यद्धर्मत्वं, तृतीयेन यादृशत्वं, तुरीयेण यथाचरतीत्यर्थोक्तं सिध्यतीत्यपि बोध्यम् । 'तथा न कामकर्मवीजाना'मिति श्लोकोक्तलक्षणवत्वमपि सिध्यतीति च बोध्यम् ॥ १ ॥

एवं शुद्धपुष्टिमार्गीयान् मुख्यान् श्रवणाधिकारिणो निरूप्य पुष्टिमर्षादामार्गीयान् मध्यमानाहुः चिह्नत्रैत्यादि ।

विह्वलमनसो चे तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः ।

अर्थैकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः ॥ २ ॥

विशेषणं ह्यिन्नं तदेकपरतया कोमलत्वान्भगवद्रसेनार्द्र मनो येषां ते तथा । तु पुनर्ये भगवतः स्मृत्या स्मरणेन विह्वला विवशतां प्राप्ताः, च पुनर्ये श्रवणोत्सुकाः श्रवणोत्कण्ठायुक्तास्ते त्रिविधा अपि अर्थैकनिष्ठाः अर्थः प्रयोजनं स्वकृतार्थतारूपं भक्तिवीजदाह्वर्यरूपं वा, तत्र एका मुख्या निष्ठा नितरां स्थितिर्येषां तादृशाः सन्तः मध्यमा परत्वात्तेषां भगवन्निष्ठायास्तादृशसाधन एवोपयोगात्पूर्वोक्तधर्मवत्त्वेपि साधनअत्रापि प्रथमविशेषणेन यद्धर्मत्वं द्वितीयेन च यादृशत्वं बोधितम् । तेनैवाचरणोक्ती अपि सूचितप्राये बोध्ये ॥ २ ॥

एवं पुष्टिमर्षादामार्गीयान् मध्यमानुक्त्वा मर्षादापुष्टिमार्गीयान् जपन्वानाहुः निःसन्दिग्धमिति द्वाम्याम् ।

निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन चे विदुः ।

ते त्वावेशान्तु विकला निरोधाद्वा न चान्यथा ॥ ३ ॥

पूर्णभावेन पूर्णार्पाः फलाधिष्ठ तु सूर्यदा ।

अन्यासस्तास्तु ये केचिदधमाः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥

कृष्णतत्त्वं भगवतः सर्वकर्तृत्वं पशुणवत्त्वं परमकृपालुत्वं दीनबन्धुत्वं भक्तिज्ञाना-
दिजनकत्वं पतितपायनादिकत्वमनारोपितं निःसन्दिग्धं यथा स्यात्तथा सर्वभावेन भगवतः
सर्वत्वेन ये विदुः जानन्ति, तु पुनरावेशाद्भगवदोवेशान्निरोधाद्वा ये विकलाः, च पुनर-
न्यथा न । किञ्च, पूर्णभावेनेति श्लोकोक्तकालपरिच्छिन्नधर्मवन्तस्ते ज्ञानप्रधानत्वाद्-
न्यावेशेन भक्त्युत्कर्षादित्याच जघन्या इत्यर्थः । तेन तादृशां तादृशां सङ्गे वक्तुरपि ता-
दृशतादृशभावस्य सिद्धिरिति यथासम्भवमुत्कृष्टसङ्ग एव प्रयतनीयमिति धोष्यम् ॥ ३ ॥ ४ ॥

ननु भवत्वेवं तथापीदानीं जघन्यानामपि दुर्मिलत्वात्कीर्तनमुच्छिन्नप्रायं भवेदिति
तदभावाय सामान्यतः श्रवणादिगतत्यपिकारिण बाहुः अनन्यमनस इत्यादि ।

अनन्यमनसो भर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु ।

देशकालद्रव्यकर्तृमध्यकर्मप्रकारतः ॥ ५ ॥

प्रकारत इति ल्यब्लोपे पञ्चमी । तथा च देशादीन् प्रकारान् प्राप्य ये भग-
वदेकमनसस्ते श्रवणादिषु भक्तिषु सद्गार्थं शृण्वन्, यदि पूर्वोक्ता न मिलन्ति । मिलने तु
नैतादृशेषु सन्ननीयमिति न काचिदनुपपत्तिरित्यर्थः ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मभनन्दनचरणैकतानश्रीपीताम्बरतनुजश्रीपुरुषोत्तम-
विरचितं श्रीकृष्णरसचिक्षिसेत्यादिश्लोकपञ्चकस्य विवरणं
संपूर्णम् ॥

श्रीमद्-बल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-शोडश-ध्यान-गीत :- चतुर्दश :

संन्यासनिर्णयः

अष्टटोकाभिः समलंकृतः

- | | |
|---------------------------|------------------------|
| १. श्रीगोकुलनाथानाम् | ५. श्रीगोपेश्वरानाम् |
| २. श्रीरघुनाथानाम् | ६. श्रीपुरुषोत्तमानाम् |
| ३. श्रीगोकुलीतारानाम् | ७. फाका श्रीबल्लभानाम् |
| ४. धावा श्रीगोपेश्वरानाम् | ८. धावा श्रीगोपेशानाम् |

श्रीमद्-बल्लभाचार्य-महाप्रभु-वंशावतस-नित्य-लीला-स्मित-
गोस्वामिश्री-१००८- श्रीद्वारकेश्वरलाल-महाराजयो-
त्येतेषा-स्मृतौ-तदात्मजैः- गौस्वामिश्री-१००८
श्री किशोरचन्द्र-महाराजैः
प्रकाशितः

प्रकाशक :

गोस्वामिश्री १००८ श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज
मोटी हवेली, माडवी, कच्छ, ३७०४६५ भारत.

साधारण संस्करण २००० प्रति
राज संस्करण १००० प्रति
श्रीवल्लभानन्द ५०३

ग्रन्थ-परिचय लेखक : गोरखजी श्याम मनोहर

मुद्रक :

स्टुडियो नहार, २३-ए, सेन्द्रल चौपाटी बिल्डिंग चौपाटी, मन्मई-४०० ००७



गोस्वामिश्री १००८ श्रीद्वारकेशलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रंथ-परिचय

संन्यासनिर्णयकी रचना वि. स. १५५१ में बदरिकाश्रमकी यात्राके अवसरपर नरहरि संन्यासीके लिए की गई ऐसी एक किंवदन्ती मिलती है ।

श्रीपदुनाथजी—विरचित श्रीवल्लभ—दिग्विजयके अनुसार श्रीमहाप्रभुने बदरिकाश्रमकी यात्रा तीन बार की थी. द्वितीय यात्रामें कृष्णदास मेपनके आपके साथ होनेका उल्लेख तथा व्यासाश्रम पधारनेका उल्लेख भी मिलता है. इस प्रसंगकी सूचना ब्रह्मके तीर्थपुरोहित-को दिये गये वृत्तिपत्रमें भी मिलती है. इस वृत्तिपत्रमें यात्राकाल “देवाम्भपतिभू (१४३३) मिते” तदनुसार वि. स. १५६८ उल्लिखित है. अतः यदि वि. स. १५५१ वाली किंवदन्ती प्रामाणिक हो तो उसे प्रथम यात्राका काल मानना पडेगा इसकी पुष्टि चौरासी वंशवन्की बातोंसे भी होती है .

“सो एक समय नरहर संन्यासी बदरिकाश्रम फिरते-फिरते आये. तहा श्रीआचार्यजी महाप्रभु पधारै सो नरहर संन्यासीकी दरसन भये तब नरहर संन्यासी श्रीआचार्यजी महाप्रभुसो बिनती किये- ‘महाराज में पहिले संन्यास ग्रहण कियो हती. पाछे आपकी कृपाते भक्तिमारगमें आयो सो संन्यासके प्रकार हैं सो तो मैं जानन हो ओर भक्तिमारगको कहा प्रकार है सो मैं जानत नाहि. सो मोको कृपा करि कहिये’ तब श्रीआचार्यजी कहे— ‘तोसो भक्तिमारगमें संन्यासको प्रकार कहन हो, तब श्रीआचार्यजी ‘संन्यास निर्णय’ ग्रन्थ करि नरहर संन्यासीको पढाय भाव कहि सुनायो तब नरहर संन्यासीके हृदयमें पुष्टिमार्गकी सिद्धान्त स्थिर भयो, तब श्रीठाकुरजीकी लीलाको अनुभव भयो सो मग्न होय गये. पाछे श्रीआचार्यजी आगे पधारै नरहर संन्यासी स्वरुदानन्दमें मग्न होय फिरवै करते ”

श्रीमहाप्रभुके चरित्रवर्णनमें सर्वाधिक प्राचीन (वि. स १६१० में) गदाधर द्विवेदी लिखित सम्प्रदाय-श्रद्धीपमें भी एक ‘संन्यासनिर्णय’ का उल्लेख मिलता है . श्रीवल्लभ निर्णय गंगातीरे उपविष्टा तत्र त्रिशङ्कविचिता संन्यासनिर्णय उक्त यथा त्रिष्णुस्वामी तथा यतिभूत्वा काश्या गता ” (चतुर्थ प्रकरण) किन्तु यहा ‘संन्यासनिर्णय’ ग्रन्थवाचक है अथवा ग्रन्थरूपेण निबद्ध न किये गये किसी मौखिक उपदेशका वाचक है, यह निश्चित नहीं हो पाता है इसके अलावा—‘त्रिशङ्कविचिता’ पदपर भी ध्यान देना चाहिये क्योंकि पौडशा-ग्रन्थान्तर्गत प्रस्तुत संन्यासनिर्णय ग्रन्थमें कही भी त्रिशङ्कविचिते संन्यास ग्रहण करने या न करने का कोई भी विचार उपलब्ध नहीं होता है

पष्ठात्मज श्रीवदुनाथजी-विरचित श्रीवल्लभदिविजयमे, बायीं आसुरव्यामोह-लीला करनेस पूर्व दामोदरदास प्रभृति बंजणवोद्वारा सन्यासकी अभ्यर्थना करनेपर उनके लिए सन्यासकी अनावश्यकता दिखलानेके लिए एक मौखिक उपदेशका वर्णन मिलता है उस सन्यासनिर्णयके उपदेशसारको भी वहाँ सजलित किया गया है, जिसे ध्यानसे पढ़नेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत षोडशप्रधान्तगत सन्यासनिर्णय और उक्त सन्यासनिर्णय में उपदिष्ट विषय भिन्न-भिन्न हैं।
कुल मिलाकर दो सम्भावना सामने आती है -

१) वदरिकाश्रमकी प्रथम यात्रा—समयत वि. स. १५५१—में नरहरि सन्यासीके लिए प्रस्तुत षोडशप्रधान्तगत सन्यासनिर्णय लिखा गया था

२) लोकगोचर देहदेशत्याग अर्थात् आसुरव्यामोह-लीला करनेकी तृतीय भगवदाज्ञाके पश्चात् अन्त करणप्रबोध ग्रन्थकी रचना जैसे श्रीमहाप्रभुने स्वयम्के लिए की, वैसे ही सन्यास लेनेमें पूर्व इस सन्यासनिर्णय ग्रन्थकी रचना भी आपने स्वयम्के लिए ही की है. अर्थात् वि. स. १५८७ में -

इनमें प्रथमका समयत तो पूर्वोक्त चरित्रग्रन्थकी एकवाक्यतासे स्पष्ट होता ही है. द्वितीय सम्भावनाका भी समयत हमें श्रीपुरुषोत्तमजीकी प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थकी व्याख्यामें मिलता है श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार क्योंकि प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थका प्रणयन तृतीय भगवदाज्ञाके बाद हुए पश्चात्तापको दूर करनेके लिए ही हुआ है अतः वि. स. १५८७ रचनाकाल ही श्रीपुरुषोत्तमजीको मान्यतया सिद्ध होता है

श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार इसका आधार वे स्वयम् इन शब्दोंमें देते हैं—“गया तु तेपा परस्परविसम्मतिमवलोक्य अन्त.करणप्रबोधग्रन्थस्य ‘पश्चात्ताप’—‘परित्याग’ पदयो अत्र प्रत्य-निगानात् स एव पश्चात्तापो अत्र निवर्ष्यत्वेनादत्”. परन्तु केवल दो समान पद ‘पश्चात्ताप’ तथा ‘परित्याग’ के पुनरावर्तनको परम्पराप्राप्त इतिवृत्तसे बलवत्तर नहीं माना जा सकता है इसके अलावा सर्वोत्तमसूत्रमें—“विरहानुभवेकार्यं-सर्वव्यागोपदेशक” नामके द्वारा श्रीप्रभुचरण भी प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थके—“विरहानुभवकार्यं तु परित्याग प्रशस्यते” उपदेशका ही परामश करतेसे प्रतीत होते हैं वहाँ—“विरहानुभवकार्यसंवेत्यागप्रशसक” अथवा “विरहानुभवकार्यसंवेत्यागपरायण” न कहकर “उपदेशक” कहना इस बातका द्योतक लगता है कि प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने अन्त करणप्रबोधकी तरह स्वयम्के लिए नहीं किन्तु अपने अनुयाईओंके लिए उपदेशके रूपमें प्रकट किया है

इसके अलावा श्रीपुरुषोत्तमजी भाष्यप्रकाश (३।४।४२) में—“बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराश्च” के भाष्याशकी तथा प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थकी एकवाक्यता स्वीकारने

(१) आज्ञा पूर्व तु या जाता गयामागरसगम । यापि पश्चात्प्रभुवन न कृत तद् द्रव्य भया ॥
देहदेशपरित्यापस्तृतीयो लोकगोचर । पश्चात्ताप रूप तत् सेवकोह न चान्यथा ॥

(अन्त करण ५-७)

है—“एतस्य प्रपञ्च संन्यासनिर्णयग्रन्थादवगन्तव्यः”. यहा प्रारम्भमे भवितभाग्ये: मध्यम कक्षाये अधिकारीके लिए आवश्यक साधनत्यागका विचार हम अधिकरणका प्रमुख उद्देश्य है ऐसा दिखलाते है—“अयं भवित्भाग्यमध्यमजघन्ययो. फलविचारोत्तर मध्यमस्य त्यागरूपं साधनं चिन्त्यते.” भागवतके एकादश स्कन्धके अठाहरवे अध्यायमे—“यदा वरमधिपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु विरागो जायते सम्पद् न्यस्ताग्निं प्रदज्जेततः” कारिकासे प्रारम्भ कर सोलह कारिकाभोमे पहले भगवान्ने उद्धवको त्रिदण्ड संन्यासका स्वरूप समझाया है, और इसके बाद—“ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः सर्लिंगानामधमास्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचर.” कारिकामे चतुर्थं आश्रमरूप संन्यासते मिथ्र एक संन्यासकी आज्ञा बी गई है; यह संन्यासकी आज्ञा पूर्वोक्त भाष्य (३।४।४२) तथा संन्यासनिर्णय ग्रन्थ का आधारभूत वाक्य है. उद्धवने भी इस संन्यासकी आज्ञाके बाद सर्व-परित्याग किया था तथा यह परित्याग मध्यमाधिकाररूप था, यह त्रिविधनामावलोके—“उद्धवादिमध्यमभावबोधकाय नम” से स्पष्ट होना है ऐसा श्रीपुरुषोत्तमजी स्वीकारते है

ऐसी स्थितिमे संन्यासनिर्णय ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने स्वयम्के लिए लिखा यह कहना कुछ असमञ्जस सा लगता है नशोकि सर्वप्रथम तो संन्यासनिर्णय ग्रन्थमे मध्यमधिकारीके त्यागके प्रकारकी प्रतिपाद्य विषय माना गया है, और व्यर्थ ही श्रीमहाप्रभु स्वयम्के वारेमे मध्यमाधिकारिनाका निर्णय ले यह मगन नहीं लगता श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार तृतीय भगवदाज्ञा भी “लोकपरित्यागविषयिणी” थी. इस आज्ञाका तात्पर्य मध्यमाधिकारवाले संन्यासग्रहणार्थ लेनेमे कीई विशेष हेतु दृष्टिगन नहीं होना है “स्वीयवन्धनिवृषयं वेग सोपि न चान्यथा” मे संन्यासविष्टांका अनिवनना या उपेक्षा का जो बोध होता है, वह भी श्रीमहाप्रभुके सर्वथा आग्रहपूर्वक यथाक्रम कुटिलक बहूदक हस तथा परमहस के क्रमनिर्वाहमे उतना सगत नहीं होता.

इन बातोंको दृष्टिगन रखनेसे ऐग प्रतीत होता है कि लोकगोचर देहदेशत्यागकी तृतीय भगवदाज्ञाके परिपालनार्थ श्रीमहाप्रभुने संन्यासनिर्णय ग्रन्थमे बणित मध्यमाधिकारवाला संन्यास नहीं किन्तु चतुर्थश्रमरूप नित्यसंन्यास ही आपने लिया था “ . आश्रमचतुष्टयस्यै नित्यसंन्यासो भवति तत्र ब्राह्मण्यं, वयं पूर्वाश्रमानन्तर्यं च प्रयोजकं न ज्ञानादि” (सुबो ३।१२।४२). संन्यासनिर्णयमे “कर्ममार्गं न कर्तव्यं मुनरा कलिशालन” वचन द्वारा जित चतुर्थाश्रमरूप संन्यासकी भक्तिमार्गीय जीवोके लिए अनुपादेयता, तथा सर्वनिर्णयमे—“त्रिदण्ड परित्युहणीत सर्वेसास्त्राविरोधि तत् . प्रतिस्तिरिय सर्वो देहस्य” वचन द्वारा जित चतुर्थाश्रमरूप भास्वविहित संन्यासकी ब्राह्मणदेहके लिए आवश्यकता शास्त्रसम्मत मानी गई है, वही संन्यासका प्रकार श्रीमहाप्रभुने स्वीकारा था

पुष्टिमार्गीमे फलानुभूति हम भूतलपर ही उत्तम मानी गई है—“भगवानेव हि फलं य यथा-विधीदेद् भुवि” (पु प्र म.). आगे चलकर सेवाकालमे भी वर्णित उत्तम फल ‘अलौकिक सामर्थ्य’ सर्वैन्द्रियोसे भगवान्की रगात्मिका अनुभूति इसी भूतलपर स्वीकारी गई है. पर प्रभु जब आचार्यवर्णको लोकगोचर देह-देश-त्यागकी आज्ञा प्रदान कर रहे थे, मर्षादासमार्गीय

कर देना उचिit होता है—“विरहानुभवाथं तु परित्याग प्रदास्यती”

बीजभावके दृढ होनेपर भक्तानी यह स्वतएव गमयते आने लगता है कि—गृहस्थिते-
दृढकृष्टत्व न भगवदीयत्वमात्रेण सिन्धु भगवता सह स्थित्या भगवत्सामर्थ्याय वा अन्यथा न
स्थातव्यम्” (गुडो ३।१।२)

पुनश्च यहां यह अवधेय हो जाता है कि श्रीमहाप्रभुने समझ न तो भक्तिके बीजभावको
दृढ करनेकी कोई समस्या थी और न स्वगृहमें भगवत्सेवाके अनिवार्यता ही. न सतत गृह-
स्थितिके भक्तिके बीजभावके विनाशकी ही और न विरहानुभवायं परित्यागकी भी क्योकी
सन्यासमें मुक्तिसे अधिक अव्ययता तो सम्भव नहीं, जबकि मुक्तिने वारिमें आपका स्वच्छ
अभिप्राय है कि—“स्वतन्त्रमभवानां तु गोपिकादितुन्याना सर्वेन्द्रियेस्त्यागान्त करणं स्वरूपेण
चानन्दानुभव अतो भक्तानां जीवन्मुक्त्यपेक्षाया भगवत्संवासाहिनगृहाभ्रम एव विशिष्यते”
(शास्त्रार्थप्रकरण) इसी तरह सर्वोत्तममें आपकी— “रासलीलेकतात्पर्यं” कहा गया होनेसे
विरहानुभवाथं भी सन्यासमें आपका प्रवृत्त होना वृत्त अर्थपूर्ण नहीं रह जाता स्वगृहमें
भगवत्सेवा-कामाय जीवनयापन उत्तमाधिवारका ध्योतक है तथा यह सम्भव न होनेपर मग
वद्विरहानुभवायं सन्यासग्रहण करना भक्तिमार्गीय मध्यमाधिकारका ध्योतक है

यद्यपि “वृत्तनभावात् गृहिणीपताहार” (अष्टागूढ ३।४।४७) ने भाष्यके उपसहारमें,
“कुछ दुर्लभ प्रकार क— राजा आशकरणदास जेस— भवन भगवदीया करते हुए भी गृहत्याग
कर देते हैं” ऐसा उल्लेख मिलता है परन्तु उस गृहत्यागके जो कारण यहां दितलाये गये
हैं, वे यो हैं—“केचन भक्ता भायणादिलीलादर्शनं विना स्थातुमशक्ता प्रचुरभारविषयाद्याया
गृहास्त्यनत्वा वन गच्छति” स्पष्ट है यह बात श्रीगहाप्रभुपर लागू नहीं होती अतएव भाष्य-
कार यही कहते हैं—“तेन भगवत्सेवाका सोभाव्य नहीं प्राप्त होता उनके लिए विरहानुभवार्थं सन्यासका
कल्प है इसमें यह सुदृढ हाता है कि श्रीमहाप्रभुके सन्यासके स्वरूप एवम् प्रयोजन इस
सन्यासनिष्पत्तयमें निष्कलित भक्तिमार्गीय मध्यमाधिकारक ध्योतक सन्यासके स्वरूप एवम् प्रयो-
जन से भिन्न ही य

अतएव दामोदरदास प्रभृति वैष्णवीकी सन्यासमें भी आपका अनुवर्तनकी प्रार्थनाका
श्रीमहाप्रभुने अस्वीकार कर दिया था, श्रीयदुनाथजीके शब्दोंमें, “ततो दामोदरादीना सह्या-
नाथ सन्यासग्रहणार्थं चार्थना जाता अथानार्थं युष्माक भागवतसन्यासोत्त्वेव मत्कामार्थम्
उद्धारादिवदिद्वैव स्थातव्यमित्युक्त्वा सन्यासनिष्पत्तयं श्रावत ‘भागवत सन्यास से आपका
नास्त्यं श्रद्धामन्वन्धगच्छद्वारा आसन्ननिवेदनके वारिमें ही प्रतीत होता है स्वयम् श्रीमहाप्रभुने
निदण्डविधिले सन्यासग्रहणका प्रयोजन भक्त्यदाताका पालन ही था अत वैसी आज्ञा
अभावमें अन्य अनुपादोंके लिए सन्यासमें आपका अनुवर्तन सवेया अनावश्यक था

नरहरि तो पहले ही सन्यास ल चुक थे और एक आश्रममें कृत आश्रममें एक बार
पहुचनेके बाद पुनरावर्तन सवेया शास्त्रनिषिद्ध है, अतएव वृ-दावनम पहले नरहरिकी निदण्ड-

विधिते अर्थात् शास्त्रसम्मत रीतिमें संन्यास लिवाया गया और बादमें बदरिकाश्रममें उन्हें इस संन्यासनिर्णय ग्रन्थके उपदेश द्वारा भगवद्भिरहानुभवमें दीक्षित किया गया !

संन्यासका विधान पुत्रपणा विर्त्तपणा और लौकपणा से ऊपर उठनेवालोंके लिए शास्त्रमें मिलता है, परन्तु शिष्यपणामें ये तीनों वासनार्यें छत्र रूपसे त्रिगुणित हो जाती हैं, पुत्र तो दोचार पैदा हो जायें तो लालसा सन्तुष्ट हो जाती है, परन्तु शिष्यपणा तो दो-चार हजार चेलोंके जुट जानेपर भी सन्तोषका नाम नहीं लेती ! अतएव अपने सहज परिवारके पोषणके लिए वित्तकी अपेक्षा उतनी नहीं होती जितनी कि मठ या आश्रमों में जुटे बेलोंके पोषणके लिए होती है, एक सासारिक व्यक्ति अपने गुणोंकी कीर्तिकी लालसा से उतना प्रसन्न नहीं होता जितना कि एक आधुनिक परमहंस अपने त्यागकी कीर्तिकी लालसासे प्रसन्न होता है !

वस्तुतः विरक्तकी त्यागसाधना और त्यागीकी वैराग्यसाधना में बड़ा अन्तर पड़ जाता है !

शास्त्रविन वैराग्य व्यक्तिको किसी सीमा तक ऊपर उठा सकता है परन्तु वैराग्यहीन त्याग हमें नीचे धकेल देता है श्रीमहाप्रभुका सिद्धान्त है कि किसी वस्तुके व्यर्थ त्यागकी अपेक्षा उसे भगवान्को समर्पित कर देना उचित बात है अतएव जब हम समर्पित नहीं कर पाते तब केवल विरक्तिके आधार पर प्राप्त वस्तुके त्यागके न्याय भगवदनुरक्तिकी तन्मयतामें उसका त्याग किया जाये तो बात बन सकती है !

त्याग अपने-आपमें एक स्वतंत्र मार्ग होनेकी महत्ता नहीं रखता है मार्ग तो तीन ही होते हैं, (१) कर्ममार्ग (२) ज्ञानमार्ग (३) भक्तिमार्ग कर्म ज्ञान या भक्तिके अग्ररूपेण त्यागकी महत्ता अवश्य मान्य हो सकती है, किन्तु इनमें रहित वैकल्यत्याग तो मनुष्यको केवल परिव्राजक ही बना पाता है—कहीं पहुँचाता नहीं !

श्रीमहाप्रभु संन्यासका निर्णय केवल वैराग्यके सन्दर्भमें देना पसन्द नहीं करते हैं कर्म ज्ञान या भक्ति में से किसी एकके साथ वैराग्यके प्रकट होनेपर संन्यास या त्याग का विचार प्रासंगिक बनता है, भागवत (११।२।७-८) में आता है कि—“योगारम्भो मया प्रोच्यता नृणा श्रेयो विधित्सया ज्ञान कर्म च भक्तिश्च नोपायोग्योस्ति कुञ्चित, निविण्णता ज्ञानयोग... कर्मयोगस्तु कामिना . . . न निविण्णो नानिमत्रतो भक्तियोगोऽथ सिद्धिदः” अर्थात् विरक्ति-प्रधान साधकके लिए ज्ञानयोग, सकाम साधकके लिए कर्मयोग; एवम् न विरक्त और न अतिसकाम ऐसे साधकके लिए भक्तियोग सिद्धिप्रद होता है, इन कर्म ज्ञान या भक्ति के मार्गपर आगे बढ़नेपर अर्थात् वैराग्यके दृढ़ होनेपर संन्यासका विचार प्रासंगिक बनता है,

इस विषयमें सुबोधिनी (३।१२।४२) में एक विल्लूत स्वपटीकरण श्रीमहाप्रभुने दिया है, उसका अनुवाद देख लें :

“ब्राह्मणके लिए यह आवश्यक है कि वह चारों आश्रमोंमें कर्मज, प्रविष्ट हो, . . . किसी एक आश्रममें स्थिर होना भी, बेसी कामना होनेपर, शास्त्रानुमत है... जो ऊर्ध्वरेतस भवन

रीतिसे, तब तदनुरूप पारमहृत्य सन्ध्याम भी आपने ग्रहण किया। "मन्यामेन देहत्यागं करोति स परमहृतो नाम स परमहृतो नाम।" (जाबालोपनिषद्)

अतएव अन्त करणप्रबोधके— "प्रोडापि दुहिता यद्बन्तु स्नेहात् प्रेष्यते वरे तथा देहे न कर्तव्य" तथा सर्वनिर्णयके— "न्यासे सर्वपरित्यागी . तादृशस्य बलाद्वापि देहत्यागो विमुक्तिद" इन दोनों वचनोकी तुलना करनी चाहिये

फलत सन्यासनिर्णय, यह सहज सम्भव है कि, श्रीमहाप्रभुने वर्दारकाश्रमकी प्रथम यात्राके समय नरहरि सन्यासीके लिए ही बनाया हो

भक्तिवर्धनीमें यह दिखलाया गया था कि जिनका बीजभाव दृढ हो वे गृहत्याग करने भगवत्कृपाक श्रवण—कीर्तन द्वारा भी अपनी भक्तिको विकसित कर सकते हैं अन्यथा बीज भावके दृढ न होनेपर उसे दब करनेके लिए व्यक्तिवा यथावसर भगवत्सेवा और भगवत्कृपा दोनोंकी अपनाता चाहिये, यदि वह अव्यावृत्त होतो अन्यथा व्यावृत्त होनेकी अवस्थामे अर्थात् निजगृहमें भगवत्सेवाकी शयना न होनेपर बीजभावकी दृढताके लिए केवल भगवत्कृपाक श्रवणादिमें भी प्रेमासक्तिव्यसनकी उत्तरात्तर अवस्थाओमें भक्ति विकसित हो सकती है

भगवत्कृपाके श्रवणादिमें जब स्नेह उत्पन्न होता है तब सात्त्विक विषयोमें अनुरागनष्ट हो जाता है— भगवदासक्ति त्पिर होनेपर भगवत्सेवामे अनुपयोगी गृहमें भक्तकी जरूरि हो जाती है— भगवत्सेवायें उपयोग न आनेवाल घर और घरकी सारी वस्तु भक्तकी भक्तिमें बाधक लगने लगती है— पीरे घोंरे या जब कृष्णभक्ति व्यसनदशापर पहुच जाती है तब जीव कृतार्थ हो जाता है एसी व्यसनदशापर पहुचनेवाले व्यक्ति के लिए भी भगवत्सर्वार्थ अनुपयोगी घरम सतत निवास करना, कभी भक्तिम व्यसधानवा हेतु बन सकता है भक्तिका विनाशक हो सकता है अन भक्तिकी दृढताके लिए केवल कृष्णदर्शनकी तीव्र लालसासे जो गृहत्याग कर पाते हैं, उन्हें सर्वोत्कृष्ट परा मुदृढ भक्तिका लाभ होता है (भक्तिवर्धनी)

इसके बाद भक्तिवर्धनीमें जो इस प्रकारका त्याग नहीं कर पाते उनके कर्तव्य बिलालये गये है, परन्तु जो त्याग करनेम समर्थ हो उन्हें वह त्याग कैसे कित्त अवस्थाम, कित्त भावनाक साथ और कित्त लक्ष्यकी प्राप्तिक लिए करना चाहिये इत्यादि विषयोका निरूपण नहीं हो पाया जिनसे स्वगृहमें भगवत्सेवा न निभती हो और जो गृहत्यागक लिए भी अपने-आपको समर्थ न पाते हो उन्हें यह मुझाया गया था कि उन्हें ऐसे भगवदीयोके समीप बसना चाहिये कि जो सेवा कृपा परावण जीवनयापन करत हा वे यदि छूट दे ता उनके द्वारा की जाती भगवत्सेवामे सहयोगी-परिवारक भी बनना चाहिये अन्यथा कमसे कम उनके द्वारा की जाती भगवत्कृपामें ध्याताके रूपमें तो सम्मिलित होना ही चाहिये इसी रण्दर्भमें भगवत्कृपाके लिए आवश्यक योग्य वक्ता एवम् श्रीना का स्वहय बीचमें जलभद और पञ्चवसानि में समझाया गया था अत अवशिष्ट गृहत्यागका विचार आवश्यक था ही, जिसे इत सन्धास-निर्णय ग्रथ द्वारा पूण किया जा रहा है

सर्वनिर्णय निबंधमें कारिका १९१ में कारिका २१४ तक सन्यास त्याग भक्ति आदि अनेक विषयोका निरूपण किया गया है, पर वह मुख्यतया पुष्टिमार्गीयोंके लिए नहीं, अपितु सभी देवी जीवोंको लक्ष्यमें रखकर किया गया उपदेश है. अतएव कारिका १९६ में— “भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति. न सोच्यते” वचन उपलब्ध होता है. अतएव वहा, संन्यासग्रहणके शास्त्रीय प्रकारपर बहुत भार दिया गया है— “त्रिदण्डं परिगृह्णीत सर्व-शास्त्राविरोधि तत्” जबकि यहा सन्यासनिर्णयमें सामान्य रूपसे “वेशः सोपि न चान्यथा” कहनेमें बहु भार दिसलाई नहीं देता. क्योंकि देवी जीवोंके लिये आवश्यक सन्यासके सामान्य प्रकारसे भिन्न एक विशिष्ट प्रकारके संन्यासकी आज्ञा यहा श्रीमहाप्रभु दे रहे है.

सर्वनिर्णयान्तर्गत संन्याससम्बन्धी विचारके प्रारम्भमें श्रीमहाप्रभु आज्ञा करने हैं कि ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ अथवा सन्यास में से किसी भी एक आश्रममें नैष्ठिक होकर रहा जा सकता है, अथवा क्रमशः उत्तरोत्तर आश्रमोंमें प्रवेश किया जा सकता है, अथवा आयु-ष्यके चार समान भाग करके एक-एक भागका यापन एक-एक आश्रममें किया जा सकता है. सर्वत्र फल तुल्य ही होता है क्योंकि शास्त्रोंमें सभी आश्रमोंकी प्रशंसा मिलती है एसी स्थितिमें समनन्तरक्रम और आयु-क्रम वाले कल्पमें सन्यास एक शास्त्रीय आवश्यकता प्रतीत होती है

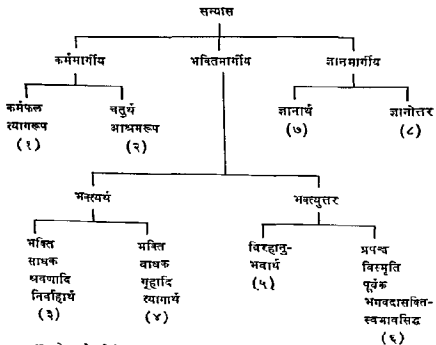
जबकि षोडशग्रन्थान्तर्गत सन्यासनिर्णयमें, कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग या अदृढ बीजभावको अवस्थामें भक्तिमार्ग में भी श्रीमहाप्रभु सन्यासको अनुमोदनीय नहीं मानते

इन दोनों दृष्टिकोणोंको एकवाक्यता इस तरह धटित हो जाती है कि पुष्टिमार्गीयतर देवी जीवोंके लिए आश्रमक्रम अथवा आयु क्रम कल्पमें, चतुर्थाश्रमरूप संन्यास वर्णाश्रमधर्मके रूपमें शास्त्रविहित होनेके कारण, ज्ञानमार्गीय साधक एवम् मर्षाशक्तिमार्गीय साधक के लिए अनुष्ठेय ही हैं, भगवत्साक्षात्कार के न होने पर्यन्त. भगवत्साक्षात्कार होनेके बाद उसकी तन्मयतामें आश्रमधर्मोंका त्याग निन्दनीय नहीं रह जाता यह नियम किन्तु पुष्टि-मार्गमें अनिवार्य नहीं है— “अन्तःकरणे सस्कारविशेषापायकत्वं च प्रतीयते सन्यासस्य. स च सस्कारः फलोपकार्यगमित्यावश्यकः सन्यासो मर्षाश्रममार्गः. पुष्टिमार्गं त्वयैव व्यवस्था- 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह' इति वाक्यात्” (अणु ३।४।१७).”

अन. पुष्टिमार्गीय साधक यदि अव्यावृत्त होकर स्वगृहमें भगवत्सेवाको निभा पाता है तो गृहत्याग या संन्यास अनावश्यक है—“त्यागे वाङ्मनसोरेव भगवति विनियोगो न सर्वेन्द्रियाणाम् गृह्णितस्तु सर्वं प्रकारमेवमन मवाति इति परिजनञ्च कृतार्थो भवतीति मज्जे कूस्सता” (अणु ३।४।७). अन्वया स्वगृहमें भगवत्सेवा न निभनेपर अर्थात् किसी पुष्टिभक्तके व्यावृत्त होनेपर सर्वप्रथम उसे स्ववर्णाश्रमोचित धर्मोंका पालन करते हुए भगवत्कृत्याके श्रवण-मनन-जीर्नन द्वारा भक्तिके बीजभावको दृढ बनाना चाहिये. बीजभावके दृढ होनेपर अपने धर्म भगवत्स्वरूपके मेधा-दर्शन-स्पर्शन आदिके संयोगसुखके न मिलनेके कारण तथा पारिवारिक शक्तौत्र भगवद्विप्रयोगजन्य दुःखानुभूतिमें भी व्यवधानोंको देखते हुए गृहत्याग

होते हैं वे चाहें तो मैथिलक ब्रह्मचर्य आश्रममें स्थिर हो सकते हैं. सर्वथा वैराग्यरहित अर्थात् उत्कट कामनावालेके लिए गार्हस्थ्य ही ठीक रहता है. उसे वेदोके यथाशक्ति अध्ययन करने के बाद, शास्त्रीय विधिके अनुसार विवाह करके, याचदजीवन अग्निहोत्रादि कर्मोंके अनुष्ठानमें तत्पर होना चाहिये . यतएव आपस्तम्बकारने सभी आश्रमोंको तुल्य माना है. किसी भी आश्रमके कर्तव्योंका यथावत् पालन करनेपर सिद्धि मिलती है. कहीं-कहीं एक आश्रमकी प्रशंसा करनेके लिए अन्य आश्रमोंकी निन्दा भी दिखलाई देती है. पर वास्तविक तात्पर्य उसका किसी आश्रम-विशेषकी प्रशंसाके रूपमें ही लेना चाहिये अन्यथा श्रुतिवचनोंमें परस्पर विरोधाभास होने लगेगा, जबकि ब्राह्मणोंका यह कर्तव्य है कि किसी भी श्रुति-वचनको अप्रामाणिक न माने.”

कर्म ज्ञान और भक्तिके तीन प्रमुख भेद और तदन्तर्गत अन्य भी उपभेदोंको दृष्टिगत रखनेपर इस प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थमें कुल आठ प्रकारके सन्यासोंके बारेमें हमें निर्णय मिलना है. बोधसौकर्यके लिए उन्हें इस वर्गीकृतिका द्वारा समझा जा सकता है .



आत्मोद्धारके तीनों ही मार्गमें सात्त्विक अहंता ममताको बाधक माना गया है सात्त्विक अहंता-ममतासे ऊपर उठनेके सच्चे उपाय वैराग्यरहित कर्म ज्ञान अथवा भक्ति तो

हो सकते हैं, पर केवल त्याग या संन्यास नहीं, फिरभी भ्रामक उत्साहवश बहुधा लोग स्वमार्गमें पूर्ण निष्ठा तथा वैराग्य के अभावमें ही त्याग या संन्यास की उतावल कर बैठते हैं और स्वमार्ग तथा संमार्ग से भटक जाते हैं ।

पुष्टिमार्गीय जीव भी यदा-कदा ऐसे मिथ्याचारवाले त्याग या संन्यास के फेरमें पड़ सकते हैं, विशेषतः स्वगृहमें भगवत्सेवा न निभा पानेवाले दृढ़ बीजभाववाले भक्तोंके लिए श्रीमहाप्रभुने भी गृहत्यागका ओ उपदेश भक्तिवर्धिनीमें दिया है, उसका तात्पर्य भलीभांति न समझ पानेके कारण, पुष्टिमार्गीय विवेकके बिना उतावलमें कोई त्याग या संन्यास की गलती कर सकता है, ऐसोंके पल्ले पछतावेके अलावा और कुछ नहीं पड़ता !

अपने पुष्टिमार्गीय जीव ऐसे मिथ्याचारके फेरमें पड़ कर अपने पुष्टिमार्गीय फलसे भी वञ्चित न रह जाये— सारे जीवनको ही एक महापापण्डका नाटक न बना लें एतदर्थ श्रीमहाप्रभु त्याग संन्यास सम्बन्धी अपने विचारोंको स्पष्ट करते हैं, ताकि त्याग या संन्यास के चक्रमें फसनेवाले सम्भावित पश्चात्तापसे बच पायें, और जो नरहरि संन्यासीकी तरह संन्यास ले ही चुके हो उन्हें पुनः भक्तिमार्गपर अग्रसर होनेकी दिशा सूझ पाये— पश्चात्तापसे उबर कर !

(१) कर्मफल-त्यागरूप कर्ममार्गीय संन्यास

तत्तद् वर्णं या आश्रम आदिकी दृष्टिसे जो कर्म नियत होते हैं उनका परित्याग उचित नहीं होता. (दृ. गीता ३/८) सर्वनिर्णयने प्रारम्भमें यह कह दिया गया है कि केवल नित्य-कर्मका फल आत्ममुखरूप होता है तथा उसके त्याग करनेपर प्रत्यपाम-अपराध लगता है, यही नित्यकर्म ब्रह्मविद्याके सहित हो तो ब्रह्मानन्दका दात भी करता है— “भगवद्भानन्दरूप फल ब्रह्मज्ञानयुक्तस्य यदोक्तकर्मकतुरेव” (सर्वनि ४) हर गुरुतमें वर्षाश्रमाचारादि शास्त्र-विहित नित्य कर्मोंका त्याग देहाभिमानके बने रहनेतक शास्त्रनुमोदित नहीं है (यावद् देहाभिमान, तावद् वर्णाश्रमधर्म एव स्वधर्म, सुबो ३।२८।२).

निष्काम कर्मानुष्ठान करनेवाला भी ब्रह्मसत्य हो सकता है, ऐसा धीशंकराचार्य नहीं मानते—“तस्माद् य एव ब्रह्मसत्य स्वाश्रमविहितकर्मवना सोऽमृतत्वमेति न, कर्मनिमित्तविद्या-प्रत्ययोविरोधान्” (छा भा २।२३।१). किन्तु गीता (३।५-८) के अनुसार श्रीमहाप्रभुके मतमें नियत कर्मका त्याग उचित नहीं होता अतः ब्रह्मचर्य गाहंस्य या वातप्रस्य में से किसी भी एक आश्रममें नैष्ठिक द्रव्य धारण कर स्वाश्रमोचित वर्तव्योंका जो निष्काम अनुष्ठान करता है उसे आत्ममुखरूप कर्ममार्गीय मोक्षकी प्राप्ति होती है (दृ. गीता २।५०-५१) यदि ब्रह्मविद्याके साथ कोई निष्काम कर्मानुष्ठान करता है तो ज्ञानमार्गीयब्रह्मानन्दकी प्राप्ति भी सम्भव है (दृ. गीता ४।२४) भगवद्भक्तिसे साथ निष्काम कर्मानुष्ठान करनेवालोंको भजनानन्दकी प्राप्ति भी सम्भव है (गीता ९।३४).

बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।२२) में—“तपेत वेदानुबन्धनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन ज्ञानेन तपसाज्ज्ञानेन एतमेव विदित्वा मुनि, भवति” कह कर ब्रह्मचर्य, नैष्ठिक

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ आश्रमके कर्तव्योंके निष्काम अनुष्ठानको भी चित्तकी ब्रह्मज्ञानोपयोगी श्रुतिमें- विविदिषामे साधन माना गया है।

वेदानुवचन यज्ञ और दान का आश्रमधर्म होना छान्दोग्य (२।२३।१) के- “यस्यो धर्मस्कन्धा. यज्ञोऽध्ययन दानमिति. प्रथमस्तप एव. द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी. तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्. सर्वे एते पुण्यलौका भवन्ति, ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति.” वचनसे एकवाक्यता करनेपर स्पष्ट होता है. ‘वेदानुवचन’ और ‘अध्ययन’ समानार्थी हैं. ‘यज्ञ’ और ‘दान’ तो बृहदारण्यक एवम् छान्दोग्य दोनोंमें समानरूपमें मिलते ही हैं छान्दोग्यमें इन अध्ययन दान और यज्ञ के ब्रह्मविद्यारहित अनुष्ठानका फल पुण्यलोककी प्राप्ति माना गया है, तथा ब्रह्मविद्यासहित अनुष्ठानका फल “ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति” कह कर ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति द्वारा मोक्ष भी माना ही है. ‘आचार्यकुलवासी’ पद द्वारा इन कर्तव्योंकी आश्रमधर्मता भी स्पष्ट की गयी है.

गीता (१२।४।७) में भी भगवान्ने अतएव दत्त कर्मके त्यागको अनुचिन माना है- “निरवयु श्रूणु मे तत्र त्यागे . यज्ञदानतप कर्म न त्याज्य कार्यमेव तन्, यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनोयिषा, एतान्यपि तु कर्माणि सगं त्यक्त्वा फलानि च कर्तव्यानीति मे पार्य निश्चितं मतमुत्तम, नियतस्य च संन्यास कर्मणो नोपपद्यते मोहात्तस्य परित्यागः तामस परि- कीर्त्यते”. कर्मसंन्यास और कर्मयोग में कर्मयोगकी उत्तमता दिखलाने हुए कर्मयोगका भी ब्रह्मसंस्थ होकर अनुष्ठान- “ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सगं त्यक्त्वा करोति य लियते न स पापेन पद्मपत्रविभाम्भसा”. (गीता ५।१०) भगवान्ने सम्भव माना ही है

कर्ममार्गमें अतएव काम्यकर्म अथवा कर्मफलाशा का त्याग तो उचित माना है किन्तु नियत कर्मके त्यागको उचित नहीं माना गया है. “अनाश्रित कर्मफल कार्यं कर्म करोति य स सन्त्यासी च योगी च न निरन्तिर्न चाक्रिय” (गीता ६।१) आदि अनेक वचनोंसे काम्य- कर्म तथा कर्मफलाशा के त्यागको सच्चा सन्त्यास माना गया है, नियत कर्मके त्यागको नहीं

सर्वनिर्णय (कारिका २४६ के प्रकाश) में श्रीमहाप्रभुने कहा है- “गृहस्थस्यैतन्मुख्यम्. एव कुर्वन् सकृदम्बो भगवत्सायुष्यमश्नुते. ब्रह्मचारिप्रभृतीनामपि सेवकसाधनसम्पत्ती एत- क्तव्यम्” इससे सिद्ध होता है कि पुष्टिमार्गमें भी देहाभिमानको बने रहने तक नियत कर्मके त्याग किये बिना शक्तिमार्गीय कर्तव्योंका पालन आवश्यक होता है चतुर्थाश्रममें गृहस्थाग विहित होनेसे स्वगृहमें भगवत्सेवाके निवाहका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता अत उत्तमं कृष्णदर्शनलालसाके साथ निरन्तर तीर्थयात्राका उपदेश दिया गया है, यही सर्व- निर्णयमें.

अत पुष्टिमार्गीय जीवके लिए कर्ममार्गीय दृष्टिकोणसे वाञ्छ-देहाभिमान स्ववर्णाश्रम- धर्मका त्याग उचित नहीं है, तथा साधनदशामें भी गृहत्याग उचित कर्तव्य नहीं रह जाता है- “कर्ममार्गे न कर्तव्य” शास्त्रनियत वर्णाश्रमधर्मके अनुष्ठानमें पाप्यकर्म तथा कर्मफलाना

तो स्वायम्भू है ही "वर्णाश्रमवता धर्म एव आचारलक्षण म एव मद्भक्तियुतो नि श्रयसकर पर (भाग. ११।१८।४७)।

(२) चतुर्थाश्रमरूप कर्ममार्गोय स्वायम्भू

जैसे नैष्ठिक व्रतक साथ ब्रह्मचर्य गृहस्थ या वानप्रस्थ आश्रमोंका विधान है, वैसे ही क्रमशः चतुर्थाश्रममें प्रवेश करनेका भी विधान मिलता ही है यथा पूर्वोदाहृत बृहदारण्यकके वचनमें ही यह आता है कि "एतमेव प्रजाजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति.. पुत्रैपण्यायाश्च वित्तैपण्यायाश्च लोकैपण्यायाश्च व्युत्पायायाश्च भिक्षाचर्यो चरन्ति नैनं कृताकृते तपतः ' अर्थात् वेदाध्ययन दान यज्ञ तप रूप कर्मवाले ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमोंके द्वारा ब्राह्मण जिस ब्रह्मके ज्ञानकी प्राप्ति करना चाहते हैं, सन्यास-आश्रम द्वारा भी उसी ब्रह्मकी प्राप्ति चाही जाती है पुत्र धन या लोकके धारणमें मभी तरहकी कामनाओंको छोड़कर जो भिक्षाचर्या करते है.. उन्हें कृताकृत कर्मोंके फल भुगतनेका सताप नहीं होता

जाबालोपनिषद्में भी— "ब्रह्मचर्य समाप्य गृही भवेद्, गृही भूत्वा वनी भवेद्, वनी भूत्वा प्रव्रजेद्" यो क्रमशः एव आश्रमके अनन्तर दूसरे आश्रममें प्रवेश करनेका क्रमपक्ष दिखलाया ही गया है

मनुस्मृति (६।८६-८७) के भी— "ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्त्वथा चत्वारः पृथगाश्रमा सर्वेपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रनिषिदिता यद्योक्तनारिणं विप्र नयन्ति परमा गतिम्" वचनमें क्रमपक्षका उल्लेख मिलता है

भागवत (११।१८।११-२७) में वानप्रस्थकी रीति समझाकर चतुर्थाश्रमरूप सन्यास-धर्मका निरूपण भी किया गया है इसके अन्तर्गत त्रिदण्ड-सन्यासकी रीति भी समझायी गयी है "यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरवारममु विरागो जायते मम्यद् न्यस्ताग्नि प्रव्रजेत्ततः ' आदि वचनों द्वारा

इससे निश्चय होता है कि चतुर्थाश्रमरूप सन्यासग्रहण भी एक नियत कर्तव्यमा है

जो "तृतीयोऽश्वस्तमारमानमाचार्यकुलेऽवतादयन्" वचनके अनुसार नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका व्रत धारण नहीं कर लेते, अथवा "यावज्जीवमग्निहोत्र जुहोति" वचनके अनुसार नैष्ठिक-गार्हस्थ्यका व्रत धारण नहीं कर लेते, अथवा ' अरण्यमिमात् ततो न पुनरेयात्" वचन के अनुसार नैष्ठिक वानप्रस्थका व्रत धारण नहीं कर लेते, उन्हें क्रमपक्षके अनुसार तीन आश्रमोंके बाद चतुर्थ सन्यासाश्रममें भी प्रवेश अवश्य करना चाहिये

इसका अपवाद भी यद्यपि जाबालोपनिषद्में दिखलायी देता है— "यदि वेतरया ब्रह्म-चयदिव प्रव्रजेद् गृहाद्वा यनाद्वा अथ पुनरवती वा व्रती वा, स्नातको वाऽस्नातको वा, उत्सप्राग्निरनग्निर्वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् " किन्तु यह प्रकार सर्वसाधारण नहीं हैं किन्तु अतिविरक्त ब्रह्मज्ञानियोंके लिए ही है— "एष पण्या ब्रह्मणा हानुवित्त-स्तेनैति सन्यासी ब्रह्मविद् इति एवमेव एष" (वही) साथ ही साथ यह नहीं भूलना चाहिये ब्रह्मज्ञानी भी इस प्रकारका सन्यास प्रतिवैराग्यक प्रकट होनपर ही कर सकते हैं, अन्यथा

नहीं। अतः इस वचनमें प्रवक्ष्यापर विधिभार नहीं है अपितु वैराग्यकी अनिवार्यतापर विधिभार है— “यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेत” अन्यथा वैराग्यके अभावमें सन्यास नहीं लेना चाहिये इसका वर्णन भागे चलकर ‘ज्ञानोत्तर सन्यास’ के रूपमें किया जायेगा

चतुर्थाश्वमरूप त्रिदण्डधारणात्मक वैध सन्यास पूर्वोदाहृत अणुभाष्य (३।४।१७) के “सच संस्कार- फलोपकार्यंगमित्यावश्यकः संन्यासो मर्यादामार्गो, पुष्टिमार्गो तु भ्रन्वैव व्यवस्था” वचनके अनुसार मर्यादामार्गीय साधकोंके लिए आवश्यक है ही-

भागवत (११।२१।३१-३४) के—“तस्माद् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद्विद्, यत्कर्मभिर्यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्, योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरित्तरैरपि, सर्वं मद्भक्तियोगेन भद्भक्तो लभतेऽञ्जसा, स्वर्गापवर्गमष्टां कश्चिद् यदि वाञ्छति नकिञ्चित्साधयो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनी मम, वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कंवल्यमपुनर्ध्वम्” इस वचनमें मोक्षकी भी स्पृहा न रखनेवाले भक्तोंके लिए ज्ञान-वैराग्य-तप-दान-धर्म आदिकी अपेक्षा रह नहीं जाती है अतः ऐसे पुष्टिजीवोंके लिए चतुर्थाश्वमरूप सन्यास भी अनावश्यक हो जाता है

इसके विपरीत ज्ञान वैराग्यके बिना चतुर्थाश्वमरूप त्रिदण्ड सन्यास लेकर जीनेवालोंकी भागवतमें निन्दा की गयी है— ‘यस्त्वनसयतपइवर्गो प्रचण्डेन्द्रियसारथि ज्ञानवैराग्यरहित त्रिदण्डमुपजीवति, सुरानात्मानमात्मरूपं निन्दते मा च धर्महा, अविपक्वकपायोस्मादमुष्माच्च विहीयते’ अतः चतुर्थाश्वमरूप त्रिदण्डधारणात्मक कर्ममार्गीय सन्यास गर्वया शास्त्रमिदं एवम् शूद्र भी होनेपर कलियुगमें बहोत अनुमोदनीय नहीं है

पद्मपुराणमें आता ही है कि कलियुगमें भक्ति लक्षणी तथा उसके दोनों पुत्र ज्ञान और वैराग्य जराजर्जरित हो गये हैं— “अहं भक्तिरिति ख्याता इमी मे तनयो मतो ज्ञानवैराग्य-नामानो कालायागेन जर्जरो” अतः जीर्ण ज्ञान और जीर्ण वैराग्य वाले साधकोंमें त्रिदण्ड सन्यासके नियम निम पाने कठिन है

श्रीमहाप्रभु अवएष निषेध करने हैं—“सुतरा कलिकान्तः” कलियुगके दुष्प्रभावके कारण ज्ञानवैराग्यरहित अधिकारियोंके लिए चतुर्थाश्वमरूप कर्ममार्गीय सन्यास वैध होनेपर भी असाध्य न मही पर दुःसाध्य तो है ही अतः सुतरा पुष्टिजीवोंके लिए भी अनुमोदनीय नहीं है-

(३) भक्तिसाधक श्रवणादिके निर्वहं द्वारा भक्तिही प्राप्तिके लिए सन्यास

भागवत (११।२०।९) के—“तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विघ्नैत यावता मत्कथाश्रवणादो वा श्रद्धा यावन्न जायते” वचनके प्रयत्नवालोकेनमें ऐसा लगता है कि भगवत्कथा-श्रवणके लिए यहाँ सन्यासका विधान किया गया है वास्तविकता पर यह है कि इस वचनका मुख्य तात्पर्य वैराग्योदय या कथाश्रद्धोदय के बाद कर्मत्यागके विधानमें नहीं अपितु वैराग्योदय या श्रद्धोदय पर्यन्त कर्मत्याग न करनेमें है

अतः स्नेहात्मिका भक्तिके साधक श्रवण-कीर्तन-स्मरण-यादसेवन-अर्चन-वन्दन-दास्य-सह्य-आरपनिवेदनरूप नौ अंगोंके निर्विघ्न अनुष्ठानके लिए सन्यास लेनेमें पाव विप्र-तिपत्तिया हूँ :

(१) क्योंकि सन्यासधर्मके अनुसार व्यक्तिको निरपेक्ष और एकाकी विचरण करना चाहिये—“एक चरेन्महीमेता नि संगः संयतेन्द्रिय.” (भा ११।१८।२०). जबकि भक्तिके नवविध अंग श्रवणादिके अनुष्ठानके लिए किसी भक्तिमान् सहयोगीके सत्संगकी अपेक्षा रहती है

(२) क्योंकि श्रवणके लिए वक्ता, कीर्तन स्मरणके लिए ग्रन्थ-तुलसीमाला-गोमुत्ती, और पादसेवन-अर्चन आदिके लिए भगवद्विग्रह, अर्चना सामग्री पुष्प नेत्रेद्यादि या अर्चनापात्र आदि अनेक साधनोंकी रक्षा करनेमें चित्तके व्यग्र होनेकी सम्भावना रहती है. यह सन्यासके अपरिग्रहके नियमके विपरीत है—“द्विभूयाच्चेन्मुनिर्वास कोपीनाच्छादनं पर त्यक्त न दण्ड-यात्राम्यामन्यत्किञ्चिदनापवि (भा ११।१८।१५)

(३) क्योंकि सन्यासके कारण स्वयम्के ज्येष्ठ आश्रममें अवस्थित होनेका अभिमान जगता है— सभी सन्यासी ‘स्वामिजी’ बन जाते हैं ! जबकि भक्तिमें दैन्य अपेक्षित होता है ‘दास’ बनने का. श्रवणमें सत्वनिर्घरिके लिए कभी वादचर्चा उपयोगी हो सकती है परन्तु सन्यासमें यह वर्जित है—“वेदवादरतो न स्यात्” (भाग ११।१२।३०) सन्यासमें जीवात्मा और परमात्मा के बीच अभेदबुद्धिका अभिमान—‘सोहम्’ जगता पड़ता है जबकि भक्ति ‘दासोहम्’ की भेदबुद्धिमें घटित होती है भक्तिके प्रारम्भमें भगवान्के स्वामी होनेका और स्वयम्के सेवक होनेका अभिमान अधिक उपयोगी होता है

(४) क्योंकि भक्तिके श्रवणादि अंगोंकी पुन पुन आवृत्ति विहित है—“तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वर श्रोतव्य कीर्तितव्यरथ स्मर्तव्यश्चेच्छताभवम्” (भाग. २।१।५) इस की सुबोधनीमें कहा गया है कि “विहिते श्रवणकीर्तने सदा भवत त्रयाणा देहपातपर्यन्तमावृतानामेवाभयसाधकत्वम्. उत्तरावधिर्देहपात एव. पूर्वाधि संसारभयज्ञानम्”. यह किसी भक्तके समीप रुके बिना सम्भव नहीं है. सन्यासके लिए जबकि निरन्तर एकाकी परिभ्रमण श्रेष्ठ माना गया है—“वासे दहना कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि एकएव चरेद् भिक्षुः (भा ११।९।१०)

(५) क्योंकि भक्त्यगमूत श्रवणादि नवविध धर्मोंका अन्तिम प्रयोजन भगवत्सेवायें योग्यता सम्पादन करना है और सन्यासधर्म साधकको सिद्धात्तामिमत् मेवाके स्वरूपके अयोग्य बना देते हैं.

अतः चतुर्धाश्रमरूप सन्यास या स्वल्प सन्यास, वैध या अवैध, किमी भी प्रकारका सन्यास भक्तिसाधक श्रवणादिके निर्वाहार्थ अनुमीदनीय नहीं रह जाता है

(४) भक्तिवाचक गृहादिके त्यागद्वारा भक्तिकी प्राप्तिके लिए सग्यास

भक्तिवर्धिनीमें कहा गया था कि "गृहास्याना वायवरत्नमनारम्य च भासते" अतः जब गृहस्थित सकल सम्बन्धिजन और पदार्थ भक्तितमें वाचक होते हैं तो उनका परित्याग करना ही चाहिये। फलतः भक्तिकी निविध्न अभिवृद्धि हो पायेगी। परन्तु भक्तिके बीज भावके दृढ़ न होनेकी स्थितिमें इस तरहके गार्हस्थ्यभीतोका त्याग अन्तमें निरे पापणमें ही कभी न कभी पर्यवसित होता है। भक्तिवर्धिनीमें भी अतएव कहा गया है कि त्यागमें दुःख और अप्रदोष के कारण अधिक अधःपातके भयस्यान है। वही बात यहाँ भी तीन तरहकी विप्रतिपत्तियों द्वारा समझायी जा रही है

(१) क्योंकि त्याग करने के बाद भी भिक्षाटन के लिए पुनः गृहस्थीके द्वारपर जाना पड़ता है ये गृहस्थ-दाता सन्यास लेनेवालेके परिवारमें कोई अलग ढंगके नहीं होते। इनके घरका अन्न भगवान्को निवेदित किया हुआ ही यह जरूरी नहीं। अतः ऐसे अप्रदोष मति भूष्ट हो सकती है

(२) क्योंकि कलियुगके प्रभावके कारण सब कुछ बाहरमें छोड़ देनेपर भी यह सहज सम्भव है कि आन्तरिक माग्विन या वासना न दूटे और व्यक्ति त्यागीके वजाय पापण्डी बन जाये

(३) क्योंकि इस तरह त्यागका पापण्ड करनेवाले विषयाश्रित व्यक्तिके देहमें कभी हरिका आवेश सम्भव ही नहीं

अतः पुष्टिमार्गीयोको इस तरहकी अदृढ़ बीजमादवाली भक्तिकी साधनावस्थामें आश्रम-रूप या स्वतंत्र, वैध या अवैध, निर्वी भी प्रकारका त्याग या सन्यास नहीं लेना चाहिये, यदि भक्तिसुख लेनेकी कामना हो तो

(५) भगवद्-विरहानुभावार्थं भक्त्युत्तर सग्यास

भक्तिवर्धिनीमें भक्तिकी व्यसनवशा पर्यन्त विकास दिखलाया गया है उसके सिद्ध होने-पर, स्वगृहमें निश्चयेन भगवत्सेवाके न निम्नपर, और तीव्र विप्रयोगकी अनुभूतिमें घरद्वारकी शशदोके कारण पिछनकी सम्मादना दिखलायी देती ही, तब गृहत्यागकी छूट दी जा सकती है यह सग्यास बीजभावकी दृढताके बाद किया गया होनेसे कभी भी भक्तको पथभूष्ट नहीं करता

भागवत (११।१८।२८-३६) में—“ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मदभक्तो वानपेक्षकः सल्लिगानाश्रमास्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरं ...श्रीचमाचमन स्नानं न तु चोदनया चरेत् अन्वाशच नियमान् ज्ञानी यथाह कौल्येश्वरः” यहाँ चतुर्धाधर्मरूप सन्यासमें भिन्न एक परित्यागकी आज्ञा स्पष्ट दिखलायी देती है।

इसी स्कन्धके आरम्भमें भगवान्ने समझाया है—“केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो खगा मृगा येन्ये मूढधियो नागा सिद्धा भाभीयुरञ्जसा, यं न योगेन साक्ष्येन दानव्रत-तपोध्वरैः व्याख्यास्त्राधाप्यसंन्यासे प्राप्नुवाद् यस्तथानपि रामेण सार्धं मथुरा प्रणीते इवाक-

लिकना मय्यनुरक्तचित्ता विद्यादभावेन न मे वियोगतीव्राद्यमेव्य ददृशु मुखाय . ताना-
विदन्मय्यनुपडबद्धधियस्वमात्मानमदस्तयेद, यथा समापो मुनयोऽधितोये नद्य प्रविष्टा इव
नामरूपे तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदना प्रतिचोदना प्रवृत्त च निवृत्त च श्रोतव्य श्रुतमेव च,
मामेकमेव शरणमात्मान सर्वदेहिना याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयम्' यहा प्रवृत्ति-
धर्मकी तरह निवृत्तिधर्मके भी त्यागका विधान किया गया है भक्तिकी व्यसनदशामे प्रवृत्त
होने विद्यादभाव या सर्वात्मभाव के द्वारा चित्तको निरन्तर भगवदेकतान बनाये रखने और
उसमे तीव्र वियोगजन्य तापको सहायक माननेकी इस भगवदनुरक्तिप्रधान वैराग्यमूलक
सन््यासको रीतिका ही—'मद्भक्तो . सल्लिगानाश्रमान्त्वयत्वा चरेद'' मे विधान किया
गया है.

गीता (१२।६-८)मे इसी सन््यासका निरूपण है—“ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्वस्य
मत्परा अन्यनैव योगेन मा ध्यायन्त उपासते तेषामह समुद्धर्ता मृत्युससारसागरात् भवामि न
चिरात्पार्यं मत्पावेशिनचेतसा, मय्येव मन आघत्स्व मयि बुद्धि निवेशय, निवसिष्यसि मय्येव
अत अर्घ्यं न सशय ”

वैश

इस प्रकारके परित्याग करते समय यदि परिवारके लोगोका मोह अपने वारेमे दृढ़ता न
हो तो सन््यासोका वैश धारण कर लेना चाहिये अन्यथा वह अनिवार्य नही है

गुरु

परित्यागके इस प्रकारमे प्रबोचचार आदिके लिए किसी गुरुकी अपेक्षा नही है पूर्वो-
दाहृत उद्धवोपदेशमे भगवान्ने गोपिकाओंके भगवदनुरागमूलक वैराग्यके वर्णनद्वारा जैसे
उद्धवकी भक्तिमार्गीय सन््यासकी प्रेरणा दी, तदनुसार इस प्रकारके सन््यासमे गुरु व्रजकी
गोपिकाओंको ही मानना चाहिये कौण्डिन्य ऋषिके चरित्र (मद्विष्योत्तर) मे भी इस
प्रकारके परित्यागका उदाहरण मिलता है अत वे भी गुरुतुल्य है

साधन

पूर्वोदाहृत उद्धवोपदेशमे जंमे भगवान्ने गोपिकाओंके सर्वपरित्यागके कारणभूत केवल
भावकी प्रशंसा की है, तदनुसार इस विरहानुभवाय सन््यासमे केवलभाव ही साधन है

भावोद्बोधनका उपाय

भगवान्के मधुरा पधारनेपर जैसे गोपिकाओंको तीव्र विरहानुभूतिके कारण चित्तकी
निरन्तर भगवदेकतानता सिद्ध हो गयी थी, उसी तरह अपने घरके व्रजमे जब हमे भग-
वत्सेवाका सुख न मिठ पाता हो, तब भगवान्के मधुरागमनकी भावना करना चाहिय इस
भावनाके कारण भक्तके हृदयमे गोपिकाओंकी तरह तीव्र विरहवेदना प्रकट होने लगेगी
और एकदिन अकस्मात् मन इतना विकल हो जायेगा कि भक्त घरके बाहर निकल पडेगा
अपने भगवान्को खोजने !

यह त्याग प्रपञ्चके दोषदर्शनमूलक केवल क्षुब्ध बेराग्यसे प्रेरित न होकर प्रभुके दिव्य मधुर गुणोचे प्रति पनपे सरस अनुरागसे प्रेरित होता है. अतः परित्यागका यह प्रकार भक्तिमार्गमें प्रशसनीय है.

त्यागके इस प्रकारको कोई अनुचित न मान बैठे इसीलिए भगवान्ने—“बरेद् अविधि-गोचर” कहकर उक्तमाधिकारियोंके लिए इस प्रकारके त्यागकी अनुज्ञा तथा मध्यमाधिकारियोंके लिए आज्ञा दे दी है. अतएव मयाधिकार ‘बरेद्’ के ‘अनुज्ञा’ और ‘आज्ञा’ दोनों ही अर्थ स्वीकारनेमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है. “सूर्यं अस्त हो रहा है” जैसे एक ही वाक्यके दो तात्पर्य : ब्राह्मणके सायसन्ध्याार्थ उद्यत होनेके रूपमें; और गृहिणोके सायंकालके खाना पकानेको उद्यत होनेके रूपमें, अधिकारिमेंदसे ले सकते हैं.

गोशालतापिनी उपनिषद्में—“भक्तिरस्य भजनं तदिहामुन्नोपाधिर्नैराश्येनैव अमुष्मिन् मन कल्पनम् एतदेव च नैष्कर्म्यम्” कह कर इसी भक्तिमार्गीय सन्यासका रूप ‘नैष्कर्म्य’ पदसे धोतित किया गया है

परिणाम

इस विरहानुभवार्थ परित्यागका परिणाम किन्तु अच्छा नहीं होता ! वार्ताप्रसंगमें इसके बारेमें एक मजेदार प्रश्न और उत्तर मिलते हैं .

प्रश्न “तिहारें सेवक ऐसे दुबले क्यों ?”

उत्तर “बरजे हूँ पर भारमें आये ताको फल पाय रहे हैं !”

विरहानुभवार्थ जो परित्याग किया जाता है उसमें तदनुरूप भावनाओको करनेपर एक दिन विरहवेदनाकी टीस मनमें उठी, अथवा भावनावा प्रवाह बहुते हुए कहीं-किसी भावके मागरमें पर्यवसित हुआ कि हृदयमें प्रेमका सागर लहराने लगेगा ! उसकी अनेक लहरें—(चक्षुराग मन सग सकल्प निद्राच्छेद तनुता विषयनिवृत्ति त्रपानाश उन्माद मूर्छा और मरण) उठ कर आत्मा और देह के दोनों तटबन्धोको तोड़ देंगी ! देह इंद्रिय अन्तःकरण प्राण आत्मा सभी कुछ प्रमके पूरसे प्लावित हो जायेंगे !

यह प्रमजन्म विकलता और अस्वास्थ्य भक्तिकी चरमप्रकृति या स्वभाव ही है. इसे लौकिक या प्राकृत अस्वास्थ्यकी तरह नहीं समझना चाहिये यह तो परमानन्दरूप परमात्मका जीवात्माके साथ घनिष्ठ सस्पर्श है ! एक प्रेमाद्वैतसे सारे द्वैतोंके प्लावित होनेपर भी वषा हुआ प्रियतम और प्रभो का—भगवान् और भक्त ना—एक मधुर द्वैत है ! इमे ब्रह्मवादी गुडाद्वैतज्ञानकी, अथवा ब्रह्मके ज्ञानमार्गीय गुणो (यथा—ब्रह्मके सर्वव्यापी होने, सर्वत्र विद्यमान होने, सर्वनिरपेक्ष आत्माराय होने, निराकार—व्यापक होने) की चर्चमें स्वयम् या अन्य कोई मिटान दे इसकी सावधानी बरननी चाहिये. क्योंकि यह ज्ञान तथा परमात्माके ज्ञानमार्गीय गुण भक्तिमार्गीय भावके बाधक होते हैं

ज्ञान-वेराग्य-सन्यास जादि विषयताओके कारण जैम ज्ञानमार्गीय साधन सत्यलोकमें

अवस्थित होता है, वैसे ही भक्तिमार्गीय जीव भावनाके बलपर व्यापितकृष्णमें चलती भगवान्की नित्य ब्रजलीलाओंमें अवस्थित हो सकता है. अतः "परमात्मा व्यापक होनेसे मधुरा नहीं जा सकता—यह तो सर्वत्र विद्यमान है" ऐसी ज्ञानमार्गीय बातोंसे भावलण्डन नहीं होने देना चाहिये.

स्नेहकी जो दस अवस्थायें बधुरागसे मरण पर्यन्त गिनायीं, उनमें दसवी अवस्था मरण तक सम्भव नहीं, जब तक विरहदशा सर्वथा असह्य नहीं हो जाती. गाढ़ अनुराग और वियोग के कारण आसक्तिभ्रमन्वायसे भक्तके अन्तरमें भगवान्की सारी लीलायें अनुभूत होनी रहती हैं. कभी ये लीलायें बाहर भी प्रकट हो जाती हैं. एक बार बाहर प्रकट हुईं कि फिर इनका अप्रकट होना भक्तके लिए असह्य हो जाता है. वैसे यदि कभी हो जाये तो फिर भक्तके लिए प्राणधारण अशक्य हो जाता है. काष्ठमें अग्नि तिरोहित रहती है परन्तु एकबार यदि पूर्णतया प्रकट हुई तो वह बुझते-बुझते काष्ठको भी पूरी तरहसे जलाकर राख बना देती है इसी तरह स्वाधिभावके रूपमें हमारे अन्तरमें छिपे हुए परमानन्दात्मक श्रीकृष्ण यदि आलम्बन विभावके रूपमें एक बार बाहर प्रकट हो कर तिरोहित हो जायें तो सारे देहादिके बन्धन टूट जाते हैं!

इस स्थितिपर पहुँचनेसे पहले विप्रयोगमें भक्तके प्राणोंको भगवान्के गुण ही टिकाये रखते हैं भगवान्के भक्तिमार्गीय गुणोंकी स्मृति अथवा कीर्तन में भक्तकी जो पुनः पुनः-मन्तोष मिलता रहता है, उसीसे उसके प्राण अपने प्राणप्रिय प्रभुके स्मरहित होनेकी स्थितिमें भी टिके रहते हैं.

विप्रयोगानुभूतिकी इस प्रक्रियामें भगवान्के रसात्मक स्वरूपकी अनुभूति पूर्णतापर पहुँच जाती है क्योंकि रसशास्त्रकारोंने रतिकी द्विदलात्मक अर्थात् सयोग और वियोग रूप माना है. तदनुसार यह विरहानुभूति भी भगवान्के रसात्मक अनुभवका एक अंग ही है. फलतः इस अनुभूतिकी अपूर्णतामें भगवान् प्रकट होकर स्वयम् भक्तकी फलप्राप्तिमें बाधा नहीं पहुँचाते हैं.

एक शंका यह उठ सकती है कि फिर उद्धवके द्वारा स्वयम् भगवान्ने ज्ञानमार्गीय मन्देश गोपिकाओंकी विरहवैदनासे स्वस्थ करनेके लिए क्यों भेजा ? इसका उत्तर यही है कि भगवान्की यह पता था कि उद्धवके ज्ञानका रग गोपिकाओंपर नहीं चढ़ेगा प्रत्युत उद्धव-पर ही गोपिकाओंके प्रेमका रग चढ़ जायेगा. अतएव भगवान्के सदेश—स्वास्थ्यवाक्योंको गोपिकाओंने स्वीकारा नहीं.

इसी तरह उनके अनुकरणपर विरहानुभवार्थ परित्याग करनेवालोंको यदि किसी ज्ञानी भयवा मार्गोदात्मार्गीय भक्त द्वारा भावलण्डनकी बातें सुनायी जा रही हो तो उन्हें अनसुनी कर देने चाहिये. चाहे वे बातें वेदान्तादि शास्त्रोंसे प्रामाणिक ही क्यों न हो

इन शास्त्रीय सिद्धान्तोंकी उपेक्षासे भगवान् नाराज हो जायेंगे ऐसे नहीं मान लेना चाहिये.

बुद्धि के दयालु हैं, अतः जैसे ज्ञानावेदम शास्त्रीय मर्यादाएं उल्लंघनका बुरा नहीं मानते वैसे ही भावावेदम गोपिकाओं द्वारा की गयी भगवदुपदेसकी उपेक्षाका भी बुरा नहीं माना था।

(६) प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके स्वभावसे प्रयुक्त भवत्युत्तर सन्यास

भक्तिमार्गीय मध्यमाधिकाररूप सन्यास, जिन गोपिकाओंकी स्वीक-वेदत्यागपूर्वक सर्वात्मभाववाली भक्तिसे भावना करने हुए किया जाता है, वह गोपिकाओंका परित्याग न ता आश्रमरूप है और न बंध ही। चतुर्थाश्रमरूप सन्यास केवल शास्त्रण पुण्यके लिए ही विहित है, अथाज्ञान या मित्रयोगी लिए नहीं। गोपिकाओंका त्याग अतएव किसी शास्त्रविधिसे प्रेरित न था किन्तु उनका चित्तकी भगवदवतानतासे प्रयुक्त था उनकी भगवदासक्तिसे स्वभावका सहज अंग था।

स्वयम् भगवान्ने उनके इस अनुरागमूलक परित्यागका वर्णन इन शब्दोंमें किया है—
 “ता मन्मनस्वा मत्प्राणा मद्यै त्वयतर्दहिरा मे त्यक्तलोकधर्माश्च मद्यै” वस्तुतः गोपिकाओंका त्याग केवल प्रेमभावसे विवश होकर किया गया त्याग था, त्यागका यह प्रकार बहुत दुर्लभ है।

(७) ज्ञानार्थ सन्यास

पुष्टिमार्गीय जीवके लिए ज्ञानार्थ सन्यास बहुत लाभकारी नहीं होता, ज्ञानार्थ सन्यास लेनेसे पहले पूर्वाश्रमके वेदाध्ययन दान यज्ञ आदि कर्तव्यों द्वारा चित्तको शुद्ध करना आवश्यक होता है अन्यथा केवल त्याग या वंश्याय से चित्तशुद्धि कल्पियुगमें शक्य नहीं है, जो लोग इस तरहका विविदिवासन्यास कल्पियुगमें लेते हैं, या तो उन्हें बादमें पछताना पड़ता है और/अन्यथा वे सन्यासका पापण्ड करनेमें दक्ष हो जाते हैं, अतएव मनुस्मृति (६।३४-३७) में कहा गया है कि “आश्रमादाश्रम गत्वा हृतहीमो जितेन्द्रिय भिक्षा-बलिपरिश्चान्त प्रव्रजन्प्रेत्य वर्धते ऋणानि शीघ्रपाहृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्, अनपाहृत्य मोक्ष तु सेवमानो व्रजत्यथ, अनधीत्य द्विजो वेदान् अनुस्वाद्य तथा मुतान् अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्वथ ”

कुछ लोग कहते हैं कि यह अतिरिक्त विविदिपुकी निन्दा है, विरक्त विविदिपुकी नहीं यहाँ विचारणीय यही है कि मोक्षच्छामे सन्यास लेनेका निषेध किया जा रहा है और मोक्षच्छा वंश्यायके अलावा और क्या हो सकती है ? ऋणत्रयके अपाकरणके बिना चित्तशुद्धि सम्भव नहीं—अशुद्ध चित्तम ज्ञान वंश्याय स्थिर नहीं हो सकते—अतः ऐसोके द्वारा लिया गया सन्यास पश्चात्ताप अथवा पापण्ड से ही पर्यवसित होता है।

यह बात सभी तरहके जीवोंपर लागू होती है, अतः पुष्टिमार्गीय जीवोंपर भी श्रीमहाप्रभु अतएव स्पष्ट निषेध करते हैं— ‘तस्माद् ज्ञान न मन्यमेन्’ ज्ञानप्राप्तिके निमित्त सन्यास

नही लेना चाहिये।

(८) ज्ञानोत्तर संन्यास

ज्ञानोत्तर संन्यास स्वभावप्राप्त होता है वैराग्य प्रकट होनेपर. अतएव एतदर्थं आज्ञा नहीं किन्तु अनुज्ञा उपनिषद स्मृति पुराण आदिमें मिलती ही है जावालोपनिषद्में—“यदि वैतरथा... यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रयजेत्” वचनमें यही ज्ञानोत्तर संन्यास विवक्षित है.

फिर भी पुष्टिमार्गीय जोकोंके लिए इस प्रकारके ज्ञानोत्तर संन्यासकी, उसके फलकी तथा ज्ञानकी भी विशेष महत्ता नहीं है. अतएव भागवत् (१।५।१२) में आता है कि— “नैक-म्यंमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमल निरंजनम्”. गीता (१२।२-५) में भी ज्ञानमार्गीय अव्यक्तोपासना तथा कृष्णभक्ति के तुलनात्मक महत्त्वका विचार करते हुए भगवान्ने ज्ञानमार्गीय अव्यक्तोपासनासे कृष्णभक्तिको उपयुक्त माना है—“मय्यावेश्य मनो ये मा नित्ययुक्ता उपासते श्रद्धया परयोवेतास्ते मे युक्ततमा मता., ये त्वक्षरमनिर्देयमव्यक्त पर्युपासते सर्वत्रगमयिन्त्य च कूटस्थमचल ध्रुवम्, सनियम्पेन्द्रियग्राम सर्वत्र समबुद्धयः, ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता. क्लेशोधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्, अव्यक्ता हि गनिर्दुःख देहवद्भिरवाप्यते”

हजारों वर्षोंतक ज्ञानमार्गपर यात्रा करनेके बाद कभी-कभीक जीव श्रीकृष्णकी अनन्य-भक्तिकी दिशाकी ओर मुड़ पाता है—“बहूना जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मा प्रपद्यते, वासुदेव. सर्व-मिति स महात्मा सुदुर्लभ” (गीता ७।१९) अतः कृष्णभिमुख सुदुर्लभ महात्माओंको पुनः अधिक क्लेश देनेवाली अव्यक्तोपासनाके ज्ञानमार्गकी ओर ताकना ही नहीं चाहिये. अतएव कहा जाता है कि—“जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमार्थाभि नराणा द्दीपापापाना कृष्णे भक्ति. प्रजायते” (पाण्डवगीता ४१). अतएव ज्ञानोत्तर संन्यास लेनेवालेको सहस्रजन्मका अन्तराय कृष्णभक्तिके हेतु हो जाता है !

भक्तिमार्गमें भी दोषसम्भावना और उसका निराकरण

जैसे दोष कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग में दिखलाये, यथा पापण्ड या विषयासक्ति आदि, वे भक्तिमार्ग में भी सम्भव हैं !

यह आशंका अनुचित है क्योंकि दोषोत्पत्ति तीन तरहसे सम्भव है (१) कालके प्रभावसे

(२) जीवात्माके स्वभावसे (३) परमात्माकी इच्छासे

(१) कलिमुगका प्रभाव भक्तिमार्गपर नहीं पड़ता है—“पुषा कलिकृतान् दोषान् द्रव्यदेशात्मसम्भवान् सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान्पुरुषोत्तमः, विद्यातप प्राणनिरोपमेत्री-

१) अनन्य मुष्टकोपनिषद्में—“अन्वेनैव नीयमाणा यथायथा” आदिमें दृष्ट्याश्रय आदिके कर्मोंकी निन्दा करके भी विरक्तिके लिए उपदेश्य वैदान्तज्ञानके अध्ययन तथा अध्ययन का अधिकार पुनः दृष्टीका ही प्राप्ति किया है—“त्रिव्यापन्तः श्रोत्रियाः बहुविधा स्वयं ब्रह्मत् एकाय भवन्तः तेषामेवैवम् ब्रह्मविद्या नानेन चित्तोत्थन विधिवत् यस्तु नीयं, नीयन्नीयंज्योतीते.”

तीर्थभिषेकप्रतदानजप्यं नात्यन्तशुद्धिं लभतेन्तरात्मा यथा हृदिस्थे भगवत्पदन्ते" (भाग. १२।३।४५-४८)

स्वयम् भगवान् भी गीता (९।३०-३१) में कहते हैं—“अपि चेतुमुदुराचारो भजते मामन्यभाक् साधुरेव स भजन्य सम्पुं व्यवसिनो हि स, सिप्रं भवति धर्मात्मा शरवन्छान्तिं निगच्छति, कीर्त्नेय प्रतिजानोहि न मे भक्त प्रणश्यति” अतएव उद्धवोपदेशमें भी भगवान्ने कहा है—“वाप्यमानोपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रिय, प्राय प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते” (भाग- ११।१४।१२).

अत न भक्तिके प्रारम्भमें और न उसकी प्रगल्भतामें कलिकाल अथवा विपयासक्ति भक्तिगार्ग्यमें दोष उत्पन्न कर सकते हैं. पुराणोंमें भी तपस्वी आदिकी तरह भक्तके भटक जानेके कोई दृष्टान्त दिये नहीं गये हैं.

(२) जीवात्मके स्वभावसे दोषोत्पत्तिकी जहा तक सम्भावना थी तो उस अवस्था तक तो भक्तिमार्गमें भी त्याग न करनेकी बात समझायी ही गयी है. भक्तिकी व्यसनदशाके एकवार विकसित होनेपर यदि गृहत्याग किया जाता है तो भटक जानेका कोई भी भय नहीं रहता क्योंकि जैसे-जैसे भक्तिका बीजभाव दुःख होने लगेगा वैसे-वैसे लौकिक तथा वैदिक दृष्टिसे भक्त अस्वस्थ होने लगेगा—“लोके स्वास्थ्य तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति पुष्टिमागस्थितो यस्मात्” (नवरत्न ६) यह पहले कहा जा चुका है. ऐसे अस्वस्थ भक्तोंमें, लौकिक अथवा वैदिक दृष्टिसे पुन स्वस्थ बनानेवाले लौकिक कर्म या वैदिक कर्मों का त्याग एकवार कर देनेपर, जीवके स्वभाववश भी भगवद्भावमें बाधा उत्पन्न होनेकी सम्भावना नहीं रह जाती है.

(३) गोपिकाओंको ज्ञानोपदेशद्वारा स्वयम् भगवान्ने विरहव्याधिते उबारना चाहा था. उद्धवजीकी इसी हेतुसे व्रज भेजा गया था. अतः इस अवस्थामें स्वयम् भगवान् बाधा पहुंचा सकते हैं पर ऐसी आशंकाका निराकरण पहले ही कर दिया गया है कि भगवान्को पता था कि उद्धवके ज्ञानोपदेशसे व्रजभक्तोंके भावलण्डन होनेके वजाय स्वयम् उद्धवका ज्ञानाभिमान क्षणित हो जायेगा अत इस विरहव्याकुलताकी भावतन्मयतामें परमात्मा बाधा पहुंचाता है ऐसा नहीं मानना चाहिये.

भक्तिके बीजभावको आत्मामें रोपित कर—सत्सगादिके अवसर द्वारा उसे सिञ्चित कर—प्रेमात्मना अङ्कुरित कर—आत्मिके रूपमें पल्लवित कर—व्यसनके रूपमें जब फल परिपक्व होने जा रहा हो तब इस भक्त-मनोरथपूरक भक्तिके कल्पद्रुमको काट देना—स्वयम् हरिके भी वसकी बात नहीं है ! फिर काल-कर्म-स्वभावकी तो क्या विज्ञात ?

अपने स्तनका दूध पिला-पिलाकर जिस बच्चेको पाल-पोसकर बड़ा किया हो उसे कौन भा खतम होने देगी !

अतः ज्ञानियोंके वाक्यसे भगवान् भक्तोंमें मोह उत्पन्न करते हैं ऐसा नहीं मानना चाहिये क्योंकि भागवत् (४।३।१।१२-१३) में—“किंवा योगेन सांख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि, किंवा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः, श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरयंत, सर्वेषामपि भूताना हरिरात्मात्मदः प्रिय ” अर्थात् योग साख्य संन्यास स्वाध्याय या अन्य भी सारे श्रेय साधनोको करनेसे कोई लाभ नहीं, जिनके करनेपर भी हरि आत्मप्रद नहीं होने हो क्योंकि सारे श्रेयकी अवधि आत्मा होती है और प्राणियोंके लिए हरि आत्मरूप आत्मप्रद तथा प्रिय हैं ऐसी स्थितिमें सर्वदा भवनपराधीन रहनेवाले प्रभु—“अहं भक्तपराधीनः ह्यस्वतन्त्र इव द्विज .. नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना” (भाग ९।४।६३-६४), अपने भक्तोंको न तो स्वयम् मोहित करेंगे और न ज्ञानियोंके वचनसे मोहित होने देंगे

अतः बीजभावके दृढ़ होनेपर—भक्तिकी व्यसनदशामें—स्वगृहमें भगवत्सेवा जो न निभ पाती हो—तो ऐसी स्थितिमें गृहका परित्याग कर देना चाहिये. अन्यथा ऐसे घरमें रहनेसे कभी भावका उपशमन भी हो सकता है. भक्त अपने स्वयं—अपने प्रभुके रसात्मक अनुभवके लाभ—से वञ्चित हो सकता है. यह श्रीमहाप्रभुका दृढतर अभिप्राय है

उपसंहार

इस तरह श्रीकृष्णके प्रसादसे महाप्रभु श्रीबल्लभाचार्य द्वारा किया गया संन्यासनिर्णय कि वह भक्तिके दृढ़ होनेपर ही लिया जा सकता है—अन्यथा ज्ञानमार्गीय या कर्ममार्गीय रीतिसे पुष्टिमागमें संन्यास लेना, पुष्टिसोपानोंपर आरोहण करते हुए अवपतित होनेका कारण बनेगा, पूर्ण हुआ

प्रस्तुत सस्करण वि. स. १९७४ में प्रकाशित सस्करणका ऑफसेट प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. उस सस्करणके सम्पादक थे श्रीमूलचन्द्र तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल प्रजदास साकलिया. पौरबन्दरके गोस्वामी १००८ श्रीजीवनलालजी महाराजके आर्थिक सहयोगसे वह सस्करण प्रकाशित हुआ था इन सभी महानुभाव का हम इस पुनः प्रकाशनके अवसरपर हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं.

Editors' Note.

Of the Sixteen Sacred Books of Sree Vallabhacharya, Sannyāsa Nirṇaya stands fourteenth. The circumstances under which Sannyāsa may be taken by the aspirant are discussed in this book. Sree Vallabhacharya says that in Karma marga, it should not be taken, specially in Kali Yuga. In Bhakti marga, it should not be taken up in the Sādhana stage, for the convenience of Śrāvāṇa &c., it can only be taken up for experiencing—for the realisation of the Separation of thousands of years from the Lord, viz., सद्भक्तविराजितकारणवृत्त्यनियोजनिततापत्रयानन्दविमर्शदानं. This Sannyāsa is very difficult to obtain, it can only be had by love, the love of the Gopikas, who were the best among devotees, the dust of whose feet was revered by Śrīmad Uddhava, and the obligation of whose selfless love even the Lord of Love, Krishna Himself, could not recompense. In this मङ्गलमङ्गल Bhakti Marga, even in the beginning one can take Sannyāsa, if ordered by God, as taught by Sree Krishna to Uddhava because we never hear of any devotee being ruined by Sannyāsa of this type. In Jñāna Marga, Sannyāsa is not desirable either in the beginning or in the final stage. To men of the present generation, the discussion is more or less of academic interest only, but it does give some consolation to those devotees, who find themselves in a world engrossed in trifling pursuits, and who are in search of a way to reach the Ānāṇḍamaya Brahman. As in Nirodha Lakṣhana, we have added a Gujarati translation of Śrī Puruṣhottamajee's tika, for the benefit of those who do not know Sanskrit.

We have been able to publish eight Commentaries, viz., those of (1) Sree Gokulnathajee, (2) Sree Raghunnathajee, (3) Sree Gokulotsavajee, (4) Sree Gopeshvarajee, (5) Sree Gopeshvarajee, (6) Sree Puruṣhottamajee, (7) Sree Vallabhajee and (8) Chacha Sree Gopeshajee, son of Ghanasyamajee. The last is the same Chacha Sree Gopeshajee whose commentaries on Sevāphala and Nirodha Lakṣhana have been published by us. We have tried to collect all the commentaries, but we are not sure whether we are successful in our attempt. If anyone is left out, and if it is sent to us we shall consider it a great favour, and shall publish it at once.

We have been able to collect more copies of all the commentaries except two—those of Chacha Sree Gopeshvarajee and Vallabhajee, of each of which we got only one copy from Pandita Gattulala's library Sree Vallabhalalajee respectively. Fortunately this latter copy turned out to be very old and very very correct. The Deccan College Miss. of Sree Puruṣhottamajee's tika is very old, and corrected and revised by Sree Puruṣhottamajee himself. It is very unfortunate that attempts have been made at the interpolation of the word नारायणेन्द्रदीपेत्, in the copy of this tika, obtained from Sree Vallabhalalajee, with a view, as it seems, to take the origin of the haṃpradāya far beyond Sree Vallabhacharyajee. Of the four copies obtained by us, three, including the old one from the Deccan College collection, which seems to have been corrected by Sree Puruṣhottamajee himself, have not got the interpolated word 'नारायणेन्द्रदीपेत्'.

We have spared no pains in comparisons, noting important readings, and making necessary corrections and the reader will find the printed texts much better than the Miss. It gives us great satisfaction to note that we have been getting Miss. from all available sources. As before, we got a large number from Pandit Gattulalajee.

Library, through Sheth Tribhuvandas and Mr Kashidas Dr S K. Belvalkar gave us all the Mss of these tikās from the Government collection of the Deccan College Mr Tansukhram Manassukhram gave us the Mss from Shastri Dhaval's collection in the Dahilakshmi Library of Nadiad, Sree Jeevanlalalaje, Sree Govardhanlalaje, Sree Vallabhalalaje, Sree Vrajratnalalaje, Goswamies Sree Krishnapriyajee Sāstri Kalyanjee, Sāstri Bhadrashankar, Sāstri Vasantram, Keertankara Baladevrao, Mr. Natvarlal Itchharam Desai of the Gujarati Press, Mr Vadilal, Secretary to the Vaishnava Parishad, all were kind enough to give the Mss in their possession We take this opportunity to thank them all, and request them to continue their support in this very important and useful work.

In making and comparing copies of these tikās, we were greatly helped by Messrs Chandulal Chunnal Shah, Vrajacharidas Maganlal Shah, Utsavilal Ram Krishna Pandya, Dhairyalal Kashinath Pandya, Fulochand Vithaldas Shah and Mohanlal Narettamdas Shah, B A. It was chiefly due to their hard and disinterested work and particularly to the goodness of Utsavilal Pandya who gladly gave us all facilities for work at his place at Anand, that the Sannyāsa Nirṇaya was ready for the press before the Nirodha Lakshana was finished We sincerely thank them, and hope they will continue to give their valuable help Like Sevāphala and Nirodha Lakshana this work also is printed from the funds supplied by Goswami Sree Jeevanlalalaje of Porebunder and our sincere thanks are due to His Holiness.

With feelings of joy, we offer this fruit of our labour of love at the Lotus-feet of Lord Sree Krishna.

BOMBAY,
March, 1918

Mātschandra T Telivala.
Dhrajlal V Sanklia

लात्तुभट्टकृतसंन्यासनिर्णयशङ्कानिरासः ।

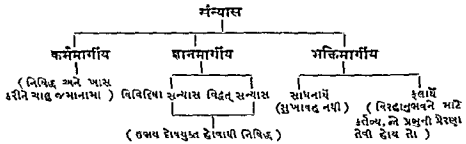
हरिरत्र न दाकोति कर्तुं मायां हुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान् न हन्यै पुपु क्वचित् ॥

हरि अत्र विरहाजुभवे मायां प्रतिबन्ध कर्तुं न दाकोति न समर्थो भवति । अपरे कालाद्य कुत करिष्यन्तीत्यर्थं । ननु कर्तुं कर्तुंमन्यथाकुरु समर्थस्य भगवतोऽसामर्थ्यकथन सर्वदात्रविद्वद्विद्याशङ्का परिहरन्तो न भगवत शक्तिम्यूनताप्रयुक्तज्ञसामर्थ्यमपि तु भक्तवात्सल्यकृतमिति दृष्टान्तेषांहुः — अन्यथे-त्यादिना । मातर बालान् हन्यैरेव पुपु । अन्यथा अन्यप्रकारेण न पुपुप्रतिलयर्थं । यथा पुत्रवात्सल्य बरीभूता सर्वा मातरो बालानां हननदानेनैव पोषण हितरूप चक्रुः, अन्यथा प्रद्वारान्तरेण न चक्रुः, एवं ज्ञानघट्टिमारभ्य व्यवस्थित, तथा भगवानपि भक्तवात्सल्यपरदशो भक्तस्य परमेरूप विरहाजुभव साधयति, नास्तिविरहाजुभवे प्रतिबन्ध करोतीति भावः । केचित्तत्र बालान् न हन्यै पुप्येयुरिति बहुमुचित, न तु लिङ्गप्रयोग उचित इत्याहुः । तत्र । पूर्वोक्तरीत्या प्रत्यक्षान्ते लिङ्गप्रयोगस्य निरवघत्वात् ।

સંન્યાસનિર્ણયના સમ્યન્ધી કાંઠક.

પોદરા મન્યમાના સેનાદ્ય અને નિરોધવશાલુ મુદ્રિત કરીને વૈષ્ણવોને નિવેદન કર્યો છે અને સંન્યાસનિર્ણય તેવી જ રીતે આજ વિવારલુસદિત અને ગુર્જરાનુવાદસદિત પ્રકટ થાય છે સંન્યાસનિર્ણય મન્ય શ્રીમદાચાર્યેષ્ઠને નિજરોષેજ નરદરિ સંન્યાસીને સંન્યાસતુ શુદ્ધ રવરૂપ ઉપરેસાવને પ્રકટ કર્યો છે આ સંન્યાસતુ સ્વરૂપ નીચે પ્રકારે રખાયે છે



અર્થાત્, કર્મમાર્ગે વા જ્ઞાનમાર્ગમા સંન્યાસ લેવો અયુક્ત છે, જ્યારે મક્તિમાર્ગમા સાધનચિદ્ધયર્થ પશુ મુખદાયક નથી અનન્ત વર્ષથી પ્રભુને આપણને જે વિચાર થયો છે, તે નિરદના ક્ષિરાનન્દના અનુભવને માટે જે પ્રભુપ્રેરણા થાય તે તેવો સંન્યાસ હજ છે, નહિ તે આચાર્યેષ્ઠએ દર્શાવેલી પ્રજ્ઞાવિકાસી વસ્તુવિતતી સેવા જ કરીને સ્વમર્થાદામા રહેલ આતુ આ અન્યથ સુદમ તાત્પર્ય છે

આ મન્યમા આઠ દીકાને સમઠ કર્યો છે — ૧ શ્રીગોકુલનાથજી, ૨ શ્રીરઘુનાથજી, ૩ શ્રીગોકુલોત્સવજી ૪ વાચાશ્રીગોપેશ્વરજી, ૫ શ્રીગોપેશ્વરજી, ૬ શ્રીપુકોષોત્તમજી, ૭ શ્રીવલ્લભજી, અને ૮ વાચાશ્રીગોપેશ્વરજી આ સર્વ દીકાઓ સરકૃતમા છે પ્રત્યેક દીકાની અનેક પ્રતિઓ પ્રભુકૃપાથી પ્રાપ્ત થઈ, તદનુસાર યચારાક્તિ યચામતિ સોધીને તે સર્વ મુદ્રિત કરી છે સરકૃતનહિ બલુનારા વૈષ્ણવોને માટે શ્રીપુકોષોત્તમજીની દીકાનુ ગુર્જરે ભાષાન્તર પશુ આપ્યું છે. અમને આરા છે કે આથી સરકૃતજ કે સરકૃતાનભિજા સર્વ વૈષ્ણવો આ મન્યનો આદર કરીને અમારા સ્વરૂપ પ્રયત્ને સકૃત કરો

પદિત ગદુલાલને પુસ્તકસમઠ, નડીયાદની ડાહીલદમી પુસ્તકાલયસ્થ શાસ્ત્રી ભાઈલાલને સમઠ, ડેકનકોલેજામાનો સરકારી સમઠ ગુર્જરાતી પ્રેસનો સમઠ શ્રીમદ્વૈષ્ણવ પરિપત્સમઠ, શ્રીવલ્લભનાથજી, શ્રીજીવનલાલજી, શ્રીગોવર્ધનલાલજી, શ્રીમનજરજી, ગોરવામિની શ્રીકૃષ્ણચિયાજી, શાસ્ત્રી વસન્તરામ, શાસ્ત્રી ભદ્રેશ્વર સાશી કન્યાશુલ, અને કોતૈનકાર ભલદેવદાસ તરફથી આ મન્યનુ સાદિલ અમને મળ્યું છે આ સર્વનો તેમની નિરપેક્ષ સાદામ્થમટિ અને અત કરણથી આભાર માનીએ છીએ

પુસ્તક તથા દીકાઓ લિખનમા કૃત્સવલાલ રામકૃષ્ણ પથ્યા ગુદલાલ ગુનીલાલ શાહ, નજરચીદાસ મગનલાલ શાહ ધીજીલાલ કારીનાથ પથ્યા, કુલચક્ર વિદુલદાસ શાહ મોહનલાલ નરોત્તમદાસ શાહ ખી એ વચેરેનો કલ્લાદપૂર્વક નિરુપણિ પરિચય પશુ ધન્યવાદને પાત છે આણુદના અમારા મિત્ર કૃત્સવલાલ રામકૃષ્ણ પથ્યાએ અમને કહે કરનાને સર્વ પ્રકારની અનુકૂલતા પેલાને લા કરી આપી તેથી તેમને તથા લગનવીય મોલીલાઈને ઉપકાર વિરમરણીય નથી આ મન્ય આટલા સ્વરૂપ સમયમા, પ્રતિખેયો હોવા છતા, શ્રીકૃષ્ણચન્દ્રચરણકમલમા અર્પવાને અમે સક્તિમાન થયા છીએ, તેનુ મુખ્ય કારણ ગોરવામિશ્રીજીવનલાલજીનુ નિ સ્ત્રીચ દ્રઘાસિનુ સાદામ્થ, અને નિલલીલાસ્થ મહાનુભાવી એનો કકણાકટાસ, તથા વિધમાન મહાનુભાવીઓનો સહભાવ જ છે

મુખઈ,
વસન્તોત્સવ
૧૯૭૪

મૂલ્યન્દ તેલીવાલા,
ધર્મેલાલ સાંકડીયા.

ग्रन्थसङ्ग्रहपरिचयः ।



- १ सर्वविषयनाधारतः सन्यासनिर्णयो मुद्रितोऽस्माभिः, तत्र विद्यमाना पाठभेदा अपि दर्शिता ।
- २ श्रीमद्रूपुलनाथप्रकटितविवरणस्य दत्तापुत्रकान्मुपलब्धानि । तत्र एक श्रीवल्लभलालानां शुद्ध प्राचीन सं० १७३५ आधिनशुद्धपत्रम्या लिखितम् । द्वितीय श्रीप्रजरदानाम्, नूतनम् । तृतीय श्रीजीवनलालानां नूतन प्रायः शुद्धम् । चतुर्थं श्रीनृसिंहलालतनयश्रीगोवर्धनलालानां प्राचीन, प्रायः शुद्धम् । पञ्चमं गोस्वामिनीश्रीकृष्णत्रिपामिर्दत्तम् । षष्ठं प० गङ्गालालसङ्ग्रहतः प्राप्तः, प्राचीन प्रायः शुद्धम् । सप्तमं 'गुजरातीप्रेस'सङ्ग्रहतः प्राप्तम् । द्वय सन्भतीर्थस्यशास्त्रिभद्रशास्त्ररस्य । दशमं श्रीमद्वैष्णवपरिपत्सङ्ग्रहतः प्राप्तम् ।
- ३ श्रीमद्रूपुनाथप्रकटितविवरणस्य पुस्तकद्वयमुपलब्धम् । एक प० गङ्गालालसङ्ग्रहतः प्राप्तम्, प्राचीन शुद्ध च । द्वितीय श्रीजीवनलालानाम्, नूतन प्रायः शुद्धम् ।
- ४ श्रीगोकुलोत्सवप्रकटितविवरणस्य पुस्तकत्रय प्राप्तम् । द्वय प० गङ्गालालसङ्ग्रहस्यम्, एक प्राचीन, शुद्ध च । द्वितीय नूतनमशुद्ध च । तृतीय 'गुजरातीप्रेस' सङ्ग्रहतः प्राप्तम्, प्रायः शुद्धम् ।
- ५ चाचाश्रीगोपेश्वरकृतटीकायाः पुस्तकमेकमेवोपलब्धम् । प्रायः शुद्ध, परन्तु क्वचित् सन्दिग्धम् । इदं पुस्तकं श्रीद्वारकेभरणा, सवत् १८१० वर्षे लिखितं, प० गङ्गालालसङ्ग्रहतः प्राप्तम् । नैवेद्यटीका श्रीपनड्यामतनयचाचाश्रीगोपेशानाम् ।
- ६ श्रीगोपेश्वरकृतविवृतेः पुस्तकत्रय प्राप्तम् । एक शास्त्रिवसन्तरामतः प्राप्तम्, सवत् १७३३ आधिनामावास्यायाः लिखितम्, शुद्धम् । द्वितीय प० गङ्गालालसङ्ग्रहतः प्राप्तम्, प्राचीन प्रायः शुद्धम् । तृतीय श्रीमद्वैष्णवपरिपत्सङ्ग्रहतः प्राप्तम्, नूतनम् ।
- ७ श्रीमत्पुरोत्तमप्रकटितविवरणस्य पुस्तकचतुष्टय प्राप्तम् । एक 'डकन कॉलेज' हन्सलिखितसङ्ग्रहस्यम्, प्राचीनमतापशुद्धम् । इदं पुस्तकं श्रीमत्पुरुषोत्तमनिजहत्साक्षरी शोषितमित्यस्माकं प्रतिभानि, क्वचित् क्वचित् विषये शुद्धलिखिता फकिन्ना हरितालेन लुप्तवा, नूतना अधिका शुद्धा फकिन्ना निवेशिता । अत्र पत्रद्वयं मुद्रितम् । द्वितीय पुस्तकं श्रीजीवनलालानाम्, नूतन, प्रायः शुद्धम् । तृतीय श्रीमद्वैष्णवपरिपत्सङ्ग्रहतः प्राप्तम्, नूतन, न केनापि चाचितं शोषितं वा । चतुर्थं श्रीवल्लभलालानाम्, नूतन, अनुद्ध च । अस्मिन् पुस्तके क्वचित् क्वलिप्ता पाठा निवेशिता दृष्टाः । श्रीपुरुषोत्तमकृतैतद्विषये अन्ते यथाविधि सन्यास गृहीत्वा अरुलमा मात् काश्यामागता' इति विद्यमानेषु अस्मद्दृष्टेषु पुस्तकेषु वर्तते । श्रीवल्लभलालतः प्राप्तेः पुस्तके 'यथाविधि नारायणेन्द्रताथतः सन्यास गृहीत्वात्त्यादः पठते । अत्र 'नारायणेन्द्रनीधत' इत्यधिकं केन कृतं, कुत कथमागतम्, तत्र निश्चीयतेऽस्माभिः । एतद्वीत्या विष्णुस्वामिपरम्परासमथनं तु तस्या याथातथ्यं शिथिलीकरोतीत्यविवादम् । श्रीमत्पुरुषोत्तमकृताचार्यचरित्रोपन्यासः श्रीद्वारकेश्वरकृतशिक्षाश्लोकविवरणेष्वभिः, तत्रापि 'नारायणेन्द्रनीधत' इति न विद्यते । एतेन येन केनचिदप्यमशुद्धं पाठं श्रीपुरोत्तमकृतविवरणे निक्षिप्तं, तेन साहसमेव कृतमिति मन्यामहे ।
- ८ श्रीवल्लभकृतटीकायाः एकमेव पुस्तकमुपलब्धम् । प्राचीनमतापशुद्धम् । श्रीवल्लभलालानाम् ।
- ९ श्रीपनड्यामतनयचाचाश्रीगोपेशकृतटीकायाः पुस्तकचतुष्टयमुपलब्धम् । एक भाङ्गालालशास्त्रिणः, तनमुखरामैः प्रदत्तम्, प्राचीनम्, शुद्धम् । द्वितीय प० गङ्गालालसङ्ग्रहतः प्राप्तम्, प्रायोऽशुद्धम् । पुस्तकद्वयं श्रीमजरदानाम्, उभयमपि नूतनम्, एक शोषितं वापशुद्धम्, द्वितीयमशुद्धम् ।
- अस्य विवरणस्य यद्यपि पुस्तकचतुष्टयमुपलब्धमस्माभिर्मयापि सर्वोपयुक्तिनामरहितानि, अतः कैः महापुत्राचारैर्दत्तं विवरणं प्रकटितमिति तन्निश्चये प्रथमं ययमशक्यता । भाषासाधनेनैव टीका चाचाश्रीगोपेशानामेवेत्यस्माकं हृदि प्रतिक्षणं स्फुरितम् ; एतद्विवरणभाषायाः साम्यं व्यस्यन्मुद्रितं चाचा

धीगोपेनकृतसेवाफलनिरोधलक्षणविवरणभ्यां महात्मन वतते । धीगुरपोत्तमकृतद्विवरणोपन्यासेन नि सन्दिग्धतयेद चाचाधीगोपेशानामेवेति निधीयते । विशेष तु प्रगगाड्दपत इति ।

अस्मिन् पुनरुत्तयेय ५० गङ्गालालस्थाय्या 'कार्याध्यक्ष कानीदास नारायणदास दलाल, बी ए, एच एच बी, मुत्पयश्रीधेरीप्रिभुयनदास,' इत्येतेषा महायुपकृति । गोस्वामिधीजीवनलालानां, गोस्वामिधीनृसिंहलालतनयधीगोवर्धनलालाना कस्याणशास्त्रिणश्च, गोस्वामिधीवल्लभलालानां, गोस्वामिधीयजरसाना, गोस्वामिनीधीकृष्णप्रियाणां, बलदेवदासस्वापि महायुपकृति । शास्त्रिवसन्तराम हरिहृष्ण, शास्त्रिभद्रशङ्कर जयशङ्कर, तनमुग्रराम मन मुग्रराम त्रिपाठी बी ए, नट परलाल इच्छाराम देसाई बी ए, डॉ एम् के बेलवलकर एम् ए, पी एच डी, इत्येते सहर्षं प्राचीनहस्तलिपितपुस्तकप्रदानेन ययमत्यन्तमनुगृहीताः । धीमद्वैष्णवपरिपन्नप्रियाहीलालस्वापि तर्धवोपकृति । 'चन्दुलाल चुनीलाल शाह, मजधरीदास मगनलाल शाह, उगवलाल रामकृष्ण पण्ड्या, धैर्यलाल काशीनाथ पट्ट्या, कुलचन्द्र विठ्ठलदास शाह, मोहनलाल नरोत्तमदास शाह बी ए' इत्येतेषां पुनरुत्तयेय महायुपकृति । अथ यावत्प्राप्यविवरणसमेतस्य सन्यासनिर्णयस्य मुद्रणस्यचो गोस्वामिधैर्यधीजीवनलाले सहर्षं कृत इति तेषामुपकृति षय सखिनथ स्वराम । प्रायेणामहे चान्येपि गोस्वामिन धीमत्सो वेषणवाश्रयाननुजुर्वुरिति । एतेषा गोस्वामिवर्याणा कृपयैव सन्यासनिर्णयोद-विवरणसमेत मुद्रित साम्प्रदायिकानां सुगमो भविष्यतीति ।

विवरणकृतां परिचयः ।

१ तत्रादां धीमद्वलभाचार्यप्रकटित सन्यासनिर्णयोदविवरणसमेत सम्मुद्र्यते । स्वीयानुग्रहायै स प्रकटीकृत इति । आचार्याणां प्रादुर्भावस्तु १५३५ वर्षे चित्रकृष्ण एवादर्श्या रविवासरे । तेषा चरित्रादिकं तु साम्प्रदायिकवार्तादिषु प्रसिद्धमिति नेह विन्दत । षोडशप्रत्येयस्य सन्यासनिर्णयश्च शुद्धशासङ्गवा भजते ।

२ प्रथम मुद्रित विवरण धीमद्वलभानाम्, धीमद्वोडुलनाथानाम् । धीमद्वोडुलनाथास्तु धीमद्विहलेश्वरप्रभुचरणानां चतुर्थसूतय मार्गशीर्षशुद्धसप्तम्या १६०८ वर्षे काशीसमीपस्थारेलप्रान्ते प्रादुर्भूता । पौषकृष्णवद्यम्या १६१७ वर्षे धीमद्वोडुले सिद्धिं गता । धीमद्वप्रभुचरणलालेषु इमे अति प्रसिद्धा । चिद्रपादाना सन्यासपापणिना सुस्वमर्देन हृत्वा भोगलराजजहागिर च बघीकृत्य स्वमार्ग रक्षामेत एव कृतवन्त । निजमहायत्नेन सता कण्ठे माला च तैरेव सुरक्षिता । ताताज्ञैकपरायणत्व तु तेषामतीव प्रसिद्धम् । धीमदाचार्यप्रकटितधीमद्वगवतसुबोधिन्या विशेषप्रचारस्तु तैरेव कृत, अतस्तेषा 'धीसुबोधिनीप्रवर्तिका' इति नामापि प्रसिद्धम् । निजधीहस्ताक्षरयुतधीमद्वसुबोधिनी कपटवर्णने श्रीवहेनजीराजगृहमधुनाप्यलङ्करोति । साम्प्रदायिकचार्तादीना प्रकटीकर्तारोपि ते एव । स्वसम्प्रदायस्य प्रचारार्थं प्रकृत्यर्थं च गुर्जरभूमिनेकवार स्वचरणनलिनरजोभिर्नै पवित्रीकृता । दक्षिणे पुष्यपक्षनपर्यन्तमेकवार तदधमेव गता, परन्तु तत्रत्यान् कृष्णमेरसरानविकारिण इष्ट्वा ततो न्यवर्तन्त । दाक्षिणात्या 'भेसा इत्युपहासमतेरेव कृत । तत्रातांप्रसङ्गादिषु च प्रसिद्ध । धीसर्वोत्तमनोत्रधीवल्लभाप्रकसिदा न्तमुत्पापलिपुष्टिमवाहमर्यादामिद्वान्तरहस्यान्त करणप्रबोधचतु श्लोकीविवेकधैर्याध्ययभक्तिवर्धिनीत्यादीनां प्रपाणा विद्वत्तय तेषा नयनगोचरीभनन्ति । अस्मन्मुद्रितसेवाफले जगित्तम नामरहित विवरणमपि तेषामेवेति संकृतश्रीसर्वोत्तमनोत्रवृद्धीकोपन्यासात् ज्ञायते । 'विशुधेश्वर' इत्यस्य विवरणे पुतत्सेवा फलविवरणस्योपन्यासो वतते । धीकल्याणभद्रकृतकहोले व्यासास्वधीगोपालदासकृतमाकाशप्रज्ञे च तेषा चरित्रादिकं सुविस्तृतम्, विशेषजिज्ञासुभित्सप्रैयावलोकनीयम् ।

३ द्वितीय मुद्रित विवरण धीमद्वधुनाथानाम् । एते धीमद्वधुनाथास्तु धीमद्विहलेश्वरप्रभुचरणानां पञ्चमसूतय कानिकशुद्धादर्श्या १६११ वर्षे प्रादुर्भूता । तेषां निष्पादानं धीमद्वोडुलनाथै कृतमिति परम्परातो ज्ञायते । तद्वशे च रसाधिकार्यकर्तार धीदेवकीनन्दना धीसुबोधिनीलेखकृतश्च

धीवहभाः प्रादुर्भूताः । चतुर्थलालश्रीमद्गोकुलनाथवत् तेषां पितृभक्तिरपि निरपमा । षोडशग्रन्थोपरि तेषां व्याख्यानानि दृग्गोचरीभवन्ति । धीवहभाष्टश्रीमदपुराणोपरि तेषां व्याख्यानमुपलभ्यते । भक्ति-हंसमक्तिरेव च तैः स्मृतव्याख्यया समलङ्कितौ । धीपुरोत्तमनामसहरामपि तैः नामचन्द्रिकया सर-लीकृतम् । तेषां भाषासाररूपं त्रयसन्तं वनते । रमणीयानि तत्प्रकटितान्गोप्राणवपि दृश्यन्ते ।

३. तृतीयं व्याख्यानं श्रीगोकुलोत्सवानाम् । इमे श्रीगोकुलोत्सवाः श्रीमत्प्रभुचरणद्वितीयबुभार-श्रीगोविन्द्रारायाणां द्वितीयसूनुवः, श्रीमत्स्वल्पानरायाणामनुजाः, श्रीमद्विरारायाणां पितृव्यचरणाः, संवत् १६३४ वर्षे ज्येष्ठकृष्णचतुर्थ्यां प्रादुर्भूताः । षोडशग्रन्थोपरि तेषां व्याख्यानानि मिलितानि ।

४. चतुर्थं व्याख्यानं चाचाश्रीगोपेश्वरानाम् । के इमे श्रीगोपेश्वरालक्षितुं शैव शक्यतेऽस्माभिः । यद्यपि ग्रन्थान्ते अस्माभिः श्रीघनश्यामतनयचाचाश्रीगोपेश्वरकृतमिति लिखितम्, तथापि नैतद्युक्तमेवेति प्रतिभानि । एतद्विवरणस्यैकमेव पुस्तकं मिलितम्, तदुपरि एवं लिखितम्—‘चाचाजीश्रीगोपेश्वरीकृता टीका, संवत् १८१०, श्रीद्वारकेश्वरानामिदम्’ । यद्यपि एतद्विवरणं प्राचीनं, तथापि चाचाश्रीगोपेश्वरानां श्रीघनश्यामतनयानां तु नैव । अत्रान्ते मुद्रितं विवरणमेव तेषामिति श्रीपुरोत्तमकृततदुपन्यासाद् भाषासाम्याच्च निश्चीयते ।

५. पञ्चमं विवरणं श्रीगोपेश्वरानाम् । इमे श्रीगोपेश्वराः श्रीकल्याणरायाणां सूनुवः, श्रीमद्विर-रायाणामनुजाः, संवत् १६७९ ज्येष्ठशुद्धद्वादश्यां प्रादुर्भूताः । शिक्षापत्राणि एतेषु धीहरिरायैः प्रेषि-तानि । शिक्षापत्राणां भाषाव्याख्यानं तत्कृतमेव सम्प्रदाये प्रचलति । पादकथानामकोन्यो ग्रन्थोपि तेषां वर्तते, पुष्टिमक्तिसुधायां प्राङ्मुद्रितम् । एतेषां भाषा किञ्चिद्विद्वलक्षणा वर्तते । तद्व्याख्ये श्लोकोप्यः—गीर्भगीपालदासस्य श्रीगोकुलनिवासिनः । गोपेश्वरेण विद्युतिः कृता संन्यासनिर्णये ।

६. षष्ठं विवरणं दशदिग्गन्तविजयित्रीमत्पुरोत्तमचरणानाम् । श्रीमदाचार्यतः पुरुषगणनया सप्तमी संख्यां विभूयन्तो भाद्रपदशुद्धदशम्यां १७१४ वर्षे प्रोद्भूताः । तेषां विवरणं शास्त्रार्थरीत्या-शुशुभ्रुषोपकमिति प्रतिभाति । विशेषतमेषां चरित्रजिज्ञासुभिः पुष्टिमक्तिसुधेति मासिकपत्रिकायाः पञ्चमवर्षस्य तृतीयाहो द्रष्टव्यः । यावत्प्राप्यं बाह्यमास्तरं वा तेषां चरित्रादिकमस्मानिलत्रैव निवेगित-मिति न पुनरुच्यते ।

७. सप्तमं विवरणं काकाश्रीवहभानाम् । इमे धीवहभाः श्रीमत्प्रभुचरणपञ्चमपुरश्रीरघुनाथत-श्चतुर्थी संख्यां विभूयन्तः सः १६२९ वर्षे कार्तिककृष्णद्वादश्यां प्रादुर्भूताः । धीविठ्ठलरायाणां कनी-यांसः सूनुवः । षोडशग्रन्थोपरि तेषां विवरणानि सुबोधिन्वनुसारीणि दृश्यन्ते । श्रीसुबोधिनीतेसस्यापि प्रणेतारणे एव । अथुभाव्योपरि व्याख्यानं तैः प्रकटीकृतमिति लब्धमष्टकतोपन्यासादवगम्यते । एतैः वर्षस्य विभागत्रयं कृतम् । प्रथमे विभागे श्रीमद्गोकुलचन्द्रं सेवमानाः श्रीगोकुले विराजितवन्तः । द्वितीये विभागे कदम्बलण्ड्यां निवसन्तः ग्रन्थान् विवरणानि च योजितवन्तः । तृतीये विभागे सदुपदेशैः जीवानुद्भूतं भारतवर्षं पर्यटन्तः तेषां स्वीकृतवन्तः । विशेष तु पुष्टिमक्तिसुधायाः सप्तमवर्षस्य नवमाह्ने प्रपद्यितं, जिज्ञासुभिस्तैवावलोकनीयम् ।

८. अष्टमं विवरणं श्रीघनश्यामतनयचाचाश्रीगोपेश्वरानामेव । इमे श्रीगोपेश्वराः श्रीमत्प्रभुचरणानां सप्तमपुरश्रीघनश्यामानां सूनुवः । षोडशग्रन्थोपरि बहवन्तेषां टीका दृश्यन्ते । तत्कृतनिरोपलक्षणविवरणं तदुपन्यासाभिः प्रकटितम् । भाद्रपदकृष्णपञ्चम्यां १६५२ वर्षे प्रादुर्भूताः ।

अत्रास्मानिदमवलङ्घयति अष्टविवरणानि प्रकटीक्रियन्ते, एतान्येव प्रतिदानि, तथापि एतावन्त्येव विवरणानि, नैवाधिकानीति नैव शक्यते वस्तुमस्माभिः । अतो यदि अत्रामुद्रितं संन्यासनिर्णयव्याख्यानं केपाक्षिन्महातुभावानां पुस्तकसङ्ग्रहे विद्येत चेत्, तदा ते रूपया यदि तद्वस्तुसकाशं प्रेषयिष्यन्ति, तदा तदपि सोपकारं स्वीकृत्य मुद्रयिष्यामः । प्रार्थयामहे च विद्वांसः असन्देशां प्रार्थनां रूपया स्वीकृत्य सम्प्रदायसेवां कर्तुं स्वजीवनं च सफलयितुमुद्यता भवन्तिव ।

નવલ વિશેષ.

ગત ઉપ્પુકાલની રત્નમાં સૌરાષ્ટ્રમાં આવેલા જૂનાગઢમાં શ્રીદામોદરજી તથા શ્રીમદન મોહનલાલજીના મંદિરસ્થ દસ્તવિખિત પુસ્તક સચહના દર્શનનો લાભ ભગવદ્ભંપરાયજી રા. રણછોડદાસ વૃન્દાવનદાસ પટવારી તથા રા. રણછોડદાસ શ્યામજીની સદાનુભૂતિથી મળ્યો હતો મારી સાથે ચાર પાંચ સન્મિત્રો હતા જેથી ત્યાંના મંદિરમાં વિવિધાન સર્વે સાંપ્રદાયિક બધોમાના દસ્તવિખિત પુસ્તકોનું નિરીક્ષણ કરવાનો અપૂર્વ લાભ પ્રભુકૃપાથી મળ્યો ઘણી વાર મેં શ્રવણ કર્યું હતું કે જૂનાગઢમાં દેવકીનન્દનલાલાને ત્યાં શ્રીમદ્દાપ્રભુજીની શ્રીમદ્ભાગવત ઉપર પ્રકટ કરેલી સૂક્ષ્મ ટીકા છે એ સૂક્ષ્મ ટીકાના દર્શનનું અહોભાગ્ય પ્રાપ્ત કરવાની ઉત્કંઠા મને બહુ વાર થતી, પરંતુ એ ઉત્કંઠા શાંત કરવાનો પ્રયત્ન અઘાપિ પર્યન્ત મળેલો નહિ આ સમય ભગવદીય રણછોડદાસ શ્યામજી તથા ભગવદ્ભંપરાયજી રા. રણછોડદાસ પટવારીએ સર્વ પ્રકારની અનુકૂલતા કરી આપી જેથી ઉક્ત પુસ્તકસમૂહનું યથેચ્છ નિરીક્ષણ થયું શ્રી મદ્દાપ્રભુજીની શ્રીમદ્ભાગવતના સમય સૂક્ષ્મ ટીકાના દર્શનનું સૌભાગ્ય તો અમને પ્રાપ્ત ન થયું, પરંતુ શ્રીદશમસ્કંધના આરભના વિશેષ પનનું દર્શન થયું પરંતુ ઉક્ત પુસ્તકસચહનું સામીપાગ નિરીક્ષણ કરવામાં અને તેની સૂચિ તૈયાર કરવામાં અન્ય નવન વિશેષ પણ ભણવામાં આવ્યું ઉક્ત સચહમાં શ્રીમુખોધિનીની જુની સુન્દર પ્રતો વિરાળે છે, તથા તે ઉપરનો પ્રકાશ શ્રીપુસ્તકોત્તમજીનો સારો છે પરંતુ ત્યાં પણ દશમસ્કંધનો માત્ર લેખ છે, પ્રકાશ નથી નિબંધ ઉપર પણ આવરણલગાદિની પ્રતિબ્ધો છે શ્રીમદ્ભુવાખ્ય ઉપર કાશીરથ શ્રીગિરિધરજીનું વિવરણ તથા મરીચિકાકૃતિ વિના અન્ય કાઈ નથી ચૌદશ ગ્રંથનું સાહિત્ય સારા પ્રમાણમાં છે એમ પ્રકટ કરેલા દ્વાદશવિવરણસહિત સેવાફલમાં એ વિવરણ નામરહિત હતા તેમાં અનિતમ નામરહિત વિવરણ શ્રીમદ્વિદ્યેશ્વરપ્રભુચરણના ચતુર્થ પુત્ર શ્રીગોકુલનાથજીનું છે એમ મને એઓશ્રીની શ્રીસર્વોત્તમજીની બંદી ટીકા વાચતા માલૂમ પડ્યું હતું પરંતુ શ્રીપુસ્તકોત્તમજીની પછી મુદિત કરેલું વિવરણ કોનું તે જૂનાગઢના પુસ્તકસમૂહથી માલૂમ પડે છે ઉક્ત વિવરણના કર્તા શ્રીમધુરાનાથાત્મજી શ્રીદારકેશજી મહારાજ છે એ વિવરણનો અનિતમ ભાગ કાઈક કુટિત હતો તે આ પ્રકારે છે—‘મગવદીયે સ્યેમ્’ ને અલે આમ વાચતુ—

મગવદિચ્છાભાવનપરેજ સ્યેમ્ । મગવદિચ્છાભાવનમાત્રે મુ શ્રીગોકીજનવહમોસ્વપ્ન્યુ પુષ્ટાવહી કુલાન્મના સ્વયમેજોદ્દેયાદિક તિવાયે યથાધિકારમેતદ્વ્યયોક ફલ દાસ્યતીતિ સિદ્ધમ્ ।

શ્રીવહ્નમપ્રમોર્નામોચારણાત્ પ્રાસવુદિના ।

વિચારિતા મયાપ્યેષા પૂર્વેટીકાનુસારત ॥ ૧ ॥

દ્વિતીયોસ્વામિમપુરાનાપાત્મજદ્વારિકેશકૃતલેખાજીલવિજીતપ્રકાશ સમાપ્ત ।

ખીજી આ શ્રીદારકેશજી મહારાજના અને યોગિશ્રીગોકેશજીના (વચના એકજ પત્ર ઉપર દર્શન કર્યાં, અને શ્રીદારકેશજીના અમુક પુસ્તકો ઉપરના હસ્તાક્ષરના પણ દર્શન થયા તે ઉપરથી મને હવે લાગે છે કે સન્માસનિર્જીવમાં છાપેલી ચોથી ટીકા ચાચાશ્રીગોકેશજીના નામથી છાપેલી તે યોગિશ્રીગોકેશજીની છે જે પ્રતિ ઉપરથી આ ચતુર્થ ટીકા છાપી તેના ઉપર શ્રીદારકેશજીનામિદ્ધ એમ લખેલું હતું, તે અને ‘ચાચાશ્રીગોકેશજીકૃતટીકા’ એમ લખેલું હવે જે હસ્તાક્ષરમાં આ લખેલું હતું તે અને શ્રીદારકેશજીના હસ્તાક્ષર એક જ હોવાથી, અને ઉભયના ચિત્ર સાથે હોવાથી શ્રીદારકેશજી યોગિશ્રીગોકેશજીને જ ચાચા શ્રીગોકેશજી કહેતા હોય એમ સમવ હોવાથી ઉક્ત ટીકા યોગિશ્રીગોકેશજીની છે એમ હવે મારી મતિ છે

મૂલ્યઅન્ન તેહીનાલા.

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥
कर्ममार्गं न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।
अत आदौ भक्तिमार्गं कर्तव्यत्वादिचारणा ॥ २ ॥
श्रवणादिप्रसिद्धवर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते ।
सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥
अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।
गृहादर्थाद्यकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥
अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।
स्वयं च विषयाक्रान्तः पापण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥
विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।
अतोत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥
विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्त्रीयचन्धनिवृत्त्यर्थं वेपः सोत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥
कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥
विकलत्वं तथाऽस्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥
सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
 वहिश्चेत् प्रकटः स्वात्मा वहिचत् प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥
 तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।
 गुणास्तु सङ्गराहिव्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥
 भगवान् फलरूपत्वाद्वात्र बाधक इष्यते ।
 स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥
 दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।
 ज्ञानमार्गं तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥
 ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।
 ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥
 अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।
 पापण्डित्वं भवेद्यापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥
 सुतरां कलिदोषाणां प्रयत्नत्वादिति स्थितम् ।
 भक्तिमार्गंपि चेदोपस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥
 अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।
 स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥
 हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोपरे ।
 अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः गुणुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥
 ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।
 आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥
 तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।
 अन्यथा भ्रद्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥
 इति कृष्णप्रसादेन बह्लभेन विनिश्चितम् ।
 संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्माचार्यचरणप्रकटितः संन्यासनिर्णयः समाप्तः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

सन्यासनिर्णयः ।

श्रीमद्गोकुलनाथविरचितविवरणसमेतः ।

नमामि तातचरणान् स्त्रीयानां सर्वकामदान् ।

यैः कृत. स्वाभिधानार्थ. प्रकटः कृपया मयि ॥ १ ॥

स्वमार्गीयपरित्याग वक्तु परित्यागविचार प्रतिजानते, तद्धेतुमाहुः पश्चात्ताप-
निवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

भक्तिमार्गीयपरित्यागेतरसर्वपदार्थान् विचार्य त्यागविचारामावजनितस्वपश्चात्ताप-
निवृत्त्यर्थं भक्तिमार्गीयपरित्यागविचारमारभन्ते पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति । उक्तपश्चात्ताप-
निवृत्त्यर्थं यः परित्याग. स विचार्यते, न तु विधीयते, विधाने विधिशेषत्वमापद्येतेति
सर्वकर्तृकत्वमापद्येत, अत उक्त विचार्यते । स्वरूपतः साधनतः फलतश्च तस्य विचारे
परित्यागसामान्यादन्यमार्गीयस्य स्वविचार्यमाणस्य च तारतम्यज्ञापनार्थमन्यमार्गीयमप्याहुः.
स मार्गद्वितये इति । मार्गद्वयमेवाहुः भक्तौ मर्यादापुष्टिभेदमिन्नभक्तिमार्गे ।
मर्यादाभक्तौ श्रीमद्गुरुद्वेषेण भगवता 'मदर्थेपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च । इष्ट
दत्तं हृतं जप्तं मदर्थे यद्भूतं तप.' इति त्यागो विशेषतः प्रोक्तः । पुष्टिभक्तिमार्गे रास-
मण्डलमण्डनाभिरपि 'सन्त्यज्य सर्वविषया' निति । तल्लीलायामेव चतुर्थीध्याये ता
प्रत्येव 'एव मदर्थोज्जिते'त्यत्र विशेषतस्त्याग प्रोक्तः । (नैर्भयत्राप्यविशेषेण त्याग-
कथनादुभयोस्त्यागयोः साम्यमस्तीति चेत्, अत्र वदाम. । यद्यपि मर्यादाभक्तिपरित्याग-
कथनेपि 'मदर्थेपरित्याग' इति वाक्ये स्वप्राप्त्यर्थं परित्याग उक्तः, तद्भवेव फल-
प्रकरणचतुर्थीध्याये शुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तस्वरूपनिरूपणे 'एव मदर्थोज्जितलोकेवेदस्त्वाना-'

१ पश्चात्तापस्वरूपमाहुः मन्वीति । भक्तिमार्गे च पदार्थपरित्यागादितरसर्वपदायानां परित्याग
इत्यर्थः । तथा च लौकिकपदार्थपरित्यागो विचार्यत इति निष्कपः । २ नन्वित्यारभ्य वेदितव्येत्यन्त
विवरणं नोपलभ्यते कुत्रचित् ।

मित्युक्तं, तथापि मर्यादाभक्तिमार्गं त्यागस्य मदर्थित्वं यदुक्तं, तत्स्वप्राप्त्यभिप्रायेण, न तु स्वाभिलषितसिद्ध्यभिप्रायेण, तन्मार्गं तस्यासम्भावितत्वात्, पुष्टिमार्गीयमक्तस्वरूपनिरूपणे 'एवं मदर्थोञ्जितलोकवेदस्थाना'मिति लोकवेदस्वरूपरित्याग उक्तः । तत्र यद्यपि स्वपदेन ज्ञात्यर्थात्मान उच्यन्ते, तत्रैतासां ज्ञात्यर्थपरित्यागस्य ब्रज एव स्थित्याऽसम्भावितत्वात् स्वपदस्यात्मपर्यवसायित्वमेव सम्भवति । यद्यपि विद्यमाननित्यदेहानामात्मत्यागोऽसम्भावितः, तथाप्यात्मत्यागोक्तैरयमाशयः । यथा श्रुतौ 'आत्मने वै कामाय सर्वं प्रियं भवती'ति । यत्र प्रियत्वं तत्रात्मौपाधिकमेव, न तु प्रकारान्तरेण । एतासां यदात्मनि प्रियत्वं तन्न स्वात्मत्वेन, किन्तु स्वात्मनो भगवतः प्रीतिजनकहेतुत्वेन । अत एव भगवदमिलनदशायामात्मनोऽनुपयोगं ज्ञात्वा न मण्डनादिपुरस्कारस्तासाम्, उपयोगसमय एवात्मपुरस्कार इति नात्मनः स्वभावतः प्रियत्वम्, किन्तु भगवदुपयोगित्वेनेत्ययमेवात्मनस्त्याग इति शुद्धपुष्टिमार्गीयत्यागस्य मर्यादामार्गीयत्यागस्य च महदेव वैलक्षण्यमित्युभयत्रापि त्यागपदोपादानादुभयोः साम्यमस्त्वित्याशङ्का निरस्ता वेदितव्या ।) ज्ञाने ज्ञानमार्गोपि विशेषतः प्रोक्तः । स च विशेषो 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रब्रजे'दिति श्रुत्या विविदिपाविद्वेद्वेदाभ्यां च तच्छास्त्रे निरूपित इति विशेषत इत्युक्तम् ॥ १ ॥

कर्ममार्गस्यापि मार्गान्तःपातात् तत्रापि परित्यागप्राप्तिमाशङ्क्य निषेधन्ति कर्ममार्गं न कर्तव्य इति ।

कर्ममार्गं न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गं कर्तव्यत्वादिचिचारणा ॥ २ ॥

तत्र 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोती'ति विधिना संन्यासग्रहणस्यानवसरपरारहतत्वात् । यद्यप्यायुपश्वतुर्थो भागश्चतुर्थाश्रमेण नेय इति कुत्रचिदुक्तं तथापि निषेधमाहुः सुतरामिति । अस्यायमर्थः । कलिकालेण मनुष्याणामल्पसामर्थ्यवत्त्वादायुपश्वतुर्थभागस्यातिजरान्यासत्त्वादाश्रमधर्मस्य चातिकष्टसाध्यत्वेनानिर्वाहाद्विपरीतफलसाधकत्वं भवेदिति सुतरां कलिकालत इत्युक्तम् । एवं ज्ञानमार्गं परित्यागस्य कर्तव्यत्वं निरूप्य तस्यैव कर्ममार्गं सोपपत्तिकमकर्तव्यत्वं च निरूप्य भक्तिमार्गं तस्य कर्तव्यप्रकारविचारमारभन्ते अत इति । यतः प्रकारभेदेन पूर्वं मार्गद्वयेपि कर्तव्याकर्तव्यभेदेन परित्यागो यद्यपि निर्दिष्टस्तथापि विचारारम्भे पूर्वं भक्तिमार्गस्योद्दिष्टत्वादतः कारणादादौ प्रथमतः भक्तिमार्गीयपरित्यागस्य प्राप्तत्वात्तस्य विचारणा विचारः क्लियत इत्यर्थः । विचारणा च कदा कर्तव्यः, कथं कर्तव्यः, किमर्थं कर्तव्य इति ॥ २ ॥

भक्तिमार्गं श्रवणादिसाधनसिद्ध्यर्थं कर्तव्यपक्षं निराकुर्वन्ति श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थमिति ।

श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थं कर्तव्यत्वेन नेप्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥

श्रवणादीलारभ्य नेप्यत इत्यन्तेन । स परित्यागो नेप्यते, इच्छाधिपयत्वेनापि नाङ्गीक्रियत इत्यर्थः । अनङ्गीकारे हेतुमाहुः सहायेति । 'एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बर' इत्यादिवाक्यैस्त्यागिन एकाकित्वेनैव स्थितेरुचितत्वाच्छ्रवणादीनां सहायसङ्गसाध्यत्वात् सहायाः प्रेरकास्तेषां स्वस्वमतानुसारिश्रवणप्रेरकत्वात्तत्तन्मार्गीयश्रवणानां पुष्टिमक्तिमार्गविरोधित्वान्न भक्तिमार्गसाधकत्वम् । तद्यथा । मायावादिनां श्रुतीनामपि कल्पितत्वात्तत्प्रतिपाद्यब्रह्मधर्माणामपि व्यवहारोपयोगित्वेनापारमार्थिकत्वाद्ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वाद्भक्तिमार्गविरोधित्वम् । नैयायिकमते तु 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो गन्तव्यश्चोपपत्तिमि' रिति जगत्कर्तृकत्वेनेश्वरसिद्धावपि ज्ञानेच्छाप्रयत्नातिरिक्तधर्माभावाद्भक्तिमार्गविरोधित्वम् । मीमांसकानां निरीश्वरवादित्वादेव श्रोतव्याभावाच्च श्रवणार्थिप्रेरणम्, तत्तन्मार्गीयप्रेरकप्रवृत्तौ तत्तन्मार्गीयैरेव सद्भात्तन्मार्गीयश्रवणस्यैव सिद्धेस्तच्छ्रवणस्य भक्तिमार्गविरोधित्वान्न भक्तिमार्गसाधकत्वम् । बाधकान्तराण्यप्याहुः साधनानां च रक्षणादिति । साधनानामाश्रमसाधकधर्माणां ज्ञानशौचप्रणवजपादीनां रक्षणं यथोक्तप्रकारानुष्ठानम् । तेनैव सर्वकालव्याप्त्या न भक्तिमार्गीयश्रवणादिप्रवृत्त्यवसर इत्यनङ्गीकारः ॥ ३ ॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।

स्वयं च विषयाक्रान्तपापण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥

किञ्च, अभिमानात् सर्वादरणीयत्वेन स्वस्मिन्नाश्रमज्येष्ठत्वाभिमानात्तस्य च भक्तिसाधनविरोधित्वात्तथा । किञ्च, नियोगादुक्तपरित्यागस्य शास्त्राज्ञाधीनत्वाद्दृश्यमाणस्य च तदनधीनत्वात्तथा । किञ्च, तद्धर्मैश्च विरोधतः । तद्धर्मैर्दृश्यमाणभक्तिमार्गीयपरित्यागधर्मैः, चकारात्स्वरूपेण च विरोधात्तथा । ननु श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थं त्यागकर्तुर्भक्तिमार्गीयश्रवणाद्यज्ञानात्तत्तज्ज्ञानहेतुकत्यागस्य तदङ्गत्वेन गौणत्वात्तस्याकर्तव्यत्वमस्तु । भक्तिमार्गीयश्रवणादिस्वरूपज्ञानवतः गृहस्थितौ व्यासज्ञेन तदनिर्वाहं ज्ञात्वा तत्परित्यागस्य मुख्यत्वमस्त्वित्यपि पक्षस्य दृश्यमाणत्यागवैजात्यात् सहेतुकमकर्तव्यत्वमाहुः गृहादेरिति । उक्तपरित्यागानन्तरमपि साधनदशायां भक्तिमार्गीयपूर्णभगवद्भावामावाञ्छिरन्तरनिर्वाहसाशक्यत्वेन चित्तचात्रल्यादेतन्मार्गविजातीयैरेव सङ्गो भवति, नान्यथा । अतादृशैः सङ्गो न भवतीत्यत उक्तमग्रेपीति । विजातीयानां च विषयाक्रान्तचित्तत्वात्तत्सङ्गस्याल्पस्यापि पूर्वभावनिर्वाहनाशकत्वेन स्वस्यापि विषयाक्रान्तिसम्भवात् कालक्रमेण पूर्वभावनिर्वाहामावात्

कृतस्यापि त्यागस्य मुख्यफलासाधकत्वाद्भक्तिमार्गविचारे पापण्डित्वमेवेत्यत उक्तं स्वयं चेति । विषयाक्रान्तपापण्डीत्यत्र कर्मधारयः । तुशब्देनापापण्डित्वपक्षनिरासः ॥ ४ ॥ ५ ॥

यद्यपि दुःसंगो भावस्थितौ धाधकस्तथापि भावस्थित्यर्थमेवोपक्रमाद् दुःसंगेपि कदाचिद्भावस्थित्येदिति पक्षनिराकरणमाहुः विषयाक्रान्तदेहानामिति ।

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

विषयाशुभुरादिसर्वेन्द्रियविषयाः रूपरसादयस्त्वेराक्रान्तः व्याप्तः देहो येषां तेषां सर्वदा हरेरावेशो न भवति । यत एते प्रकारा धाधका अतः अत्र साधने भक्तौ साधनरूपभक्तिमार्गे भक्तिसाधनार्थं त्यागः सुखावहो न, पुरुषार्थसाधको न भवतीत्यर्थः । एवकारेण सर्वात्मना पुरुषार्थसाधकत्वमुक्तम् ॥ ६ ॥

तर्हि भक्तिमार्गे त्यागकथनस्य प्रयोजनाभावाद्वैयर्थ्यमायातीति चेत्तत्र प्रयोजनमाहुः विरहानुभवार्थमिति ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेपः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

ननु विरहस्य संयोगपूर्वकत्वात् साम्प्रतं तस्याभावात् कथं विरह इति चेत्, सत्यम्, वक्ष्यमाणपरित्यागस्य पूर्णपुष्टिमार्गीयभगवद्भावानन्तरभावित्वेन तत्पूर्वदशायां भगवत्स्वरूपसेवनस्यावश्यकत्वात्तत्र भावपूर्वकश्रीमुखदर्शनतत्तद्ग्लान्यनिमित्तसङ्गाभिलाषाया अतिप्रचुरत्वेन तच्छान्त्यभावजन्यत्वात् सङ्गमपूर्वकत्वं विरहस्य भगवद्विरहस्यानुभवः निरन्तरं तद्भावापत्तिस्तदर्थं तत्सिद्ध्यर्थमित्यर्थः । तेन शुद्धपुष्टिमार्गीयपूर्णभाववानधिकारीति ज्ञापितम् । तादृशस्य सर्वात्मभाववद्भक्तसम्बन्धिरासादिस्त्रीलाविचारस्वावश्यकत्वेन तस्याश्च परमफलत्वेन स्वस्यापि तन्मार्गीयत्वेन तत्फलोत्कटाभिलाषया साम्प्रतं तत्पूर्वभावात्तत्पूरकस्याधुना दर्शनाद्यभावाद्विरहस्यावश्यकत्वम् । गृहस्थितौ गृहस्थितानां तद्भाववैजात्यात् तत्सङ्घैतद्भावनाशकत्वेन तदनुभवाभावाद्गृहत्यागस्यावश्यकत्वम्, तस्य परित्यागज्ञापनार्थं वेपकल्पनमाहुः स्वीयेति । स्वीयाः भार्यापुत्रादयस्तत्कृतो बन्धः, त्यागे प्रतिबन्धः, तन्निवृत्त्यर्थं वेपकल्पनम् । स वेपः अत्र अस्मिन्मार्गे प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थमेव । न चान्यथा, अन्यप्रयोजनार्थं न भवतीत्यर्थः । यथा मर्यादामार्गीयचतुर्थाश्रमपरिग्रहेहेतुत्वेनावश्यकत्वाय वेपकल्पनं तथास्मिन्मार्गे न भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

मार्गद्वये परित्यागाविशेषेपि मार्गभेदेनिरूपणार्थं परित्यागनिमित्तं वेपकल्पननिमित्तं चोक्त्वा गुरुन् साधनं च निरूपयन्ति कौण्डिन्यो गोपिका इति ।

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

कौण्डिन्य ऋषिः अनन्तव्रतप्रस्तावे निरूपितः । गोपिकाः प्रसिद्धा इति न प्रकारविशेषोक्तिः । यद्यपि कौण्डिन्यस्य मर्यादामार्गीयत्वेनैतन्मार्गाज्ञानोदेतन्मार्गोपदेष्टृत्वा-सम्भवाद्गुरुत्वं न सम्भवति, तथापि दत्तात्रेयवत्स्ववैराग्योपयोगितत्तद्धर्मशिक्षणेनोपदेष्टृत्वा-भावेऽपि पृथ्व्यादिषु यथा गुरुत्वाङ्गीकारस्तथा कौण्डिन्यस्याप्यनन्तगुणश्रवणेन तन्मिरुना-तिजनितविप्रयोगभावजनितवैकल्येन च प्रश्नायोग्येष्वपि प्रश्नकरणात्सहसा तत्यागस्यैत-न्मार्गीयत्वागस्य चैतावद्धर्मसाम्यात्कौण्डिन्येऽपि गुरुत्वकथनम् । गोपिकानामप्युपदेष्टृत्वा-भावेऽपि तन्मार्गप्रकटनेन तद्भावात्तुरूपारणेन च 'दुहन्त्य' इत्यनेन विरहेण गृहत्यागेनापि गुरुत्वम् । गुरुत्वत्वा साधनमाहुः साधनमिति । यदत्रे वक्ष्यमाणं तत्साधनमित्यर्थः । तदेवाहुः भाव इति । स्वस्मिन् गोपिकाभावानुरूपभावनया सिद्धभावस्य साधनत्व-मिष्टम्, अन्यद् दानव्रतादिकमपि साधनत्वेन नेष्टमित्यर्थः ॥ ८ ॥

नन्वेतद्भावाप्रत्यनन्तरभाव्यवस्थाया बुद्धिविपर्यासहेतुत्वेन दुःखहेतुत्वेन च प्राकृत-त्वमित्याशङ्कां तद्भावस्वरूपनिरूपणेन परिहरन्ति विकलत्वमित्यादिना ।

विकलत्वं तथास्यास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

विकलत्वं वैकल्यं तथा तद्वदेव अस्वास्थ्यं कुत्रापि स्वास्थाभावः प्रकृतिविप्रयो-गभावस्य प्रकृतिः स्वाभाविको धर्मः प्राकृतं लौकिकं न भवतीत्यर्थः । हि युक्तश्चायमर्थः । यत्रैकादशे श्रीमद्बुद्धवष्टेन भगवता श्रद्धानिरूपणप्रस्तावे आध्यात्मिकश्रद्धादीनां सगुणत्वं निरूप्य 'सात्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी । तामस्यधर्मं या श्रद्धा मत्तेवायां तु निर्गुणे'ति स्वपूजाश्रद्धाया निर्गुणत्वं निरूपितं, ज्ञाननिरूपणप्रस्तावेऽपि कैवल्यादिज्ञानानां सगुणत्वं निरूप्य 'कैवल्यं सात्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत् । प्राकृतं तामसं ज्ञानं भस्मिष्ठं निर्गुणं सृष्ट'मिति स्वविषयकज्ञानस्य निर्गुणत्वं निरूपितम् । यत्र मर्यादामार्गीयं स्वसम्बन्धित्वेन वस्तुनो निर्गुणत्वं, तत्र साक्षात्सर्वाधिकमक्तिमार्गीयभगवद्भावजधर्माणां निर्गुणत्वे किं बान्यमिति हिशन्देनोक्तम् । ननु भगवत्सम्बन्धित्वेनालौकिकत्वाग्निर्गुणत्वमस्तु, तथापि दुःखात्मकत्वात् कथं सर्वोत्कृष्टत्वमिति चेत्, सत्यं, दुःखत्वाभावादेवोत्कृष्टत्वं चदामः । तथा पुरुषोत्तमस्वरूपस्य 'रसो वै स'इति श्रुत्या रसात्मकत्वेन प्रतिपादित-त्वाद्गस्य च संयोगविप्रयोगात्मकत्वेन द्विरूपत्वाद्यथा विरोधिकृतक्षतनिष्पीडनताडनको-पादीनां दुःखात्मकत्वं, तथा क्षतत्वादिधर्मसाजालेऽपि संयोगरसान्तःपातित्वेन परमानन्दरू-पत्वं, तथा विप्रयोगरसजनितवैकल्यादीनामपि विप्रयोगरसात्मकत्वेन कर्मादिजन्यवैक-ल्यवत्प्रतीयमानत्वेऽपि रसरूपत्वाच्च तेषां दुःखत्वम् । यथा आनन्दादप्यधूणि, शोकाद-प्यधूणि । न हि तत्राश्रुत्वसाजालादुभयोरैकफलत्वं सेत्स्यति, तथात्रापि तत्तद्धर्मसाम्येऽपि

न तत्तद्रूपत्वमिति सर्वमनवधम् । एतादृगवस्थापरत्यनन्तरमपि व्यावहारिकज्ञानलौकिक-
विवेकादिगुणसत्त्वेपि को विरोध इति चेत्त्राहुः ज्ञानमिति । ज्ञानं मर्यादोमार्गीयं
गुणास्तन्मार्गीया एव मनःस्वास्थ्यहेतुरूपाः । तस्य पूर्वोक्तभक्तिमार्गीयभाववतः एवं
वर्तमानस्य पूर्वोक्तवैकल्यादिभावपूर्वैव स्थितस्य, बाधकाः रसानुभवे फले वा पूर्वोक्त-
भावनाशकत्वात्प्रतिबन्धकाः ॥ ९ ॥

ननु मार्गद्वयेपि त्यागसाविशेषात्कथं ज्ञानमनःस्वास्थ्यादीनां ज्ञानमार्गं साधकत्वं
भक्तिमार्गं बाधकत्वमिति शङ्कानिरासाय फलभेदेन समाधानमाहुः सत्यलोक इति ।

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

सत्यलोके ब्रह्मलोके 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थी' इति श्रुती ज्ञानयुक्तसंन्यासिन
एव ब्रह्मलोकस्थित्यनन्तरमेव ब्रह्मणा सह मोक्षनिरूपणाद्ब्रह्मलोकगतौ ज्ञानस्यैव मुख्यत्वा-
न्मनःस्वास्थ्यव्यतिरेकेण ज्ञानस्यैर्याभावाज्ज्ञानमनःस्वास्थ्यादीनामेव फलसाधकत्वम् ।
भक्तिमार्गं साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धस्यैव फलत्वात्तस्य 'रसो वै स' इति श्रुत्या रसात्मक-
त्वात् रसस्य च भावात्मकत्वात्तत्सम्बन्धे पूर्वोक्तविप्रयोगरसात्मकभावस्यैव साधनत्वात्
ज्ञानमनःस्वास्थ्यादीनां तद्भावरूपसाधननाशकत्वाद्बाधकत्वमित्यत आहुः भावनेति ।
यत्र भक्तिमार्गं ॥ १० ॥

एवं मार्गद्वयेपि प्रकारभेदेन साधनफले निरूप्य ज्ञानमार्गं फलप्राप्तौ विलम्बहेतुं
भक्तिमार्गं विलम्बाभावहेतुं च ज्ञानमार्गं प्रकारकथनेन भक्तिमार्गं दृष्टान्तकथनेन चाहुः
तादृशा इति ।

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा बहिवत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

तादृशाः संन्यासयुक्तज्ञानिनस्तो सकामनिष्कामभेदेन सत्यलोकादौ ब्रह्मलोकादौ ति-
ष्ठन्त्येव । संन्यासाश्रमग्रहणमात्रेणैव सत्यलोकस्थितिपक्षनिराकरणार्थं न संशय इत्युक्तम् ।
सत्यलोकादावित्यत्र तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । तेन निष्कामानामेव सत्यलोकस्थितिः, स-
कामानां लोकान्तरेपि स्थितिरिति ज्ञापितम् । एवकारेण सत्यलोकस्थितौ गुक्तिविलम्बे च हेतु-
रुक्तः । तयोपपत्तिः । 'ब्रह्मणा सह मुन्धन्त' इति वाक्याद्ब्रह्मणः द्विपराधीवसायित्वात्तावत्पर्यन्तं
मुक्तेरसम्भवारिस्थितेरावश्यकत्वज्ञापनार्थमेवकारः । ज्ञानमार्गं विलम्बहेतुं निरूप्य भक्तिमार्गं
दृष्टान्तेन विलम्बाभावहेतुं निरूपयन्ति । तत्र दृष्टान्तमेवाहुः बहिरिति । बहिवदिति कथना-
दास्यितवह्निदृष्टान्तोभिप्रेतः । तत्र प्रकारः । यथा दारुणि विद्यमानस्य बह्वेर्दारुसंयोगे सत्यपि

न दासुदहनयोग्यत्वं, यदा मथनेन तत एव बहिः प्रकटीभूय पुनस्तेन सह सम्यध्यते, तदा सम्यन्धमात्रेणैव दासुत्वनिवृत्त्या दासुणोमित्वसिद्धिस्तथा भक्तहृदये विद्यमानत्वेपि मथनेनाग्निप्राकट्यवद्विगाढभावेन भावात्मकतया बहिःप्राकट्ये सति पुनरन्तःसम्यन्धः, तदा सम्यन्ध एव फलसम्यन्धहेतुः प्रतिबन्धं दूरीकरोतीति फलस्य रसात्मकत्वेन तदनुभवहेतुरसात्मकतां सम्पादयतीति एतत्प्रकारातिरिक्तसैतफलसाधकत्वाभावाद्युक्तं न चान्यथेति । एवमस्मिन्मार्गे विलम्बाभावोपि सिद्धः ॥ ११ ॥

ननु पूर्वोक्तविगाढभावस्य साक्षात्सङ्गाभावहेतुत्वेन सन्नार्थं स्वरूपानुसन्धानसावश्यकत्ववद्गुणानुसन्धानसाध्यावश्यकत्वेन साक्षात्स्वरूपेण स्वास्थ्यहेतोरसम्भावितत्वाद्गुणैरेव कथं स्वास्थ्यमिति चेत्तत्राहुः गुणास्त्विति ।

गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

गुणानां धर्मरूपत्वादिप्रयोगस्य संयोगाभावहेतुत्वेन तदतिरिक्तस्य स्वास्थ्यहेतोरभावात्कदाचिदतितापेनाश्रयाभावान्नाजीवनानुपपत्त्या गुणैरेव जीवनसम्पत्तिरित्यत उक्तं जीवनार्थं भवन्तीति । यथा 'तव कथामृत'मित्यत्र । हि युक्तश्रामर्थः । परमानन्दविरहे जीवनानुपपत्तौ परमानन्दगुणानामेव जीवनसम्पादकत्वमुचितमित्यर्थो हि शब्देन धोत्यते । तेन गुणानां यथाकथञ्चिज्जीवनमात्रसम्पादकत्वं, न तु स्वास्थ्यहेतुत्वमपि । तुशब्देन सङ्गातिरिक्तधर्मैः स्वास्थ्यपक्षो व्यावर्तितः । अथवा, ननु भगवद्विप्रयोगस्यातिप्रचुरतापात्मकत्वेनासङ्गत्वात्क्षणमात्रमपि प्राणस्थित्यसम्भवस्वभाववत्त्वात् कुञ्चित्तत्कालमेव प्राणस्थित्यदर्शनम् यथा द्विजपत्न्याम् । क्वचित्तथात्वेपि प्राणस्थितिदर्शनमिति कथमेकस्यैव स्वभावविपर्ययेन कार्यद्वयकर्तृत्वमिति चेत्, सत्यम्, तस्य स्वभावविपर्ययाभावावत्त्वेपि यत्र शीघ्रं मनसो भगवद्गुणग्रहणेन व्यासङ्गाभावस्तत्र शीघ्रं पूर्वोक्तस्वकार्यकर्तृत्वम् । यत्र भगवदिच्छया शीघ्रं तद्गुणव्यासङ्गस्तत्र गुणानां तादृग्भावेपि जीवनैकस्वभावत्वेन तत्स्वभावत्वादेव प्राणस्थितिरित्यभिप्रेत्योक्तं गुणास्त्विति । ननु लोके गुण्यपेक्षया गुणानामल्पसामर्थ्यवत्त्वदर्शनात् कथं पूर्णानन्दरसात्मकपुरुषोत्तमविरहस्य क्षणमात्रमपि प्राणस्थितिविलम्बासहिष्णोस्तस्मिन्समये तद्गुणानां कथं प्राणस्थितिहेतुत्वमिति चेत्, सत्यम् । यद्यप्यन्यत्र गुण्यपेक्षया गुणानामल्पसामर्थ्यमस्त्वेव, तथाप्यत्र साक्षात्पुरुषोत्तमसाचिन्त्यानन्दपूर्णस्य पङ्कणैश्वर्यसम्पन्नस्य गुणा अपि तादृशा एवेति मन्तव्यम्, गुणगुणिनोरेकरूपत्वात्, अन्यथा तद्विप्रयोगदशायां गुणानां जीवनसम्पादकत्वं न भवेत् । अत एव ब्रजसीमन्तिनीभि 'स्तव कथामृत'मित्यस्मिन् श्लोके पद्मिर्विशेषणैः कथायाः भगवत्तुल्यत्वं निरूप्यैव स्वप्राणस्थितिहेतुत्वं निरूपितम् । यदि स्वरूपतुल्यत्वं गुणानां न भवेत्तर्हि स्वसमाजस्य जीवनमेव न भवेत् । तस्मान्पुरुषोत्तमगुणानां गुणितुल्यत्वमेव, न तु न्यूनत्वमपि । तथापि गुणगुणिनोरेतावान् विशेषः ।

यथा गुणिसाम्बन्धेन विप्रयोगजतापनिवृत्तिपूर्वकं सर्वेन्द्रियाप्यायनपूर्वकं च परमानन्दानुभवेन स्वास्थ्यं, तथा गुणैर्न सम्पद्यत इति तेषु गुणत्वकथनम् । एतदेव मनसि कृत्वा श्रीमदाचार्यै-
रुक्तं गुणास्तु सङ्गराहित्यादिति । सङ्गराहित्यं वियोगस्कृतिः । ननु कथं कुत्रचिच्छीघ्रं
मनसो जीवनहेतुगुणग्रहणव्यासङ्गे भगवदिच्छा कुत्रचिन्नेति को हेतुरिति चेत्, सत्यम्, यत्र
पूर्णविप्रयोगानुभवहेतुः पुनः पुनर्मूर्च्छाजागरणतादात्म्यादिसर्वभाषानुभावेनेच्छा तत्र गुणेषु
शीघ्रं चित्तव्यासङ्गं कारयित्वा पश्चादविलम्बेन स्वप्राप्तिसिद्धयर्थं तद्भावस्वभावकार्यकरणम् ।
ये पूर्वमेवानुभूतसर्वविप्रयोगभावास्तेषां स्थितौ प्रयोजनाभावात्तत्कालमेव स्थित्यभाव इति
नानुपपत्तिः काचित् ॥ १२ ॥

ननु कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्य भगवदिच्छामात्रेणापि स्वास्थ्यसम्पादकत्वात्कथं
न सम्पादयतीति चेत्, तत्राहुः भगवानिति ।

भगवान् फलरूपत्वाद्वात्र बाधक इष्यते ।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

भगवत्पदेन पहणैश्वर्यसम्पन्नः पुरुषोत्तम उक्तः । अस्मिन्मार्गे स्वस्यैव फलत्वा-
त्स्वप्राप्तावेतद्भावस्यैव फलसाधकत्वाद्भावस्य च तापैकस्वभावत्वात्तद्भावे फलप्राप्त्यभावाच्च
स्वस्यैव तद्भावसम्पादकत्वकथनेन स्वस्यैव फलप्राप्तौ प्रतिबन्धकत्वेन च स्वस्य फलत्वमेव
न सिध्येदित्यत उक्तं फलरूपत्वाद्वात्र बाधक इष्यत इति । ननु स्वस्य फलात्मकत्वा-
त्फलदित्सायाश्च सिद्धत्वात्स्वरूपेण तापापगमं मा करोतु, तथापि यत्किञ्चिदस्वास्थ्यं स्वमे
वचनेन कथं न निवारयतीति चेत्, तत्राहुः स्वास्थ्यवाक्यमिति । भगवता तादृशं
प्रति यत्किञ्चित् स्वास्थ्यहेतुकमपि वाक्यं वचनं न कर्तव्यं न वक्तव्यमित्यर्थः । तत्र
हेतुः । वचनेन यावांस्तापो निवर्तिष्यते तावानेव फलप्राप्तौ विलम्बो भविष्यतीति ज्ञात्वा
वचनेनापि स्वास्थ्यं न करोति, यदि कुर्यात्तर्हि फलविलम्बे स्वयमेव हेतुः स्यादिति
स्वस्यैव विरोधित्वं स्यादिति यत्किञ्चित्स्वास्थ्यहेतुभूतस्यापि वाक्यस्याकरणम् । ननु यत्कि-
ञ्चिद्विलम्बहेतुत्वे को दोष इति चेत्तत्राहुः दयालुरिति । दयालुरत्यसाधारणदयासमुद्रः ।
यदि यत्किञ्चिद्विलम्बसहिष्णुत्वमपि चेद्भवेत्, तदा तावदयांशस्य न्यूनत्वात्परमदयालुत्वं
नोपपद्येतेति न तादृगवाक्यकरणम् ॥ १३ ॥

एवं भक्तिमार्गीयसंन्यासस्वरूपं साधनफलप्रकारविचारेणोपपाद्योपसंहरन्ति दुर्ल-
भोपमिति ।

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।

अयमुक्तप्रकारकः परित्यागः दुर्लभः, तपोदानव्रतादिसाधनैरप्यसाध्यः । ननु
वस्तुमात्रस्य दानादिसाधनसाध्यत्वात्कथमस्य दानादिसाधनासाध्यत्वमिति चेत्, सत्यम् ।
यथा तत्तच्छब्दे तत्तत्फलसाधकत्वेन तानि तानि साधनानि गणितानि, स्वर्गकामस्य ज्योतिष्टो-

भवत् । नहि तथा भक्तिमार्गीयपरित्यागसिद्धौ साधनशास्त्रोक्तं कियत्साधनमस्तीत्यस्य दुर्लभत्वम् । ननु वस्तुमात्रस्य साधनसाध्यत्वाद्भक्तिमार्गीयपरित्यागस्यापि वस्तुत्वेन निरूपणात्तस्य च शास्त्रोक्तदानादिसाधनासाध्यत्वकथनात् केन साधनेनास्य सिद्धिरिति चेत्, तत्र साधनमाहुः प्रेम्णेति । प्रेम्णा भगवत्परमासक्त्या सिध्यति । अथवा, प्रेम्णा भगवत्प्रेम्णा । ननु कथं जीवे भगवत्प्रेमेति चेत्, सत्यम् । एतन्मार्गप्रवर्तकाचार्यैस्तन्निष्कपटप्रपत्तिसन्तुष्टैः कृपया अस्यैतन्मार्गीयफलसिद्धिरस्त्वित्तीच्छया भगवन्निवेदनानन्तरं तस्मिन्नाचार्यकृपाखेहं ज्ञात्वा स्वयमपि सन्तुष्टस्तस्मिन्साफल्यदत्तस्य प्रेमयुक्तो भवतीति तेन प्रेम्णास्यापि तादृशत्वं सिध्यतीत्यत उक्तं प्रेम्णा सिध्यतीति । नान्यथा, अन्यथा एतदतिरिक्तसाधनैर्न सिध्यतीति सुष्ठुक्तं दुर्लभोयमित्यादि ॥ १३१ ॥

एवं भक्तिमार्गीयत्यागविचारं उपसंहृत्य ज्ञानमार्गीयपरित्यागोपसंहारमारभन्ते ज्ञानमार्गे त्विति ।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पापण्डित्वं भवेद्यापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रयलत्वादिति स्थितम् ।

त्विति पूर्वसमुच्चयः । संन्यासः ज्ञानमार्गीयः द्विविधोपि, विविदिपाविद्वन्द्वेदयुक्तः । सोपि साधनफलभेदेन विचारितः । द्वैविध्यमेव प्रकटयन्ति ज्ञानार्थमिति । ज्ञानार्थं ज्ञानरूपफलसिद्ध्यर्थमेकः । चकारसमुच्चितं द्वितीयमाहुः उत्तराङ्गं चेति । 'ज्ञानादेव हि कैवल्य'मिति वाक्यान्मुक्तेर्ज्ञानसिद्धयुत्तरफलत्वाद्द्वैतसंन्यासस्योत्तराङ्गत्वं मुक्त्यङ्गत्वमित्यर्थः । यद्यपि ज्ञानमार्गीयद्वितीयसंन्यासस्य मुक्त्यङ्गत्वं तथापि 'बहूनां जन्मान्मन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ' इति भगवद्वाक्यात् प्रपत्तेश्च भक्तित्वाद्भक्तिव्यतिरेकेण केवलज्ञानस्य मुक्त्यसाधकत्वात् । 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमाधिभिः । नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत' इति वाक्याद्य ज्ञानस्य भक्तिप्रतिबन्धनिवर्तकत्वोक्त्या 'विना महत्यादरजोगिपेक' मिति वचनेन भक्तेश्च महदनुग्रहकैलम्यत्वोक्त्या च यावत्पर्यन्तं न भक्तिसिद्धिस्तावत्पर्यन्तं पूर्णज्ञानस्यापि न मुक्तिरिति जापनायोक्तं सिद्धिर्जन्मशतैः परमिति । यथा बहुशब्दस्य सङ्घातानियमवाचित्वं तथा शतशब्दस्यापीति ज्ञापनाय जन्मशतैरित्युक्तं । परं निर्धारितमित्यर्थः । एवं ज्ञानिनां मुक्तिप्रकारमुक्त्वा ज्ञानस्य साधनसाध्यत्वज्ञापनाय साधनानि निरूपयन्ति ज्ञानमिति । यज्ञ आदिर्यस्य श्रवणस्य, ज्ञानस्य चित्तशुद्धिहेतुकत्वाद्यज्ञस्य च चित्तशोधकत्वोपपत्त्या

निष्कामकर्तृत्वमुक्तम् । यतस्तादृग्यज्ञसैव चित्तशोधकत्वम् । तदनन्तरश्रवणस्य ज्ञानसाधकत्वं मर्तं निश्चितमित्यर्थः । अतः कलाविति । यतः स ज्ञानमार्गीयः संन्यासः एतावत्प्रयत्नसाध्यः अतः कलौ तावत्प्रयत्नसिद्धेरसम्भावितत्वात्तत्र्यतिरेकेण संन्यासस्य फलसाधकत्वाभावात् पश्चात्तापहेतुत्वमेवेति ज्ञापनायोक्तं पश्चात्तापाद्येति । नान्यथा उक्तफलाय नेत्यर्थः । ज्ञानमार्गीयसंन्यासस्यैतावत्प्रयत्नसाध्यत्वमपि ज्ञात्वा प्रतिष्ठार्थमपि चेत्कुर्यात्तदा ययोक्ताश्रमधर्मानिर्वाहात् संन्यासव्यवहारस्य वेपमात्रपर्यवसायित्वेन पापण्डित्वमेव भवतीत्यत उक्तं पापण्डित्वं भवेदिति । चकारः संन्यासाश्रमधर्मानाचरणपापसमुच्चयार्थः । यतः ज्ञानमार्गीयसंन्यासस्यैतावदोपपत्तं तस्मात् कारणात् कलौ ज्ञाने ज्ञानमार्गे न संन्यसेत् संन्यासग्रहणं न कुर्यात् । यद्यप्याश्रमधर्मानिर्वाहात् कलौ ज्ञानमार्गीयसंन्यासनिषेधः कृतस्तथापि कश्चिदाश्रमोत्कर्षं श्रुत्वा पलात्कारेणाद्याश्रमधर्मनिर्वाहं करिष्यामीति बुद्ध्या कुर्यादिति तस्यापि निषेधमाहुः सुतरामिति । सुतरामतिशयेन कलिदोषाणां प्रचलत्वात् प्रावत्यात् पूर्वकृतव्यवसायनाशकत्वात्, इति हेतोस्तस्याकर्तव्यत्वमेव स्थितं निश्चितमित्यर्थः ॥ १४, १५, १६ ॥

एवं ज्ञानमार्गीयसंन्यासस्य चलवद्वाधकप्रतिबन्धकत्वेन सोपपत्तिकमकर्तव्यत्वमुपपाद्य त्यागाविशेषोपपत्तिकमार्गीयानामपि तेषां धाधकत्वाशङ्कानिरासाय स्वत एव बाधकत्वं सम्भाव्य निराकुर्वन्ति । तत्र सम्भावनामाह भक्तिमार्गेपीति ।

भक्तिमार्गेपि चेदोपस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अपिशब्दः पूर्वोक्तत्यागसमुच्चयार्थः । भक्तिमार्गेपि चेदिति तद्देव दोषसम्भावना तदा तदोपनिवृत्त्यर्थं किं कार्यमिति पूर्वपक्षसम्भावनमुक्त्वा तन्निरासं प्रतिजानन्ते उच्यते इति । अथवा यदि भक्तिमार्गेपि दोषसम्भावना तदा तदोपनिवृत्त्यर्थं भक्तिमार्गीयिणं किं कार्यं किं कर्तव्यं भवता उच्यते इत्यर्थः ॥ १७ ॥

प्रतिज्ञातं दोषाभावमुपपादयन्ति अत्रेति ।

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।

स्यास्थ्यहेतोः परित्यागाद्वाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

अत्रास्मिन्मार्गे आरम्भे त्यागोपक्रमे इत्यर्थः । आरम्भपदे उद्देश्यस्यातुक्तत्वेपि त्यागस्यैवोपक्रान्तत्वास्यैवोद्देश्यत्वेन तदारम्भ एवेत्यर्थः । अत्रेतिपदात् ज्ञानमार्गीयत्यागारम्भकर्तुरपकत्वात्पूर्वोक्तदुःसङ्गसहायादिना नाशः सम्भवति, भक्तिमार्गे तु त्यागारम्भकर्तृलौकिकगणवद्वावर्ण्यत्वेनातिपकत्वाद् दुःसङ्गसम्भावनाया अप्यसम्भावितत्वात्तदन्यस्य नाशकत्वाभावात् नाश इत्युक्तम् । ननु दुःसङ्गाभावाद्वाशङ्कासम्भावितत्वेपि कालकर्मस्वभावैर्नाशोऽस्त्विति चेत्, न । यथा मर्यादागार्गीयत्यागिनामाश्रीधरतादीनां कालादिभिरत्यागानाशो दृष्टस्तथा शुद्धपुष्टिमार्गीयत्यागकर्तुः कुनापि नाशो न दृष्ट इत्यत उक्तं ।

दृष्टान्तस्याप्यभाषत इति । ननु पूर्वोक्तैः कालादिभिर्नाशासम्भवेऽपि स्रक्चन्दनादीनां शीतलत्वेन तापहारकत्वात्तल्लेपादिना तापनिवृत्त्या स्वास्थ्येन तदितरानुसन्धानात्तद्भाव-
 शैथिल्यात्तापनिवर्तकमस्त्विति चेत्त्राहुः स्वास्थ्यहेतोः परित्यागादिति । स्वास्थ्यहे-
 तोश्चन्दनादेर्दुहत्यागेन सहैव परित्यागात् तैर्न सम्बन्धसम्भावनेति न तैर्नाशसम्भवः ।
 अथवा, स्रगादीनां घर्मपित्तप्रकोपादिजनिततापनिवृत्तिहेतुत्वात्त्रिवर्त्यतापस्यात्रासम्भवाच्च
 तेषामस्मिन् स्वास्थ्यहेतुत्वमित्यनुसन्धानेनाप्युक्तं स्वास्थ्यहेतोरित्यादि । तस्यायमर्थः ।
 एतत्तापस्य भगवद्भावत्मकत्वाददृष्टस्य च तदजनकत्वेन तन्नाशकत्वस्याभाव इत्युक्तं बाधः
 केनास्य सम्भवैदिति । अस्य तापस्य केनापि बाधो नाश इत्यर्थः ॥ १८ ॥
 एवं दृष्टादृष्टोपायानां नाशकत्वाभावमुक्त्वा भगवतोऽपि नाशहेतुत्वमाशङ्क्य निराकु-
 र्वन्ति हरिरिति ।

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥

यद्यपि हरिः सर्वदुःखहर्ता तथाप्यत्रास्मिन्मार्गे ईश्वरत्वाद्बाधां कर्तुं न
 शक्नोति । अत्रोपपत्तिः । यस्य यथा स्वरूपं तस्य तथात्वेन ज्ञानमीश्वरस्यैव भवति, अतः
 अस्य भावस्य नाशे हेत्वभावमपि जानाति, स्वस्य भक्तभावाधीनत्वमपि जानातीति
 स्वसाशक्यत्वं ज्ञात्वा न प्रवर्तत इत्यत उक्तं हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधामिति ।
 एवं भगवद्हेतुकबाधाभावं निरूप्य कैमुतिकन्यायेन तदितरहेतुकबाधाभावमाहुः
 कुतोऽपर इति । अत्र व्यतिरेके दृष्टान्तमाहुः अन्यथेति । अन्यथा यद्येवं न, तदा
 मातरोऽपि स्वबालान् स्तन्यैः न पुपुषुः, पोषणं न कुर्युः । मातर इति बहुवचनं
 सर्वजात्युपलक्षकम् । क्वचित्पदेन सर्वदेशकालनियमो ज्ञापितः । (अथवा हरिरत्रेति ।
 अत्र पूर्वं हरिपदमुक्त्वा अत्रे बाधां कर्तुं न शक्नोतीति यदुक्तं तस्यायमाशयः । यद्यपि
 हरिपदेन सर्वदुःखहरणसामर्थ्यमायाति तथापि दुःखहर्तृत्वमनुक्त्वा यद्बाधाभावकर्तृत्व-
 मुक्तं, तेनास्य विगाढभावस्य स्वरूपात्मकत्वात् स्वरूपस्य च द्विदलरसात्मकत्वादस्य
 भावस्य रसात्मकत्वमेव, न तु दुःखरूपत्वम् । यद्यस्य दुःखरूपत्वं स्यात् तदा हरित्वेन
 तन्निवृत्तिं कुर्यादेव, अन्यथा नाशार्थस्य याथार्थ्यं न स्यात् । अत एव हरित्वमुक्त्वा
 फलबाधाभावकथनमेवोक्तं, न तु दुःखहर्तृत्वमुक्तम् । स्वयमेव चेत्स्वास्थ्यं कुर्यात्तदा
 स्वस्यैव फलप्रतिबन्धकत्वं भवेदित्येतदभिप्रायज्ञापनार्थमप्युक्तं हरिरत्र न शक्नोति
 कर्तुं बाधां कुतोऽपरे इति ।) यथा मातृणां बालपोषकत्वाभावाशक्यत्वमेवमत्रेश्वरस्य
 बाधाकरणमिति भावः ॥ १९ ॥

यद्यप्येतन्मार्गायतापस्य सर्वानाशयत्वं, तथापि ज्ञानमार्गज्ञापनाशमात्रे प्रसिद्ध इति
 तन्मार्गबोधकवचनैस्तापनाशमाशङ्क्य तेषामपि तापनाशकत्वाभावमाहुः ज्ञानिनामपीति ।

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तत्र हेतुः । ज्ञानमार्गस्य भक्तिमार्गपेक्षया दुर्बलत्वेन भक्तिमार्गस्य च प्रबलत्वेन तद्वाक्यानां नैतद्भावाभिभावकत्वम् । ज्ञानभक्तिमार्गयोर्दुर्बलत्वप्रबलत्वविचारः श्रीम-
दाचार्यैर्दशमस्कन्धविवरणे 'मर्त्यां मृत्युव्यालभीत' इत्यत्र कालनियामकत्वमुक्त्वापि
भक्त्युद्देशानन्तरं समुद्दिष्टे भवद्भेदोतिरिति वचनेन ज्ञानमार्गीयमाहात्म्योपमर्दनपूर्वकं भक्ति-
मार्गीयमाहात्म्यमेव निरूपितमिति विस्तरभिया नात्र विचारः । तथापि ज्ञानमार्गीयस्यापि प्रामा-
णिकत्वात् कदाचित् ज्ञानिवाच्यैश्चित्तप्यासङ्गमात्रत्वमपि भवेदिति तस्याप्यभावार्थ
भगवत्कृतां रक्षासाहुः न भक्तं मोहयिष्यतीति । (जन्मप्रकरणीयतृतीयाध्याये
भगवत्प्रादुर्भावानन्तरं वसुदेवस्तुत्यनन्तरं देवकीमातृचरणैर्मर्यादामार्गीयमाहात्म्यज्ञान-
पूर्वकं 'रूपं यत्' दिति स्तुतावन्ते 'मर्त्यां मृत्युव्यालभीत' इति पद्ये कालनियामकत्वेन
पूर्वं स्तुत्वापि पश्चाद्दुपसंहर विश्वात्म'न्निति प्रार्थनानन्तरं व्यूहरहितशुद्धपुरुषोत्तमप्रा-
कट्यानन्तरं शुद्धभक्तिमार्गीयभावप्राकट्ये सति पूर्वस्तुतिहेतुभूतमर्यादामार्गीयभावत्वेन
पूर्वस्तुत्युक्तमर्यादामार्गीयमाहात्म्यज्ञानजनितकालनियन्तृत्वादिज्ञाननिराकरणसामर्थ्यं शुद्ध-
भक्तिमार्गीयभावस्यैव दृष्टम् । न तु पूर्वभावसैतद्भावनिराकरणसामर्थ्यम् । यद्येवं न स्या-
त्तद्वैपरीत्यं स्यात् । तस्माद्भक्तिमार्गीयस्यैव सर्वमार्गीयधिकप्रावृत्यं विचार्यैवाचार्यैरुक्तं न भक्तं
मोहयिष्यतीति ।) रक्षाकरणे हेतुमाहुः आत्मप्रद इति । आत्मानं स्वरूपानन्दं
प्रकर्षेण ददातीत्यात्मप्रदः । यद्यप्यनुना तत्प्रकारकदानस्याप्रतीतिस्तथापि वर्तमान-
सामीप्ये वर्तमानवदेति शास्त्राच्छीघ्रं दास्यतीति सिद्धवदेवोक्तमात्मप्रद इति । हेत्वन्त-
रमप्याहुः प्रियश्चेति । यो यस्य प्रियः स तत्कार्यसिद्धौ यदि विलम्बं सहेत तदा प्रियत्व-
मेव न स्यादिति शीघ्रं तत्कार्यसिद्धयर्थं चित्तव्यासंगमसहमानोऽविलम्बेन रक्षामेव कृतवान्,
न तु विलम्बम्, अतः सम्यगेवोक्तं प्रियश्चापीति । एवं रक्षायामव्यभिचारिहेतुद्वय-
मुक्तम् । ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यतीत्यत्र मोहाभावार्थं रक्षाकरणं
निरूप्य रक्षाकरणस्वावश्यकत्वाय तद्रतधर्मद्वयपूर्वकं रक्षामुक्त्वापि पुनर्यदुक्तं किमर्थं
मोहयिष्यतीति तत्रायमाशयः । भक्तत्वेपि यत्रात्मप्रदानेच्छा तत्रैव ज्ञानिवाक्यजमोह-
निवृत्त्यर्थं रक्षा, यत्र नात्मप्रदानेच्छा तत्र ज्ञानिवाक्यजमोहनिवृत्तिरक्षापि नेत्यर्थः । तत्र
निदर्शनम् । द्विजपत्नीनां व्रजसीमन्तिनीवद्रसातुभनोपयोगिदेहवत्त्वमत्यातिभरेण गत्वा
सेयां करिष्याम इति बुद्ध्या सर्वसामग्रीसम्पादनपूर्वकं पत्यादिसर्ववन्धुनिराकरणपूर्वकं
चागमनम् । आगतासु तास्विव भगवद्भजनं तद्भवेत्तरदानेन सर्वप्रकारसाम्येप्यात्मप्रदाने-
च्छाऽभावान्न प्रीतयेनुरागयेत्वादिज्ञानमार्गीयवाक्यैर्जनितमोहस्य निवृत्त्यर्थं न रक्षाक-
रणम् । व्रजसीमन्तिनीप्यात्मप्रदानेच्छाप्राप्त्युत्तया रक्षा कृता । यथा 'रजन्वेषे'त्यादि-
मर्यादाधर्मवाक्यैः 'श्रवणाद्दर्शना'दित्यादिज्ञानमार्गीयवाक्यैश्च मोहसम्भावनापि नाभूत् ।
प्रत्युत स्वविचारितप्रयोजनविरोधित्वेन तन्निराकरणमभूत् । अत्रेपि चतुश्चत्वारिंशाध्याये

भगवत्प्रेषितः श्रीमद्ब्रह्मवः 'श्रूयतां प्रियसन्देश' इति भगवत्सन्देशव्याजेन तापवैकल्याद्य-
भावार्यमुपदिष्टस्यापि ज्ञानस्य भगवता स्वात्मप्रदानेन रक्षितत्वेन सर्वात्मना स्रोपदिष्टमार्गमो-
हामावदर्शनपूर्वकं 'द्वैवमादिगोपीनां कृष्णावेशात्मविकृत्व'मिति पूर्वोक्ततापवैकल्यादिदर्शनेन
सर्वात्मना स्वप्रयासनिष्फलत्वं तापादिभावस्यातिप्रचलत्वं दृष्ट्वा तासु सर्वाधिकानिर्वचनी-
योत्कर्षदर्शनेन स्वस्मिन् भगवत्कृपापात्रत्वेऽप्यलपकर्षस्फूर्त्या स्वस्य साक्षात्चरणारविन्देषु
शिरःस्पर्शनेन नमनायोग्यत्वं ज्ञात्वा 'वन्दे नन्दप्रजल्लीणां पादरेणु'मित्यनेनैकरोणुमेव यत्र
नमस्कृतवान् । तस्माद्यत्रैवात्मप्रदानं तत्रैव ज्ञानमार्गीयवाक्यमोहामावः, नान्यत्रेलेताव-
त्प्रमेयं मनसि कृत्वोक्तं किमर्थं मोहयिष्यतीति ॥ २० ॥
एवं संन्यासनिर्णयमुपपाद्योपसंहरन्ति तस्मादिति ।

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

यस्माद्भक्तिमार्गीयः संन्यासप्रकार एतादृशोऽतो यदि तादृक्प्रकारत्वं तदैतदुक्त-
प्रकारेण परित्यागः विहातुमर्थायः परित्यागो विधीयतां क्रियतामित्यर्थः ।
अन्यथा एतदुक्तप्रकाराकरणे स्वार्थात् स्वसारमनोर्थात् पुरुषार्थसिद्धेः सकाशाद्भ्रश्यते
च्युतो भवतीत्यर्थः । इति एवंप्रकारिका मे मदीया मतिः । मदीयत्वकथनेन
मतेरनुभवरूपत्वं निरूपितम् । निश्चिता निःसन्दिग्धेत्यर्थः ॥ २१ ॥
एवं पूर्वश्लोके मतेर्निश्चितत्वकथनान्निश्चितत्वे हेतुमाहुः इतीति ।

इति कृष्णप्रसादेन बल्लभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इतीति समाप्तौ, कृष्णप्रसादेन कृष्णः सदानन्दः पुरुषोत्तमः, तस्य प्रसादः
प्रसन्नता पूर्णकृपेत्यर्थः, तेन साधनेन कृत्वा बल्लभेन श्रीकृष्णबल्लभेनेत्यर्थः । विनिश्चितं
विशेषेण इदमित्यतया निर्णयितम् । निश्चये कृष्णप्रसादस्य साधनत्वोक्त्या तदितरसाधना-
साध्यत्वमुक्तम् । निर्णयितमेवाहुः संन्यासवरणं भक्ताविति । भक्तौ भक्तिमार्गे
संन्यासवरणं संन्यासाङ्गीकारप्रकारः । अथवा भक्तौ भक्तौ सत्यां अथवा भक्तौ
भक्त्यर्थं मजनार्थं इदं संन्यासरूपं भगवतो वरणं वरणमेवेत्यर्थः । विपरीते चाधकमाहुः
अन्यथेति । अन्यथा भक्तिव्यतिरेकेण करणे उक्तप्रकारामावात् पतितो भवेत्,
तस्मान्मार्गात् च्युतो भवेदित्यर्थः ॥ २२ ॥
पितृपादाब्जकृपया विवृतोऽस्ति यथामति । संन्यासनिर्णयस्तेन प्रसीदन्तु मयीश्वराः ॥१॥
भक्तिमार्गे पुमर्था ये सिद्धास्ते सर्वथा मधि । तैरेव च कृतार्थोऽहमिति मे सुदृढा मतिः ॥२॥
इति श्रीमत्प्रभुचरणैककथनेन श्रीबल्लभेन विरचितं
संन्यासनिर्णयविवरणं सम्पूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीमद्रघुनाथविरचितविवरणसमेतः ।

विठ्ठलेशपदाम्भोजं भक्त्या नत्वा विचार्यते ।

आचार्यप्रोक्तसंन्यासनिर्णये तत्प्रसादतः ॥ १ ॥

अथ कर्ममार्गैकनिष्ठानां भगवत्प्राप्तिलक्षणमुख्यफलासम्बन्धात्केशनैरन्तर्यदर्शनेन
जारुटेपि तत्केशजनितग्लान्यभावाच्च कदाचित्सङ्गवशाद्भगवदीया अप्येवंविधा मा भूवन्नित्ये-
तदर्थमादावेव सुखोपायं संन्यासं निरूपयन्ति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

शरीरादिवैकल्ये जाते पूर्वदशां स्मृत्वा मया तदानीमेव भगवदर्थं किमिति न यत्त-
मितीदृशो यस्तापः स पश्चात्तापः । भगवत्तद्भक्तातिरिक्तविषयाणां परितः सर्वतो बाह्याभ्य-
न्तरादित्येन यस्त्यागः स परित्याग इत्युच्यते । स पूर्वोक्तपरित्यागो मार्गद्वये कर्तव्यत्वे-
नोपदिष्ट इत्यर्थः ॥ १ ॥

तृतीयमार्गस्यापि सत्त्वात्त्रापि कथं नेत्यत आह कर्ममार्ग इति ।

कर्ममार्गं न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत्र आरदौ भक्तिमार्गं कर्तव्यत्वाद्धिच्यारण्य ॥ २ ॥

अत्र कर्ममार्गपदेन सकामान्तःकरणस्य संन्यासनिषेधो बोध्यते । अन्यथा प्रवृत्ति-
मार्गं संन्यासविधायकवाक्याश्रवणादेवाकरणे सिद्धे तन्निषेधो नोपपद्येत । प्राप्तिपूर्वकस्वाग्नि-
पेथस्य । युगान्तरे तु शरीरशोषणप्रतादिनाप्यन्तःकरणस्य विषयपराश्रुसुतोपपद्यते । कलौ तु
तत्साधनप्रतादिकर्मणां साद्गुण्याभावाद्यथोक्तफलानर्हत्वेन संन्यासानुपयुक्तत्वात्सुतरां न
कार्यं इत्यर्थः । तदेवं मार्गद्वय एव कर्तव्यत्वेन प्राप्ती ज्ञानापेक्षया भक्तेरभ्यर्हितत्वात्प्रथमं
भक्तिमार्गं कथं कर्तव्यं इत्येतादृशी विचारणा कियत इत्यर्थः ॥ २ ॥

श्रवणादिप्रभृत्पर्यं कर्तव्यञ्चेत्स नेष्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥

श्रवणादीति । वैयर्थ्याभावपूर्वकं भक्तिसाधनश्रवणादिषु प्रभृत्पर्यं सन्यासश्चेत्के-
तव्यस्तदा स एवंविधः इह भक्तिमार्गे न स्वीक्रियत इत्यर्थः । ननु श्रवणादिसाधनानां
भक्त्यनुकूलत्वाद्भक्तिसाधनश्रवणादिसम्पत्त्यर्थं संन्यासः कुतो नेष्यत आह सहा-
यसङ्गसाध्यत्वादिति । भगवत्तत्त्व जिज्ञासोरेकाकिनः श्रवणादेः सहायस्य सङ्गः
सम्पत्तिस्तत्साध्यत्वात् । नहि श्रावयितारं विना श्रवणं सम्भवति । नच श्रुतस्यापि
ग्रन्थपर्यालोचनगुरूपसत्यादिना विना स्वैर्यम्, अतस्तदंशस्य त्यक्तस्यापि पुनः स्वीकारे
धान्ताशित्वमेव । इदमेकं बाधकम् । अपरमाह साधनानामिति । अल्पकालपर्यन्तं
श्रवणादिसाधनमादरणीयमित्यपि नास्ति, यतो यावज्जीवमपक्वकपायैर्योगिभिः साधनानि
रक्ष्यन्त एव । इदं द्वितीयम् ॥ ३ ॥

अभिमानादिति ।

अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

विनिदिपादशायां सर्वथा कामक्रोधाद्यनपगमाद्ग्रन्थादिपक्षपातेन प्रतिवादिनिरा-
करणाय यन्नोपि सम्भाव्यते, तादृशश्चाभिमानकृतः सन्यासे कृतेऽल्पोपि नोचित इत्यर्थः ।
इदं तृतीयम् । नियोगादिति । गुर्वाज्ञा नियोगः । तदकरणे प्रत्यवायः, तत्करणे व्यासङ्गः,
तथा सति नेष्टसिद्धिरिति भावः । इदं चतुर्थम् । तद्धर्मैरिति । सन्यासे सर्वत्यागस्य मुख्य-
त्वात् श्रवणादीनां ग्रन्थादिस्वीकारसाध्यत्वात् परस्पर धर्मैर्विरोधाद्भक्तिमार्गेऽन्यशेषत्वेन
सन्यासो न प्रशस्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

भगवद्भगीचरणे अनर्थैरिह गृहादीनां बाधकत्वात् प्रतिबन्धापगमाय सन्यासो यदि
कर्तव्यस्तदापि बाधकत्वमाह अग्रेपीति ।

अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।

स्वयं च विषयाक्रान्तः पापण्डी स्यात्स कामतः ॥ ५ ॥

गृहादिसङ्गाभावाय सन्यासे कृतेपि तदनन्तरं तादृशैः पूर्वोक्तसहायादिभिरेव
सङ्गो भवति । अन्तःकरणस्य सर्वोशे भगवत्परत्वाभावात् । नान्यथा । (न) भगवदेकपर-
तेत्यर्थः । ननु भगवदर्थत्वेनैवमपि क्रियमाणे फल भविष्यत्येवेति चेत्तत्राह स्वयं चेति ।
भक्तिमार्गविरुद्धमिदमिति ज्ञात्वापि यः संन्यसेत्, स विषयवासनावलितान्तःकरणत्वेन
भगवद्रसाननुभवनात्यक्तविषयेष्वेवामिनिवेशेत् । स कामतः कामित्वाद्धिषयाक्रान्तः

१ वैराग्यभावपूर्वकमिति पाठ । २ कर्तव्यत्वेन प्रार्थी ज्ञानविषया भक्तिमार्गे न स्वीक्रियत इति पाठ ।

३ अत्र धर्मैरिति पाठ । ४ असाध्यत्वमिति पाठ ।

पापण्डी च भवेत् । धर्मध्वजित्वात् । दृढतरवैराग्याभावे तादृशधर्माचरणं निष्फलमेव । तदुक्तं भगवता 'दुःखमित्येव यत्कर्म कायद्वैशमयाच्यजेत् । स कृत्वा राजसं त्याग नैव त्यागफलं लभेत्' । अन्यदपि, 'कर्मैन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रिया-
र्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते' इति ॥ ५ ॥

नन्वेतादृशानामपि कदाचिन्महता कालेन फलं भविष्यत्येवेति चेत्तत्राह विषया-
क्रान्तेति ।

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुग्रावहः ॥ ६ ॥

विषयाभिनिविष्टान्त-करणानां हरेरावेशः चित्ते हरिस्वरूपस्थितिर्न भवतीति शेषः । तत्रै सर्वदा, न कालनैयत्येन । अत इति । यतः पूर्वोक्तानां दोषाणां सम्भवः अतः कारणादत्र अस्मिन्विचारे, भक्तौ भक्तिमार्गं, साधन इति निमित्तासप्तमी । तेन साधन-
सम्पत्त्यर्थं यः परित्यागः स सुख नावहति, न करोतीत्यर्थः । न केवल सुखाभावः, किन्तु दुःखमपि इति भावः ॥ ६ ॥

तर्हि किं लिप्सुः प्रवर्ततेत्यपेक्षायामाह चिरहेति ।

चिरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयवन्धनिवृत्त्यर्थं वेपः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

'तन्मनस्कास्तदात्पा' इत्यादिषु प्रसिद्धो यो व्रजसुन्दरीणां श्रीकृष्णाङ्गसङ्गवियोग-
कालीनो भावविशेषः कथनानिर्वचनीयः अनुभवैकवेद्यो यः सोऽत्र चिरहृपदेनोच्यते, तस्मानुभवः साक्षात्कारः, तदर्थं तु संन्यासो भक्तिमार्गीयः प्रशस्त इत्यर्थः । उक्तमपि पुनः शिक्षार्थमाहुः स्वीयेति । स्वस वन्धो वन्धनहेतुर्गृहादिः, तन्मात्रैकनिवृत्त्यर्थं चेत्संन्यासः, तदा सोऽत्र भक्तिमार्गं वन्ध एव ज्ञेयः, तस्य स्वमार्गीययोक्तफलासम्पादकत्वात् । नान्यथा । वन्धातिरिक्तफलासम्पादक इत्यर्थः । अत्र चेदिति पदमध्याहार्यम् ॥ ७ ॥

नन्वाचार्यवान् पुरुषो वेदे'त्यादिवाक्यैर्गुर्वनुग्रहलभ्यत्वं संन्यासादेः श्रूयते, तदुक्त-
साधनाचरणं च । तत्र सर्वं प्रकृते कथं सेत्स्यत इत्यत आह कौण्डिन्यगोपिका इति ।

कौण्डिन्यगोपिकाः प्रोक्ता सुरवः साधनं च तत् ।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिप्यते ॥ ८ ॥

कौण्डिन्यनामा यो महर्षिः । याश्च रासमण्डलान्तर्वर्तिन्यो गोपिकाः । कौण्डिन्यश्च गोपिकाश्चेति द्वन्द्वः । विरहानुभवार्थिसंन्यासे सुरव उपदेष्टार एताः प्रोक्ताः सम्मगुक्ताः । नहि भक्तिमार्गं एतदतिरिक्तस्यान्यस्यैवविधत्वं सम्भवति । यद्यपि तासां साक्षादुपदेष्टृत्वं न दृश्यते, तथापि तदाचरणं श्रुत्वा दृष्ट्वा वा यः प्रवर्तते, त प्रति तादृशालौकिकमार्गप्र-

दर्शकत्वात्तासामेव गुरुत्वं युक्तम् । श्रूयते च भविष्योत्तरे अनन्तव्रतकथायां कौण्डिन्यस्य सर्वत्यागपूर्वकं भगवदेकपरतया स्थितस्य श्रीघ्नमेव तत्प्राप्तिः । तद्यथा 'ततो जगाम कौण्डिन्यो निर्वेदाद्दहनगह्वरम् । अनन्तं मनसा ध्यायन् कदा द्रक्ष्यामि केशवम् । व्रतं निरशनं कृत्वा ब्रह्मचर्यं जपन् हरिम् । विह्वलः प्रययौ सोऽप्यरण्यं जनविवर्जितं' मित्वादि । ब्रजसुन्दरीणां तु 'गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितै' रित्वादिषु स्फुटमेवालौकिकतथाविधत्वम् । यद्यप्ये-
तासां साम्यं कर्तुं मनसाप्यशक्यम्, तथापि त्यागस्येतोधिकस्य सर्वथा अभाव एवान्यत्रेति ज्ञापनार्थम् । एतादृशसर्वात्मभावपूर्वकान्यविषयपरित्यागे इष्टिति भगवत्प्राप्तिरिति भावः । साधनं च प्रोक्तमित्यर्थः । किं तत्साधनमित्यपेक्षायामाह । तनोति स्वरूपानन्दानुभवं विस्तारयतीति तत् । तादृशो यो यस्य भक्तस्य यादृशी भावना तथा सिद्धः सम्पन्नो भावविशेषः स एव साधनस्थानीयः । एतदतिरिक्तस्यान्यस्य यागादेः साधनत्वं नेष्यत इत्यर्थः । यद्वा तद्गुरुत्वेनोक्तं यत्तत्साधनम् ॥ ८ ॥

एवंविधसंन्यासवतः प्रवृत्तिवैलक्षण्यमन्यापेक्षया ज्ञानादिभिरप्रतीकार्यत्वं चाहुः विकलत्वमिति ।

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

उद्देश्यवस्त्वप्राप्तिदशायां चिन्ताबाहुल्याद्विकलत्वं विक्षिप्तचित्तत्वम् । तथैचा-
स्वास्थ्यं शरीरे तदलाभे वैवर्ण्यपाण्डुरत्वादि । एतद्वयमपि प्रकृतिः स्वभावान्तःपालेव,
नौपाधिकम् । तादृशावस्थस्य उपायान्तराप्रतीकार्यदुःखत्वमाह प्राकृतमिति । भगवद्गी-
लौपिकस्वरूपज्ञानापेक्ष्यान्यद्यच्छास्त्रजन्यमल्पसारं ज्ञानं तदत्र प्राकृतमुच्यते । गुणा-
श्चाग्निमाद्यैश्वर्यादियोगसिद्धयः । तदिदं सर्वमप्येवं वर्तमानस्यैतादृशावस्थस्य न हि बा-
धकाः, न समीहितान्तरायहेतवो भवन्तीत्यर्थः । एवंदशापन्नस्य शास्त्रीयं माहात्म्यादि-
बोधकं ज्ञानं न तच्छोकनिवर्तकम् । यत्र सर्वसम्मतस्वास्थ्यहेतुज्ञानसाप्यप्रयोजकत्वम्,
तत्र किं वाच्यमैश्वर्यादीनामिति भावः । प्रकृतेरिति पाठे वैकल्यं विपर्यासः । अन्यत्
समानम् ॥ ९ ॥

ज्ञानमार्गीयसंन्यासापेक्षया यथा भक्तिमार्गीयस्य संन्यासस्योत्तमसाधनत्वं तथैव
तत्फलसापीत्याहुः सत्यलोक इति ।

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषतः ।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

सत्यलोको ब्रह्मलोकः । तत्र ज्ञानात् संन्यासाश्रमरहितकेवलज्ञानादपि स्थितिर्भ-
वति । संन्यासेन सहिता तु विशेषतः पुनरावृत्तिरहितेत्यर्थः । तथा च नारायणे श्रूयते
'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितायोः संन्यासयोगायतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले

परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे' इति । भक्तिमार्गायमाह भावनेति । यत्र यस्मिन् फले भावनेव साधनं भवति तत्र फलमपि तथा भावनानुरूपमेव भवेत् । यथा प्रथमं लोकप्राप्तिसाधनानां फलत्वात्फलसम्पादकत्वम्, न पूर्णस्य, एव भजनानामनन्तरमात् फलस्वाप्नानन्वयमिति भावः । अत एवाचार्यैरुक्तम् 'प्राकृता सकला देवा गणितानन्दकं युहत् । पूर्णानन्दो हरिस्त्रिस्मात्सृष्ट्य एव गतिर्मेमे'ति । भगवच्चिन्तनपरस्य ब्रह्मलोको नानुरूप फलमिति तु श्रीविष्णुपुराणे श्रूयते । तथा, 'यस्मिन् न्यस्तमतिर्न याति नरकं स्वर्गोपि यच्चिन्तने निभो यत्र निवेशितात्ममनसो ब्राह्मोपि लोकोऽल्पकः । मुक्तिं चेतसि यः स्थितोऽमलधिया पुसा ददात्यप्ययं किं चित्रं यदप्ययाति निलयं तत्रानुभवे कीर्तितं' इति ॥ १० ॥

तादृशः इति ।

तादृशः सत्यलोकादीं तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

यत्त्रिंशत् प्रकटः स्वात्मा बहिर्वत् प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

किं प्रत्ययान्तस्य बहुवचनम् तादृश इति ज्ञेयम् । ये केवलज्ञानमार्गायास्ते सत्यलोकादाद्येव तिष्ठन्ति, नतु पुरुषोत्तमे, भक्तिमार्गानन्तं पातित्वात् । आदिपदेन सकर्षणादिस्थानं ज्ञेयम् । यद्यपि 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते' इति वाक्याद्ब्रह्मलोकादप्यग्रे गतिस्त्रयस्थानां श्रूयते, तथापि भजनानन्दाननुभवादेतदपेक्षया तुच्छत्वमेवेति भावः । तर्हि ब्रह्मलोकस्थानामपि बुद्धो न भजनानन्दानुभवं ? भवनीयस्वरूपस्यात् प्रवेशाभावात् दित्वाह बहिश्च प्रकट इति । आकाशवदन्तर्बहिश्च प्रकटं सिद्धोपि स्वात्मा भगवानन्तं स्थितोपि बहिः प्रकटीभूय स्वलीलाभिनिविष्टचित्तेषु यदैव प्रविशेत्तत्रैवान्तर्हितो भवेत्, तदैव सकलो बन्धो गृह्यादिर्नाशमेति, तिरस्कृतं भवति, न त्वन्येनापि प्रकारेणेत्यर्थः । अत एवोक्तम् 'प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयते'ति । यथा शुष्ककाष्ठस्थितो बहिः शीतशतनासमर्थः, स एव मन्यनादिना बहिर्भूतो ज्वालादिरूपेण तत्रैव काष्ठं प्रविष्टं काष्ठं स्वात्मसात्कृत्वा शीतं निवर्तयति, एव बहिः स्थितगानन्दघनस्वरूपमपि भक्तभावनाभावितं यावत् पुनः प्रविशति, तावत् तत्स्वरूपप्राप्तिरिति भावः । ज्ञानमार्गायाणां तद्बन्धलेशाभावात् तन्प्राप्तिशङ्कापि ॥ ११ ॥

नतु विरहावस्थायां किमवलम्ब्य न जीवनमित्यत आह गुणास्तित्यति ।

गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनाय भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवत्सङ्गस्य राहित्यात् । अत्र त्यज्योपपन्नमी । तेन सङ्गराहित्यं प्राप्य स्थिते सति गुणान्तस्तेवानुक्रियमाणा लीलात्मदीयगुणानुवादे वा । तदुक्तम् 'तव कथासृत् तस्यजीवन'मिति । त एव जीवनाय भवति । हिशब्दं प्रासङ्गिकं ॥ १२ ॥

भगवानिति ।

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

अत्रास्मिन् जीवने अन्तर्हितो भगवानेव बाधकश्चेत्सोपि फलरूपत्वान्नैवंविधो भवतीत्यर्थः । ननु गुणानां जीवनहेतुत्वोक्तावपि यावन्न दृग्गोचरत्वं स्वरूपस भवेत्, तावत्तापापायोपि नेति तदर्थं स्वास्थ्यजनकं प्रकारान्तरेण बोधकवाक्यं कर्तव्यं चेत्तत्राह स्वास्थ्यवाक्यमिति । न कर्तव्यं न स्वयमन्यस्माच्छ्रोतव्यम् । न चान्यस्मै श्राव्यमित्यर्थः । तथाच स्वास्थ्यं भगवानेव करिष्यतीत्याह दयालुरिति । यतो निरुपधिपरदुःखप्रहाणेच्छुः, अतो भक्तानामेतादृगवस्थां ज्ञात्वा विलम्बं न करिष्यति, अतो न विरुध्यते, न प्रतिकूलमाचरिष्यति । प्रत्युत परोक्षभजनानन्ददानेपि भक्तकृत्यं प्रति स्वस ऋणित्वमेवाङ्गीकरोति । तच्च भगवतैवोक्तम् 'न पारयेहं निरवद्यसंयुजा'मित्यादि । एवविधानां स्वास्थ्यवाक्यसहसैरपि नेष्टसिद्धिरिति परमार्थः ॥ १३ ॥

दुर्लभोद्यमिति ।

दुर्लभोद्यं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।

अयं भक्तिमार्गीयो यः परित्यागः स प्रेम्णा निरुपधिल्लेहदेव सिध्यति, अतो दुर्लभः, अन्यैः साधारणैः कर्तुमशक्य इत्यर्थः ॥ १३ ॥

भक्तिमार्गीयं निरूप्य ज्ञानमार्गीयमाह ज्ञानमार्ग इति ।

ज्ञानमार्गं तु संन्यासो छिविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पापण्डित्यं भवेत्वापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः ।

विचारोत्रोपपत्तित्वस्मादित्यर्थः । स द्विप्रकारकोऽपि ज्ञेयः । अपिशब्दोऽत्र गर्हायाम् । द्वैविध्यमाह ज्ञानार्थमिति । ज्ञानोत्पत्त्यर्थमेकः । उत्तरस्य मोक्षस्याङ्गं तदर्थमिति यावत् । यद्यपि ज्ञानार्थस्यापि मोक्षाङ्गत्वमेव, तथापि प्रयोजनवशाद्द्वैविध्यम् । अन्यथा कर्मणोपि द्वैविध्यं न स्यात् । परन्तु भाष्यामपि जन्मशतैर्बहुजन्मभिरभ्यासेन सिद्धिर्मोक्षो भवति । न भक्तिमार्गीयवद्भटिति । अत एव भगवताप्युक्तम् 'बहुनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । यासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ' इति । व्यवहारेपि विद्वत्संन्यासो विविदिपासंन्यास इति श्रूयते द्वैविध्यम् । भक्तिं विहाय केवलज्ञानार्थमेव यः संन्यासः स दोषप्रसूतवान्न कर्तव्य इत्याहुः ज्ञानं चेति । चकारान्मोक्षोपि साधनसापेक्ष एव । तत्र हेतुः ।

यज्ञादिश्रवणात् । यज्ञादिकं साधनत्वेन धृत इत्यर्थः । इदं तु गीतायाम् 'द्रव्य-
यज्ञास्तपोयज्ञा' इत्यादिषु स्पष्टम् । यज्ञादीनां साहानामेव फलमम्पादनक्षमत्वात्, तथ
कली सर्वधैव न सम्भवतीत्यतस्तत्करणं पश्चात्फलदशायां तापाधैव, न सुराया । पूर्वोक्त-
धर्मेष्वजित्वेन पापण्डित्वमेव म्यात् । अपिशन्द्रादग्रेपि फलाभावः । अत एव श्रीमद्भाग-
वते 'श्रेयःशुक्तिं भक्तिमुदसे' त्यादिनोक्तम् । यत एवंप्रकरणे पश्चात्तापः फलासम्बन्धः ।
तस्मात् ज्ञाने न, ज्ञानमार्गे न संन्यमेत्, कली साधनफलस्याल्पत्वात्कालकृतदोषाणां
प्राप्त्यास्युतरामेव न कार्ये इति वस्तुस्थितिरित्यर्थः ॥ १४, १५, १६ ॥

एवं भक्तिमार्गेपि दोषमाशङ्का समाधत्ते भक्तिमार्गंपीति ।

भक्तिमार्गंपि चेदोपस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अध्वारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावात् ।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्वाधः केनास्य सम्भवत् ॥ १८ ॥

हरिरन्न न शक्नोति कर्तुं पाषां कुतोऽपरं ।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः फचित् ॥ १९ ॥

अध्वारम्भ इति । अस्मिन्भक्तिमार्गीयसंन्याससोपक्रममात्रेपि कृते न नाशः, न
कृतोपक्रमवैयर्थ्यं, नापि निश्चो भवेत्, नापि प्रत्यवायः । तदुक्तं मगवता 'नेहामिक्रम-
नाशोस्ति प्रत्यवायो न विद्यते । स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य प्रायते महतो भयादिति, श्रीभागवतेपि
'तथा न ते माधव तावकाः क्वचिदित्यादिना । क्रिय, पूर्वमेवं चिकीर्षोः कस्यचिदन्यथाभाव
इत्यर्थे सर्वसम्मतदृष्टान्तस्याप्यभावात्, अतो ज्ञानमार्गीयवदप्रत्यस्य न पातादिशङ्केत्यर्थः ।
भक्तिरहितज्ञानमार्गीयस्य तु पातः धृत्ये श्रीभागवते 'येऽन्येऽरिन्द्राक्ष विमुक्तमानिनस्त्व-
प्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः । आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोनादृत्युष्मदङ्गय'इति ।
किञ्च, असिद्धस्य स्वास्थ्यहेतोस्तुच्छविपपादेः परितः सर्वतस्त्यागादेव न वाधः सम्भवति ।
अन्तर्बद्धिः सिद्धविपयस्य तु खेदफलत्वादेव न तत्सम्भव इत्यर्थः । यदि तदेकाश्रिताना-
मपि तस्मादेव वाधः स्यात्तदा मानुमात्रैकजीवनान् बालान्मातरोपि न फचित्युपुषुर्न
स्तन्यैः पुष्पीयुः, पुष्टाः न कुर्वुः, प्रत्युत्तानिष्ठं च कुर्वुः, न त्वेवं कुञ्चिदस्तीत्यतो न वाध-
शङ्कालेशोपीति भावः ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

अल्पज्ञं प्रत्याहुः ज्ञानिनामिति ।

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

ज्ञानमार्गप्रशंसावाक्यैरपि तद्द्वारा स्वभजने प्रवृत्तं न मोहं प्रापयिष्यति । इदमुत्कृष्ट-
भिर्द वेत्तेवंविधम् । ननु कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्य स्वतत्रस्य कदाचिदेवमपि करणं

सादिति चेतत्राह आत्मप्रद इति । स्वस्वरूपं भक्त्यो दत्तवान्, तदधीनत्वेन स्थापित-
वान्, यश्च स्वात्मत्वेन प्रियश्च । अत एवोक्तम् 'प्रेषो भवांस्तनुभृतां किल घन्दुरात्मे'ति ।
अपिशब्दादेवमजानतामभक्तानामप्रियश्च । चकारात् स्वस्य भक्तस्य कृत्यनुबुभूषुत्वमपि ।
एतादृशसापि मोहकत्वे न किञ्चित्कारणमस्तीत्यर्थः ॥ २० ॥

उपसंहरन्ति तस्मादिति ।

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

उक्तप्रकारेण भक्तिमार्गे स्थित्वा विरहानुभवार्यमेव क्रियताम्, अन्यथा इमं
प्रकारान्तरं त्यक्त्वा प्रकारान्तरेण तदाचरणे स्वार्थात् स्वस्मिन्नेवाध्यते अन्विष्यत इति
स्वार्थो भगवान् तस्मान्भ्रश्यते दूरे पततीत्यर्थः । इति एवंप्रकारिका मे निश्चिता
बुद्धिरित्यर्थः । यद्वा, स्वार्थात् समीहितफलादित्यर्थः ॥ २१ ॥

इति कृष्णप्रसादेन बल्लभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासचरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इतीति । कृष्णः प्रसाद्यते येन, कृष्णस्य प्रसादोन्येषां यस्मादिति वा । तत्प्रसाद-
रूप एवेति वा । ईदृशेन बल्लभेन भक्तौ भक्तिमार्गे संन्यासस्य वरणं चरतीति स्वीकर-
णम् । इति उक्तप्रकारेण विशेषतो निश्चितं निर्धारितम् । भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्यैदं विहाया-
न्यथा अन्येन ज्ञानमार्गाद्युक्तप्रकारेण स्वीकरणे पातित्यमेवेत्यर्थः ॥ २२ ॥

आचार्यचरणाम्भोजरजोरञ्जितवागहम् ॥

कृतवान् भक्तिसंन्यासविचारे सुविचारणाम् ॥ १ ॥

कर्मणा मनसा वाचा प्राणैर्दार्ढ्यैरपि ॥

विद्वलेश त्वदीयोऽसि नान्यथा ज्ञातुमर्हसि ॥ २ ॥

इतिश्रीबल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथकृतौ
संन्यासनिर्णयविवरणं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीगोकुलोत्सवविरचितविवरणसमेतः ।

यत्पदान्जरसास्वादविस्मृतान्यसुखा मुहु ।

रमन्ते तद्गुणालापेस्त वन्दे गोकुलेश्वरम् ॥ १ ॥

अथ सकलश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायादिप्रमाणसम्मत्या भगवदानन्दानुभव एव सर्वेषां परमफलम् । तत्रापि भजनानन्दानुभव श्रीगोपीजनवल्लभाय । तथाहि । 'रसो वै स' इत्यादिभ्यो भगवान् रसरूप । रसश्च शृणार । स च सयोगविप्रयोगमेदेन द्विविध । तेन तद्गुणभवात्कमलभगवदानन्दानुभव एव परमफलम् । स च लीलादृष्टौ प्रवेशे सति सम्भवति । तत् पूर्वदशायां तु सयोगाभावात् सर्वपरित्यागपूर्वक विप्रयोगभावानुभव एव परमफलम् । सर्वपरित्याग विना लौकिकाशस्य सत्त्वादव्यग्रतया विप्रयोगानुभवासम्भवात् । स च परित्याग कस्मिन् मार्गे कर्तव्य , कदा वा कर्तव्य , कथं वा कर्तव्य , किमर्थं वा कर्तव्य , करणानन्तरं च तस्य कीदृशीं दशेत्येतत्सर्वनिर्धारार्थं विचारप्रयोजनमनुवदन्त एवाचार्याः परित्यागविचारं प्रतिज्ञानते पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेपतः ॥ १ ॥

भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च परित्यागः कर्तव्य , तत्रापि मिद्धदशायामेव , न तु साधनदशायाम् । साधनदशायाभ्यन्तर्वैराग्याभावेन परित्यागानिर्वाहात् पापण्डित्वप्रसङ्गेन कृतोपि परित्याग पश्चात्तापाय भवति । एतावन्तारतम्यज्ञानाभावे भगवदीया अपि पूर्वमेव परित्यक्त सर्वाथी सन्त पश्चात्तापा भवेयुः , तथा तान् दृष्ट्वा स्वयमपि पश्चात्तापा भवेयुः , तथा चान्येषां स्वस्य च पश्चात्तापस्तानाविर्भावार्थं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । यद्वा । सकलदेवजीवानां भगवत्प्राप्त्यर्थं भगवदाज्ञया ह्याचार्याणां भूलोकेऽन्तार । सा भगवत्प्राप्तिश्चाचार्यैर्भक्तिमार्गे प्राकृत्येन नियते । तत्र यथा सर्वमिद्धान्तमुक्तवन्तस्तथा अन्यग्रतया निरन्तरं विप्रयोगभावात्तुमवार्थं परित्यागोपि पूर्वमेव कथनीय । तथा चैतावत्कालं घृथा विलम्बं घृतं इति य पश्चात्ताप तस्य निवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । अथवा । परित्यागेन पूर्वमहर्निश

विप्रयोगभावानुभवः, तदनन्तरमलौकिकदेहेन संयोगभावानुभवः । तथा च पश्चात् परित्यागान्तरं तापश्च निवृत्तिश्च तापनिवृत्ती, तयोर्निमित्तं परित्यागो निवार्यत इत्यर्थः । तेनोभयप्रकारकभगवद्भावानुभवे आचार्योद्यम एव हेतुरिति सूचितम् । यत्र 'विरहानुभवैकार्थसर्वत्यागोपदेशक' इति सर्वोत्तमे उक्तम् । तदव्यवधाननिवक्षया सवासन इति परिशब्दार्थः । ननु परित्यागः कस्मिन्मार्गे कर्तव्य इति चेत् ? तत्राहुः स मार्गद्वितये प्रोक्त इति । विशेष आधिपत्यम्, तेन सिद्धदशा विशेषः । विशेषतः इति ल्यब्लोपे पञ्चमी । तथा च भक्तौ ज्ञाने च विशेषं सिद्धदशां प्राप्य मार्गद्वितये भक्तिमार्गं ज्ञानमार्गं च स परित्यागः प्रकर्षेण उक्तः, कर्तव्यत्वेन कथित इत्यर्थः ॥ १ ॥

कर्ममार्गं न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गं कर्तव्यत्वादिचाराणां ॥ २ ॥

अथ कर्ममार्गं साधनदशायां ज्ञानमार्गं उपासनामार्गं साधनदशायां भक्तिमार्गं च परित्यागः पश्चात्तापायेति तन्निवृत्त्यर्थं परित्यागस्य विचारः कियते । विशेषतः विशेषं प्राप्य । स च सिद्धदशा उभयोः । यद्वा, बहुजन्मसु परित्यागः कर्तव्य इति आवृत्तिचाहुत्यमेव विशेष इति ज्ञानमार्गं एव विशेषत इत्यन्वेति । निष्कामतया कर्मकरणं चित्तशुद्ध्यर्थम्, कर्ममार्गं पत्नीं विना च यज्ञादिकरणमसम्भवीति न परित्यागः सम्भवति । पत्नीसाहित्येपि निष्कामतया कर्माचरणं सन्यास एवेति चेत् सोपि कलौ देशादिशुद्ध्यभावान्न सम्भवतीत्याहुः सुतरां कलिकालत इति । यद्वा । आयुपश्चतुर्थभागे संन्यास इति यन्मतं तस्मिन्नपि मते भक्तिं ज्ञानं च विना केवलं कर्ममार्गं विरक्तिं विना न कर्तव्यः परित्यागः किन्तु विरक्तावेवेति भक्तेर्ज्ञानस्य वा सिद्धदशां विना न सम्भवतीति कर्ममार्गं न परित्यागः, सुतरां कलिकाले ॥ २ ॥

श्रवणादिप्रसिद्धार्थं कर्तव्यश्चेत्स नेष्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्गमैश्च विरोधतः ।

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।

विपयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रदास्यते ।

स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेपः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

श्रवणादीनां निरन्तरमव्यग्रतया सिद्ध्यर्थं यदि स नेष्यते भावोद्बोधकत्वान्नगव-

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीगोकुलोत्सवविरचितविवरणसमेतः ।

यत्पदान्जरसान्खादविस्मृतान्यसुखा मुहु ।

रन्ते तद्गुणाटापेस्व वन्दे गोकुलेश्वरम् ॥ १ ॥

अथ सकलश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायादिप्रमाणसम्मत्या भगवदानन्दानुभव एव सर्वेषां परमफलम् । तत्रापि भजनानन्दानुभव श्रीगोपीजनवल्लभस्य । तथाहि । 'रसो वै स' इत्यादिभ्यो भगवान् रसरूप । रसश्च शृंगार । स च सयोगविप्रयोगभेदेन द्विविध । तेन तदुभयभावात्मकभगवदानन्दानुभव एव परमफलम् । स च लीलाष्टौ प्रवेशे सति सम्भवति । तत् पूर्वदशाया तु सयोगाभावात् सर्वपरित्यागपूर्वकं विप्रयोगभावानुभव एव परमफलम् । सर्वपरित्यागं विना लौकिकाशस्य सत्त्वाद्व्यग्रतया निप्रयोगानुभवासम्भवात् । स च परित्यागं कस्मिन् मार्गे कर्तव्यं, कदा वा कर्तव्यं, कथं वा कर्तव्यं, किमर्थं वा कर्तव्यं, करणानन्तरं च तस्य कीदृशी दशेत्येतत्सर्वनिर्धारार्थं निचारप्रयोजनमनुवदन्त एवाचार्याः परित्यागविचारं प्रतिजानन्ते पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च परित्यागः कर्तव्यः, तत्रापि सिद्धदशायामेव, न तु साधनदशायाम् । साधनदशायामत्यन्तवैराग्याभावेन परित्यागानिर्वाहात् पापण्डित्वप्रसङ्गेन कृतोऽपि परित्यागः पश्चात्तापाय भवति । एतान्तरतम्यज्ञानाभावे भगवद्दीया अपि पूर्वमेव परित्यक्तसर्वार्थाः सन्तः पश्चात्तप्ता भवेयुः, तथा तान् दृष्ट्वा स्वयमपि पश्चात्तप्ता भवेयुः, तथा चान्येषां स्वस्य च पश्चात्तापस्याननिर्भावार्थं परित्यागो निचार्यत इत्यर्थः । यद्वा । सकलद्वैवजीवानां भगवत्प्राप्त्यर्थं भगवदाज्ञया ह्याचार्याणां भूयैकेऽन्तरः । सा भगवत्प्राप्तिश्चाचार्यैर्भक्तिमार्गं प्राकट्येन नियते । तत्र यथा सर्वसिद्धान्तमुक्तयन्तस्याथा अन्यग्रतया निरन्तरं विप्रयोगभावात्तुभवार्थं परित्यागोऽपि पूर्वमेव कथनीयः । तथा चैतावत्कालं वृथा विलम्बं कृतं इति यः पश्चात्तापं तस्य निवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । अथवा । परित्यागेन पूर्वमहर्निशं

विप्रयोगभावानुभवः, तदनन्तरमलौकिकदेहेन संयोगभावानुभवः । तथा च पश्चात् परित्याग-
नन्तरं तापश्च निवृत्तिश्च तापनिवृत्ती, तयोर्निमित्तं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । तेनोभय-
प्रकारकभगवद्भावानुभवे आचार्योद्यम एव हेतुरिति सूचितम् । यच्च 'विरहानुभवैकार्यसर्व-
त्यागोपदेशक' इति सर्वोत्तमे उक्तम् । तदव्यवधानविवक्षया सवासन इति परिशब्दार्थः ।
ननु परित्यागः कस्मिन्मार्गे कर्तव्य इति चेत् ? तत्राहुः स मार्गद्वितये प्रोक्त इति ।
विशेष आधिक्यम्, तेन सिद्धदशा विशेषः । विशेषतः इति त्यक्त्वोपे पञ्चमी । तथा च
भक्तौ ज्ञाने च विशेषं सिद्धदशां प्राप्य मार्गद्वितये भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च स परि-
त्यागः प्रकर्षेण उक्तः, कर्तव्यत्वेन कथित इत्यर्थः ॥ १ ॥

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥ २ ॥

अथ कर्ममार्गे साधनदशायां ज्ञानमार्गे उपासनामार्गे साधनदशायां भक्तिमार्गे
च परित्यागः पश्चात्तापायेति तन्निवृत्त्यर्थं परित्यागस्य विचारः क्रियते । विशेषतः विशेषं
प्राप्य । स च सिद्धदशा उभयोः । यद्वा, बहुजन्मसु परित्यागः कर्तव्य इति आवृत्ति-
षाहुल्यमेव विशेष इति ज्ञानमार्गे एव विशेषत इत्यन्वेति । निष्कामतया कर्मकरणं चित्त-
शुद्ध्यर्थम्, कर्ममार्गे पत्नीं विना च यज्ञादिकरणमसम्भवीति न परित्यागः सम्भवति । पत्नी-
साहित्येपि निष्कामतया कर्माचरणं संन्यास एवेति चेत् सोपि कलौ देशादिशुद्धभावान्न
सम्भवतीत्याहुः सुतरां कलिकालत इति । यद्वा । आयुपश्चतुर्थभागे संन्यास इति यन्मतं
तस्मिन्नपि मते भक्तिं ज्ञानं च विना केवलं कर्ममार्गे विरक्तिं विना न कर्तव्यः परित्यागः
किन्तु विरक्तावेवेति भक्तेर्ज्ञानस्य वा सिद्धदशां विना न सम्भवतीति कर्ममार्गे न परि-
त्यागः, सुतरां कलिकाले ॥ २ ॥

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत्स नेष्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणान्त् ॥ ३ ॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।

गृहादेश्चाधिकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।

स्वयं च विपयाक्रान्तः पापण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥

विपयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीययन्धनिवृत्त्यर्थं वेपः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

श्रवणादीनां निरन्तरमन्व्यग्रतया सिद्ध्यर्थं यदि स नेष्यते भावोद्बोधकत्वाद्भगव-

दीयाः सहायास्तेषां सगेन श्रवणादयः साधनीयाः । पूजादीना साधनं च रक्ष्यम्, साधन-
दशायां अभिमानश्च विद्यते । 'तात्रत्कर्मिणी'ति वान्यात् साधनदशायां पूर्णविरक्त्यभावा-
द्भेदादिरूपभगवन्नियोगाद्गुणाश्रमधर्मा कर्तव्या एव । संन्यासधर्मं सह श्रवणादीनां निरो-
धोऽपि । गृहे भगवदीयैः सगामात्रात्प्रागः कार्यं इति चेत्तत्राहुः म्यत्र चेति । गृहत्यागे
कदाचित्कुर्यात्सत्सगः सादित्याशया कार्यं इति चेत्तत्राहुः म्यत्र चेति । नियमैरन्त करण
आक्रान्ते सत्सगार्यं तस्योपम एव न भवतीति भावः ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

कौण्डिन्यगोपिकाः प्रोक्ता गुरुवः साधनं च तत् ।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राहृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्वैत्र न संशयः ।

बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा बहिवत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

गुणास्तु सद्गुराहित्याज्जीवनाय भवन्ति हि ॥ १२ ॥

कौण्डिन्यादावपि भावनयैव भाव सिद्ध इत्याहुर्भावो भावनयेति । ज्ञानं
ब्रह्मज्ञानम्, गुणा सत्त्वादयश्च, भगवन्निष्ठया यदि भावन्ति तदा ते बाधका । यत्र भावना
साधनं तत्र भावनात्रुरूप फलम् । ननु तादृशस्य ज्ञानं गुणाश्च कथं बाधका भवेयुस्तत्राहु-
र्भावना साधनं यत्रेति । तथा च यादृशी भावना तदनु रूप फलम् । तेन यावत्पर्यन्तं
तल्लीलाभावना तावत्तदनु रूप फलं, यावद् ब्रह्मज्ञानेन सर्वत्र ब्रह्मभावना तावत्तदनु-
रूप फलं, यावच्च सत्त्वादिगुणैः कृत्वा विषयेषु भावना तावत्तदनु रूप फलम् । तथा च
भावभावना साधारण्यात् फलेपि तथात्वम् । बाधकत्वं विवृण्वन्ति तादृश इति ।
ब्रह्मभावनादियुक्ता सत्यलोकादावेव तिष्ठन्तीत्यर्थः । ननु ब्रह्मभावनया किं सादित्यत्
आहुर्बहिरिति । यदि बहिः प्रकाश एव न स्वाद्यदि च पश्चाद्बहिवदन्तर्गं प्रविशेत्तदापि
न ससारलयः । यदि गुणेष्वसक्तिः सात्तदा ते बाधका भवेयुः, परन्तु तादृशानां पूर्वमेव
गुणेष्वसक्तेर्निवृत्तत्वाद्गुणा केवलं जीवनाय भवन्ति, न तु बन्धका । यद्वा । तादृशानां
सर्वत्यागादन्यैः कैश्चिदपि न सद्गं, प्रबुरविप्रयोगे च जीवनमशक्यम् । यदि च भगवदीयै-
सद्गं सात्तदा तद्द्वार्तापि जीवनं स्वात्, भगवत्तश्च तादृशानामपि जीवनमन्येषामुद्धारार्थं
सम्पादनीयं भवति । तदा भगवास्तेषां जीवन्तार्थं प्राकृत्येवपि गुणेषु तेषां मनो यत्किञ्चित्स-

योजयति । नन्वेवं गुणेष्वसत्तयभावादत्यन्तवियोगे जीवनं न स्यात्, तथा च जीवनविधा-
तकत्वेन भगवान् बाधकत्वेनाभिमतः स्यादित्याशंक्याहुर्भगवानिति ।

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३१ ॥

जीवनविधातकत्वेपि प्रतिक्षणं फलरूपभगवद्भावानुभावकत्वान्न बाधकः । न हि तदय-
स्यातो जीवनमधिकमस्ति । यद्वा । ननु यदि भगवांस्तेषां मनो गुणेषु किञ्चित्संयोजितवांस्त-
दोत्तरोत्तरं गुणेष्वधिकसत्तया भगवद्भावस्य विधातः स्यात्, तथा च भावविधातकत्वेन भगवान्
बाधकः स्यादित्याशंक्याहुः भगवानिति । नहि भगवान् भावं विहन्तुं गुणेषु तेषां मनः
संयोजयति, किन्तु तेषां जीवनार्थम् । तथा च यावता तेषां जीवनं भवति तावदेव तेषां मनो
गुणेषु योजयति, न तु गुणेष्वधिकामार्त्तिकं जनयति । कुतः । फलरूपत्वात् । नहि फलं बाधकं
भवति । ननु भगवान् सतोन्यद्वारा तेषां स्वास्थ्यवाक्यान्वेव कथं न सम्पादयति, येन
स्वस्थतया जीवनं भवेत्, तत्राहुः । स्वास्थ्यवाक्यमिति । विप्रयोगभावं बाधित्वा
जीवनसम्पादनमनुचितं यतः । न हीतोपि जीवनमधिकमस्ति, अहं तव्यः । तथा करणं
चाशक्यम् । न ह्येतद्भावस्य बाधनं भगवतान्येन वा कर्तुं शक्यम् । वक्ष्यन्ति च 'हरिरत्र
न शक्नोती'ति । शक्यार्थं तव्यस्तदा । ननु परमदयालुः कथं तेषां जीवने उपेक्षां करोति,
तत्राहुः दयालुरिति । न ह्येतादृशभावसम्पादकस्य दयालुता विरुध्यते ॥ १३, १३१ ॥

ज्ञानमार्गं तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रयणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पापण्डित्वं भवेद्यापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिद्रोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम् ॥ १६३ ॥

ज्ञानमार्गं विविदिपाविद्वत्ताभेदेन द्विविधोपि संन्यासो विचारितः । तद्वयमाहुर्जा-
नार्थमिति । ज्ञानार्थं ज्ञाननिमित्तं यः संन्यासः स एकः, विविदिपासंन्यास इति यावत् ।
उत्तराङ्गं ज्ञानापेक्षया उत्तरं अग्रिमं मुक्तेरङ्गं यः संन्यासः स द्वितीयः, विद्वत्संन्यास इति
यावत् । परन्तु ज्ञानमार्गासंन्यासे बहुजन्मभिर्मुक्तिः, न त्वेकजन्मना । 'बहूनां जन्मनामन्त'
इति भगवद्वाक्यात् । तयोर्मध्ये विविदिपासंन्यासस्तु युगान्तरे कर्तव्यः, न तु कलावित्याहुः
ज्ञानमिति श्लोकेन । तमो रजश्च विहाय केवलसत्वान्तःकरणः सन् निष्कामतया यदि

यज्ञादिकं करोति तदा ज्ञानमुत्पद्यते । संन्यासे च सामग्यभावाद्यज्ञादिकं न सम्भवति । ज्ञाने च यज्ञादिकं सामग्यत्वेन श्रूयते । सर्वं विहाय वनं गत्वा योगादिना ज्ञानसाधनं च कलौ न सम्भवति । विद्यानां बाहुल्येनान्तःकरणे लौकिकवासनानामनिवृत्त्वान्मनः-
 शैर्याभावाद्योगादिकमेव न सिध्यति यतः । अतो विविदिपादशायां संन्यासः कलौ पश्चा-
 त्तापायैव भवति, न तु सन्तोषायैत्यर्थः । किञ्च । चित्तशैर्याभावे सति ततोधिकं पापण्डित्वमपि
 भवेदित्यपिशब्दः । चकारात्कार्यरूपो नरकश्च । तस्मात् ज्ञाने ज्ञाननिमित्तं विविदि-
 पादशायां न संन्यसेत् । अथवा ज्ञानेन हेतुना संन्यसेत्, नतु ज्ञानोत्पत्तेः पूर्वम् । युगा-
 न्तरे सम्भवेदपि, कलौ तु दोषाणामतिप्रचलत्वात् कथमपि न निर्वहतीत्याहुः सुतरामिति ।
 स्थितं पर्यवसन्नम् ॥ १४, १५, १६, १६३ ॥

नतु यदि कलौ दोषाः प्रचला एव, तदा भक्तिमार्गेऽपि कथं फलसिद्धिरित्याशङ्क्य
 भक्तिमार्गे दोषलेशोऽपि नास्तीत्याहुः भक्तिमार्गेऽपीति ।

भक्तिमार्गेऽपि चेदोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्वाघः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं याथां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्माद्गुरुप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भ्रष्टयते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

यदि भक्तिमार्गेऽपि दोषसम्भावना तदा कर्तव्यत्वेन किमुच्यते । एकोऽपि दोषो
 नास्तीति ज्ञापनार्थमेकवचनम् । तमेव दोषाभावप्रकारमाहुः अत्रारम्भ इति । अत्र
 भक्तिमार्गे आरम्भे प्रवेशमात्र एव नाशो न भवति । यदि भक्तिमार्गेऽपि दोषाः स्युः, तदा
 कदाचिन्नाशोऽपि स्यात्, न त्वेवम्, तेन दोषसम्भावनैव नास्ति । नतु भक्तिमार्गायाणामपि
 क्वचित्कामक्रोधादयो दृश्यन्ते, तत्कथं सर्वात्मना दोषाभाव इति चेत् । सत्यम् । (तत्सम्ब-
 न्धज्ञीकारो) भगवदङ्गीकारो हि नित्यः । नहि भगवानङ्गीकृतं कदाचिदप्यनङ्गीकरोति । तेन
 यत्र क्वचिदोषोऽपि दृश्यन्ते, तत्रापि क्रमेण दोषानपसार्य भगवान् फलं सम्पादयत्येव ।
 अतो यथा यथा भगवान् तेषां हृदि भक्तिमार्गमानयति, तथा तथा दोषापगमः । अतो यदशे
 भक्तिमार्गप्रवेशस्तदत्र एव दोषसत्त्वम्, तेन भक्तिमार्गे दोषाणामसम्बन्ध एव । किञ्च । न वा
 क्वचिदिदं दृष्टचरं श्रुतं वा यद्भक्तिमार्गे प्रविष्टस्यापि नाशो जात इति । तेन दृष्टान्त-

स्याप्यभावात् भक्तिमार्गे दोषलेशोऽपि । अत एव भरतस्य जन्मान्तरायेपि फलसिद्धिः । अत एव मथुरास्थसत्रिणां मध्ये वहिर्मुखत्वेपि पश्चात् पश्चात्ताप एव । ननु भक्तिमार्गे नाशो न भवतीति सत्यं, परन्तु यदि भक्तिमार्गं न त्यजेत् । तथा च साधनदशायामत्यागेपि सिद्ध-दशायामत्यन्तविप्रयोगहेतुमसहमानः सन् मनःस्वास्थ्यनिमित्तं तन्मार्गं परित्यज्य लौकिकपदा-र्थमेव यदि किञ्चित्तरिगृह्णीयात्तदा नाशो भवत्येवेति चेत्त्राहुः स्वास्थ्यहेतोरिति । यदैव भगवन्मार्गे प्रवेशस्तदैव लौकिकस्य परित्यागः, तदनन्तरं च यथा यथा भगवद्भाव-स्तथा तथा लौकिकेष्वधिकाधिकैवाऽऽर्चिर्जायते । तथा च लौकिकस्य स्वास्थ्यहेतोः सर्वस्यैव परित्यागात् केन पदार्थेनास्य भगवद्भावस्य बाधः अन्तरायः सम्भवेत्, न केनापीत्यर्थः । यदि कदाचिदत्यन्तं विप्रयोगभावेनातिक्लेशादिदमपि मनस्वायाति यत्कथमपि यययं भावो निवृत्तो भवेत्तदा सम्यगिति तथाप्यशक्यो भावस्य परित्यागः । न ह्येतादृशः क्षण-मपि भगवन्तं विस्मृतुं शक्नोति । न चान्येन पदार्थेनेतादृशस्य मनःस्वास्थ्यं सम्भवति । यद्वा, स्वास्थ्यहेतोः स्वास्थ्यनिमित्तम् । लौकिकं हि सर्वं तस्योद्देगकारीति स्वास्थ्यनिमित्तं सर्वस्य लौकिकस्य परित्यागात् केन पदार्थेन अस्य भावस्यान्तरायो भवेत्, न केनापीत्यर्थः । अथवा । स्वास्थ्यहेतोः स्वास्थ्यनिमित्तं परित्यागात् भगवद्भावस्य परित्यागात् । अयं भावः । भगवद्भावत्यागो हि स्वास्थ्यनिमित्तं कर्तव्यः, तच्चान्येन न सम्भवति । न ह्येतादृशस्या-न्येन स्वास्थ्यं सम्भवति । तथा च केनान्तरायः सम्भवेत्, न केनापीत्यर्थः । वस्तुतस्तु भावत्याग एव न सम्भवतीति पूर्वमुक्तमिति निर्गर्वः । नन्वेतादृशस्य स्वयं भावत्यागो न सम्भव-तीति सत्यम् । परन्तु यदि कालादयः प्रतिघन्थं कुर्युः, तदा नाशो भवेदेवेति चेत्, तत्राहु-र्हरिरिति । अत्र विप्रयोगभावे भगवानपि प्रतिघन्थं कर्तुं न शक्नोति, तत्र के वराकाः कालादय इत्यर्थः । न चैवमसामर्थ्यं भगवतः । वस्तुन एव तथात्वात् । ननु भक्तिमार्गे प्रवेशे सति सर्वथा न सम्भवति नाशः, परन्तु भक्तिमार्गप्रवेशे तु केवलं भगवदङ्गीकार एव मूलम् । नहि भगवदङ्गीकारं विना भक्तिमार्गं रूचिर्भवति । भगवतश्च किं प्रयोजनं येन प्रवेशयेत्, तथा च कथं फलसिद्धिरित्याशङ्क्य भगवान् केवलं कृपयैव प्रवर्तयतीति दृष्टान्तेन बोधयन्ति अन्यथेति । यदि प्रयोजनं विना कोपि न प्रवर्तयेत्, तदैतावत्कालं विश्वस्मिन् यालान् मातरो न पुपुपुरिलेव त्वयोक्तं स्यात् न त्वेवम् । किन्तु पुपुपुरेव । तथा भगवानपि प्रयोजनं विनैव केवलं कृपयैव सर्वं सम्पादयतीत्यर्थः । अग्रे यालानां प्रयोजनसहस्रसाधकत्वेपि मातृणां तद्दुद्देशेन न प्रवृत्तिः, किन्तु केवलं चात्सल्यादेव सर्वं सम्पादयतीत्याशयः । ननु भगवदङ्गीकारात् प्रवृत्तस्यापि यदि ज्ञानमार्गीयैः संसर्गः स्यात्, तदा तद्भ्रान्त्यैर्बुद्धि-विपर्यये कथं फलसिद्धिरिति चेत्, तत्राहुर्ज्ञानिनामपीति । न हि भगवदङ्गीकारमभिभूय तद्भ्रान्त्यानि बुद्धि विपर्ययसहितं शक्नुवन्ति । भगवांश्च यं भक्तिमार्गेऽङ्गीकृतवांस्तं कदापि ज्ञानिवाक्यैर्नान्यथा करोति । सिद्धदशायां तु न सम्भवत्येव, कदाचित्साधनदशायां

सम्भवेदित्याशङ्क्येदमुक्तम् । यद्वा । ज्ञानिनो विविधबुद्धिप्रकारकुशलाः । तेनात्यन्त-
चतुरेणाप्यन्यथा बोधयितुमशक्यो भक्तः । अप्रेषि कदापि मोहं न जनयतीति भविष्य-
त्वयोगः । ननु कथं ज्ञायते भगवान्नेव मोहयिष्यतीति, न ह्युत्तमपदार्थं कोपि कस्मैचिद्दातुं
समीहत इति चेत्, तत्राहुरात्मप्रद इति । यः स्वात्मानमपि प्रयच्छति तस्य सर्व-
फलदाने कः सङ्कोचः । ते न महोदारत्वात् सर्वस्वमपि ददाति, न तु मोहयति ।
प्रियश्च अतः प्रीतिकर्तृभ्यः सर्वस्वदानमुचितमेव । परमकृतज्ञत्वात् निर्णयमाहुस्तस्मा-
दिति । उक्तप्रकारेण सिद्धदशां प्राप्य स्वार्थात् स्वप्रयोजनात् ॥ १७-२१ ॥

उपसंहरन्ति इतीति ।

इति कृष्णप्रसादेन बल्लभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

कृष्णः श्रीगोकुले प्रकटः । नहि तत्प्रसादं विनैतद्भावतत्त्वं ज्ञातुं शक्यम् ।
अत एव तद्बल्लभत्वं स्वस्मिन् नाभ्रैर्बाहुः । संन्यासवरणं सन्यासाङ्गीकारः । भक्तौ
भक्तिमार्गे । यद्यपि ज्ञानमार्गेऽपि संन्यासनिर्णय उक्तः, तथाप्येतद्विचारं मनस्यागते तस्य
पुरुषार्थेष्वेव गणना जायते । अन्यथा सिद्धदशां विना पातः पूर्वसितभावात्
ग्रच्युतिः ॥ २२ ॥

प्रणम्य च प्रभुं टीका गोकुलोत्सवसुरिणा ।

श्रीगोविन्दसुतेनेयं कृता संन्यासनिर्णये ॥ १ ॥

इति श्रीगोवर्धनधारिचरणकमलैकतानश्रीगोकुलोत्सव-
विरचितं संन्यासनिर्णयविवरणं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवरणसमेतः ।

पदारविन्दद्वन्द्वं तद्वन्देऽहं दिव्यमद्भुतम् ।

हृदि यद्धारणात् कोपि तापः प्रादुर्भवत्यलम् ॥ १ ॥

मुदा तत् श्रीमदाचार्यपदान्जं दैन्यदा ॥ २ ॥

मुहुः प्रणम्य संन्यासनिर्णयो विवरिष्यते ॥ २ ॥

तयाहि । यावत्प्रेम यत् सकलं पुष्टिमार्गीयमस्ति तत् ।

तावद्विचारितं तत्र संन्यासो न विचारितः ॥ ३ ॥

इति तत्स्वरूपविज्ञानाभावेनैव कृते सति ।

तस्मिन् स्त्रीयो भवेन्मार्गीय्युतो हीति सुनिश्चितम् ॥ ४ ॥

तदानिष्टं स्वकीयस्य मार्गं स्यादिति चेतसि ।

पश्चात्तापो महान् श्रीमदाचार्याणाममूलतः ॥ ५ ॥

तन्निवृत्त्यर्थमेतस्य विचारोपेक्षितस्ततः ।

हेतुसाधनतथैव फलतश्च स्वरूपतः ॥

अधिकारादपि परस्तादृशः स निरूप्यते ॥ ६ ॥

तत्र प्रथमं स्वमार्गाङ्गीकृतस्य स्वमार्गीयमजने प्रवृत्तस्य भक्तिभावदार्ढ्येनान्तरासक्ति-
सिद्ध्यर्थं श्रीमदाचार्याः परित्यागविचारोपक्रमं कुर्वन्ति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशोपतः ॥ १ ॥

पूर्वपीडिकोक्तपश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमित्यर्थः । अन्यत्स्पष्टम् । विचारमेवाहुः स इति ।
परित्यागः, मार्गद्वितये, भक्तौ पुष्टिमार्गीयायां ज्ञाने च विशोपतः कर्तव्यत्वेन
प्रोक्तो, नान्यमार्गं ॥ १ ॥

ननु यथा भक्तिः ज्ञानं च मार्गौ तथा कर्माणि मार्ग इति तत्रापि स कर्तव्य इति
चेत्, तत्र निषेधमाहुः ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाच्छिष्यारणा ॥ २ ॥

कर्ममार्गे तु न कर्तव्यः । सुतरां कलिकालतः । 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादि'ति श्रुतेः अहर्निशं कर्मविधिकृतेरेवावश्यकत्वात् परित्यागानवसर एव । यद्यप्यासुपश्रुतुर्थो भागस्तुरीयाश्रमेण नेय इति तत्रापि विधिर्भेदे, तथापि सुतरां कलिकालदोषेण रोगादिजराजनितपीडया संन्यासाश्रमधर्मनिर्वाहः कर्तुमशक्य इति विपरीतफलकत्वात् कर्तव्य इति भावः । अतः कारणात् मार्गयोः एव कर्तव्यत्वस्य प्राप्तत्वात् तत्र च स्वोपयोगित्वात् आदौ भक्तिमार्गे तस्य विचारणा विचारकरणम्, तत्र कदा, किमर्थं, कर्तव्यमित्यादिरूपमित्यर्थः ॥ २ ॥

तदेव निरूपयन्ति । यथा ज्ञानमार्गे विविदिषाविद्वेदेन परित्यागस्य द्वैविध्यम्, तथा भक्तिमार्गेऽपि साधनसिद्धयर्थं फलसिद्धयर्थं च कर्तव्यत्वे प्राप्ते तत् द्वैविध्यं संभवतीति, तत्र श्रवणादिनवधामक्तिसाधनार्थं तत्करणे स्वकीयस्य वक्ष्यमाणानिष्टं भविष्यतीति तन्निषेधमाहुः ।

श्रवणादिप्रसिद्धयर्थं कर्तव्यः स च नेष्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥

अभिमानान्नियोगाद्य तद्धर्मैश्च विरोधतः ।

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अग्रेऽपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।

स्वयं च विषयाक्रान्तः पापण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

परित्यागं कृत्वा श्रवणादीन्साधयामीति यदि कर्तव्यस्तदा स परित्यागो नेष्यते नान्नीक्रियते, इहसाधकाभावात् । तत्र हेतूनाहुः । श्रवणादीनां सहायसङ्गसाध्यत्वात्, श्रवणकीर्तनादिकर्तारः भगवद्धर्मपरा अपि मार्गस्वरूपज्ञानात् गृहस्थिता एव । तेषां सङ्गेन साध्यत्वम्, नान्यथा । अस्य तु त्यागानन्तरं 'मैकाकी निस्पृहः शान्त' इत्यादिवाक्यादेकाकित्वेनैव स्थितेरावश्यकत्वात् सत्सङ्गाभावेनैव कृतः श्रवणादिसिद्धिरिति तदर्थं न कर्तव्यमेवेति भावः । क्रिय, कदाचित्तत्सङ्गेऽपि तेषां गृहस्थत्वेन सांसारिकत्वज्ञानात् त्यागिनः तेषु प्रवृत्तिरेव न । प्रवृत्तावपि ते ह्यसाग्रे किमपि न कथयन्ति, यतस्ते मार्गस्वरूपज्ञातारः, अयं तु मार्गाभ्युत् इत्यतस्तदर्थं सर्वथा न कर्तव्य इत्यर्थः । यतः स्वमार्गाभिसङ्गाभावे साधारणसङ्गेन वक्ष्यमाणस्यैव भवेत्, न तु स्वमार्गज्ञानमपि । किञ्च, साधनानां च रक्ष-

पादिति । अहोरात्रिप्रणवप्राणायामादिसाधनविधेरेव रक्षणसावश्यकत्वात् श्रवणादिप्रपञ्चानवसर एवेति । किञ्च, प्रपञ्चत्वसम्भवेपि तस्य साधकत्वाभावमाहुः अभिमानादिति । संन्यासग्रहणानन्तरं तत्त्वमस्यादिवाक्यादात्मनि सोहमित्यभिमानो भवति, भक्तिमार्गं तु समर्पणानन्तरं देहप्राणैन्द्रियादीनां भगवदधीनत्वं भवति, तदा दासत्वान्न ममेत्यभिमान इति । स्वधर्मं विहाय स्वकीयस्य श्रवणार्थं परधर्मरूपत्यागकरणे द्रष्टव्यभावः, प्रत्युत विपरीत-फलमपि भवेदिति स न कर्तव्य इति भावः । किञ्च, नियोगादिति । स्वमार्गाङ्गीकृत-सान्यत्र विनियोगः सर्वथा ह्यनुचितः । त्यागानन्तरं विहितत्यागसाधनकरणे देहादीना-मन्यत्रैव विनियोगो भवेत्, नतु साक्षात्सुरूपोत्तम इति । स्वमार्गफलासाधकत्वात्तथेति भावः । किञ्च, तद्धर्मैरिति । पुष्टिमार्गधर्मैश्च विरोधतः । अयं परित्यागो विधिप्रयुक्तत्वान्मर्यादा-मार्गीयो भवितुमर्हति, न पुष्टिमार्गीयः । पुष्टिमार्गो हि समस्तविधिमिरस्पृष्टः, तदा तत्प-रित्यागः सुतरां तथेति प्रमाणातीत इत्युभयोर्धर्माणामपि भेदाद्बिरोधः स्यादिति तथा । चकारात् स्वरूपफलयोरपि भेदः । एवं स्वमार्गाङ्गीकृतस्य श्रवणादिभक्तिसिद्ध्यर्थं संन्यास-निषेधकथनेन 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः । अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः' इत्युक्त-प्रकारेण स्वधर्मनिष्ठया सेवैव कर्तव्या, नान्यदिति सूचितम् । नतु गृहमेव याचकं भवेत् तदा तु कर्तव्य इत्याशंक्य तस्यापि निषेधमाहुः । गृहमादिपदेन तत्सम्बन्धिनश्च सर्वे यद्यपि धर्मप्रतिकूला एव, तथापि श्रवणादिसाधनार्थं संन्यासग्रहणं न कार्यम् । किन्तु तत्परित्यागेन भगवदीयैः सह सेवा कर्तव्येति ज्ञाप्यते । अत एव 'भार्यादिरनुकूलश्च' इत्यादिपु साधनार्थमनुकूलतद्ग्रहणाभिप्रायेण प्रतिकूलगृहत्याग एवोपदिश्यते, न तु संन्यासग्रहणम् । तथोक्ते 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः' इति भक्तिवर्धिनीवचनविरोधः स्यात् । किञ्च, श्रीभागवतेपि भक्तिसाधनार्थं 'मदर्थेऽर्थपरित्याग' इत्यारम्य 'एवं धर्मैर्मुन्युध्याणा'मित्यादिभिस्सर्वसमर्पणरूपः त्याग उक्तो, न तु संन्यासः, अन्यथा 'त्वयोपमुक्तस्त्वगन्ध' इत्यनेन विरोधः स्यात् । यतः सेवाकरण एवोच्छिष्टभोजनम्, न तु संन्यासे, सेवाऽभावात् । एवं सति साधनार्थमपि त्याग उक्त इति तत्स्व-रूपज्ञानेन स्वमार्गीयः कश्चित् संन्यासग्रहणं कुर्यादिति प्रकृते तन्निषेध उक्त इति सर्व-मनवद्यम् । अतः परं गृहादेर्बाधकत्वेन संन्यासग्रहणे तादृशैः सह सङ्ग एव भवेत्, किन्तु स्वयमपि तादृशो भवतीत्याहुः । स्वयमपि तथा । ते साधनत्यागिनः धर्मध्वजिनः विषयाक्रान्ता वेशमात्रधारिणः पापण्डिनः, तथा स्वयमपि तत्सङ्गेन विषयाक्रान्तः पापण्डी च स्यात् । तत्र हेतुः कालतः । कलिकालदोषत इत्यर्थः । अथवा कालत इत्युप-लक्षणम् । कालकर्मस्वभावैव इत्यर्थः । यतः मार्गान्मुतजीवस्य कालाद्यधीनत्वमेव, मार्ग-स्थितस्यैव तदनधीनत्वेन तस्य भगवदधीनत्वेन भगवान् रक्षां करोति । तादृशत्यागिनो भगवदधीनत्वान्गावाद्रक्षाऽभावेन तथात्वमेवेति भावः । एवं तत्सङ्गदोषं निरूप्य फलाभाव-

माहुः । यदैवं विपयाक्रान्तो भवेत्तदा विपयाक्रान्तानि, देह इत्युपलक्षणम्, किन्तु, देह-
प्राणेन्द्रियान्तःकरणानि येषाम् । सर्वदा सर्वकालं भवेत्, प्रवेशश्चावकाश एव नास्ति,
तदावेशो न भवतीति सिद्धान्तात् तस्यापि भगवदावेशो न भवेदिति सर्वस्वहानिरेव
भवतीति भावः । अतः कारणाद्वा पुष्टिमार्गं पुष्टिमार्गीयस्य साधने भक्तौ
साधनभक्तिसिद्ध्यर्थं त्यागः सुखाद्यहो न भवति, अनिष्टपर्यवसानात् । अतः स
सर्वथा न कर्तव्य इति ज्ञापितम् ॥ ३-६ ॥

ननु तर्हि कदा किमर्थं च कर्तव्यं इत्याकांक्षायां तस्य प्रयोजनकयनेनैवाधि-
कारिणं चाहुः ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेपः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता सुरयः साधनं च तत् ।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा बहिवत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

गुणास्तु सङ्गरहित्वाज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३ ॥

विरहानुभवार्थं परित्यागोऽस्मिन्मार्गं प्रशस्तो भवति । अन्यथा नेत्यर्थः ।

अत्रेदमाकृतम् । स्वमार्गीयसाङ्गीकारादारभ्य श्रीकृष्णसेवैव कर्तव्या, नान्यदिति सिद्धान्तः ।
तदुक्तम् 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'ति । सा सेवा साधनरूपा फलरूपा चेति द्विधा । मानसी
सा सेवा फलरूपा, तत्साधनरूपा तदुज्वितजात्वेनोक्ता । एवं सति मार्गनिष्ठया सर्व-
समर्पणपूर्वकं सर्वेषां तदुचित्वादीनां भगवत्येव विनियोगकरणेन सेवाकरणे तत्स्वरूपे प्रेम
जायते । एतदेवोक्तम् । 'गृहे सित्वा स्वधर्मत' इत्यारभ्य 'ततः प्रेमे'त्युक्तं भक्तिवर्धिन्याम्,
नो चेदिह स्थानस्य विजातीयत्वेन बाधकत्वात् साम्प्रतं वा स्वातुसन्धानाभावेन पुनर्विजातीय-

सङ्गेपि तस्य न नाश इति तत्रैव 'यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापी'त्युक्तम् । एवं सति अस्य त्यागस्य पूर्णपुष्टिभाववानेवाधिकारी, नान्यः, तस्य प्रयोजनमपि प्रचुरभावपोषेण विरहानुभव एवेति सुवृक्तं तथा । ननु तर्हि परित्याग एव कर्तव्यः, संन्यास एव किमर्थं कार्यः, तत्र हेतुमाहुः स्वीयेति । स्वीया गृहसन्वन्धिनस्तक्रियमाणो यो बन्धः तन्निवृत्त्यर्थं वेपः । अन्यथा संन्यासाश्रमो धर्माचरणार्थं न भवतीत्यर्थः । विजातीयमिलनस्य भावपातकत्वात् । तदुक्तं फलप्रकरणे 'अस्त्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्ष'मित्यत्र । 'यथा व्याघ्राग्रे देहाभिमानी'ति । ननु तथापि भक्तिमार्गीयभावपोषार्थमपि विहितत्वात् गुरूपदेशं विना कथं तत्सिद्धिरित्याशंक्य गुरून्निरूपयन्ति । कौण्डिन्य ऋषिरनन्तगुणश्रवणेनानन्तस्वरूपासक्त्या तत्कालमेव सर्वत्यागं कृतवान्, पुनस्तद्विरेहेण विकलः सन् जडादिष्वपि प्रश्रं चक्रे । तथास्यापि स्वरूपसेवाकरणे प्रेमासक्त्यनन्तरं पुष्टिमार्गीयभावोदयक्षण एव त्यागः कर्तव्य इति साम्येन स गुरुवृक्तः । अपरे गुरवो गोपिकाः । यथा पूर्वमप्यासक्तौ सत्यां वेणुनादश्रवणानन्तरं त्यागे कृते प्रभुसङ्गमस्त्रासामप्यभूत् । अग्रे पुनरन्तरासक्तिदाब्धार्थं विरहानुभवोपि जातः, येन 'तन्मनस्कास्तदालापा नात्मागाराणि सस्मरुः' इत्यादि विकलत्वास्त्रास्थ्यादिरूपावस्थाप्यासीदिति साम्येन तासां च गुरुत्वं निरूपितम् । एवं सति तद्रीत्या तथा कृते एतस्यापि फलं सेत्सतीति भावः । ननु यथा 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजे'दिति श्रुत्या ज्ञानमार्गीयसंन्यासे वैराग्यं साधनम्, तथात्र किं साधनम्, तदाहुः साधनं चेति । भावनया सिद्धो यो भावः तत्साधनम् । पूर्वमपि भावो जायते, परं कृत्रिम इति । तादृशस्य साधनत्वं न, आसक्त्यनन्तरं 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युक्तप्रकारकमनोरथात्मकभावनया सिद्धिं प्राप्नोयः पूर्णः पुष्टिमार्गीयो गूढो भावः तत्साधनम् । न अन्यदिति । अतिरिक्तं साधनं नेष्यते । सापेक्षतत्त्वाभावान्नापेक्षित इत्यर्थः । एवं सति वैराग्यमप्येतदेव, न ज्ञानमार्गीयम् । यतो भगवत्स्वरूपव्यतिरिक्ते सर्वत्राचरि रिति भक्तिवर्धिन्यां 'क्षेदाद्रागधमिलापाभावात् देहेन्द्रियैः प्राकृतधर्मराहित्य चित्तादिस्वास्थ्यं च भवति, प्रकृते त्यागादारम्य प्रतिदिनं तथा भावने वैकल्यमस्त्रास्थ्यमेव सकलेन्द्रियेषु वर्धत इति प्राकृतविषयधर्मवत्त्वमेव लक्ष्यते, तत्कथं फलसिद्धिरित्याशंक्य तद्दर्मस्वरूपमाहुः । बाह्यानुसन्धानराहित्यपूर्वकमन्तःस्वरूपाणुभवसमानाधिकरणचेष्टितं यत्सकलेन्द्रियाणां तद्विकलत्वम्, वह्नियेक्षया विपरीतान्तर्भावरूपाः कलाभेष्टा येषां तेषां भावस्तत्त्वमित्यर्थः । तथा बहिः प्रियसङ्गामावजनितात्मा सकलेन्द्रियाणां स्वास्थ्याभावोस्वास्थ्यम् । एतद्वयमपि विप्रयोगभावस्य प्रकृतिः साहजिको धर्मः । यथा ज्ञानमार्गे वैकल्याभावः स्वास्थ्यं तस्य प्रकृतिः, तथा पुष्टिमार्गे तद्विपरीतधर्मवत्त्वं तद्भावस्य प्रकृतिः । अनेन यावत्पर्यन्तं विकलत्वास्त्रास्थ्यादि-

रूपा प्रकृतिः न सिध्यति, तावत्पर्यन्तं तद्भावस्यापि न पूर्णत्वमिति सूचितं भवति । अत एव तद्वाञ्छानन्तरं पुनर्नाशाभावेन प्रयत्नाभाव उक्तः 'यावज्जीव'मिति भक्तिवर्धिन्याम् । ननु तर्हि विषयसम्बन्धित्वमायातमित्याशंस्य तन्निराकुर्वन्ति प्राकृतं न हीति । प्रकृतिगुणविकारजन्यं तदुभयमपि न भवति । हीति निश्चयः । अयं भावः । पुरुषोत्तमस्वरूपं तु रसात्मकम्, रसो हि द्विविधः, संयोगविप्रयोगभेदेन, इति स्वरूपमपि तथा, तत्र संयोगे स्वरूपं बहिः प्रकटं भवति । विप्रयोगे भावात्मकतया तत्तदिन्द्रियेष्व्वाक्षिष्टं सदन्तरेव रसपोषं करोति । परन्तु तापरूपेण स्थितत्वाददर्शने च तापं जनयति, इति तज्जनिततीक्ष्णभावभावनया पूर्वोक्त-प्रकारेणान्तःस्वरूपानुभवे तदनुसारिचेष्टकरणेन विकलत्वं बहिः प्रतीयते । दर्शनाभावेनास्वास्थ्यं चेत्सुभयधर्मस्य रसात्मकभगवत्स्वरूपजन्यत्वेन रसात्मकत्वाद्लौकिकानन्दरूपत्वमेव । न तु प्राकृतत्वमिति सुधुक्तं प्राकृतं न हीति । एतेन यथा यथा विकलत्वमस्वास्थ्यं स्यात्तथा तथा फलविलम्बाभाव इति सूच्यते । एतत्प्रकृतिं निरूप्य यथा (ज्ञान) मार्गे परित्यागानन्तरं सकलपदार्थस्फूर्त्या सर्वं ज्ञानं गुणाश्च भगवद्दर्मेरूपात्मानुभवेन साधकास्तथा प्रकृतेषु तेषां साधकत्वमाशंक्य साधकत्वस्य का सम्भावना, प्रत्युत बाधकत्वमित्याहुः ज्ञानमिति । एवं वर्तमानस्य विकलत्वास्वास्थ्यरूपमप्राप्तस्य ज्ञानं बहिरनुसन्धानेन पदार्थस्फूर्त्या सर्वगुणा भगवल्लीलादिधर्मरूपाश्च कदाचित्प्रच्युतास्तेन व्यभिचारिभावानां वैचित्र्याद्वा हृदि स्फुरति, तदा मनस्तदवलम्बनं भवति । यथा महासमुद्रे मज्जतः तृणस्यैव । तदा तज्जनितयत्किञ्चिदपि स्वास्थ्ये फले बाधका एव, न तु साधकाः । किञ्च, ये लीलागुणाः पूर्वं भावपोषणे साधकाः जातास्त एव गुणाः साम्प्रतमेतादृगवस्थायां जीवनसम्पादकत्वेन बाधका भवन्ति । एतेन विरहानुभवस्य पूर्णत्वेन जातत्वात् जीवनस्थितेः प्रयोजनाभावात् । अतः परं मूर्च्छादीनां दशम्येवावस्था फलसाधिकेति तेषां बाधकत्वमुक्तमिति ज्ञापितम् । एवं सति लीलादीनां धर्मरूपत्वेन बाधकत्वकथनात् केवलधर्मिस्फूर्तिरेव फलसाधिकेत्यपि ज्ञापितं भवति । ननु ज्ञानमार्गे ज्ञानगुणमनःस्वास्थादीनां साधकत्वम्, भक्तिमार्गेषु कर्म बाधकत्वमित्याकांक्षायां मार्गभेदेन साधनफलभेदात् तथात्वमाहुः । संन्यासेन विशेषितात् सम्यक् साधितात् ज्ञानात् प्रथमं सत्यलोके स्थितिर्भवति । पश्चाद्ब्रह्मणा सह मुक्तिरुक्तेति ज्ञानानन्तरमेव सत्यलोकस्थितेः कथनात्तत्र मनःस्वास्थ्यगुणादीनामेव साधकत्वम्, तद्व्यतिरेकेण ज्ञानस्यैर्वाभाव इति तेषां साधकत्वमुक्तम् । एतेन ज्ञानमार्गस्य साधनं फलमपि चोक्तम् । प्रकृते 'भगवता सह संलाप'इत्याद्युक्तप्रकारकसाक्षात्स्वरूपसम्बन्धभावनैव साधनम् । तत्र च तत्सम्बन्धव्यतिरेकेण स्वास्थ्यसम्भावने च स्वास्थ्यमेव फलसाधकम्, नो चेत् फलमेव न भवेत् । तत्रापि यादृशी पूर्वोक्तप्रकारिकान्तर्भावना तादृशमेव सर्वेन्द्रियास्वापं बहिरनुभवत्सकं फलमपि भवेत्, न तु ज्ञानमार्गलाभान्मये सत्यलोके स्थितिः, पश्चादन्तरेव केवलमात्मलयमात्रमिति फलं चापि तथा भवेदित्युक्तम् । किञ्च,

ल्योप्यक्षर एव, न तु पुरुषोत्तमे । सोपि ब्रह्मणा सहेति फलसिद्धौ महान् विलम्ब उक्तः । तत्रापि साधनफलभेदः । प्रकृते साक्षात्पुरुषोत्तमस्य रसालकत्वात् रसस्य संयोगविप्रयोगात्मकत्वाद्वाद्याभ्यन्तरभेदेन संयोगे विप्रयोगे च स्वरूपरसानुभव एव । न तु साधनफलभेदः । एवं सति विकलत्वास्वास्यादिदशायाः पूर्वोक्तरीत्या साधनरूपायामपि साक्षात्स्वरूपानुभव एव भवतीति ज्ञानमार्गफलपेक्षया एतत्साधनस्यापि सर्वोत्कृष्टत्वं निरूपितम् । ननु ज्ञानस्य फलं मुक्तिः, सत्यलोकस्थितिः किमर्थं भवतीत्याशङ्क्याहुः । तादृशाः संन्यासविशिष्टपूर्णा ज्ञानयुक्ता अपि सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येवेति निश्चयः । अत्र संशयो न । यतस्तेषां तु ब्रह्मणा सहेव मुक्तिसम्भवात्तावत्पर्यन्तं तत्रैव स्थितेर्नियतत्वात् तत्र सा मर्यादास्तीति । आदिपदेन तादृशत्वाभावे लोकान्तर एव स्थितिः । ननु तत्रापि फलसिद्धौ महान् विलम्बो निरूपितः । प्रकृते तादृगवस्थायां यदि गुणाद्यनुसन्धानं न भवेत्तदा तत्कालमेव फलसिद्धिरिति तत्प्रकारं निरूपयन्ति बहिरिति । पूर्वोक्तभावनया भगवान् एव स्फुरतीत्यर्थः । स चेदतिविगाढभावेन तदालकतया गुणगानद्वारा साक्षाद्बहिः प्रकटो भूत्वा रसानुभवं कारयित्वा पुनस्त्रिरोहितः प्रचुरतापात्मकः सन्नतःप्रविशेत्, तदैव तत्क्षणमात्रेणैव सकलो बन्धः प्राकृतदेहरूप एव बहिः साक्षात्फलानुभवे प्रतिबन्धः, स तादृशप्रचुरतापेन मूर्च्छादिदशमावस्थां नाशमेति । तत्र दृष्टान्तः बह्विबत् । यथा दार्वन्तर्गतो बहिः सदैव तिष्ठति, परन्तु दारुदहनोपयुक्तो न भवति । यदा पुनर्मथनेन बहिः प्रकटो भवेत्, तदा तत्सम्बन्धः सन् तदन्तःप्रविश्य क्षणेनैव सर्वं दार्वं प्रज्वालयति । न केवलं तावन्मात्रम्, किन्तु तत् स्वसदृशमपि करोति, तथा अयमपि स्वात्मरूपत्वेन तदन्तर्गतो विगाढभावेन मथनेनैव तथा भूत्वा पुनस्त्रिरोभूयान्तस्तापरूपेण प्रविशेत्तदा तं तथा कृत्वा स्वसदृशी रसालकतामलौकिकचयोगुणादिसम्पत्तिमपि करोतीति दृष्टान्तधर्मसाम्येन सूचितं भवति । एवं सति यथा दारुण्याद्रैत्वं यदि भवेत्तदा सोप्यसमर्थो धूममेव जनयति, तथा प्रकृते यत्किञ्चित्सास्थ्यस्यार्द्रत्वस्थानीयत्वात् धूमबहुण्णानादिकमेव भवेत्, तदा तत्सम्बन्धः सः, न तु बन्धनिवृत्तिरित्याशयेनोक्तं 'न चान्यथे'ति । एतत्प्रकाराभावे न भवतीत्यर्थः । एतत्सर्वं फलप्रकरणपीवद्वितीयाध्याये 'गायन्त्य उच्चैरित्यस्य विवरणे 'शुन्दो हि धूमवह्लोक' इत्यादिना निरूपितम् । एतेनास्वास्थादावेव फलविलम्बाभाव इति तदैव साधकम्, न गुणादिस्फूर्तिरिति पूर्वोक्तज्ञान निरस्तेति भावः । ननु विप्रयोगस्य केवलमस्वास्थ्यैकप्रकृतिकत्वात् तदुत्तरक्षण एव प्रतिबन्धनिवृत्तिं कथं न करोति । मध्ये गुणाद्यवल्म्बनं कारयति । अत एवोक्तं 'मन्तहिते भगवती'त्यस्य विवरणे 'यावत्स तापोन्तः प्रविशेत् तावता भगवल्लीला प्रविष्टे'ति । तत्प्रवेशे तस्य तदेकस्वभावात् । तदनुभवामावो यतः । एवं सति विप्रयोगभावार्थं जीवनसम्प्रादकत्वेन गुणानां साधकत्वं तस्मिन्नाते प्रयोजनाभावा-

तादृगवस्थायां स्वास्थ्यकारकत्वेन बाधकत्वमिति न कोपि विरोधः । अत एव ज्ञानं गुणाश्चेति पूर्वं बाधकत्वमधुना गुणास्त्वित्यनेन साधकत्वं चोक्तम् । एतेन भगवतोपि बाधकाभावो निरूपितः । एवं गुणानामवस्थाभेदेन बाधकत्वसाधकत्वनिरूपणात् भगवतो बाधकत्वागावं निरूप्यातः परमपि चेद्गुणाद्यवलम्बं स्थापयेत्, तदा स्वास्थ्ययुक्तत्वात् बाधकत्वं भवेदिति तदभावमाहुः । एवं सम्पूर्णं विरहानुभवे जाते बहिःसाक्षात्फलदानार्थं यतो भगवान् लौकिकैश्वर्यवीर्यगुणादिसकलस्वोपयोगशक्तिसहितं स्वरूपं कृत्वा स्थितो भवति । अतः फलरूपत्वात्स्वस्य अत्र दशायां फलबाधको गुणाद्यवलम्बो नेष्यते, भगवता नेष्यत इत्यर्थः । अयं भावः । फलानुभवार्थं भक्तस्य यावती परीक्षा भगवतः कर्तव्या भवति, तावती सर्वा विरहानुभवेन सम्पन्ना जातेत्यतः परमपि फलविलम्बे जाते स्वस्यैव बाधकत्वं भवेत्, तदधिकारस्य जातत्वात् । अतः सुदृक्तं नाश्रेति । ननु तादृगवस्थायामपि तादात्म्यकृतया यथा प्रियेण सह भाषणादिकं प्रियाया भवति, तथा तादृशभावनया प्रियस्यापि तत्सम्भवतीति तदेव वाक्यं स्वास्थ्यकारकं भविष्यति । अथवा 'हा नाये'त्यत्र क्रियाशक्त्या तादृगवस्थायां स्वास्थ्यकरणम्, तथा प्रकृते चापि वचनेनापि तत्सम्भवतीत्याशंक्य तत्राहुः स्वास्थ्येति । यद्यपि पूर्वोक्तवस्थायां तथा करोति, तदनन्तरं तदपि स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यमिति न करोति, प्रयोजनस्य जातत्वात् । अत्र हेतुः । दयालुरिति । अतो न विरुध्यते । विरोधित्वेन न भूयत इत्यर्थः । विरोधी स एव यः परस्मानिष्टं करोति । अयं परमदयालुरिति सकलेष्टसिद्धिं कृतवानिति भावः । एवं सति तादृशस्य स्वरूपस्थितौ गानम्, लीलाप्रवेशे प्रलाप इति मूर्च्छा तदवस्थया निरूप्यते । अतः परं दशमावस्थायाः पूर्वोक्तप्रकारेण प्रतिबन्धनिवृत्त्या फलसिद्धिरिति सर्वमवदातम् । एतदेव सर्वं फलप्रकरणेपि निरूपितम्, विरहानुभवेन परीक्षणान्तरं 'रुरुदुः सुस्वर'मित्यात्म्य 'तन्वः प्राणमिवागत'मित्यादिना । एवं स्वमार्गीयपरित्यागस्वरूपं निरूप्य, अस्य दुर्लभत्वमाहुः । अयमिति स्वरूपनिर्देशः । तथा चेद्ग्रहणः परित्यागः, साधनासाध्यत्वादति दुर्लभः । तर्हि कथं सिध्यति तत्राहुः प्रेम्णेति । श्रीमदाचार्योक्तनिष्ठया साक्षात्स्वरूपसेवाकारणेन तत्स्वरूपे प्रेमासक्तिव्यसने सम्पन्ने चैतत्परित्यागाधिकार इति तदा सिध्यति, नान्यथा । अन्यसाधनप्रकारेण नेत्यर्थः । अत एव दुर्लभप्रेमासक्तिजनितस्वरूपसम्बन्धामिलापजन्यदुःखं तेन लाभो यस्येति तथा निरूपितम् । अथवा । प्राकृतस्वाप्राकृते प्रेमासम्भव इति तद्धेतुं पक्षान्तरेणाहुः प्रेम्णा भगवत्प्रेम्णा इति । श्रीमदाचार्याङ्गीकारवशेन स्वरूपानन्ददानोपयोगि प्रेम भगवतस्तस्मिन्जायत इति तस्यापि तत्सम्भवतीति तयोक्तम् ॥ ७-१३३ ॥

एवं स्वमार्गीयकर्तव्यविधिं निरूप्य तारतम्यज्ञापनार्थं ज्ञानमार्गीयतद्विधिं निरूपयन्ति ज्ञानमार्गी इति ।

ज्ञानमार्गं तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पापण्डित्यं भवेत्तापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः ॥ १६ ॥

ज्ञानमार्गं तु संन्यासो मया द्विविधो विचारितः । तदेव द्विविध्यं विचारपूर्वकमाहुः । एकः संन्यासः ज्ञानसाधनार्थं, अपरः ज्ञानोत्तरं मुक्त्यङ्गमित्यर्थः । तत्र संन्याससिद्धिस्तु जन्मशतैः अनेकशतसहस्रजन्मानन्तरं भवति । न तु शीघ्रम् । तत्र हेतुः । ज्ञानमिति । ज्ञानोत्तरं संन्यासाधिकारः । तत् ज्ञानं च साधनापेक्षम्, साधनं चित्तशुद्धिः; तदपेक्षा । तत्पुनर्यज्ञादिश्रवणान्मतं सम्मतम्, नान्यथा । आदिपदेन तपश्चादीन्यन्यान्यपि ज्ञेयानि । तत्रापि निष्कामत्वेन कृते चित्तशुद्धिः । तत्रापि बहुजन्मानन्तरम् । अत एवोक्तं धहृनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् भवतीति । कदाचित् ज्ञाने जातेपि सत्यलोकस्थितेरावश्यकत्वान्मुक्तेर्विलम्बः एवेति सिद्धिर्जन्मशतैरपीत्युक्तम् । एवमुत्तराङ्गसंन्यासं साधनफलसहितं निरूप्य, अत्रापि ज्ञानसाधनार्थं स चेद् भवेत्तदा तस्य फलासाधकत्वं विपरीतफलकत्वं चाहुः । यतः पूर्वोक्तसंन्यासाधिकारो यज्ञादिकरणेन शतसहस्रजन्मानन्तरं चित्तशुद्ध्या ज्ञाने जाते भवति अतः कलौ चित्तशुद्ध्यभावेनैव कृतः संन्यासः पश्चात्तापायैव भवत्, न त्वन्यथा । उक्तफलाय नेत्यर्थः । सकलेन्द्रियाणां कलिकालाधीनत्वे स्वस्वविषयासक्तत्वात्त्यागे तेषां लोलपत्नेन स्वैर्यामावात् । मया वृथैव संन्यासः कृत इति पश्चात्तापो भवेदिति भावः । केवलं पश्चात्तापमात्रमेव न भवेत्, किन्तु क्रमेण विषयासक्त्या वेपमात्रपर्यवसायित्वमपि । तदाहुः पापण्डित्यमिति । अन्तर्विषयासक्तिर्बहिस्तदाश्रमवेपमात्रं पापण्डित्यं भवेत् । चकारादारूढपतितत्वजनितं पापमपि भवेदित्यर्थः । तस्मादनिष्टपर्यवसानात् ज्ञाने ज्ञानसाधनार्थं न संन्यसेदिति भावः । नन्वेवं निषेधः कथम् । कश्चित्समीचीनः स्वेन्द्रियनिग्रहादिना तमर्थं साधयति चेत्तत्राहुः सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः ॥ १४-१६ ॥

भक्तिमार्गंपि तेषां बाधकर्तृत्वं सम्भवेदित्याशङ्कं स्वयमेवोद्घाटयन्ति ।

भक्तिमार्गंपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभाषतः ।

खास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

हरिरथ न शक्नोति कर्तुं याथां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः फचित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियञ्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

भक्तिमार्गेण चेत्यागिन पूर्वोक्तदोष प्रसज्येत तदा किं कार्यमिति प्रश्नः । तत्रोच्यते, ससाधनमित्यर्थः । तदेवाहुः अचारम्भे । भक्तिमार्गीयत्यागारम्भे । यद्यपि आरम्भभेदेन विरहानुभवानन्तर प्रसुरभावावस्थाभावसमयो ज्ञाप्यते, तथापि पुनर्नाशो न स्यात् । यत्तस्मिन् पूर्वमेव सकलेन्द्रियाणां भगवदधीनत्वात्, तत्रैव विनियोगकरणेन भगवत्स्वरूपैकनिष्ठविषयव्यसनवत्त्वमेव जातम् । न तु प्राकृतनिषयग्रहणस्वभावोपि स्थितः, तत्तदभावे कुत तत्तद्दोषसङ्गमणावकाश इति भावः । एतेन तादृशभावस्यापि फलान्तःपातित्वमेव, न तु साधनत्वमिति ज्ञापितम् । ननु तथापि विषयभोगपदार्थेषु दृष्टेषु यत्किञ्चित्स्वास्थ्य भवेदपि दृष्टो योऽन्तः नाशकः पदार्थः तस्याप्यभावात् नाश इत्यर्थः । पदार्थे दृष्टे कदाचित्सम्भवेदपि, प्रकृते व्यसनानन्तर गृहस्थितेर्वाधिकत्व मत्वैव तत्पदार्थानां त्यागः कृत इति दर्शनस्याप्यभावात् तथेति भावः । अत एव 'यदा स्वास्थ्यसनं कृष्य' इत्युक्त्वा 'तादृशस्यापि सततं'मित्यनेन तस्य त्यागः उक्तः । ननु तथापि वासना चेत्युक्तिः, तदपि तथा भवेदिति, तदभावमाहुः स्वास्थ्यहेतोरिति । स्वास्थ्यहेतुपदार्थस्य परितः त्यागाद्वासनासहितत्यागः परित्यागः, वासनया विषयग्रहणं भवति, तदभावाद्वाधः केन पदार्थेनास्य सम्भवेत् । अपि तु न केनापीति भावः । वासनासहितत्यागकथनेन दृष्टेऽपि तस्मिन् न तद्ग्रहणमिति सूचितम् । अनेन पदार्थास्तादृशस्य स्वास्थ्यहेतवोपि न भवन्ति, किन्तु भगवत्स्वरूपनिष्ठा एवेति ज्ञापितं भवति । एतदेवोक्तं निरोधवर्णने 'वाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदृष्या सोपि सिध्यतीति' । ननु तर्हि अद्यदिना स कदाचित्सम्भवेत् तत्राहुः । यद्यपि हरिः कालकर्मादीनामपि सर्वेषां नियन्ता सर्वेश्वरः, तथापि तादृगवस्थानन्तर स्वस्य रसात्मकत्वेनैव तादृशस्य विलम्बजनितबाधां कर्तुं न शक्नोति । तत्करणेन रसो न वा कीर्तिः, यतः स्वयं हरिः एतादृगवस्थाजनितदुःखं हन्तुमेव रसात्मकसाक्षात्फलरूपत्वेन प्रकटः । एतदेव 'पीताम्बरधरः सखी' इत्येतस्य विचरणे विवृतमित्यत्रापि हरिपदेन स एव भावः उक्तः इति ज्ञापितं भवति । एतेनेदानीं बाधाकरणे स्वस्य फलरूपं हरित्वं च गच्छतीत्यत्रापि हरिपदेन स एव भावः उक्तः । तद्भावोत्कर्षश्च निरूपितः । अत एव 'न पारयेह'मित्यादिवचनम् । एव सति हरिरेव न शक्नोति तर्हि अपरे कालकर्माद्यदृष्टादयः कृतं शक्ता भवन्तीत्यर्थः । अशक्तो दृष्टान्तमाहुः अन्यथेति । यद्येतादृशस्यापि हरिर्बाधां करोति, तदा मातरोपि स्वधातान् स्तन्यैः पोषणं न कुर्युः । यथा तासां स्वबालबाधकरणमशक्यम्, किन्तु पोषणमेव कुर्वन्ति, तथा हरिरेपीति भावः । एतेन हरिरपि तस्योपणमेव करोतीत्यपि सूचितम् । अथवा

हरेर्मातृदृष्टान्तकथनात् युक्तत्वानुपपत्तेः क्रियायाश्च विध्यर्थकस्यापेक्षितत्वात् पुपुपुरिति
 श्रुतार्थकतत्प्रयोगानुपपत्तेश्च कथन गूढाभिसन्धिरस्तीति लक्ष्यत इति पक्षान्तरेण स
 एवोच्यते । तथाहि । हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं चाधामित्यत्रासाधारणो हेतुः, यतो मातरः
 पुपुपुः इत्यन्वयसम्बन्धः । अयं भावः । पूर्वं श्रीगद्गोपिकानां गुरुत्वमत्र निरूपितमिति
 गुरुत्वात्ता एव मातृरूपा ज्ञेयाः । यथा गुरोर्वरदाने फलसिद्धिः, तथा तासां दान एव तावतैव
 सिद्धिः, नान्यथेति । तास्तादृशे अङ्गीकृते स्वभावपोषणं कृतवत्यः । अतस्तत्कृतौ प्रमोरपि
 शक्त्यभावो युक्ततमः, तद्भावाधीनत्वादिति भावः । ननु ता एतावत्किमर्थं कुर्युरिति चेत्त्राहुः ।
 अन्यथेति । यद्येता एव स्वस गुरुत्वात्तस्मिन् पुत्रत्वेपि सिद्धे एव पोषणं न कुर्युस्ततस्त्वाः
 अन्याः साधारण्यः सहजकठिनाः स्त्रियः । तास्तु मातरः स्वधालान् स्तन्यैर्न पोषयेदुरित्यर्थः ।
 एतेन यदि ता अप्येवं कुर्वन्ति पुत्ररूपे तस्मिन्, एतासां परमवात्सल्यस्वभावात् पोषणं युक्तमे-
 वेति निरूपितम् । एतदेवोक्तं निरोधवर्णने 'पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः' । एवं सति पूर्वोक्तानुपपत्तिद्वय-
 मपि निरस्तं भवतीति सर्वमनवयम् । अत्र दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके च मात्र इत्यस्यावृत्तिः कर्तव्या ।
 ननु यथा ज्ञाने स्वस्मिन् ब्रह्मभावस्फूर्त्या सर्वत्र ब्रह्मात्मकत्वमानादैक्यमेव भासते, ननु द्वितीय-
 पदार्थभानम्, तेन च तेषां सर्वदा स्वास्थ्यं तिष्ठति, तथा प्रकृतेपि स्वस्मिन् भगवदावेशे नासा-
 वहमित्यादिरूपज्ञाने केवलं तदैक्यमानमेव, न द्वितीयपदार्थस्येति ज्ञानमार्गीयैक्यप्रतिपादक-
 वाक्येन ऐक्यसाम्येन कदाचिदैक्यभावजनितमोहेन स्वास्थ्यं सम्भवेदित्याशंक्य तदभाव-
 माहुः । पूर्वोक्तावत्यत्येकप्रत्युद्देशेपि सत्स्वपि यदि तन्निवारणेनैतावत्यर्थन्तं तद्रक्षामेव कृतवान्
 प्रभुः, तदा ज्ञानिनामपि वाक्येनैक्यप्रतिरूपेण भक्तं तादृशं न मोहयिष्यति । तथा
 चोक्तं भ्रमरगीते श्रीमदुद्धवोक्तैः 'श्रूयतां प्रिभ्रसन्देशः' 'भवतीनां वियोगः' इत्याद्यैक्यप्रतिपाद-
 कज्ञानिवाक्यैस्त्वासां मोहो न जातः, किन्तु तच्छब्दणेन प्रत्युतातितसैतैलपतितजलत्रिन्दुवत्
 प्रचुरतीव्रविरहाग्निज्वालजालज्वलितास्ता अमवन्निति । प्रकृतेपि तादृशावस्थायां तथा न करि-
 ष्यति, प्रत्युत तद्वीतिमेव करिष्यतीति भावः । नन्वेवं सर्वयाऽस्वास्थ्यकारकं तापमेव कथं स्वाप-
 यति, तत्र हेतुनाहुः आत्मप्रदः प्रियश्च, अतः किमर्थं मोहयिष्यति । अयं भावः । अत्र
 भगवान् रसात्मकः साक्षात्स्वरूपानन्ददानार्थम्, गुल्यतस्तत्र प्रीतिरूपो गुणश्च हेतुः । स वै
 तादृशावस्थाभावे पुष्टो न भवति, किन्तु च्युत एव तिष्ठति, तस्युष्टत्वाभावे तदानमपि न सि-
 ष्यति, रसात्मकत्वादेव साम्ये सर्वदा स्थापयति । एवं सति यत्र भगवतः स्वरूपानन्ददानेच्छा
 प्रियत्वं च, तत्र तद्वाक्यजनितमोहो न भवति । यत्र नैतदुभयम्, तत्र मोहो भवतीति सूच्यते । तथा
 चोक्तं दशमस्कन्धे 'द्विजपत्नीषु तदानन्ददानेच्छाभावात् पुष्टिमार्गीयप्रियत्वाभावाच्च न प्रीतये
 अनुरागाये'त्यादिज्ञानिवाक्यजनितमोहो जातः । यतः ताः परावृत्त्य स्वष्टहानगमन् । फल-
 प्रकरणे तु श्रीस्वामिनीनां सर्वत्यागेनागमनपूर्वकमनन्तरमेव पूर्ववदेव 'श्रवणाद् दर्शना'दित्या-
 दिवाक्यैः स्वात्मदानेच्छासद्भावात् पुष्टिमार्गीयप्रियत्वस्यापि विद्यमानत्वान्मोहो न जातः, प्रत्यु-

तेश्वरवाक्यानां सर्वाधिकचलत्येपि तन्निराकरणं चकुरिति सुपुक्तं किमर्थं मोहयिष्यतीति । अतः परमेतावदुक्तस्य निर्गलितार्थमाहुः । यस्मात्साधनार्थपरित्यागो विधीयतां क्रियतामित्यर्थः । अन्यथा पुष्टिमार्गीयभावाभावे तस्मिन् कृते स्वार्थात् पुष्टिमार्गीयपुरुषार्थाद्भ्रष्टयते च्युतो भवतीत्यर्थः । अत्र प्रमाणमाहुः इति मे निश्चिता मतिः । इति यस्य धर्मस्य यथा स्वरूपं तत्स्वरूपज्ञानादेव तस्मिन्निश्चयः । स्वमतेरेवेति स्वसैव मतिः प्रमाणत्वेनोक्ता ॥१७-२१॥

एवं संन्यासनिर्णयं कृत्वोपसंहरन्ति ।

इति कृष्णप्रसादेन बह्मभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इत्येवं प्रकारेण भक्तौ सत्यां एव संन्यासवरणं कर्तव्यत्वेन निश्चितम् । तत्र हेतुभूतं साधनद्वयमाहुः कृष्णप्रसादेन बह्मभेन चेति । कृष्णपदेन रसानन्दात्मक-गूढभावात्मत्वं सूचितम् । तादृशस्य प्रसादेन, प्रसादस्यापि नैकविधत्वं सम्भवतीत्युक्तं बह्म-भेनेति, अतिप्रियेणेत्यर्थः । एवं एतेन भावात्मकप्रीतिगुणविशिष्टत्वं प्रसादस्य ज्ञापितम् । तादृशत्वाभावे परित्यागस्वरूपज्ञानमेव न भवेत्, निश्चयः कथं कर्तुं शक्यः । तत्रापि विशेषेणोदमित्यतयेति मद्भक्तस्य सन्देशो न कार्य इति निरूपितम् । निश्चयकरणप्रयोजनमाहुः अन्यथेति । एतत्करणाभावे परित्यागस्वरूपज्ञानात् अधिकाराभावे कृते त्यागे स्वाङ्गीकृतोपि पतितो भवेत्, पूर्वोक्तप्रकारेण भक्तिमार्गाद्भ्रष्टो भवेदित्यर्थः । एवं सति परमकारुणिक-स्वभावात् स्वकीयानां रक्षैव कृतेति भावः ॥ २२ ॥

श्रीमदाचार्यकरुणां वर्णयामि कथं यतः ।

यतः स्वतस्त्यागभावप्रकाशं मांश्चेऽकरोत् ॥ १ ॥

यथेमे ज्ञापिता भावाः श्वापयतु स एव तान् ।

यादृशस्तादृशः स्वीयस्त्वदेकशरण विभो ॥ २ ॥

यदत्र मन्मतेर्दोषाद्विरुद्ध प्रभवः स्वतः ।

क्षमन्तां तत्र च तवाश्रयण शरणं गम ॥ ३ ॥

इति श्रीघनश्यामात्मजश्रीगोपेशधिरचितं

संन्यासनिर्णयविवरणं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीगोपेश्वरविरचितविद्युतिसमेतः ।

विविधविरहभावावेशज्ज्ञेशभाजामनुभवविषयः सन् गोपिकानां कृपाब्धिः ।
कलयति निजरूपानन्दपीयूषपानं सकृदपि स कृतार्थं मां प्रसन्नः करोतु ॥ १ ॥

श्रीगोपिकाधीशपद्यानुगानां सेवाकथासक्तिसमर्थनाय ।
य एक एवास्ति विभुस्तमेव श्रीवल्लभास्य मुहुराश्रयेहम् ॥ २ ॥

श्रीमद्ब्रह्मसूतोः श्रीविठ्ठलनामधेयस्य ।
पदकमलद्वयममलं मनसि मदीये समुल्लसतु ॥ ३ ॥

स्वाचार्यचरणपङ्कजपरागपुरुरागपरभागान् ।
जभिवन्दे-पितृचरणानहमतिभक्त्या तदाप्तमतिः ॥ ४ ॥

अथाम्नायाद्यखिलप्रमाणप्रतिपन्नरसात्मकश्रीपुरुषोत्तमविरहानन्दविविधभाववृन्दानुभव-
स्य सर्वात्मभावप्रपत्तिमात्रप्राप्यत्वात् सर्वपरित्यागमन्तरेण तदसम्भवादावश्यको भक्तिमार्गो
परित्यागः, स च कर्मज्ञानभक्त्यादिमार्गभेदाद्विभिन्नरूप इति स्वमार्गीयपरित्यागमतिवि-
लक्षणमनाकलयतां तत्तत्संशयवशंवदानां निजमार्गोद्गीकृतजीवानामविचारितः परित्यागः
पश्चात्तापायैव भवितेति सकलसंशयापनुत्तिपुरःसरं तदपगमाय स्वभक्तेषु परमानुपमकृपा-
किर्मीरितमूर्तयः श्रीमदसादाचार्यचरणाः किञ्चित्प्रयोजनं प्रकटमुदीरयन्तस्तद्विचारप्रतिज्ञा-
माचरन्ति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमस्वरूपमेव फलमितरत्तत्सम्बन्धित्वेनैव तथात्वेनोच्यते इति राधा-
न्तात् तस्य च 'रसो वै स' इत्यादिश्रुतिभ्यो रसत्वेन सिद्धत्वाद्दुभयविविधमुत्थरसात्मनः
स्वमार्गीपतेः सरूपानन्दं श्रीमदाचार्यवर्यवरणवशात्प्रमुसेवादिपरतया सुखं गृहादियु सतां
संयोगप्रकारेण यथाधिकारमनुभवतामपि विप्रयोगप्रकारेण तदनुभवभावादान्तरेवोन्मिष-

द्विरनन्तविधैरभिलाषे सन्तत दन्तुरितस्वान्तानामस्माक शुद्धपुष्टिभार्गीचार्यसम्यन्धिनामपि स्वमार्गमुख्यफलविप्रयोगभावानुभवो न भविष्यति । तस्य सर्वात्मभावान्तर्गतसर्वत्याग साध्यत्वादस्मासु तज्ज्ञानस्याप्यभावेन क तदाचरणतत्फलदिसम्भावनापीत्येवरूपो य उक्तं टस्ताप स पश्चात्तापपदेनात्रोच्यते । यतोयमुररीकृतमुररिपुमार्गनिपुणतराणामाचार्यवर्यपद-पद्मप्रसादलुपामेवाधिहृदयमुदयमासादयति, न पुन साधारणानाम्, तन्निवृत्तिश्च भक्तिमार्गं प्रवर्तकश्रीमदाचार्यचरणेकसाध्येति । तदर्थं परित्यागः सन्यास स्वमार्गीय श्रीमदाचार्य चरणैर्विचार्यते । स्वरूपत फलत सम्यक्तया मार्गीन्तरीयतदसङ्कीर्णत्वेन निरूप्यत इत्यर्थः । तथा च वक्ष्यमाणविधया विचारित स्वमार्गीयसन्यासस्वरूपादिक सम्यगवगम्य भगवदङ्गी काराधिकारतारतम्यभाजस्तत्र प्रवर्तमाना विगलितपश्चात्तापास्तदनुरूप फलमनुभविष्यन्तीति भावः । यद्वा । भक्तिज्ञानयो सिद्धदशायामेव सन्यास साधीयान्, न साधनदशायां, तदा तादृशैरिग्यविरहेण कृतस्यापि तत्पनिर्वाहात् पश्चात्ताप एव पर्यवसित इत्येतत्तारत म्यानवगमे त्यक्तासिलानामपि भक्ताना पश्चात्ताप, तदर्शनेन स्वस्यापि स स्वादिति तदनु-त्पत्यर्थं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । अथवा, जीवाना प्रभुप्राप्त्यर्थं भक्तिमार्गमाविष्टृत चङ्घि श्रीमदाचार्यचरणेरवश्य स्वमार्गीय परित्यागोपि मुख्यफलसिद्धयर्थं प्रागेव निरूपणीय । स तदैव न कथं निरूपितः । किमिति विलम्ब कृत इति य पश्चात्तापो भवेत्तद पगमाय परित्यागो निचार्यत इत्यर्थः । ननु विचारविषय परित्याग कर्तव्यतया कामिहि तस्तदनन्तर तत्रिर्णयवार्तेत्याकाशायामाहु स मार्गद्वितय इति । स परित्यागो मार्ग-द्वितये भक्तौ ज्ञाने विशेषतः विलक्षणफलसाधकत्वलक्षणाद्भावर्तकधर्मत प्रोक्तः, श्रुतिश्रीभागवतादिष्वभिहित इत्यर्थः । अत एव 'सन्यज्य सर्वविषया'नित्यादिषु य सर्व त्याग श्रीमत्सभक्तेषु स पर्यवसितप्रयोगानुभवफल एव, ज्ञानमार्गीयेषु तु स नेवविध, किन्त्वपत्तर्गपर्यवसायी । यद्वा, विशेष परिपाकदशा भक्तिज्ञानयोस्तदनन्तरमेव परित्याग प्रोक्तः । अन्यथा तद्धर्मनिर्वाहाभावेन दोषविशेषपर्यवसानापातात् । विशेषत इति व्यञ्जोपे पयमी । तथा च भक्तौ ज्ञाने च विशेष सिद्धदशापन्नत्व प्राप्येति वार्थः । अथवा, विशेषे त इत्यस्य प्रत्यासत्तिवशाज्ज्ञान इत्यनेनेवान्वयः । इत्यथैकजन्मनि परित्यागेन ज्ञानमार्गे गुत्तयभावाद्नेकजन्ममु तत्करणमेव विशेषपदार्थोवसेय ॥ १ ॥

नन्वेव कर्ममार्गेपि परित्यागकरणे किं बाधकमित्याशकाया तन्निषेधमाहु कर्ममार्गे न कर्तव्य इति ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरा कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्याद्विचारणा ॥ २ ॥

कर्ममार्गे हि सकामनिष्कामभेदेनानेकविधकर्मकरणरूप, तयानिधुतिनिरूपित, तस्मिन्परित्यागो निरवकाश इति न कर्तव्यः । न च 'यदहरेव रिग्जे' दिनि श्रुत्या पोधित त्वात्परित्यागः सनि निषेदे दुर्गर इति वाच्यम् । कर्ममार्गस्य यत्नत्रादिकलनावन्दितिका

मनाकलापस्य निर्वेदोदयनिदानभावायोगात् । न च निष्कामकर्मकरणं मनोमलनिमानमपनीय विरक्तिमुत्पादयिष्यतीति वाच्यम् । तत्रापि सहधर्मिणीसाहित्यनैयत्येन तत्त्वव्यूहानपायात् । न च निष्कामकर्मकरणमेव संन्यास इति वाच्यम् । कर्मत्यागस्यैव तथात्वौचित्यात् । न च काम्यकर्मत्यागमादाय तथात्वं शक्यवचनम् । सङ्कोचे मानाभावात् । क्वचित्तस्मिन्नपि तत्प्रयोगस्यौपचारिकत्वात् । मुमुक्षुणां सर्वतत्त्वागदर्शनाच्च । न च मुमुक्षुषु जीवन्मुक्तेषु च तत्तत्कर्मकृतिव्याप्त्यतिरुक्तैवेति वाच्यम् । भगवन्नियोगेनैव तेषु लोकसद्ब्रह्मार्थत्वात्स्याः । किञ्चास्तामन्यद्वाधकम्, काल एव पलवद्वाधकस्तत्रेत्याहुः सुतरां कलिकालत इति । कलिकालस्तावद्भगवद्भजनस्यैव साधकस्तदतिरिक्तस्य वाधक एवेति तत्र तत्र सिद्धम् । तथा च तथाभूतात्तस्मादनिर्वाहप्रत्यवायादिकं प्रतीत्य कर्ममार्गे सुतरां संन्यासो न कर्तव्य इत्यर्थः । एतेन काम्यकर्मत्यागलक्षणो गौणोपि त्यागः प्रत्युक्तः । मुख्याहत्वात्कालो निर्दिष्टः, परमयं देशादीनामप्युपलक्षकः । तेन कलौ देशकर्त्राद्यशुद्ध्यापि न परित्यागः कर्ममार्गे सिध्यति । अत एवायुषस्तुर्यभागे संन्यास इति मतमपि वैराग्यं विना तदसम्भवेन भक्तिज्ञानपरिपाक एव तद्वाङ्मन तत्रैव सावकाशमिति कालादिदोषाच्च कर्ममार्गे निरवकाशमिति ध्येयम् । एवं कर्ममार्गे परित्यागं प्रतिपिच्य भक्तिज्ञानमार्गयोः कर्तव्यतया परिशेषिते तस्मिन् प्रथमं कुत्रत्ये विचारः कार्य इत्यत्राहुः अत आदाविति । यतः कर्ममार्गे बाधध्रौव्यात् परित्यागो न कर्तव्योतो भक्तौ ज्ञाने च कर्तव्यतया तद्विचारस्य प्राप्तौ स्वस्य भक्तिमार्गप्रवर्तकत्वात् भक्तेः प्राथम्याच्च सिद्धदशायां च तस्य कर्तव्यत्वादादौ भक्तिमार्गे परित्यागस्य विचारणा । भक्तिमार्गे किं साधनदशायामेव परित्यागः कार्यः, किं वा फलदशायामाहोस्विदुभयत्र वेतिरूपा क्रियत इति शेषः ॥ २ ॥

ननु भक्तिमार्गे परित्यागः स्थापितश्चेत्तदा साधनदशायामपि स कर्तव्य इत्याशङ्गं सहेतुकं तदनङ्गीकारमाहुः श्रवणादिप्रसिद्धार्थमिति ।

श्रवणादिप्रसिद्धार्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।

गृहादेर्वाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अत्रेपि तादृशैरेव सङ्को भवति नान्यथा ।

स्वयं च विषयाक्रान्तः पापण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुन्वावहः ॥ ६ ॥

श्रवणादीनि यानि साधनरूपाणि तेषां प्रकर्षेणाप्यग्रतया सिद्धिर्निष्पत्तिर्गृहादिषु व्यासङ्गकेषु न सम्भवतीति तदर्थं स परित्यागः कर्तव्यश्चेत्, नेष्यते नांगीक्रियत इत्यर्थः ।

श्रवणादीनां प्रसिद्धिरुत्कृष्टफलं तदर्थं परित्यागः कर्तव्यश्चेन्नाङ्गीक्रियत इति वार्थः । कुत इत्याकांक्षायामाहुः सहायसङ्गसाध्यत्वादित्यादि । गृहादिषु तत्कार्यव्यासङ्गसानि-
 वार्थत्वादेकान्ततः श्रवणादिसाधननिर्वाहो न भवतीति तत्परित्यागेन क्वचित्तच्चित्तैकाग्र्येण
 सम्पादनीयमिति मनसिकृत्य यस्यागः स कथमुपपद्यतां, यतः श्रवणादीनि सहायसङ्गसा-
 ध्यानि, सहायाः कथकादयो विविधस्वभावाः, तेषां सङ्गः सङ्गावेन तदुपसत्तिरूपः, तेन सम्पा-
 दान्यतस्त्यागानन्तरमावश्यकसासङ्गत्वादेर्भङ्गप्रसङ्गतः प्रशिक्षिलवैराग्यात् पुनस्तत्तदाकांक्षो-
 न्मञ्जनेन च न श्रवणादिसाधनार्थं परित्यागः शक्याभ्युपगमः । किञ्च, त्यागमात्रात् कार्य-
 सिद्धिरिति श्रवणादिसिपाधयिपोस्तसाधनानां तत्तदवसरे उपेक्षितानां रक्षणं कर्तव्यं, तत्-
 त्यागः कथं लब्धात्मकः स्यात् । अपि च, साधनमार्गीयस्य कृतेपि त्यागे तत्तत्पदार्थेषु
 श्रवणाद्यर्थमपेक्ष्येषु नाभिमानो निवर्तते, प्रतिक्षणमुदेत्येव, त्यागे च स निवर्तनीयः सर्व-
 थेति तत्सत्त्वे स न युज्यते । साधनदशायां वेदाज्ञारूपभगवन्नियोगाच्च वर्णाश्रमधर्माणा-
 मुल्लङ्घनं न शक्यमित्यशक्य एव त्यागः । अन्यच्च, श्रवणादिसाधनानां तद्धर्मैः परित्या-
 गधर्मैः पर्यटनादिभिः समं विरोधो न शक्यविधूनन इति न कथमपि साधनभक्तिरूपश्र-
 वणादिषु परित्यागः सम्भवति । ननु तथापि गृहादिकं सत्सङ्गासम्पादकतया श्रवणादिषु प्रति-
 पक्षभूतमतस्तदर्थं तत्परित्याज्यम्, तथा सति कदाचित् सत्सङ्गोपि स्यादित्याशंक्य समाधान-
 माहुः गृहादेरिति । बाधकत्वेन श्रवणादिविरोधित्वेन । साधनार्थं श्रवणाद्यर्थम् ।
 तथा यदि परित्यागश्चेत् । तदा अत्रेपि त्यागानन्तरमपि तथाविधदाढ्याभावात्तादृशैरेव
 परित्यक्तश्रवणादिपरिपन्थिगृहादिसदृशैरेव सङ्गो भवति, अन्यथा प्रकारान्तरेण गृहा-
 दिपरित्यागरूपेण श्रवणादिकं तु न भवतीत्यर्थः । ननु भवतु भवनादिपरित्यागकर्तुं स्ताद-
 गपरसङ्गः, तथाप्यन्तरुद्गतवैराग्यादिनैव श्रवणादिनिर्वाहो भविष्यतीति न तत्यागोनुचित
 इति चेत्, तत्राहुः स्वयं चेति । यदि वैराग्यमन्तर्जागरूकं भवेत्, तदा क्रमेण बाधक-
 निवर्हणे निर्वहेदपि श्रवणादिकम्, परन्तु साधनदशायां तादृशं तदेव दुरापम्, अतस्त्यागस्तु
 विरोधिभिर्विधूयेतैव, किन्तु स्वयमपि तु पुनः विषयैरागन्तुकैरनेकरूपैर्भोग्यैराक्रान्त उपम-
 र्दितः सन् कालतः कलिरूपात् भक्तातिरिक्तपरिपन्थिनः पापण्डी तत्तद्धिरुद्धाचरणवान्
 भवेदित्यर्थः । सकामत इति पाठे क्रोधलोभाद्युपलक्षकात् कामतो बलिष्ठदोषात् स
 तथा स्यादित्यर्थः । तेन किना वैराग्यं त्यागोधमः, तत्तद्धिषयप्रतिहतः, फलाय नावकल्पते,
 प्रत्युत प्रत्यवायमेव सम्पादयति, प्रमाणविरुद्धाचरणमुत्पाद्येति भावः । ननु विषयैराक्रमणेपि
 श्रवणादिभिर्भगवदावेशसापि सम्भवात्तन्महिम्ना त्यागो निष्प्रत्यूह इति चेत्तत्राहुः विष-
 याक्रान्तदेहानामिति । भगवदावेशे सति त्यागे न कापि क्षतिः । किन्तु विषयैर्देहा-
 दिकं येषामाक्रान्तं तेषां हरेः सर्वदुःखहर्तुर्विषयदोषदवीयसो निर्दोषसेव्यसावेशो हृद-
 यादावागमनं तत् सर्वदा कस्मिन्नपि काले न भवति । किन्तु 'विषयान् ध्यायत' इत्युक्तरीत्या
 नाश एव भवतीत्यर्थः । न च विषयाणां श्रवणाद्यनभिभावकत्वात् तत्प्रयुक्तभगवद्वेशा-

नुपपत्तिरिति वाच्यम् । 'नराणां क्षीणपापाना'मिति वाक्यात्तादृशेष्वेव श्रवणादि प्रयोज्य
प्रन्वावेशस्योपपत्तेः । न च 'वाध्यमानोपि मद्भक्त' इत्यादिवाक्यैर्विषयसत्त्वेपि का क्षतिरिति
वाच्यम् । उक्तवान्यानां विषयमुखसर्वमुख्येन सेवमानस्य प्रगादात्तत्कृतवाधेपि प्रभुरति-
कृपाद्रस्तदोपमपाकरोति, अतो न विषयाभिभव इत्यभिप्रायकत्वात् । अत एव प्रायःपदमु-
पात्तं तत्र । एतद्वाक्याभिप्रायान्तरमस्मत्पितृव्यचरणकृतौ विवेकधैर्याश्रयविघृतौ विलोकनीयम् ।
एवं साधनभक्तिमार्गे समर्थितं त्यागाभावमुपसंहरन्ति अतोत्रेति । यतो बहून्येव
बाधकान्युक्तान्यतोऽत्र साधने भक्तौ श्रवणादिरूपसाधनभक्तिमार्गे त्यागः संन्यासः सुखावहः
आनन्दहेतुर्नैव भवतीत्यर्थः । साधनपदमेवकारश्च फलभक्तौ त्यागस्य सुखनैयत्यावगत्यै ॥
नन्वेवं भक्तिमार्गे न युक्तश्चेत्परित्यागः, तर्हि ज्ञानमार्ग एवास्ताम्, एवम भक्तिमार्गे
व्यर्थस्तद्विचार इति चेत्त्राहुः विरहानुभवार्थमिति ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेपः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
यद्विध्वेतप्रकटः स्वात्मा बह्विवत्प्रविशेणदि ॥ ११ ॥

तदेव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।
गुणास्तु सद्गुराहिल्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवान् फलरूपत्वात्तत्र बाधक इष्यते ।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३ ॥

तुशब्दः साधनमार्गवित्यागव्यावृत्त्यर्थः । साधनभक्तौ परित्यागस्य बहुबाधका-
स्कन्धितत्वेनासम्भवेपि रसात्मकस्य प्रभोः परमफलरूपद्वितीयदलविधिवभावात्सादन-
लक्षणो यो विरहानुभवस्तदर्थं परित्यागः सर्वात्मभावज्ञभूतः संन्यासः प्रशस्यते, प्रशस्तौ
भवति, किंवा प्रकर्षेण मोक्षाधिककक्षापन्नत्वेन कथ्यत इत्यर्थः । तेनातिशयितभगवदङ्गी-
कारात्तयाधिकाराधिगमेन विधीयमानः परित्यागः परमपुमर्गरूपतद्विप्रयोगरसानुभावक-
तया भक्तिमार्गे भव्यतम एवेत्येतद्विचारः गुचास्तर इति भावः । ननु ज्ञानमार्गविसंन्यास-

ग्रहणे यथा विहितत्वात् कापायवस्त्रवेपः क्रियते, स हि सातिशयो मोक्षार्थः, तथा भक्ति-
 मार्गीयसंन्यासग्रहणे स न भवतीति किमर्थं तत्सम्पादनमिति चेत्तत्राहुः स्त्रीयवन्धनि-
 वृत्त्यर्थमिति । अत्र विरहानुभवार्थं भक्तिमार्गीये परित्यागे ज्ञानमार्गीयसंन्यासे प्रसिद्धो
 वेपस्तं विना भार्यादिभिः प्रतिबन्धः कार्य इति स्त्रीयैदारादिभिर्यो बन्धः प्रतिबन्धः, किंवा स्त्रीयेषु
 बन्ध आसक्तिः प्रतिबन्धरूपा तद्विवृत्त्यर्थं कर्तव्यो, न चान्यथा, प्रकारान्तरेण ज्ञानमार्गीयेण न
 कर्तव्य इत्यर्थः । यथा ज्ञानमार्गीयसंन्यासे तादृशवेपस्यादृष्टविशेषद्वारापवर्गोपयोगित्वम्, न
 तथा भक्तिमार्गीयसंन्यासे, तस्य स्त्रीयवन्धनिवृत्तिमात्रप्रयोजनत्वेनैवात्र कर्तव्यत्वादित-
 रथा तदभावादिति भावः । ननु ज्ञानमार्गे गुरुतदुपदिष्टसाधनादेरिष्टसिद्धिः, न पुनः
 संन्यासमात्राद्, भक्तिमार्गीयसंन्यासे तु तदप्रसिद्धेः कथं फलसिद्धिरित्याशङ्कायां तत्प्रसि-
 द्धिमाहुः कौण्डिन्यो गोपिका इति । कौण्डिन्यो महर्षिः स गुरुः प्रोक्तः, गोपिका
 घोषभूषणरूपाः सीमन्तिन्यः, ता भक्तिमार्गीये विरहानुभवपर्यवसायिनि संन्यासे गुरवः
 प्रोक्ताः, श्रीभागवतादिषु सम्यक्कथिता इत्यर्थः । अत्रायमभिप्रायः । कौण्डिन्यस्यानन्तगुण-
 वर्णनाकर्णनोदीर्णतदभ्यर्णगमनादिमनोरथार्णवभवदनन्तमात्रसन्तसाशेषकरणवृत्तेः कृत्स्नप-
 रित्यागेन विपिनगहरादिषु तद्वेषणविवशस्य सर्वपरित्यागपूर्वकतादृगादिलक्षणविर-
 हानुभवहेतुभावप्रकाशकत्वमस्ति । गोपिकानां तु स्वप्राणप्रेष्ठप्रस्फुरत्सर्वात्मभाववत्तया
 रासोत्सवादिप्रस्तावे तथात्वं स्फुटतरमेवेति लोकेवेदातीतशुद्धपुष्टिमार्गीयप्रकारस्य प्रभुणा
 स्वप्रयोजनार्थं स्वभोग्यभक्तस्थापितस्य प्रथमं तत एव प्राकट्यात्तत्रैव गुरुत्वं समञ्जसतमम् ।
 महर्षी तु तद्दर्शनातिप्रकर्षतीत्यात्तदुक्तिः, प्रमाणमार्गीयस्यात्र मुख्यं गुरुत्वमयुक्तमिवेति ।
 तेन गुरुत्वमत्रैतत्परित्यागफलसाधनीभूतभावप्रकाशकत्वं विवक्षितम्, न तूपदेष्टृत्वम्, तस्य
 प्रकृतेऽभावात् । एतत्संन्यासस्य ज्ञानमार्गीयतद्विलक्षणत्वेनैतादृशस्यैव तस्य वक्तृमौक्तित्यात् ।
 उपदेष्टृत्वस्यापि तदर्थज्ञानमात्रौपयिकतया फलतो विशेषाभावाच्च । अत एव 'एवं सत्यस्मि-
 न्मार्गे स्वामिन्य एव गुरव इति ज्ञापितं भवती'ति निरोधविवृत्तिप्रकाशे श्रीमदस्मत्प्रभुचरणचार्-
 रुक्तिश्चकास्ति । 'स्वामिन्य एव'लेवकारान्मुख्यं गुरुत्वमेतासामवसेयमित्यन्यदेतत् । किञ्च,
 न केवलमेता एतादृशभावमात्रस्य निजमार्गीयस्य प्रकाशिकाः, किन्तु यथा स्वभजनपरा-
 णामेतद्भावफलं सिध्यति, तथानुकम्पा सम्पादिका इति विरहानुभवात्मकफलौपयिकधर्म-
 वत्त्वलक्षणं साधनत्वं गुरुत्वेपि न विरुद्धं, कर्तुरिव निमित्तकारणत्वमित्याशयेनाहुः
 साधनं च तदिति । तत्प्रसिद्धं मुख्यं साधनं गोपिका एवेत्यर्थः । चोप्यर्थे । तेन श्रीम-
 दाचार्यचरणानुग्रहभरविजृम्भिततत्प्रकटितैतन्मार्गीयप्रकारपरिकलनावतामेतद्भावसजातीयभाव-
 वत्तयैतद्भजनपूर्वकं प्रभुभजने यथोक्तमुख्यफलं भवतितरां निर्विचिकित्समिति भावः ।
 अत एव भगवद्भजनापेक्षायान्येतासां भजनमुत्तममिति सूक्तिः श्रीमदाचार्यचरणानाम् ।
 नन्वेवमेतासु गुरुत्वे व्यवस्थापितेपि किमेतत्प्रकाशितं स्वमार्गीयं साधनमित्यत आहुः
 भाव इति । सर्वात्मभावयुक्तानां भक्तानां विप्रयुक्तत्वदशावशादुन्मिपतो मनोवागविषयस्य

भावस्य भगवत्स्वरूपात्मकत्वेन रसात्मकत्वात्तस्य भावनया स्वाचार्यानुग्रहभरसमुत्पत्तयाविध-
 भगवदङ्गीकारादेवोदयमानया सिद्धः पर्यवसितो यस्तत्सजातीयोऽनुभवैकगम्यो भावः
 स एव तन्मार्गीयतया पूर्वोक्ते परित्यागफले साधनमिष्यते, अन्यत् ज्ञानमार्गीयत्वाये
 प्रसिद्धं किमपि साधनत्वेन नेष्यते, नाङ्गीक्रियत इत्यर्थः । यद्वा । असिद्धस्य भावस्य सा-
 धनत्वायोगेन प्रियतमस्य गुप्ततया स्थितस्य विप्रयोगरीत्या तत्तद्भावपोपकस्य तादृग्भक्त-
 निजविषयकोत्कटातिनिरीक्षणेन प्रतिक्षणविलक्षणरसभावानुभवविचक्षणस्य प्रभोः शुद्धपुष्टि-
 भक्तकर्तृकया परमार्तिपूर्वकप्रियान्धेषणतर्वादिप्रश्रगुणगानतत्तदवसासम्बन्धिभावविषयिण्या
 भावनया तेष्वेव सिद्धः फलितो यः कोप्यनिर्वचनीयानुभवैकविषयवैभवः स्वविषयातिरिक्त-
 स्मरणहरणस्वभावः स एवोक्तभक्तानामनुग्रहेणैव कदाचिदन्यत्रापि क्वचिदुदितः परित्याग-
 फले साधनमिष्यत इत्यर्थः । एतेनोक्तभक्तानां गुरुत्वं सम्यगुपपादितं भवतीति भावः ।
 नन्वहर्निशं विरहभावनामभ्यस्यतत्तत्परिपाकदशायां नियमतो वैकल्याणस्यादिकं
 यद्भवति तत् कथं फलरूपरसभावेऽन्तर्भावार्हम्, लौकिकतत्तुल्यरूपत्वदर्शनेन प्राकृतत्वस्य
 दुर्वारत्वादिति चेत्त्राहुः विकलत्वमिति । विकलत्वमनुसन्धेयसानुसन्धेयस्य चा-
 ननुसन्धानानुसन्धानान्ययातुसन्धानादिजनको व्यभिचारिभावः । तथा तत्सदृशं व्यभिचारि-
 भावरूपं प्रथमानुभूतप्रियविषयकतत्तद्योत्कट्याभिलाषजनितमस्वास्थ्यं, येन तदतिरिक्ते वस्तु-
 निरुचिव्याघातः । ईदृशभावानामन्येषामुपलक्षणमेतद्वयं फलीभूतस्य विरहभावस्य प्रकृतिः
 प्रकारः स्वभावो वा, हि यतः प्राकृतं लौकिकं दुःखादिजन्यं न भवति, अतः फलरूपरसभा-
 वान्तर्भावो नैतस्यानुपपन्न इत्यर्थः । नहि यज्जातीयं कार्यं दुःखादितो जायते, न तज्जातीयं
 सुखादित इत्यस्ति नियमः । शोकादिव हर्षादप्यश्रुमादेर्दर्शनात् । अत एवैवमुक्तं श्री-
 मदाचार्यचरणैर्देशमस्फुन्धविवरणे, 'नहि दोषेणैव कार्यं भवति, गुणेन न भवतीति वक्तुं
 शक्यम्, दुःखादप्यश्रुणि आनन्दादप्यश्रुणीति । एवं संन्यासफलसाधनाद्यभिधाय,
 तत्सम्पत्तिमतो बाधकान्याहुः ज्ञानमिति । एवं विकलत्वास्वाध्यादिना वर्तमानस्य सततस्य
 भक्तिमार्गीयपरित्यागवतः । किञ्चैवं परित्यागप्रकारेण वर्तमानस्य भक्तिमार्गीयस्य तस्य
 विकलत्वास्वाध्यादिभावस्य ज्ञानमात्माभेदानुभवरूपं यहिःसंवेदनाद्यभावद्वारा तादृ-
 क्तीव्रतापीपशामकतया स्वास्थ्यप्रयोजकं, गुणा भगवतो धर्माः, पूर्वं चहुधातुभूता बहव
 एवानुभवैकवेद्या ये सजातीयभावैर्भक्तैः सम्भूय भूयः क्रमेण मिथो गीयमानाः स्वास्थ्यमु-
 पजनयन्ति, बाधका विरोधिन इत्यर्थः । ननु ज्ञानमार्गे संन्याससहकृतात् ज्ञानाघादशं फलम्,
 भक्तिमार्गेपि त्यागात्तादृशमेव भविष्यतीति न फलत कोपि विशेष इति चेत्त्राहुः सत्य-
 लोक इति । फलभेदः सामग्रीभेदप्रयोज्य इति ज्ञानमार्गीयेण संन्यासेन विशेषितात्
 ज्ञानात् तत्त्वज्ञानात् सत्यलोके स्थितिर्रहलोकप्राप्तिरिति यावत्, सा ज्ञानमार्गीयस्य संन्या-
 सिनो भवति, भक्तिमार्गीयस्य तस्य विरहभावानुभावकभावमिद्धिहेतुभूतया भावनया

सहकृतत्वाद्यद् भक्तिमार्गीयत्यागे, भावना साधनं प्रयोजिका, तत्र फलमपि तथा, तेनैव प्रकारेण विरहानुभवत्सकं भवेत् । नतु सत्यलोकादिसदृशं, कारणानुरूपस्यैव कार्यस्य न्याय्यत्वात् । सत्यलोकाद्येतत्प्रागफलयोस्तारतम्यं तु सुमेरुसर्पपयोरिव सुप्रसिद्धमेवेति क इतोधिको विशेषोभिधेय इति भावः । किम्, ज्ञानमार्गीयस्य त्यागिनः फलं यन्मुख्य-तयाभातमपवर्गाख्यम्, तदपि न त्वरितमेव भवति, किन्त्वतिविलम्बेनैवेत्यभिसन्धायाहुः तादृशा इति । तादृशाः संन्यासविशिष्टज्ञानवन्तः सत्यलोकादौ ब्रह्मलोकादाववान्तरफल-तयोपनते तिष्ठन्त्येव, न तु झटिति मुच्यन्त इत्यर्थः । 'ते ब्रह्मलोके त्वि'ति श्रुत्या तन्मुक्तिविलम्बावधारणात्तल्लोकस्थितिरसन्दिग्धेति न संशय इत्युक्तम् । तेन भक्तिमार्गीयत्याग-फलचिन्तायामविचारितरुचिरस्याप्यस्वातिचिरेणैव चेत्प्राप्तिः, तदा तदाशामप्यवलम्ब्य स्थितिः श्रेयसी, न पुनरेतद्बुचिलवोप्युचित इति भावः । नन्वेवं भक्तिमार्गीयत्यागेऽपि कुतः शीघ्रं फलसम्भवो यत्तत्प्रतिबन्धकस्तत्तदहन्ताममतादिरूपो बन्धस्तदवस्थस्तच्चाशयं ज्ञाना-दिकं विना कथमित्याशङ्क्य तत्प्रकारमाहुः बह्विश्चेदिति । सर्वपरित्यागानन्तरं विर-हभावभावनाभ्यासगूयस्त्वादन्तस्तद्भावरूपेण स्थितोऽत एव स्वात्मा निरुपधिप्रियत्वाजीवन-हेतुत्वाच्च तत्त्वेन स्फुरितः स कदाचिदत्युत्कटतापैक्यव्यादिभावस्वभावाद्यादृशीन्तर-नुगूयते तादृशो बहिः प्रकटो दगादिगोचरश्चेद्भवति, तथाभूतश्च यदि पुनरन्तःप्रविशेत् तत्र दृष्टान्तो बह्विदिति । यथा काष्ठनिष्ठो बहिः कदाचिन्मथनादितो बहिः प्रकटीगूय पुनस्तन्मध्ये प्रविष्टः काष्ठतामपाकृत्य बहिरूपतां सम्पादयति, तथा भगवानप्यात्मत्वे-नान्तःस्थितो विरहभावोद्रेकाद्बहिरागतः पुनः सम्बद्धः सर्वथा प्रतिबन्धकमपनीय निज-भावरूपतां सम्पादयतीत्यर्थः । बह्विदृष्टान्तेन स यथा तापहेतुरूपेणैवं सम्बद्धः स्वरूपात्म-कत्वं कुरुते, तथा भगवानपि विप्रयोगभावप्रकारेणैव सम्बद्धस्तद्भावरूपतामित्यपि सूचितम् । तदैव पुनः प्रवेशक्षण एव सकलः सर्वोपि तत्तदहन्ताममतारूपो बन्धो नाशमेति प्राप्नोति, न चान्यथा, प्रकारान्तरेणात्र प्रतिबन्धकस्य नाशो न भवतीत्यर्थः । नन्वेवं कार्त्स्न्येऽहन्ता-ममतात्मकस्य बन्धस्य विलये प्रलयानलादप्यतिप्रबले विप्रयोगे च प्राचुर्यमश्नति, जी-वनमेवाशक्यं स्यात्, तत्तद्रसमानुभवस्तु दूरदूरतर इत्यत आहुः गुणास्त्विति । तुशब्दः प्रकारान्तरव्यावृत्त्यर्थः । गुणाः स्वरूपात्मका भगवद्दर्मात्मकाः ते पूर्वं तथा तथा-नुभूता वियोगदशायां सङ्गराहित्यात् बहिःप्रियदर्शनाद्यभावात् अतिविरहतापबिह्वलतया कमपि प्रकारं प्राप्नुवतां भक्तानामग्रिमैवंविधरसानुभवाय भगवता सर्वभावेन रक्षणी-यानां जीयनार्थं भवन्ति । नतु स्वास्त्यमप्युत्पादयन्ति येन तद्भावान्तरायः स्यात् । हि युक्तोयमर्थः । रसात्मकस्य धर्मिणो विरहेण सन्दिग्धस्थितीनां जीवनं स्वरूपात्मकतया तदीयगुणानामेव शक्यं यतः । यद्यपि धर्मिणो विरहस्य सर्वाधिकबलतया सर्वतिरोपाय-कत्वाजीवनं कथमपि न जाघटीति, तथापि तस्य प्रियगुणगानप्रादुर्भावावकाशप्रदत्वात्तेषां

च पर्यायेण मुहुरुपनीयमानानां पेपीयमानपीयूषवजीवनजननस्वभावस्य जागरूकत्वाच्च काप्यनुपपत्तिः । न चैवं गुणैर्जीविनसम्पत्त्यनन्तरं विरहभावस्य तिरोभावः प्रसज्येतेति वाच्यम् । तेषां जीवनाधिककार्यानुपधायकत्वेन तस्य तादवस्थ्यात् । विरहानुभवार्थं तज्जीवनमात्रस्य भगवच्चिकीर्षितत्वाच्च । नन्वेवं सति स्वविरहसन्तापभरणीडितस्वान्तानामवस्थां विचार्य सर्वसमर्थो भगवानेव यदि कदाचिदपि लोकसिद्धस्वास्थादिना प्रकारान्तरेण वा तद्भावमुपशमयेत्, तदा स्वयमेव बाधकः स्यादिति चेत्तत्राहुः भगवानिति । अत्र अस्मिन् स्वविप्रयोगतीव्रतापादिभावानुभवे भगवान् यद्यपि सर्वैश्वर्यसहितः, तथापि बाधकः केनापि प्रकारेणास विघातको नेष्यते, कुतः, फलरूपत्वात्, निरवध्यानन्दरसात्मकत्वादित्यर्थः । यदि भगवान्मनागप्येतद्भावमपनयेत्तदा रसस्य संयोगविप्रयोगभेदेनोभयरूपत्वादन्यतरभावानुभवाभावे स्वस्य तथात्वमेव न सिध्येत् । सर्वात्मभावस्तु स्वरूपात्मकं रसमविरतं वितरत एव फलरूपत्वान्मुपगमादिति भावः । एवं च 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति ।' 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'त्यादिश्रुतिव्याकोपोपि नोपनिपतति । ननु तथापि परमकरुणापरीतो भगवान् भक्तानां भृतिरत्मात्मविरहक्लेशमसहमानस्तदुपशमाय सर्वथा स्वास्थ्यप्रतिपादकवाक्यानि करिष्यति, अन्यथा स्वदयालुत्वविरोधः स्यादिति चेत्तत्राहुः स्वास्थ्यवाक्यमिति । स्वास्थ्यभागान्तुक्लेशनिवृत्त्या पूर्ववत्स्थितिः, तत्प्रतिपादकं वाक्यं प्रशुणा न कर्तव्यम् । न चैवं सति सामर्थ्यं दुःखदर्शी कीदृशो दयालुरिति शङ्कनीयम् । एवंविधविरहक्लेशादिभावस्य परमपुमर्थरूपत्वेनैतदभावसम्पादन एव दयापचयापातो यतः । अतः स्वत एव तादृशमावनिवहान्निजेष्वनिशं विशदयतो निर्व्यूढो दयातिशय इति मनसिकृतोक्तं दयालुर्न विरुध्यत इति । न ह्येतादृशभावानां प्रतिक्षणं संरक्षणपोषणादितोऽप्यधिकं कश्चित्किञ्चिद्वाकार्यमस्ति । क्लेशादित्वेन प्रतीतिमात्रमत्र परं प्राकृतानाम्, वस्तुतस्त्वभी रसालका अनुभवैकवेधा निरवद्यभगवद्भावा इति मुख्यमखिलम् । स्वास्थ्यवाक्यमित्येकवचनेनैकमपि तादृगवाक्यं प्रशुनं करोति, येनैतद्भाववाधः स्याद्, बहूनां तु सम्भावनैव केति भावः । एवं भक्तिमार्गीयं परित्यागमभिधाय तस्य दुरापत्वं वदन्तस्त्वसिद्धशुपायमाहुः दुर्लभोद्यमिति । अयं भक्तिमार्गीयपरित्यागो दुर्लभः, शुद्धभगवत्क्लेशातिरिक्तसाधनालम्बत्वात् । अत एव तथाभूतप्रश्ननुग्रहप्रभयेन प्रेम्णा शुद्धस्नेहेन सिध्यति, तस्य तत्तत्स्वकार्यपरम्परया तन्निर्वाहकत्वात्, नान्यथा, न तु विहितेन केनापि प्रकारेणेत्यर्थः । तेनैतदर्थिनां तदीयानां प्रेम्णि प्रयत्नः प्रतिष्ठितो भवतीति भावः । यत्रैतत्साधनस्य प्रेम्णा एव दुर्लभत्वम्, तत्रैतत्साध्यपरित्यागस्य दुर्लभत्वं किं वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायो द्योत्यते ॥ ६-१३३ ॥

एवं स्वमार्गीयं संन्यासं विचार्य ज्ञानमार्गीयसंन्यासविचारमाहुः ज्ञानमर्त्तं इति ।
ज्ञानमार्गं तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पापण्डित्वं भवेद्यापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रयत्नत्वादिति स्थितम् ॥ १६३ ॥

तुशब्दो भक्तिमार्गीयत्यागव्यावृत्त्यर्थः । ज्ञानमार्गे मोक्षार्थं विविदिपाविद्वत्ताभेदेन द्विविधोपि संन्यासो विचारितः । तदेवाहुः ज्ञानार्थमिति । ज्ञानार्थं ज्ञानप्रयोजनार्थं यः स विविदिपासंन्यासस्तस्य ज्ञानेच्छाप्रयुक्तस्य ज्ञानोत्पादनोपयोगित्वात् । उत्तराङ्गं मुक्त्यङ्गं यः स तु विद्वत्संन्यासस्तस्य ज्ञानोत्तरभाविनो मुक्तावेवोपक्षयात् । चकारेण मुक्तिचरमकारेण ज्ञानेपि तदुपयोगः सूच्यते । तत्र विविदिपासंन्यासः कलौ न सम्भवतीत्यभिधास्यते । विद्वत्संन्यासस्तु यद्यप्यस्ति, परं तस्मिन् सिद्धिर्मुक्तिर्जन्मशतैरेकजन्मभिर्भवति । 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यत' इति प्रभुवाक्यात् । ज्ञानार्थं संन्यासस्तु कलौ न सिध्यतीत्याहुः ज्ञानमिति । ज्ञानं च न केवलं संन्यासाद्भवति, किन्तु साधनापेक्षं यज्ञदानाद्यधीनं मतं, साधनत्वेन यज्ञादीनां श्रवणात् । 'तमेवं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिपन्ति यज्ञेन दानेने'ति श्रुतेः । तानि च देशकालादिसाध्यानि, तच्छुद्धिः कथमपि कलौ न भवति । यतोतः कलौ स विविदिपासंन्यासः कृतः पश्चात्तापायैव भवति, नान्यथा, यतः फलान्तरमपि शक्येतातः सर्वयैव न कर्तव्यं इति भावः । किञ्च, न केवलं पश्चात्तापस्तस्य पर्यवस्यति, किन्त्वन्वदपीत्याहुः पापण्डित्वमिति । पापण्डित्वं स्वधर्मविरुद्धाचरणं च भवेत् । अपिशब्दस्तत्रान्यपापसमुच्चयार्थः । यस्मादीदृशोयं संन्यासस्तस्मात् ज्ञाने ज्ञाननिमित्तं न संन्यसेदित्यर्थः । यद्वा । ज्ञानेन हेतुना संन्यसेत्, नतु तेन विना तथेत्यर्थः । अपिच युगान्तरे यथा कथञ्चिद्विविदिपासंन्यासस्य निर्वाहः शक्येतापि, कलौ तु कलयामि नेत्याहुः सुतरामिति । कलिदोषाणां बहूनां प्रयत्नत्वादशक्यवाधत्वादिति स्थितं, पर्यवसन्नमित्यर्थः ॥ १४-१६३ ॥

ननु यदि कलिदोषप्रावल्याज्ज्ञानमार्गे न संन्यासस्य निर्वाहस्तर्हि तत एव भक्तिमार्गेपि तस्य तथेति तुल्यमित्येवमाशङ्कन्ते भक्तिमार्गेपीति ।

भक्तिमार्गेपि चेदोपस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अध्वारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्वाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं चार्थां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

भक्तिमार्गेषु चेत् कलिसम्बन्धी दोषः प्रबलस्तदा नाश एव स्यात्, नतु त्यागस्य फलपर्यवसानमिति किं कार्यं, स्त्रीकार्यो वा ज्ञानमार्गीयः परित्यागः, परिहार्यो वा भक्तिमार्गी योपीति महत्सङ्कटमिति प्राप्ते, उच्यते, समाधानमिति शेषः । तदेवाहुः अत्रारम्भ इति । ज्ञानमार्गे संन्यासस्योपक्रमे कलिकालादिदोषैः साधनवैगुण्यात्तदनिर्वाहे नाशः फलाभावो युज्यते । न च तत्र दोषसत्त्वे किं मानमिति वाच्यम् । 'कलेर्दोषनिधे'रिति वाक्येन भगवद्भजना-तिरिक्ते तत्सद्भावस्य बोधितत्वात् । दृष्टस्य श्रुतस्य वा नाशस्यैव दोषोन्नायकत्वाच्च । अत्र भक्ति-मार्गे आरम्भे उपक्रमे त्यागस्येति शेषः नाशः फलाभावो न स्यात्, कलेरन्यत्र बाधकस्यापि भक्तिमार्गे साधकत्वेन साधनवैगुण्याप्रसक्त्या संन्यासस्यानिर्वाहासंभवात् । भक्तिमार्गस्य ज्ञान-कर्मादिभ्यो बलबत्त्वस्य बहुलमुपलम्भात् । 'न कर्हिचिन्मत्परा नंक्ष्यन्ति' 'न मे भक्तः प्रणश्यती' त्यादिभिर्भक्तस्य नाशभावावधारणाच्च । एकादशस्कन्धे 'न ह्यंगोपक्रमे नाशो मद्धर्मसोद्धवा-ण्वपी'त्यनेनारम्भदशायामपि तदभावस्य प्रतिज्ञातत्वाच्च । तेन भक्तिमार्गे दोषलेशोपि न शक्तिं शक्य इति भावः । किञ्च, भक्तिमार्गे परित्यागवान् कश्चिन्नद्ये दृष्टः श्रुतो वा येन तद्दृष्टान्तेना-न्यस्मिन्नप्याधुनिके नाशः शक्यवचनः स्यादतो दृष्टान्तस्थाप्यभावतो भक्तिमार्गे न कश्चिदुन्नेतुमपि शक्यते दोष इति न नाशसम्भावनालेशोपि । ननु तथापि विरहव्यथाव्या-कुलः सन् यदि कोपि कदाचित् स्वास्थ्यसम्पादकं कमपि पदार्थमुपादद्यात्तदा तस्य भावस्य वा बाधः स्यादेवेति चेत्त्राहुः स्वास्थ्यहेतोरिति । स्वास्थ्यहेतोः स्वास्थ्यप्रयोजकस्य येनैवैतद्भावविधातकं किञ्चिदपि स्वास्थ्यं भवति तस्य सर्वस्यैव पूर्वमेव सर्वभावेन त्यागादस्य भावस्य त्यागिनो वा बाधः प्रतिपातः केन पदार्थेन सम्भवेत्, न केनापीत्यर्थः । ननु लौकिकस्य बाधकस्यासम्भवेप्यलौकिकाः कालादय एव बाधका भविष्यन्तीति चेत्त्राहुः हरिरिति । यद्यपि हरिः सर्वदुःखहर्ता समर्थः सद्यश्च, तेन भक्तलेशलेशमपीक्षितुं न क्षमः, तथाप्यत्र अस्मिन्नतिप्रसुरविप्रयोगभावे बाधां नाशं स्वरूपरसाद्युतैरेतद्भावरूपैर्भक्तानामपोषणरूपं कर्तुं न शक्नोति, समर्थो न भवति । अपरे कालादयः कुतो बाधां कर्तुं शक्यन्तीत्यर्थः । इहायमभिसन्धिः । भगवान् हि रसत्वेनैव 'रसो वै स' इत्यादिश्रुत्या निरूपितः, तत्त्वं च संयोग-विप्रयोगात्मके शृङ्गार एव विश्रान्तमिति तदुभयात्मकः स्वयं स्वस्वरूपात्मकानेव तत्तद्रस-मायांस्तत्तद्विद्वृत्तिभिरत्यनुग्रहीतेष्वविभोष्य तदनुभवं विदपत्तदुद्बोधितनिजभावनचिचयानां चानुभवमनिर्वचनीयानेकप्रकारैर्भक्तानां सम्पादयन् स्वरूपानन्ददायको महोदारो मुहुर्मुहुर्वि-प्रयोगादिभावपोषणमेव कर्तुमर्हति, न तु तद्विधातमपि, स्वस्य भावात्मकत्वात्तेषां चातिप्रब-

लत्वाद्भक्तविषयकैर्भावैः स्वस्य तदधीनत्वभावनात् निरपेक्षिकृपानिधित्वस्य प्रकटितत्वाच्च ननु तथापीश्वरः स्वतन्त्रः कदाचिद्भावमन्यययेदेव, न तु नियमेन पोषयेदित्याशङ्क्य तस्य स्वभाव एवेदंशो यदेतद्भावं पोषयत्येव, न तु नाशयतीतीममर्थं व्यतिरेके दृष्टान्तेन समर्थयन्ति अन्यथेति । यदि भगवान् स्वरूपाभूतैरुक्तभावेर्भक्ताश्च पोषयेत् क्वचित्, किन्त्येतद्भाववाधनमेव कुर्यादिति तदा लोके मातरो जनयिष्यो धालान् स्तनन्धयान् स्तन्यैः क्वचित् न पुपुषुर्न पोषितवत्य इत्यपि स्यात् । तनु तथाभूतस्वभावानां तासां सर्वथैवाप्रसिद्धमसम्भावितमशक्यं च, एवं भगवतोपि स्वस्वरूपाभूतैर्भक्तानामपोषणमेतद्भावनाशनरूपमित्यर्थः । तेन स्तन्यादिदानेन बालकानामपोषणे यथा मातृपुत्रात्सत्यस्वभावस्य तेषां जीवनस्य चान्यथाभावः स्यात्, तथा स्वरूपाभूतदानेन भक्तानामपोषणे स्वरूपाल्मिकानुभूयमानविप्रयोगभाववाधनलक्षणे भगवति तादृक्स्वभावस्य भक्तानां जीवनस्य चान्यथाभावः स्यादिति भावः । ननु यद्यप्ययं भावः सर्वाशक्यवाधस्तथाप्येतद्भावस्य वहिःसंबेदनदशायामेवोद्भवसम्भवेन ज्ञानस्य च तन्नाशकत्वेनैतादृशभाववतो भक्तस्य भगवदिच्छया ज्ञानिभिः संगे सति तद्भावव्यैरेतद्भावविपर्यासेन चित्तस्यान्यावृत्तिरूपो मोहो भविष्यत्येव, तेन च फलप्रतिबन्ध इति चेत्तत्राहुः ज्ञानिनामपीति । यद्यपि 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्यैत्यादिवाक्यैर्ज्ञानस्य तादृशभक्तिपरिपन्थित्वमिति तद्वत्संगे भवति भाववैपरीत्यं, तथापि भगवान् भक्तं तादृशं ज्ञानिनामपि वाक्येन ज्ञानाद्भक्तेराधिक्यज्ञापनाय तन्मार्गीयाणां संसर्गं संपाद्यापि तद्वाक्येन वहिःसंबेदनविघटनद्वारा तद्भावविरोधिना अत्युत्कटभाववन्तं न मोहयिष्यति, तथा सति तद्भावमेव तस्य न सम्पादयेत्, प्रयोजनाभावात् । अग्रे तस्य ज्ञानिवाक्यादिभिर्निरस्यत्यात् । किञ्चैवं सर्वश्रुतिस्मृतिपुराणसिद्धं ज्ञानमार्गीयभक्तिमार्गस्याधिक्यमुत्सिदेत् । अतो भक्तस्य भावः केनाप्यन्यथा कर्तुमशक्य इति न फलप्रतिबन्धसम्भावनापीति भावः । रुद्रप्रयोगेणाग्रेपि मोहानुत्पादः सूच्यते । ननु प्रभु-कृतिप्रयोजनमाकलयितुमशक्यं तदिच्छामन्तरेणेति कदाचिद्दत्तमपि भावं प्रत्यादित्सुक्षेत्, तदा ज्ञानिवाक्यैर्भक्तमपि मोहयेदेवेत्याशंकायामाहुः आत्मप्रद इति । यत आत्मानं रसरूपं भक्त्यैः प्रकर्षेण विमुक्तसंकीर्तय ददाति, प्रियः प्रीत्याश्रयश्च, अपिशब्दात्तदधीनश्च भवति, अतो दित्सितस्य स्वरूपस्यैतद्भाववतिरिक्तप्रकारेण दानासम्भवादेतद्भाववरहिते तद्वानाभावेनास्यादेयतापत्तेः प्रीत्यन्यथात्वप्रसक्तेः प्रयोजनाभावप्रौढ्याच्च किमर्थं मोहयिष्यतीत्यर्थः । एवं स्वमार्गीयं परित्यागं सम्यग्विचार्य तं कर्तुमपदिशन्ति तस्मादिति । यस्माद्भक्तविरिक्तप्रकारेण कृतः परित्यागः पश्चात्तापैकपर्यवसितस्तस्मादुक्तो यः प्रकारो 'विरहानुभवार्थं स्त्रियादिना तेन परित्यागो भक्तिमार्गीयः संन्यासो विधीयतां क्रियतामित्यर्थः । तथा सति पश्चात्तापनिवृत्तिपूर्वकमुक्तफलमप्रत्यूहं भविष्यतीति भावः । ननुक्तपरित्यागफलस्यैतत्प्रकारेणैव सिद्धान्वयि प्रकारान्तरकृतपरित्यागे किञ्चित्प्रयोजनं भविष्यत्येव, तस्यापि तत्र तत्रोक्तत्वादिति चेत्तत्राहुः अन्यथेति । अन्यथा प्रकारान्तरेण संन्यासे स्वार्थात् स्वप्रयोजनात् अद्भ्यन्ते अग्रे भवति, तेन पश्चात् तस्य एव भवेदिति मे एतद्भावतत्त्वाभिज्ञस्य निश्चितस्युक्तिर्निसन्दि-

ग्या बुद्धिरतो भदीयैरेतन्मत्यनुसारिभिः प्रकारान्तरं सर्वथैव नोपादेयमित्यर्थः ॥ १७-२१ ॥
उपसंहरन्ति इतीति ।

इति कृष्णप्रसादेन बह्यभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

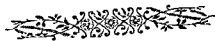
इतिशब्दः समाप्तौ । कृष्णप्रसादेन कृष्णः फलात्मा, यशोदाद्युत्सङ्गलालितः,
तस्य प्रसादः, परमकाष्ठापन्नोऽनुग्रहः, तेनासाधारणालौकिकहेतुनालौकिकस्यैतन्निश्चयजनना-
सामर्थ्यात् बह्यभेनेति प्रथितेन प्रभोः प्रियेणात् एव रसात्मकतत्त्वरूपस्य संयोगविप्रयोग-
भावतदवान्तरमेदानुभववता भक्तौ फलरूपायाम् संन्यासवरणं पुष्टिमागीयपरित्यागा-
ङ्गीकार इति यावत्, तत् विशेषेण स्फुटतया गुप्ततया वा निश्चितं निर्धारितं, अन्यथा एत-
न्निश्चयमावे फलरूपभक्त्यभावे वा प्रकारान्तरेण संन्यासमुरीकुर्वन् पतित उक्तस्वमागीय-
संन्यासफलात् प्रच्युतो दोषवांश्च भवेदित्यर्थः ॥ २२ ॥

श्रीविह्वलेशचरणाञ्जसुगानुगश्रीकल्याणरायतनयेन मुदा विचार्य ।

गोपेश्वरेण विहिता विवृतिर्वितन्यात् संन्यासनिर्णय इयं विदुषां विनोदम् ॥ १ ॥

इतिश्रीश्रीगोकुलाधीशपदसरसिजसेवापथप्रवर्तकश्रीबह्यभाचार्य-

चरणाञ्जरजोणुशरणश्रीकल्याणरायात्मजश्रीहरिरायानुज-
श्रीगोपेश्वरविरचिता संन्यासनिर्णयविवृतिः सम्पूर्णा ॥



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीपुरोत्तमकृतविवरणसमेतः ।

स्वाचार्यवर्यचरणोदितभक्तिमार्गप्रारम्भकालिकजनतल्यजनप्रकारम् ।

संन्यासनिर्णयमयं विवृणोति दासः श्रीबालकृष्णपदपद्मनिवेशितात्मा ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा यदा देहदेशपरित्यागविषयकं भगवदाज्ञाद्वयं पुरःस्फूर्तिक-
विचारेण न कृतवन्तः, तदा सेवकत्वात् पश्चात्तापे जाते, लोकत्यागविषयिण्यां भगवतस्तृती-
याज्ञायां जातायां, विचारितवन्तः, किं भगवान् मदुपर्यग्रसन्नोस्ति, नवेति । तत्र यद्यप्रसन्नः
स्यात्, उपेक्षेतैव, न त्वाज्ञापयेद्, अतो द्वितीयैव कोटिः; परं तत्र किं कारणमिति
विचारे सूक्ष्मटीकानिवृत्त्याऽतिसर्जनरूपदेशत्यागस्य, माधवभट्टकाश्मीरिनिवृत्त्योपचयरूपेदह-
त्यागस्य च भगवतैवं कारितत्वात् पूर्वाज्ञयोर्देशदेहशब्दौ यौगिकावगतौ । ततस्तदाज्ञाद्वयं भग-
वतानेन प्रकारेण साधितमित्येव कारणमिति निश्चित्य पूर्वाज्ञाद्वयवस्तृतीयस्या अपि दुर्ज्ञेयतां
निश्चित्य, यद्यप्याज्ञाद्वयं सम्पन्नम्, तथापि स्वतस्तु न कृतम् । अतस्तदकरणजः पश्चात्तापः
कथं निवर्तत इति विचारे करिष्यमाणाज्ञाविषयविचारादेव भगवान् निवारयिष्यतीति
निश्चित्य स्वावस्थासूचनपूर्वकं परित्यागनिरूपणं प्रतिजानते पश्चात्तापेत्यादि ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितीये-प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

अत्र केचित् प्राञ्चो भक्तिमार्गीयपरित्यागेतरसर्वपदार्थान् विचार्य त्यागविचाराभाव-
जनितस्वपश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागविचारप्रतिज्ञेत्याहुः । अन्ये तु कर्ममार्गीयाणां संसार-
वैराग्यस्य बार्धक्येभ्यभावात् तत्सङ्गवशेन कदाचिद्भगवदीया अपि तादृशा मा भूवन्नित्ये-
तदर्थं सुखोपायस्य संन्यासस्य निरूपणप्रतिज्ञेत्युक्त्वा, शरीरवैकल्ये जाते पूर्वदशां स्मृत्वा, मया
पूर्वमेव भगवदर्थं किमिति न यत्नः कृत इतीदृशो यो भगवदीयानां तापः स पश्चात्तापइत्याहुः ।
इतरे तु भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च साधनदशायां सिद्धदशायां च परित्यागः कर्तव्यत्वेनोक्तः,

तत्राद्यायां पूर्णवैराग्याभावेन सम्यक्परित्यागासम्भवात् पापण्डित्वप्रसङ्गेन पश्चात्तापायैव सः
 सात्, एतच्चारतमज्ञानाभावेन भगवदीया अपि पूर्वं परित्यजन्तः पश्चात्तप्ता भवेयुः, तथा
 तान् दृष्ट्वा स्वयमाचार्या अपि पश्चात्तापमाप्नुयुरिति तदुभयविधपश्चात्तापानुदयाय प्रतिज्ञेत्याहुः ।
 अग्रे तु आचार्यैर्नियन्धे 'त्रिदण्डं परिगृह्णीत सर्वशास्त्राविरोधि त'दित्याज्ञापनात्तद्वीक्ष्य पुष्टि-
 मार्गीयोपि तुरीयाश्रमत्वेन त्रिदण्डं परिगृह्णन् पश्चात्तापमाप्नुयाद्, अतस्तदनुदयाय पुष्टि-
 मार्गसिद्ध्यसविचारारम्भ इत्याहुः । अन्ये तु श्रुत्यादिप्रमाणप्रतिपन्नस्य रसात्मकस्य भगवतो
 विरहात्मकमावानुभवः सर्वात्मभावप्रपत्येकलभ्यः सर्वपरित्यागं विना न सम्भवतीति तस्य
 त्यागस्य स्वरूपादिकमविदुषां ज्ञानादिमार्गेष्वपि परित्यागस्योक्तत्वात् सन्दिहानानां स्वीयानाम-
 विचारतः परित्यागः पश्चात्तापायैव भवेदिति तदभावाय विचारारम्भ इत्याहुः । मया तु
 तेषां परस्परविसम्मतिमवलोक्यान्तःकरणप्रबोधग्रन्थस्थपश्चात्तापपरित्यागपदयोरत्र प्रत्यभिज्ञा-
 नात् स एव पश्चात्तापोत्र निवर्त्येत्येनाद्यत इति न दोषः । ननु भगवदाज्ञाया जातत्वात्
 तथा तत्कर्तव्यतायाः स्वयं च निश्चितत्वाद्विचारस्य किं प्रयोजनमत आहुः स इत्यादि
 विचारणेत्यन्तम् । स परित्यागः मार्गद्वितये प्रोक्तः, मार्गस्य द्वितयं मार्गद्वितयम् । अत्र
 संख्याया अवयवे तयवित्यनेन द्विशब्दादवयवे तयप् । अवयवशब्दश्च 'अङ्गं प्रतीकोवयव'
 इति कोशादङ्गाख्य एकदेशे रूढः, सोत्र न सङ्गच्छते, सुख्याया गुणत्वेन तत्र देशमे-
 दस्य वक्तुमशक्यत्वात्, किन्तु 'सत्यं ह्यवयवः प्रोक्तः सर्वावयविनामिह'ति द्वादशस्कन्धे
 उपादानकारणेपि प्रयुक्त इति तदत्र ग्राह्यम् । तथा च संख्यायाः कारणं संख्येयं तदत्र
 पदति । समासे मार्गखेल्पभेदे पृष्ठी, तेन मार्गाभिचौ यौ द्वित्वसंख्यासंख्येयौ तयोः
 प्रकर्षेणावश्यकर्तव्यत्वेनोक्त इत्यर्थः । तत्र कौ तौ मार्गावित्यपेक्षायां, कुतश्च तत्रोक्त इत्यपे-
 क्षायां चाहुः भक्तौ ज्ञाने विशेषत इति । भक्तिमार्गे आरम्भदशायां सिद्धदशायां
 च, ज्ञानमार्गे विविदिपादशायां विद्वदशायां च वैराग्याद्यतिशयरूपं विशेषमभिप्रेत्योक्त
 इत्यर्थः ॥-१ ॥

ननु 'योगाद्ययो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधिस्तथा, ज्ञानं कर्म च भक्तिश्चे'त्येका-
 दशस्कन्धे भगवद्वाक्यात् त्रयोपि योगा नृणां श्रेयःसाधकत्वानुत्था इति कर्ममार्गे कुतो
 नोक्त इत्यत आहुः कर्ममार्ग इत्यादि ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वादिचारणा ॥ २ ॥

चातुराश्रम्यपक्षेण यद्यपि कर्ममार्ग उक्तस्तथापि 'कर्मयोगस्तु कामिना'मिति भगवता
 तस्य कामाधिकारकत्वेनोक्तत्वात्परित्यागस्य च वैराग्याधिकारकत्वात्तत्र न कर्तव्यः । यद्यपि
 'वनाद्वा प्रव्रजेद्विद्वानातुरो वाय दुःखित' इत्यङ्गिरसा आतुरभयभीतयोरप्युक्तस्तथापि कलि-

कालतः कलिकालं प्राप्य सुतरां न कर्तव्यः । कलिवर्ज्येषु संन्यासस्यापि गणनादित्यर्थः । तर्हि मास्तु कर्ममार्गे तस्य कर्तव्यता, तथापि यत्रोक्तस्तेनैव यथा कर्तव्यो, विचारस्य किं प्रयोजनमित्याकांक्षायामाहुः अत इत्यादि । अतः तत्तन्मार्गे तत्तद्दशायां परित्यागस्योक्तत्वात् भक्तिमार्गे आदौ आरम्भे कर्तव्यत्वमभिप्रेत्य विचारणा यथा कथञ्चित्सञ्जातमक्तेः पुंसो भक्त्युत्कर्षजनकश्रवणादिनिर्वाहार्था एका आरम्भदशा, तीरन्वस्रौरासक्तिसिद्धयर्था द्वितीया, तदुत्तरं व्यसनसिद्धयर्था तृतीया, तत्र यस्यां दशायां कलिकालादिकृतदोषसम्बन्धो न भवति तदर्थं तदीयदशाफलस्वरूपप्रकारविचारः कियत इत्यर्थः । एवं सार्धेन प्रयोजनमुक्तम् ।

अत्रायमर्थः । एकादशस्कन्धस्य सप्तदशेश्याये, 'यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत् । स्वधर्मेणारविन्दाक्ष तन्मे व्याख्यातुमर्हसी'त्युद्धवप्रश्ने चातुराश्रम्यं वदता भगवताष्टा-दशाध्याये 'इष्टथा ययोपदेशं मा'मित्यादिभिः पञ्चदशभिः संन्यासाश्रमरूपः परित्याग उक्तः । तदनन्तरं भक्तिवैराग्ययोरधिष्ये 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः, सलिङ्गाना-श्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिमोचर' इत्यादिभिः सार्धैर्दशभिरवैधश्च परित्याग उक्तः । अत्र च ज्ञानभक्तिमार्गिणोर्धर्माः समाना एव सङ्कीर्योक्ताः । एवं पूर्वोक्तेषु बोध्यम् । तथा 'न्यासे कुटीचकः पूर्वं बहोदो हंसनिष्किया'विति चत्वारो भेदाः संन्यासस्य तृतीयस्कन्ध उक्ताः, तेन मार्गत्रयेषु तस्य कर्तव्यता । यद्यपि कर्ममार्गे तृतीयस्य चतुर्थे पादे 'पुरुषार्थोतःशब्दा'दित्य-धिकरणस्ये'ध्याचारदर्शना'दित्यादिषु सूत्रेषु वशिष्ठादीनां ब्रह्मविदामग्निहोत्रादिकर्म-करणाचारदर्शनात्, 'जनको ह वै बहु दक्षिणेन यज्ञेनेज' इति ब्रह्मविदोपि जनकस्य कर्म-करणश्रुते 'स्तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति श्रुतौ विद्याकर्मण्यां फलारम्भश्रावणात्, 'ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा तं दर्शपूर्णमासयोर्वृणीत' इति कल्पश्रुतौ ब्रह्मविदोपि ब्रह्मत्वेन त्विक्त्वश्रावणात्, 'आश्विनं धूम्रललाममालभेत यो दुर्नाक्षणः सोमं पिपासेत्, ऐन्द्राग्रं पुनरुत्सृष्टमालभेत य आनृतीयात् पुरुषात् सोमं न पिपेत्, विच्छिन्नो वा एतस्य सोमपीयो यो ब्राह्मणः सन्नातृतीयात् पुरुषात् सोमं न पिपति । यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुया'दित्यादिश्रुतिभिः कर्मकरणस्य नित्यताश्रा-वणात्, कर्मणश्च दम्पत्यधिकारकत्वाज्जैमिनिमते आश्रमपक्ष एव, यथा कथञ्चित्कर्मकरणाशक्तौ सर्वत्यागकरणम्, 'यदहरेवे'त्यादिश्रुतिस्तु कर्माशक्ततदनधिकार्यन्धपंग्वादिविषयेति न तद्वैयर्थ्य-मिति कर्मविचारकजैमिनिसिद्धान्तात् कर्ममार्गे न कर्तव्यः । अथ 'तुल्यं दर्शन'मित्यादिसूत्रेषु शुकसंबवर्तारुणजडभरतदृष्टान्तेन दर्शनस्य साधारणतया कर्मावश्यकत्वासाधकत्वात्तेनैव च परित्यागस्यान्धपंग्वाधिकारकत्वनिरासेन जैमिनिमते प्रजाजश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गस्य दुर्वार-त्वात्, 'एतद्द स्म वै तद्विद्वांस आहुः ऋषयः कावधेयाः किमर्था वयमध्येप्यामहे, किमर्था वगं यक्ष्यामहे, एतद्द स्म वैतत्पूर्वं विद्वांसोग्निहोत्रं न जुहवाश्चक्रिरे,' एतावदेव स्त्वस्मृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवज्राजे'त्यादिभिर्बहूभिः श्रुतिभिः प्रजाजबोधनेन कर्मकरणश्रुतेरसार्व-त्रिकत्वनिश्चयनात् । 'ब्रह्मिष्ठे ब्रह्मे'त्यत्रापि ब्रह्मपदेन वेदस्याभिप्रेततया तद्विद एवात्विज्ययो-

धनेन तथा श्रुत्या ज्ञानस्य कर्मशेषताया आपादयितुमशक्यत्वात् । 'आश्विनं धूम्रललाम'-
मित्यादिषु कर्मनियमवत् 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशु'रित्यादौ त्याग-
नियमस्यापि श्रावणेन रागोपाधिक एव कर्मनियम इति निश्चयेनाविशेषात्, उत्तरे वयसि
तुरीयाश्रमतया द्रव्ययज्ञत्यागेपि जरामर्याग्निहोत्रश्रुत्या तत्सिद्धौ यावज्जीवाग्निहोत्रादिश्रुतेर-
प्यथावाच्यं जैमिन्सुक्तद्रूपणपरिहारे जाते कर्ममार्गीयचातुराश्रम्यपक्षस्याक्षुण्णत्वात् कर्ममार्गे
परित्यागः कर्तव्यत्वेनाप्याति, तथापि 'अग्निहोत्रं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकं, देवराच्य सुतो-
त्पत्तिः कलौ पञ्च विर्वजये'दिति वर्जनंस्मृत्या कलिकालतस्तत्र न कर्तव्यः । यदि च, 'यावद्
वर्णविभागोस्ति यावद्देदः प्रवर्तते । संन्यासं चाग्निहोत्रं च तावत् कुर्यात् कलौ युगे'इति प्रतिप्रस-
वात् कर्ममार्गेपि कर्तव्यत्वं त्यागस्य विभाष्यते, तदापि जावालश्रुतौ चातुराश्रम्यपक्षं पूर्वमुक्त्वा,
ततः 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वाथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको
यास्नातको चोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजे'दिति समाप्तौ विरागस्यैव
सर्वत्राधिकारत्वेन श्रावणात्, एकादशस्कन्धे 'यदा कर्मसु काम्येषु लोकेषु निरयात्मसु ।
विरागो जायते सम्यङ्न्यस्ताग्निः प्रव्रजेतत' इत्यादिना वैराग्य एव तस्य पक्षस्य भगवता
कथितत्वात् कलौ च सर्वधर्मशून्ये वैराग्यस्यासम्भवात् सुतरां न कर्तव्यः । अतश्चातुराश्रम्य-
पक्षेण प्राप्तस्वेदानीमधिकाराभावाद्यदा ज्ञाननिष्ठा भक्तिनिष्ठा वा भवति, तदा तस्मिन्मार्गे
कर्तव्यः । तत्र स्वस्य भक्तिमार्गीयत्वेन भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वादादौ पूर्वं विचारणा तत्प्रकार-
चिन्ता क्रियते, तथा च स यद्येकस्मिन्नेव मार्गे उक्तः स्यात्, यदि वा मार्गत्रयेष्वेकविध
एवोक्तः स्यात्, तदा भगवदाज्ञावाक्ये सन्देहाभावात् विचार्यः स्यात्, अस्ति तु सर्वत्रो-
क्तः, तत्र कः कीदृशो वा भगवदाज्ञाविषय इति निश्चेतुं विचार्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं प्रयोजनमुक्त्वा विचारमारभन्ते श्रवणादीत्यादि ।

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेप्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥

अभिमानाग्नियोगाच्च तद्धर्मश्च विरोधतः ।

गृहादेर्याश्रकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।

स्वयं च विषयाक्रान्तः पापण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुग्राहकः ॥ ६ ॥

श्रवणादीनां नवविधभक्तीनां प्रकर्षेण अविच्छेदेन सिद्ध्यर्थं परित्यागः कर्त-
व्यश्चेत् सः पक्षः नेप्यते नाङ्गीक्रियते । अयमर्थः । भगवता हि नृणां श्रेयोविधि-

तस्या ज्ञानकर्मभक्तिरूपं मार्गत्रयमुक्तम्, निर्विण्णाः, कामिनः, न निर्विण्णा नातिसक्ताश्चेति यथायथं तदधिकारिणश्चोक्ता एकादशे 'योगास्रय' इत्यादिना । त्रिष्वपि संन्यासश्च तत्र निरूपितः । तथा 'न कर्मणे'ति श्रुतौ च त्यागस्य अमृतत्वरूपं फलमुक्तम् । तच्च फलं मार्गा-
देव, न तु केवलात् त्यागात्, त्यागस्य तत्तन्मार्गाङ्गत्वेन तत्र फलश्रुतेरर्थवादत्वस्यैव विचारित-
त्वात् । 'यज्ञयोगेन सांख्येन दानव्रततपोध्वरैः, व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्रामुयाद्यत्नवानपी'ति
वाक्ये त्यागमात्रेण स्वप्राप्त्यभावस्य भगवता कथनाच्च । अतस्तस्य कथञ्चिदुपकारकत्वमेव ।
तत्राधिकारश्च वैराग्यात्, तद्यथा ययोत्कृष्यते तथा तथा त्यागो मार्गस्योपकरोति ।
तस्योत्कर्षश्च कथं स्यादिति विचारे केवलाद्यष्टमात्रेण तदसम्भवान्मार्गानुकूला दृष्टसामग्री
श्रवणाद्यविच्छेदरूपा ग्राह्या । अतस्तत्सिद्ध्यर्थं त्यागः कर्तव्यश्चेत्, स पक्षो नात्रेप्यते, न
भगवन्मतेऽङ्गीक्रियते । अयमर्थः । भगवता हि 'यदा कर्मविपाकेष्वि'त्यादिभिः साधनदशा-
पन्नस्य परित्यागकथने अटनमेव तस्योक्तम्, न तु क्वचित्स्थित्वा श्रवणादिकरणम्, ततो
'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षक' इत्यादिभिः साधैर्नवभिः परित्यागं सिद्धदशापन्न-
योर्ज्ञानिमक्तयोरुक्त्वा ततो ज्ञाननिष्ठस्यापरोक्षज्ञानामावे 'दुःखोदकेषु कामेषु जातनिर्वेद आ-
त्मवान्', 'अजिज्ञासितमद्गमो गुरुं मुनिमुपव्रजेत् । तावत्परिचरोद्भक्त्या श्रद्धावाननसूयकः,
यावद्ब्रह्म विजानीयान्मामेव गुरुमादत्' इति द्वाभ्यां विविदिपासंन्यासोपि संगृहीतः । ततो
'यस्त्वसंयतपङ्कगः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः, ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति । सुरानात्मान-
मात्मस्यं निहृते मां च धमेहा । अविपककषायोस्मादमुष्माच्च विहीयत' इति द्वाभ्यां
ज्ञानवैराग्यराहित्ये अविपककषायत्वालोकोद्भवहानिरुक्ता । भक्तिमार्गीयस्य तु साधनदशायां
संन्यासे किमप्यधिकं नोक्तम्, किन्तु 'भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसे'त्यादिद्वाभ्यां संक्षेपेण चातु-
राश्रम्यधर्ममुक्त्वा 'इति मां यः स्वधर्मेण भजेन्नित्यमनन्यभाक् । सर्वभूतेषु मद्भक्तो
विन्दते ददा'मिति फलोक्तिपूर्वकं चातुराश्रम्यधर्मनिरूपणमुपसंहृतम् । तेन भक्तिमार्गीयस्यापि
तत्र सन्निहितो भिक्षुधर्म एव मुख्य इति सिध्यति । एवं सति यदि श्रवणाद्यर्थं संन्यासः
क्रियेत, तत्स्वरूपेण तद्गमैश्च विरोधः स्यादित्याशयेन प्रथमं संन्यासस्वरूपविरोधात्मकं
दोषं व्युत्पादयन्ति सहायेत्यादि । संन्यासस्वरूपं हि जावालश्रुतौ 'तद्वैके प्राजापत्या'मि-
त्यारम्य 'एवमेवैतद्भगव'न्नित्यन्तेनोक्तम्, तदेवैकादशस्कन्धे 'इष्टा ययोपदेशं मां दत्त्वा
सर्वस्वमृत्विजे । अग्नीन्स्वप्राण आवेश्य निरपेक्षः परिव्रजे'दित्यनेनोक्तम् । तथा सति 'अग्न्यु-
पचयनं कृत्वा जीवश्राद्धविधानतः' श्राद्धाष्टकं विधाय प्राजापत्यामिष्टिं कृत्वा मन्त्रेणाग्नीन्
स्वप्राण आवेश्य नैरपेक्ष्येण सर्वत्र परिभ्रमणमिति सिध्यति । श्रवणादिकं तु सहायसङ्ग-
साध्यम्, सहायः समानशीलतया सहकारी, तत्सङ्गेन साध्यम् । नहि श्रावयितारं विना
श्रवणं सिध्यति, न वा श्रोतारं विना कीर्तनम् । तौ च नैतेन सह परिभ्रमत इति न श्रवण-
कीर्तनयोः सिद्धिः । प्रभृत्पर्यधर्ममिति पाठे तु प्रकर्षेण वृत्तिविद्यमानतेति पूर्वोक्त एवार्थः ।

अथैतेन सह परिग्रमतस्तदा नैरपेक्ष्येण सर्वत्रैकाकिपरिभ्रमणरूपं संन्यासरूपं विरुध्यः (स नेप्यत इत्यर्थः ।) किञ्चेदानीमुक्तदमेधाविशेषाभावात् श्रुतमपि स्वरूपलीलादिकं न हृदि तिष्ठतीति तत्स्थित्यर्थं पुस्तकादिकं रक्षणीयम्, अर्थनार्थं तदुपकरणमपि रक्षणीयम्, तदपि नैरपेक्ष्यं विरुणद्धि । अतः श्रवणादीनां सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां रक्षणाच्च संन्यास-स्वरूपविरोधतः स नेप्यत इत्यर्थः । यद्वा, 'यस्त्वसंपतपङ्गुर्ग' इति द्वाभ्यामसंयतपङ्गुस्य त्रिदण्डोपजीवने बाधकं कथयता भगवता पूर्वोक्तत्रिदण्डिसाधनरक्षणं सूच्यते, तद्रक्षणं च 'एकश्चरेन्महीमेता'मित्यादिभिर्मै धर्माः पूर्वमुक्तास्ते एव कर्तव्यत्वेन सिध्यन्ति, न तु श्रवणादिकम्, एकचरणे सहायसङ्गभावात्, सत्यपि सहायसङ्गे स्थितेः कर्तुमशक्यत्वात् । तथा च संन्यास उक्तानां साधनानां संन्यासे अवस्थाचरणात् । एवं सत्यत एव परस्पर-स्वरूपविरोधेन तथेत्यर्थः । यद्यपि मूले स्वरूपविरोधत इति पदं नास्ति, तथाप्यग्रे तद्धर्मश्च विरोधत इति चकारदर्शनात् मयैवं व्याख्याने समुचित इति न दोषः । अथ त्रिदण्डिनोपि चातुर्मास्य एकत्रस्थितेः स्मरणात् भगवतापि 'विविक्तक्षेमशरणो मद्भावविमलाशय' इति कथनात् साधनरक्षणपूर्वकं स्थित्वा श्रवणादिसाधने को दोष इत्याकांक्षायां परस्परधर्म-विरोधरूपं दोषान्तरं व्युत्पादयन्ति अभिमानादित्यादि । अभिमानो गर्वः, अहन्ता-ममतात्मको वा, तस्मात्, स्थितौ हि, तत्र 'भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगर्हान् वर्जयंश्चरेत्, सप्तागारानसंकुप्तांस्तुष्येलब्धेन तावता । षड्विर्जलाशयं गत्वा तत्रोपस्पृश्य धाम्यतः । विभज्य याचितं शेषं शुद्धीताशेषमाहृत'मिति द्वाभ्यामेको भिक्षाप्रकार उक्तः । तत्र सप्तागारेषु कस्य-चित् द्रष्टुं प्राप्ते तद्दोषमज्ञात्वा च तस्य भक्षणे कृते विविदिपादशायामिव श्रवणादि-साधनदशायामपि ग्रन्थादिपक्षपातेन शरीराभिमत्या च प्रतिवादिनिराकरणार्थं पारुष्याव-मानयोः सम्भवात् । 'अतिवादांस्तिक्षेत नावमन्येत कञ्चने'ति संन्यासधर्मेण भगवदुक्तस्या-तिक्रमेण तद्धर्मविरोधः । किञ्च, नियोगात् नितरां योगो नियोगः, 'तस्मात्सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्भूणा'मिति द्वितीय-स्कन्धवानन्यात्तेषामावर्तनं तस्मात् । न हि सकृत् कृतं श्रवणादिकं प्रेममार्त्तिकं जनयति, किन्त्वावर्त्यमानम्, आवृत्तिश्च स्थित्वा, सा च 'एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः । आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान्तामदर्शन' इत्याद्युक्तैः परित्यागधर्मैर्विरुध्यते । अतो हेतुद्व-योपपादिताद्धर्मविरोधादपि तथेत्यर्थः । ननु मास्तु श्रवणाद्यर्थं संन्यासरूपो वैधः परित्यागः, तथापि गृहादीनां विषयासक्तिजनकतया भगवदासक्तिबाधकत्वेनावश्यं त्याज्यत्वात् । 'ज्ञान-निष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः । सलिङ्गानाभ्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचर' इत्युक्त-रीतिकस्य त्यागान्तरस्य भगवदासक्तिसाधनार्थं करणे को दोषः, तादृशत्यागे च स्वरूपधर्म-विरोधरूपपूर्वोक्तबाधकाभावात्, वैराग्यस्य ज्ञानाजनकत्वं यदा, तदा गृहत्यागः कर्तव्य इति पक्षस्य नलकृचरमणिश्रीवस्तुतिताल्यर्थनिरूपणप्रसङ्गे निर्णीतत्वाच्चेत्याशंकां परिहर्तुं व्युत्पादयन्ति गृहादेरित्यादि । गृहधनादेर्मगवदासक्तिबाधकत्वेन साधनार्थं भगवदासक्ति-

साधनार्थं, यदि तथा अवैधत्यागः कर्तव्यश्चेत् सोपि नेष्यत इत्यर्थः । नेष्यत इति पदद्वयं अत्राप्यनुषज्यते ।

एवमनूय परिहरन्ति अग्नेऽपीत्यादिद्वाम्याम् । त्यागो हि न स्वतन्त्रं साधनमपि तु मार्गाङ्गतयेति पूर्वं व्युत्पादितम् । तथा सति मार्ग एव स्वतन्त्रः साधकः । स च 'भक्त्या सञ्जातया भक्तये'ति वाक्यात्पूर्वं श्रवणादिकमेवापेक्षते । तच्च श्रावयित्रादिरूपं सहायम् । ते च 'हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्परा' इत्यादिना जलभेदे ये निरूपिताः, तादृशास्त्रिदानां दुर्लभा इति 'गायकाः कूपसंकाशा' इत्यादिना य उक्ता गायका वा पौराणिका वा मिलन्ति, ते च यथा स्वयं गृहासक्तो विरजिष्यमाणो वा तादृशा एव, न तु स्वत उल्कृष्टाः, अतोऽपि तादृशैरेव संगो भवति, नान्यथा, नेत्रकृष्टप्रकारकः । तथा च संगदोषेण स्वाभिप्रेतफलाभावान्नेष्यत इत्यर्थः । अथ यदि तादृशा मध्यमाधिकारिणो मिलन्ति, तदा गृहपरित्यागे को दोष इत्याशंकायां स्त्रीयदोषादपि तथात्वमाहुः स्वयं चेत्यादि । चोप्यर्थे । स्वयमपि विषयाक्रान्तः । 'इन्द्रियैर्विषयाकृष्टै'रिति न्यायेन पञ्चेन्द्रियविषयाकृष्टमानसस्तानभिध्यायन् पापण्डी स्यात्, 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्यान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते' इति गीतावाक्यात् तादृशः सञ्चुपधर्मात्मकाधर्मशास्त्राद्यास्यः पापण्डी स्यात् । तत्र कालस्यापि सहायतामाहुः तु कालत इति । तु पुनः धर्मप्रतिपक्षरूपात् कलेरपि तथा स्यात् । अतस्तादृशानां संगेपि पापण्डित्वात् पतितः स्यादतो नेष्यत इत्यर्थः । अथ 'कलिं समाजयन्त्यार्या' इत्यादिवाक्यैः कलेः (श्रवण) कीर्तनाय-नुगुणत्वेन गृहत्यागे दोषाभावो विभाव्यते, तदापि दोषमाहुः विषयेत्यादि । सर्वं कालः कीर्तनानुगुणः, तथापि फलंशे एवानुगुणो, न तु साधनस्वरूपांशे, तेषु वाक्येषु तथैवोपलम्भात् । अतो विषयाक्रान्तदेहानां पूर्वोक्तरीत्या विषयारूढस्थूललिङ्गशरीराणां कालतः कलेः सकाशात् हरेरावेशः सर्वदा न, भगवच्चिन्ता सर्वदा न भवति, किन्तु कदाचित् । तथा सति यदा आसुरवेशः स्यात्तदा पूर्वोक्तस्य सर्वस्य प्रतिबन्धात् पापण्डित्वमेव भवेत् । अतो नेष्यत इत्यर्थः । कामत इति पाठे तु काम इच्छा, तथा च विषयकामनया तथा स्यादित्यर्थो धोष्यः । तदेतन्निगमयन्ति अतोऽप्येत्यादि । अतः उक्तैर्म्यो दोषेभ्यः, अत्र काले, भक्तौ भक्तिमार्गे, साधने साधनदशायाम्, तादर्थ्यसप्तमीपक्षे आसक्तिसाधनार्थं वा, त्यागो गृहपरित्यागः नैव सुखावहः । इदानींतनवीतरागिवत् पापण्डित्वभाषादयन् भगवदासक्तिरूपं सुखं न जनयति, तस्मात् मध्यमायामपि साधनदशयां सर्वथा न कर्तव्य इत्यर्थः । अत्र भक्तिमार्गे भगवता कर्तव्यत्वेन प्रोक्तस्य परित्यागस्य भ्रमभक्तिसाधनदशायामकर्तव्यत्वे साधिते पारिशेष्यात् तत्सिद्धत्वदशयां फलोपकार्यङ्गत्वेन कर्तव्य इति सिद्धम् ॥ ३-६ ॥

तत्र 'भक्त्या त्वनन्यथा शक्य अहमेवविधोऽहेन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतपे'ति गीतायां भगवद्वाक्यात् फलस्य त्रयी विधा । तत्र कस्मै फलाय कर्तव्य इति

विचारणायां प्रवेशस्य मत्कर्मकृन् मत्परम इति वाक्योक्तसाधनान्तरसापेक्षत्वात्ततः पूर्वमुक्त-
योर्ज्ञानदर्शनयोरर्थे कर्तव्य इत्याशयेनाहुः विरहेत्यादि ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेशः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैव वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा बहिवत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

गुणास्तु सङ्गराहित्याजीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

दुर्लभोगं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३ ॥

विरहसानुभवो विरहानुभवः, विरहसामयिको वागुभवो विरहानुभवः, विरहानु-
न्तरोनुभवो वा विरहानुभव इति त्रिधा सम्भवति, तदर्थं कर्तव्य इति फलति, तत्रापे पक्षे
जीवस्य सृष्ट्यादौ व्युत्तरणाज्जातो यो विरहस्तस्योद्घोषन आसत्तया कृते तस्याभीक्षणमनुभ-
वार्थं, द्वितीयपक्षे तु, भक्तियोगमावाभ्यां सह कृत्वासक्तिभ्रमन्यायेनोत्पादितोऽध्यासरूपो यो
भगवदनुभवस्तदर्थं, तृतीयपक्षे तु 'तासामाविरभू'दित्यादिनोक्तो यः साक्षात्काररूपोऽनुभव-
स्तदर्थं, तथा चैवं त्रिविधो विरहानुभवोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तद्विरहानुभवार्थं, क्रियाविशेषण-
मेतत् । तदर्थं तद्यथा सातथा परित्यागः प्रशस्यते । एकादशस्कन्धे भगवता 'वाग्माद्भदा
द्रवते यस्य चित्त'मित्यनेनालन्तं स्तुयते, अतस्तदर्थं कर्तव्यः । अत्रायमर्थः । पुष्टिमार्गीयाणां
जीवानां भगवद्रूपोऽवार्थं कायात् सृष्टिः । ते तु जीवाः शुद्धमिश्रभेदाद् द्विधा । तत्र मि-
श्राणां कद्राचिदन्वासत्तया बाहंकारेण वा मर्यादासापनार्थं वा शापादिना भगवद्वियोग इति
पुष्टिप्रवाहमर्यादायां स्थितम् । तथा गद्येपि सहस्रपरिवत्सरमितकालाद्बुद्धरूपेण भगवद्वियोगः ।
स च केनचित्प्रकारेण वाऽनन्यमत्तया वा भगवता निवार्यते । भक्तिमार्गीयां बहुविधाः ।
तत्रास्मिन्मार्गे यदा निवारयितुमिच्छति तदा तस्य केनचित्प्रकारेण विरहौक्यमुत्पादयति ।

किञ्च, माया ह्यन्यत्र स्थितमन्यत्र प्रत्याययतीति 'ऋतेर्यं यत्प्रतीयेते'त्यत्र सुबोधिन्यां स्थितम् । भगवांश्च रसलीलायां योगमायामुपाश्रयतीति पञ्चाध्याप्यारम्भे स्थितम् । सा च न विश्वमायाऽपि तु भगवद्योगार्थी माया । एवं सति यदा भगवानेनं जीवं युयुक्षति, तदास्य योगमायया स्वाज्ञानं विरहं चोत्पादयति, अनन्यभक्तिश्च परमा तिरोधाननाशिका । अन्तर्यहिश्च भगवन्तमनुभावयति । भगवांस्तु सर्वमन्तर्बहिर्व्याप्तुवानोपि विरुद्धधर्माश्रयत्वात् परिच्छिन्नः । एतन्मार्गे च भगवतो बहिः प्राकट्यमेवाभीष्टं, तदैवेश्वरवादोन्यदा शून्यवादः । एवं सति युयुक्षाविषयस्य भक्तस्थानन्यभक्तिकृतो योन्तःसाक्षात्कारस्तस्य बहिष्ट्वमापादयन्ती माया वासक्तिभ्रमन्यायकं करोति । तादृशो यः साक्षात्कारः, सर्वात्मभावजन्यो भूमविद्यायां सर्वविषयप्रत्ययविलक्षणतया सिद्धः, स एव विरहानुभवपदेन बोधितः । तदर्थं यः परित्यागः स एकादशस्कन्धे चतुर्दशाध्याये भगवता अत्यन्तं स्तूयते । किञ्च, विरहानन्तरभावी अनुभवो बहिः साक्षात्काररूपं सम्यग्दर्शनं, तदर्थं यः परित्यागः स भगवता प्रकर्षेण, 'यथा बध्नो लब्धवने विनष्टे' इति सार्धद्वाम्यां पञ्चाध्याय्यां स्तूयते, अतस्तदर्थं कर्तव्य इत्यायाति । एतयोरायस्य प्रशंसा न्युत्पाद्यते । तथा हि, 'वदन्ति कृष्ण श्रेयांसी'त्यादिना वैदिकोक्तसाधनानां भगवदुक्तभक्तेश्च तारतम्ये शृष्टे, भगवता 'धर्ममेके यश्शान्ध्व' इत्यादिना भक्तेः फलोत्कर्षं, 'अकिञ्चनस्य दान्तसे'त्यनेन स्वरूपोत्कर्षं, 'न पारमेष्ठ्य'मित्यादिभिरनन्यभक्तोत्कर्षं, 'निःकिञ्चना' इत्यनेन स्वसुखोत्कर्षं, 'बाध्यमानोपी'ति द्वाम्यां स्वभक्तैर्बलवत्त्वं, 'न साधयती' त्यनेन स्ववशीकर्तृत्वं, 'भक्तिः पुनाती'त्यर्थेन भक्तेरत्यन्तपावनत्वं, 'धर्मः सत्ये'त्यनेन धर्मादीनामतादृशत्वं चोक्त्वा, 'कथं विना रोगहर्षं द्रवता चेतसा विना । विनानन्दाश्रुकलया शुष्येद्भक्त्या विनाशय' इत्यनेन ऊर्जितां भक्तिं लक्षणैः परिचाययित्वा, ततो 'वाग्नाद्रदा द्रवते यस्य चित्तं, रुदत्यभीष्टं हसति कचिच्च । विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्रक्तिद्युक्तो भुवनं पुनाती'त्यनेन विरहावस्थान्यह्ननपूर्वकं तादृशभक्तिमानत्यन्तं स्तूयते । अतस्तस्यां दशायां जातायां तदर्थं कर्तव्य इत्यर्थवलादायाति । तथा तत्रैव द्वितीयाध्याये कविनापि 'मन्येऽकृतधिद्रयमन्युतस्य' यानास्याय नरो राज'न्नित्यादिभिर्मगवद्भर्तृपुत्रकर्म्य, 'गृण्वन् सुमद्राणि रयांगपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके । गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जे विचरेदसंगः । एवंततः सप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः । हसत्ययो रोदिति रीति गायत्युन्मादवष्टयति लोकबाह्यः । एवं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतीषि सत्वानि दिशो दृग्मादीन् । सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः । भक्तिः परेशानुभवो निरक्तिरन्यत्र चैव त्रिक एव कालः । प्रपद्यमानस्य यथाश्रतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुद्रपापोनुपासं । इत्यन्युतादिं भजतोनुष्टुत्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रयोधः । भवन्ति च भागवतस्य राजंस्रतः परां शान्तिमुपैति साक्षा'दित्यन्तेनोच्यते । एतत्सुबोधिन्यां च प्रथमस्कन्धीये 'नामान्यनन्तसे'नि नारदपाक्ये कर्मज्ञानभक्तीनां प्रयाणां फलसाधकस्तथितयानुकन्धो य

उक्तस्वरूपमत्र कविनोच्यत इत्येवमवतार्यैते पञ्चश्लोका व्याख्याताः । तत्र प्रथमे 'आदौ
 गृहान्निर्गत' इति कथनेन त्यागावस्था घोषिता, भगवज्जन्मादिश्रवणं तद्गानं विचरणं लज्जा-
 भावश्च, अनुकल्पस्वरूपत्वेन घोषितः । ततो द्वितीये 'एवं व्रत' इत्याद्युक्तैरष्टमैः प्रकृत्युल्लङ्घने-
 नालौकिकत्वरूपं लोकवाङ्मत्वं घोषितम् । तेन विरहानुसन्धानावस्यैव स्फुटीकृता । ततस्तु-
 तीये एवं विचरणकर्मणा लोकपरित्यागेन ज्ञानमक्ती एकहेलया युगपन्निरूपिते । तत्र खादिपु
 समुद्रान्तैषु लौकिकप्रत्यक्षविषयेषु प्रणमनक्रियाकर्मत्वं हरिशरीरत्वेनोच्यते । तेन तेषु तया-
 त्वज्ञानमर्यादाक्षिप्यते । अत आक्षिप्तेन 'ज्ञात्वे'त्यन्तेन ज्ञानं 'प्रणमेदनन्य' इत्यनेन साधन-
 मक्तिर्घोष्या । ततश्चतुर्थपद्यमाभ्यां दृष्टान्तपूर्वकं परमभक्तिभगवज्ज्ञानतदितरविरक्तीनां युग-
 पद्भवनेन साक्षात्परमशान्तिरूपं फलमुक्तम्, तेनापि कर्मज्ञानमक्तीनां यत्परमं फलं तदनेन
 मार्गत्रितयानुकल्परूपेण परित्यागेन भवतीति तादृशत्यागप्रशंसैव सुबोधिन्युक्तप्रकारेण सिध्य-
 तीति घोष्यम् । नन्वेवं सत्यत्र संन्यासवेशः कुतो नोक्त इत्यत आहुः स्वीयेत्यादि । स्वीयाः
 पुत्रदारादयः तत्कृतो यो बन्धः, स्वस्य तेष्व्वासक्त्यभावेपि तेषां स्वस्मिन्याऽऽसक्तिस्तन्निवृ-
 ष्यर्थं, अत्र अस्मिन्मक्तिमार्गीये संन्यासे, स वेशः, त्रिदण्डकौपीनधारणादिवेशः । न
 चान्यथा । चोवधारणे, अन्यथा तत्कृतबन्धाभावे सति, न च नैवापेक्षितः, अतो यस्य बन्ध-
 संभावना तस्य स वेश आवश्यको, नान्यस्येत्यसर्वत्रिकत्वान्नोक्त इत्यर्थः । ननु भगवदुक्तेषु
 प्रशंसावाक्येषु परित्यागो न प्रकटतया प्रतीयते, कविवाक्येषु च ज्ञानमिश्रभक्तेः प्रशंसा
 प्रतीयते । खं वायुमग्निमिति वाक्यात् । तथा सति शुद्धमक्तिमार्गीयस्य त्यागस्य प्रशंसा
 कथं निश्चेतुं शक्या, तत्रसिद्धयभावादित्याकांक्षायां तत्रसिद्धयर्थमाहुः कौण्डिन्यो गो-
 पिक्ताः प्रोक्ता गुरव इति । कौण्डिन्यो ह्यनन्तदोरकस्त्राद्यौ प्रक्षेप्योत्पन्नादपराधाद् दा-
 रिद्र्यमापन्नः, स्वपत्न्याः शीलाया वाक्यादनन्तापराधजन्यं तद्बुद्ध्या निर्विण्णो नन्तं ध्यायन् क
 द्रक्ष्यामीत्याशया गृह्याद्द्वनं निर्गतो, निरशनं व्रतं ब्रह्मचर्यं च कृत्वा हरिं जपन् निर्जनेरण्ये
 चूतवृक्षं गोप्रभृतींश्चेतनानचेतनांश्च बहून् पप्रच्छ, तैः सर्वैरपि नानन्तोस्माभिर्दृष्ट इत्युक्ते
 विह्वलीभूतो जीविते निराशो दीर्घमुष्णं च निश्चस्य भूतले पपात, ततः किञ्चित्कालोत्तरं
 संज्ञां प्राप्यानन्तेति जल्पन् तस्मिन्क्षणे सुनिर्विण्णोऽभूत् । ततः कृपयाऽनन्तदेवोपि वृद्धजा-
 ह्नणरूपेण प्रत्यक्षीमूय 'ह्रीं ह्रीं' त्युक्त्वा पातालं प्रवेश्य, कौण्डिन्यं दक्षिणे करे गृहीत्वा
 स्वपुरीं दर्शयामास । तत्र दिव्यसिंहासनस्थितं स्वात्मानं च स्वाद्युधगरुडाद्युपशोभितं दर्शया-
 मास । ततस्तं दृष्ट्वा परया मुदा प्रसन्नः कौण्डिन्यः 'पापोहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः ।
 त्राहि मां पुण्डरीकाक्ष शरणं मे भवाच्युत । अय मे सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम् ।
 यतर्वाभियुगांभोजे मन्मूर्द्धा भ्रमरापत'इत्युक्तवान् । भगवांस्तु तस्मै दारिद्र्यनाशनं धर्म
 सन्नातनं विश्रुलोकं च वरं दत्तवानिति भविष्योत्तरे भगवता सुधिष्ठिरं प्रत्युक्तम् । तेनायं
 परित्यागः कृपादिकृतबन्धाभावात् संन्यासवेपरहितः स्वफलसाधने साधनान्तरापेक्षारहितः

प्रसन्नप्येयसाक्षात्कारफलकः अवैधः शुद्धभक्तिमार्गीयश्चेति सिध्यति । अत एव वेदस्तुतौ 'एकदा नारदो लोका'नित्यत्र सुबोधिण्यामुक्तम् । 'एवमेव च परिग्रमणं कर्तव्यं यथा कौण्डिन्येन कृत'मिति । गोपिकानां तु फलप्रकरण एव भगवत्प्राप्त्यर्थं सर्वपरित्यागः पूर्वमुक्तः । ततो मदमानाभ्यां भगवत्सिरोभावे भगवद्विचयनं, ततः प्रसादार्थं गानं, ततो दैन्येन रोदनं, ततो भगवन्प्रादुर्भावः, ततो भगवत्कृता तत्यागप्रशंसा, ततो लीलानुभव उक्तः, तत्रापि पूर्ववदेव वेपराहित्यादिकं फलपर्यन्तं सिद्धम्, अतस्त एवात्रैतत्परित्यागप्रवर्तकत्वाद्गुरुवः, तथा चैवं शास्त्रप्रसिद्धत्वात् । 'एवं मदर्थोऽञ्जिते'त्यादिना भगवता ब्रजभक्तकृतत्यागस्य प्रशंसनाद्यैकादशस्कन्धीयप्रशंसावाक्यानामप्येतदारंभावस्थासूचकत्वैतत्प्रशंसनायामेव तात्पर्यम् । तत्रापि द्वादशाध्याये 'रामेण सार्ध'मित्यादिभिस्तत्कृतसाधनस्यैव प्रशंसनात्, उद्धवस्य तदर्धसन्देह एवाग्रिमग्रन्यायताराश्च । उचितं चैतत्, यदारम्भः प्रशस्तस्तस्य परमा काष्ठा प्रशस्तेति । अतस्तत्परैव सा प्रशंसा निश्चयेत्यर्थः । अत्र कौण्डिन्यग्रहण निरपेक्षभक्तानां बहुविधत्वात्कृतपरित्यागार्थं बोध्यम् । एतत्प्रशंसनायास्तद्दर्शनात्, निरहोत्तराभाव्यनुभवार्थमात्रत्वेनैव विवक्षितत्वाच्च । एवं च यो यो यादृग्भक्तिमान् त्यागं चिकीर्षति तस्य तस्य तादृग्भक्ता एवेदृग्भक्त्याका गुरुव इत्यपि बोधितम् । भगवदुद्धवसंवादसमाप्तौ अजसा सिद्धिहेतुप्रश्ने 'देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि चे'ति भक्तचरिताश्रयणस्य तथात्वेनोपदेशादिति । एतेषां गुरुत्वं च स्वचरितेनेतन्मागंप्रवृत्तिप्रयोजकत्वाद्दत्तात्रेयगुरुणां पृथिव्यादीनामिव बोध्यमित्याशयेनाहुः साधनं च तदिति । एतेनोपदेशानपेक्षाप्यत्र बोधिता । अत्र विरहानन्तरभाषिणां तत्कृतानां साधनानां बहुत्वात्तानि सर्वाणि कर्तव्यान्वुत क्रिश्चिदेकमित्यपेक्षायां तत्सर्वप्रयोजकमादिभूतं यत्साधनमनर्थं त्रिष्वक्षित तदन कार्यतपेप्यत इत्याहुः 'भावो भावनयेत्यादि । भगवति परमा रतिर्भावः । 'रतिर्देवादिनिपया भाव इत्यभिधीयत' इति वान्मयात् । सोपि न स्वतः सिद्धो विवक्षितः, तस्य स्वाभाविकत्वात्, किन्तु भावनया निरन्तरचिन्तया सिद्धः प्रचितः तादृशस्यैव साक्षात्कारफलकतायाः साधनान्तरसाधकतायाश्च पूर्वोक्तोपास्यानद्वयेषु सिद्धत्वात् । अतः स एव साधनं, नान्यदिष्यते, अन्यद्विचयनादिकं साधनत्वेन नेष्यत इत्यर्थः । ननु तस्यापि तत्र मत्वात् कुतः साधनत्वेन नेष्यते इत्यत आहुः चिकलत्वमित्यादि । जडेप्ययोग्येषु च प्रथो निरुल्लस्यम् । तथा अस्वास्थ्यं प्रकृत्या मित्यमानः । एतत् द्वयं प्रकृतिः निरहामन्याम्भायः । तत्रापि हेतुः प्राकृतं न हीनि । प्रकृतिमन्वन्धि प्राकृतं, मन्व्यापस्याप्राप्तं न दृश्यते, हि यतो हेतोः, तथा च तपदि मन्व्यापस्याहेतुकं स्यात्तदा साधनत्वेनेष्यत । अतन्मदभारात्नेष्यत इत्यर्थः । ननु तद्धोवाद्दशस्कन्धे 'शृण्वन् गुभद्राणी'त्यादि-श्लोकप्रयोक्तृभगवद्ब्रह्मरुमेधश्चरितंनगानादयः गर्वप्र भगवन्परीत्येन ज्ञान च मन्व्याप-स्याधर्मत्वान् साधनत्वेनेष्यते । गतानीधर्मत्वादित्याराधायामाहुः ज्ञानमित्यादि । ज्ञानं

सर्वस्य भगवच्छरीरत्वेन ज्ञानम् । गुणाश्च श्रवणकीर्तनगानविपया भगवद्गुणा अपि, तस्यैव भावनाप्रचितभावस्यैव, वर्तमानस्य तदन्तःकरणादिषु व्याप्तस्य, बाधकाः वर्तमानतानाशकाः, यथायथं शुकादिषु मथुराप्रयातभगवद्वियुक्तविशोकगोपिकासु च दृष्टाः, अतो नेष्यन्त इत्यर्थः । ननु तादृशज्ञानं साक्षात्कारफलकम्, गुणाश्च शोकाभावफलकाः, 'विशोका अहनी निन्तु'रिति वान्म्यात् । अतः विरहानुभवस्वरूपबाधेपि को दोष इत्याकांक्षायां प्रथमतः ज्ञानभावनयोः फलतारतम्यं व्युत्पादयन्ति सत्येत्यादि । संन्यासेन विशेषितात् सहकृतात् सर्वत्र ब्रह्मस्थितियोधकात् परोक्षज्ञानात्, सत्यलोके चतुर्मुखलोके स्थितिः । 'वेदान्तविज्ञानमुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे' इति (तैत्तिरीय) श्रुतेः । असां श्रुतौ वेदान्तविषयकनिश्चितपरोक्षज्ञानवतां संन्यासिनां शुद्धसत्त्ववत्त्वेन ब्रह्ममुक्तिकाले परामृतं प्राप्य मुक्तिरुक्ता । छान्दोग्ये तु 'यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवती'ति मरणानन्तरमेव भावनानुरूपं पारलौकिकतात्कालिकफलं श्रावितम् । अतो यत्र पुरुषे भावना साधनं तत्र तथा तादृशमेव फलं भवेत् । चोवधारणे । तथा च ज्ञाने फलस्य भेदः कालस्य विलम्बश्च दोष इत्यर्थः । ननु 'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथे'ति गीतावाक्यात् प्रचले ज्ञाने कर्मणां निःशपनाशात् न कालविलम्बः । 'हरेः शरीर'मित्युक्ततया ज्ञानस्य भगवद्विषयत्वाच्च न फलभेद इत्याशंकायामाहुः तादृश इत्यादिसाधम् । तादृशः प्रवलज्ञानवान् सत्यलोकादौ विद्युद्गुरुणेन्द्रप्रापतिलोकेषु तिष्ठत्येव, तत्रत्यभोगेन स्वप्रारब्धमपनयन्नातिवाहिकवैद्युतपुरुषागमनपर्यन्तं स्वप्रारब्धानुसारेण तिष्ठत्येव न संशयः । परान्तकालप्रतीक्षाऽभावेपि वैद्युतपुरुषप्रतीक्षाया आतिवाहिकाधिकरणे सिद्धत्वात् । ज्ञानप्राप्त्येपि तादृशस्य विलम्बे सन्देहो नेत्यर्थः । नन्विदं भावनापक्षेपि तुल्यमित्याशंकायामाहुः वह्निरित्यादि । अरणिमथनप्राप्त्येन वह्निरिव भावनाप्राप्त्येन वह्निः प्रकटः स्वात्मा पुरुषोत्तमो यदि वह्निवद्बह्निर्व्याप्य पुनरन्तःप्रविशेत्, तदैव तस्मिन्नेव काले सकलो बन्धो बाह्य आभ्यन्तरश्च नाशमेति, निवर्तते, न चान्यथा अन्यथा न निवर्तते एव । तथा च 'यदा सर्वे प्रलीयन्ते कामा येस्य हृदि स्थिताः । अथ मत्तोऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नत' इति श्रुत्या तदानीमेव बन्धाभावस्य फलाध्यायद्वितीयपादारम्भे 'वाङ्मनमि दर्शना'दिति सूत्रे विचारितत्वात् अन्तर्गृहगतगोपिकासु तथैव दर्शनाचेति न भावनापक्षस्य ज्ञानतौल्यम् । अतो विलम्बापादकत्वात् ज्ञानं साधनत्वेन नेष्यत इत्यर्थः । एतेन शुद्धमक्तिमार्गीयत्यागे ज्ञानमिश्रपक्षोपि निवारितः । तर्हि गुणानां तथात्वमस्त्वित्याकांक्षायामाहुः गुणास्त्वित्यादि । तुः शङ्कानिरासे । श्रवणादिविपया गुणाः सङ्गरहित्यात्, भावनासिद्धस्य भावस्याप्राप्त्येव भगवतो वह्निः प्राकट्याभावेन तत्सङ्गरहित्यादुद्बुद्धे विरहे जीवनार्थं भवन्ति । हि निश्चयेन । विशोकवान्ये तप्तजीवनवाक्ये च तथैव सिद्धत्वात् । अतो विलम्बापादकत्वेन मध्यमाधिकारे ते उपयुज्यन्ते । अतो मुख्याधिकारे तेषां साधनत्वेन नेष्यन्त इत्यर्थः । ननु यद्येवं गानादिविषयाणां गुणानामपि बाधकत्वम्, तर्हि

भाव्यमानस्य भगवतोपि विलम्बापादकत्वेन बाधकत्वं कुतो न स्यादित्यत आहुः भगवानित्यादि । स हि फलरूपः, प्राप्तश्चेत् फलमेव जातं साधनस्य, अतः फलरूपत्वात् साधनावस्थानिवर्तकत्वेपि बाधकत्वेन नेध्यत इत्यर्थः । एतेन येषु बहिः प्राकट्योत्तरमन्तःप्रवेशस्तेषां सद्योमुक्तिः, येषु च बहिः प्राकट्यमेव, नान्तःप्रवेशस्तेषामिहैव लीलानुभव इति मुख्येष्वपि व्यवस्था सूचिता । तेन न कोपि ह्यपि विरोध इति ध्येयम् । ननु यदि भगवान् फलरूपत्वान्न बाधकः, तदा फलरूपत्वादेव यथा विजने दर्शनार्थं यतमानाय नारदाय दर्शनं दत्त्वा तिरोहितः सन् पुनर्दर्शनार्थं यतमानं तं प्रति 'हित्वावद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसी'ति स्वास्थ्यार्थं वाक्यमुक्तवान्, तस्य स्वास्थ्यं च कृतवान्, तथा अत्र कुतो न बक्तिः ? स्वास्थ्यं च कुतो न करोतीत्यत आहुः स्वास्थ्येत्यादि । स्वास्थ्यं च वाक्यं स्वास्थ्यवाक्यम्, विभाषैकवद्भावः । स्वास्थ्यसहितं वाक्यं स्वास्थ्यवाक्यं तत्, भगवतः न कर्तव्यम्, अहं तव्यः, कर्तुं योग्यं न भवति । तत्र हेतुः, दयालुर्न विरुध्यत इति । अयमर्थः । नारदो ह्यविपककपायः परं शुद्धभाव इति तस्य स्वास्थ्यार्थं तिरोहित एव वाक्यमुक्तवान्, स्वास्थ्यं च कृतवान् । प्रकृते त्वन्तर्यद्वयगतानामिवास्व पन्थ एव तत्कालं नाशनीयः । स पन्थो यदि प्रारब्धकृतस्तदा भगवद्विरहजतीव्रतापभगवदाविर्भावजाश्लेषसुखाम्यामेव निवर्तनीयः, भावसौगन्ध्यात् । यदि तादृशेपि वाक्यं वदेत्, स्वास्थ्यं वा कुर्यात्, तदा सद्योमुक्तिं विरुष्यात् । अतो दयालुत्वान्न विरुध्यते । अयं कर्मकर्तृप्रयोगः । तथा च स्वास्थ्यवाक्यकरणमेव दयालुं विरुणाद्धि । स्वयं तु दयालुर्न विरुध्यते । अतः परमकृपया स्वयमेव शीघ्रं पन्थनिवृत्तिं विधासन् तत् द्वयं न करोतीत्यतः स्वास्थ्यवाक्यं कर्तुमनर्हमित्यर्थः । ननु यद्येवं तर्हि 'वाग्ददे'त्यादिना भुवनपावनत्वेन यः स्वयं प्रशंसितः, तादृशस्य स्वास्थ्यादिकमपि न करोतीत्याशंकायामाहुः दुर्लभोयमित्यादि । अयं सद्योमुक्तिसम्पादकः परित्यागः तादृशस्यापि दुःप्रापः । तत्र हेतुः । प्रेम्णा सिध्यति नान्यथेति । तथा च ते यद्यपि परमभक्ताः, तथापि सर्वज्ञत्वात् केचन पुष्टिमिश्राः, केचन गुणज्ञत्वान्मर्यादामिश्राः, न तु शुद्धाः सदा प्रेमप्लुताः स्वरूपमाश्रयताः । अतस्त्वाद्यधिकाराभावात् करोतीत्यर्थः । एवमत्र भक्तिमार्गीयत्यागे गुरुद्वयस्य कथनेन फलविलम्बशैथिल्यतात्कालिकफलकथनेन चावस्थामेदादिसूचनादधिकारिभेदात् प्रैविध्यं निरूपितम्, स्वरूपं च सपरिकरं विचारितम्, प्रेमभेद एव तत्र तत्र तादृशाधिकारसम्पादक इति च साधितम् ॥ ७-१३३ ॥

अतः परं नन्येकादशस्कन्धीयप्रशंसायाः भक्तिपरमकाष्ठारूपेऽस्मिन् दुर्लभे परित्यागे पर्ययसन्नतायां प्रारम्भदशाकर्तव्यस्य परित्यागस्य विलम्बवत्तया ज्ञानमार्गीयत्यागतीत्येन विशेषमाभावादविचारितत्वाच्चैतं विहाय विचारितो ज्ञानमार्गीय एव कर्तव्यः, किमेतद्विचारेणेत्याशंकायां भक्तिमार्गीयस्वारम्भदशायां निःप्रलूहत्वं वक्तुं ज्ञानमार्गीयस्य परिगतामनिविलम्बयतां च साधयन्ति ज्ञानमार्गं इत्यादि ।

ज्ञानमार्गं तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पापपिडित्वं भवेचापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रयत्नत्वादिति स्थितम् ॥ १६३ ॥

तुः पूर्वोक्तशङ्कानिरासे । ज्ञानमेव मार्गो ज्ञानमार्गः । तत्र द्विविधोपि सत्प्राप्ता ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च यथा स्यात्तथा विचारितः । क्रियाविशेषणद्वयमेतत् । उत्तरतथे तृतीयस्य तुरीये पादे 'ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हीति' सूत्रे विविदियोर्ज्ञानोत्पत्त्यर्थतया जातज्ञानस्य फलानुभवप्रतिषन्धनिवारकत्वेनान्तरङ्गतया च कर्तव्यत्वेन निर्णीतः । परं सिद्धिः साक्षात्काररूपा जन्मशतैः, न तु शीघ्रम्, 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ' इति गीतावाक्ये परोक्षज्ञानवतो 'वासुदेवः सर्व'मिति स्वप्रपत्तेर्बहुजन्मान्ते कथनात् । प्रपत्तिरपरोक्षं ज्ञानम्, तस्य विलम्बेन भवने हेतुं व्युत्पादयन्ति ज्ञानं चेत्यादि । ज्ञानं गीतावाक्योक्तरीतिकसाक्षात्काररूपं साधनापेक्षम्, कर्मज्ञानभक्तिरूपं साधनं स्वोत्पत्तावपेक्षते । अत्र प्रमाणम्, यज्ञादिश्रवणात् निष्कामानामपि यज्ञकरणस्य 'अयाकामयमान' इति श्रुतौ प्रतिपादनात्, तदेतत् 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्वव'दिति सूत्रे विचारितम्, ज्ञानं च न शमदमादिमात्रेण सम्पद्यते, किन्तु यथाश्रममाश्रमकर्मापि शमादिसहकारित्वेनापेक्षत इति सहकारित्वसूत्रे व्युत्पादितम् । अतः देशद्रव्यादिरूपसाधनवैगुण्येन विहितकर्मात्मकसहकारिशून्यैः केवलैः शमादिभिर्ज्ञानानुदयात् स विविदिपादशोकः संन्यासः कलौ पश्चात्तापाय अनन्तरं खेदाय । तर्हि विद्वद्दशोक्तः कर्तव्य इत्यत आहुः नान्यथेति । अन्यथा विद्वत्प्रकारकः कलौ तत्साधनासम्भवात्नेत्यर्थः । किञ्च, न खेदमात्रं किन्तु पापपिडित्वं चापि भवेत् । भिक्षादिशुद्धमावेनोपधर्मसंसर्गवत्त्वम्, चकारादवकीर्णित्वम्, अपिशब्दात्, 'आरूढो नैष्टिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुष्येत् स आत्महे'ति वाक्योक्तः पादः संश्रुते । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । यस्मात् विविदियासंन्यासस्य कलौ खेदादिजनकत्वम्, विद्वत्संन्यासस्य चासम्भवस्तस्मात् ज्ञानमार्गं वैधं संन्यासं न कुर्यात्, तत्र हेतुः, सुतरामित्यादि इति स्थितमिति । कलौ संन्यासं निषेधद्भिः शास्त्रकारैरेव निर्णीतमित्यर्थः । तेन संन्यासप्रतिप्रसवशास्त्रं काचित्कत्वान्न सर्वत्रोपयुज्यत इति बोधितम् । एवमत्र भगवदाज्ञया कर्तव्यस्य परित्यागस्य विचारणायामेतावत् सिद्धम् ।

कर्ममार्गं जैमिनिमते परित्यागस्याकर्तव्यता, मतान्तरे चातुराश्रम्यपक्षेण कर्तव्यत्वेपि कलिकालादकर्तव्यता, भक्तिमार्गं कर्तव्यत्वेनोक्तत्वेपि श्रवणादिप्रसिद्धार्थं करणे संन्यासस्वरूपतद्दर्शयोर्विरोधात् संन्यासत्वेन रूपेणावैधत्यागरूपेण चाकर्तव्यता, तथैव श्लेहाधनार्थं

करणेपि प्रेमानन्तरं त्ववैधस्य परित्यागस्य स्वत एव सिद्धिर्मुख्याधिकारिणः । तत्र च नाज्ञा-
पेक्षा, तथैव मध्यमस्यापि । परं तस्य प्रारब्धप्रतिबन्धनेषद्विलम्बः फले । तथैव ज्ञानमिश्रस्या-
पि । ज्ञानमार्गे तु विविदिपादशायां विचारितोपि कलिकालजदोषसम्भावनाद् कर्तव्यः,
विद्वत्संन्यासस्य तु कलिदोषेण ज्ञानासम्भवादसम्भव एव ॥ १४-१६३ ॥

अतः परं प्रेमारम्भदशायां परित्यागोवशिष्यते, तं विचारयितुं प्रश्नमुखेनाशङ्कन्ते
भक्तिमार्गंपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमिति ।

भक्तिमार्गंपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्वाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

हरिरथ न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुपुः क्वचित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भ्रूयते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

भक्तेः प्रेमरूपाया यो मार्गः उपायभूतः परित्यागस्तत्रापि कलिप्रभृतिभिः कृतो दोष
उत्पद्यते चेत्तदा तत्परिहारार्थं किं कार्यमित्यर्थः । तत्रोत्तरमुखेन समादधते उच्यते ।
अत्रेत्यादि । अत्र प्रेमभक्ताचारम्भे आरम्भदशायां परित्यागे नाशः कलिप्रभृतिभिः कृतेन
दोषेण तदवस्थातो हीनत्वसम्भवः स न स्यात् । तत्र हेतुः । दृष्टान्तस्याप्यभावत
इति । अत्र नाशपदं सप्तम्या विपरिणतं पुनरन्वेति, तथा च अत्रारम्भे नाशेऽनुमीयमाने दृष्टा-
न्तस्याभावात् अपिना दोषान्तराच्च, तथा हि उक्तारम्भदशायां गृहत्यागकर्ता नश्यति, तदानीं
त्यागकर्तृत्वात्, अत्र यदेवं तदेवमित्यन्वयव्याप्तौ दृष्टान्ताभावः, व्यतिरेके तु यत्र यत्र
तादृशत्यागकर्तृत्वे सति नाशभावः, तत्र तत्र त्यागकर्तृत्वाभाव इति व्याप्तेरेव शून्यता,
तादृशत्यागकर्तृत्वे सतीति विशेषणानङ्गीकारे तु तादृशव्याप्त्या गृहस्थादिष्वेवानाशसिद्ध्या
तादृशत्यागकर्तृत्वस्यैवालाभ इति दृष्टान्ताभावः । यदि तु भक्तिमार्गीयारम्भदशायां तत्यागक-
र्तृत्वात् अविपक्वकपायत्वाद्वा सद्गदोषसंभवाद्वा श्रवणादिप्रसिद्धार्थत्यागकर्तृवदित्यनुमातव्यम्,
तदाप्यसन्नतम्, नारदपूर्वजन्मदृष्टान्तेन आद्ययोः साधारणत्वात्, तृतीयस्य तु 'गायन्विलज्जो
विचरेदसद्ग' इति वाक्येन स्वरूपासिद्धत्वात् । पूर्वोक्तदशायां गृहत्यागकर्ता न नश्यति,
पूर्वोक्तारम्भदशायां त्यागकर्तृत्वात्, पूर्वजन्मीननारदवदिति प्रत्यनुमानेन निरस्तत्वाच्च । न
चेदमप्रयोजकम् । नारदपूर्वजन्मकयासन्दर्भयिवास्म्यस्तादृशां नाशस्यैशसिद्धत्वादिति ।
अनेनैव हेतुना नाशानुमाने तु सिद्ध एव दृष्टान्ताभाव इति सुष्टुक्तं दृष्टान्तस्याप्यभावत

इति । किञ्च, अयं त्यागो हि भगवद्धर्मः । 'धर्मान्भागवतान् द्यूते'ति निमेषे प्रश्ने कविना 'ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये । अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्' इति लक्षयित्वा 'कायेन वाचे'त्यादिभिः कथ्यमानेषु 'गायन् निलज्जो विचरेदसद्' इत्यनेनासद्-विचरणरूपस्य त्यागस्यापि बोधनात् । भगवद्धर्मस्यारम्भेपि न ध्वंस इत्यपि भगवतैवोक्तं 'न ह्यज्ञोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्यपी'ति । तथा चातोपि न नाश इत्यर्थः । न चैवं सति श्रवणादिप्रसिद्धयै कृते त्यागे कथं ध्वंस इति शंभ्यम् । तस्मां दशायामज्ञानात्तत्करणेन उपक्रमत्वाभावात् । 'ज्ञात्वारम्भा उपक्रम' इति कोशेन ज्ञात्वारम्भस्यैवोपक्रमत्वादिति । ननु मास्तु नाशस्तथापि देहरक्षणार्थं भिक्षादेरावश्यकत्वात् फलविलम्बसम्पादको बाधः केन वा-यैतेत्यत आहुः स्वास्थ्येत्यादि । त्यागिनः स्वास्थ्यस्य हेतुर्हि विगर्हभिक्षेषु चतुर्षु वर्णेषु भिक्षा तस्यास्वागात् । 'चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोप्य-शुष्यन् । रुद्धा गुहाः किमजितोवति नोपपन्नान् कस्माद्भजन्ति कवयो धनदुर्गदान्यान्' इत्युक्त-रीत्या त्यागात् । यद्वा, अत्र स्वास्थ्यहेतुपदं परित्यागत्रिशेषणम्, परित्यागादिति त्यक्त्वोपे-पन्नमी । तथा च स्वस्मिन् तिष्ठतीति स्वस्थः स्वरूपावस्थित इति यावत् । तस्य भावः स्वास्थ्यम्, तद्धेतुर्यः परित्यागस्त प्राप्य जीवन्मुक्त एव जात इति । अस्यैतादृशस्य बाधः केन सम्भवेत्, न केनापीत्यर्थः । नन्वेवमप्रियाकामादीनां बाधकत्वाभावेपि कालादिभिर्बाधः केन वार्यतेत्याकांक्षायां केसुतिकन्यायेनावोधमुपपादयन्ति हरिरित्यादि । हरिः स्मर्तुः सर्वाधदुःखहर्ता सोपि अत्रास्मिन् परित्यागे बाधां कर्तुं न शक्नोति । अस्य भगवद्धर्मस्य स्वयमेवोक्तत्वात्, 'वक्ता कर्ता विना नान्यो धर्मस्वाच्युत ते सुवी'ति वान्येन स्वयमेवाव-नाथ । तथा सति अपरे कालादयः कुनो हेतोः कर्तुं शक्नुयुः । ते हि भगवदधीना इति न तत्कृतोपि बाधसम्भव इत्यर्थः । अत्र तर्कमाहुः अन्यथेत्यादि । अत्र पुपुपुरिति अत्यन्ता-पहवे लिङ्गकथ्य इति वार्तिकालिङ्ग । तथा च स्वधर्मोत्पादको रक्षकश्च भगवानेव यदि बाधां कुर्यात्, तदा मातरो जनयिष्यः बालान् स्तोत्रज्ञान् यस्तन्मैः पुष्पन्ति, तत्र पुपुपुः ततश्च तत्कृतं पोषणमत्यन्तापहृतमेव स्यात्, तथा च भगवत्कृतो बाधस्तर्कादपि चाधित इत्यर्थः । ननु भवत्वैवं, तथापि मोहनार्थं नियुक्ता या माया सा तु स्वकार्यं मोहं कुर्यादेव, 'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा, बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छती'ति वाक्ये भगवत्प्रियतमस्य ज्ञानिनोपि तत्कृतमोहस्योक्तत्वादित्यत आहुः ज्ञानिनामित्यादि । 'ज्ञानिनामपी'ति वान्यं ज्ञानिनामपि वान्यं उत्तरपदलोपी समासः । तथा चानेन मार्कण्डे-यवान्येन ज्ञानिनामेव मायाकृतो मोह उक्तो, न तु भक्तानां, अतः सा भक्तं न मोहयि-ष्यति । गीतायां 'दैवी ह्येषे'ति वान्ये भगवता तस्याः प्रपत्तिरणीयत्वकथनात्, उक्तविध-भक्तस्य च प्रपन्नस्य सन्देहाभावात्, अतो दूरापान्त मोहनमित्यर्थः । न चेति कारणाभावे ज्ञानिनामिति पदस्य कथं वान्यवोधकत्वमिति शंभ्यम्, प्रक्षिप्ताध्यायेषु 'यावद्भक्तके'ति श्लोके 'मयं विष्णुमय गिर'इत्याचार्यः श्रीपरेण च सर्वं विष्णुमयमिति पदद्वयस्येति कारणाभा-

वेपि 'सर्वं विष्णुमयं जग'दिति वाक्यप्रतीकताया अङ्गीकारेणात्रापि तथोक्तौ दोषाभावा-
दिति । चाचामतेत्येवम् । किञ्च, अयं भक्तः आत्मप्रदः आत्मानं भगवते प्रकर्षेण
सर्वसाहित्येन समर्पितवान्, न तु स्वार्थमात्मानमपि स्थापितवान् । तथा प्रियश्चायं भग-
वतः, 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः' इति वाक्यात् । माया तु भगवतस्तद्भक्तेभ्यश्च जिहेति,
'विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेमुया । विमोहिता विकल्थन्ते ममाहमिति दुर्धिय' इति
द्वितीयस्कन्धवाक्यात् । उक्तभक्तस्य तु न दुर्ध्यात्वम्, भगवति षड्सौहृदत्वात् । नाप्यन्यत्रा-
सक्तिः । अतः किमर्थं मोहयिष्यति । तथा चोक्तैर्हेतुभिः सापि न भक्तं मोहयितुं शक्ते-
त्यर्थः । एवमेतेन विचारणेनास्यामारम्भदशायामपि भक्तिमार्गीये त्यागे न पश्चात्तापदिदोष-
सम्भावनेति सिद्धम् । तद्वदन्त उपसंहरन्ति तस्मादित्यादि । यस्मादन्ये त्यागप्रकाराः
सदोषाः असम्भविन्श्च, मुख्यस्त्वाज्ञां नापेक्षते । तादृशभावपृष्ठलभत्वेन स्वाभाविकत्वात् ।
अतोऽयमेवाज्ञाविषयो भवितुमर्हति, तस्मात् उक्तप्रकारेण भगवतोद्भवं प्रत्याज्ञतेन प्रका-
रेण भक्तिमार्गीयः परित्यागो विधीयताम्, भक्तैः कर्तव्यः । अन्यथा उक्ताधिकारा-
भावेपि त्यागकरणे अधिकारसद्भावेपि तदकरणे च स्वार्थात् स्वस्य यः अर्थः प्रयोजनं
विरहानुभवो भगवत्प्रसादश्च तस्माद्भङ्ग्यते, च्युतो भवतीत्यर्थः । अत्र स्वस्य निश्चय-
माहुः इति मे निश्चिता मतिरिति । एवंप्रकारिका निश्चयवती मम बुद्धिरित्यर्थः ।
श्रीमदुद्भवकर्तृकश्च परित्याग एवंप्रस्तुतीयस्कन्धे चतुर्थाध्याये 'इहागतोहं विरहातुरात्मे'-
ति 'सोहं तद्दर्शनाद्वादवियोगार्तियुतः प्रभो'रित्येतान्यां बोधितः । तृतीयस्य चतुर्थे पादे
'बहिस्तुभयथापि स्मृतेराचाराचे'लधिकरणे विचारितश्च । तत्र हि प्रचुरभगवद्भावमात्रवतः
साक्षात्स्वरूपभोगवतो वा गृहत्यागः कर्तव्यो न वेति संशये फलस्य सिद्धत्वान्नायस्य
कर्तव्यः । 'मद्भातीयातयामानां न वन्धाय गृहा मता' इति वाक्यात् गृहाणां वन्धकत्वा-
भावेन द्वितीयस्यापि न कर्तव्य इति प्राप्ते आह 'बहि रित्यादि । उक्तपूर्वपक्षनिरास्य
तुशब्दः । भावमात्रे साक्षाद्भगवत्सम्बन्धे चेत्युभयथापि बहिः गृहाद्बहिर्गमनम् गृहत्याग
इति यावत् । स आवश्यकः । तत्र प्रमाणमाह 'स्मृतेराचाराचे'ति । 'त्वं तु सर्वं परित्यज्य
खेहं सज्जनवन्धुषु । मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृक् विचरस्व गा'मित्यादि स्मृतिर्भगव-
द्भाववतस्तत्सद्बुधिशिष्टस्यापि बहिर्गमनमाह । तदाचारोपि तथैव श्रूयते, अतस्तथेति निष्कर्ष
उक्तः । अयं प त्यागो नाश्रमधर्मरूपः, तस्य पूर्वे 'उर्ध्वेरेतःसु च शब्दे ही'त्यत्र विचारि-
तत्वात् । न चैवमस्यास्मिन्नुत्र उक्तत्वे विचारितत्वेनेति कुतो नोक्तमिति शङ्कम् ।
प्रकारस्यानुत्पेक्षेन तथात्वाभावात् । शुकसंवर्तादिकर्तृकस्य ज्ञानमार्गीयस्यावैयस्य्यासस्यापि
तथात्वाच्चेति ॥ १७-२१ ॥

एवं त्यागप्रकारं तत्कर्तव्यताप्रकारं च निरूप्योपसंहरन्ति इति कृष्णप्रसादेनेति ।

इति कृष्णप्रसादेन वाङ्मनेन विनिश्चितम् ।

संन्यासपरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

एव सर्वं प्रायः आहुः । गम त्वन्यत् प्रतिभाति, उपक्रमे परित्यागो विचार्यत इति कथनात्, उक्तश्लोके च परित्यागो निधीयतामिति कथनाच्च तत्रैवोपसंहारप्रत्यभिज्ञानात्, इति कृष्णाप्रसादेनेति श्लोकस्तु तत्रैव विशेषान्तरस्य बोधनाय । तथा हि । आचार्याणां पुरस्त्रितरुविचारेण देहदेशपरित्यागविषयकभगवदाज्ञाद्वयाकरणाभिमानजनितपेदे सति यदा लोकपरित्यागविषयिणी तृतीयाज्ञा जाता, तदा तद्वान्यार्थविचारेऽनेन प्रकारेण कृते भगवार् विशेषतः प्रसन्नो भूत्वा तस्य सन्यासरूपतामाचार्याणां मनसि स्फोरितवान्, तदेतदस्मिन् श्लोके बोधयन्ति इति कृष्णाप्रसादेनेति । इति एव पूर्वोक्तप्रकारेण परित्यागे विचारिते सति यः कृष्णाप्रसादपूर्वस्मादतिरिक्तं तेन कृत्वा बलभेन भगवत्प्रियेण मया भक्तौ भक्तिमार्गे सन्यासचरणं उद्भवत् सन्यासाङ्गीकरणं त्रिनिश्चितं विशेषतो निश्चितम् । अन्यथा एवमाज्ञाऽभावे तत्करणे पतितो भवेत् । भक्तिमार्गाधिधर्माणां सन्यासधर्माणां चेतरेतरविरुद्धत्वात् भक्तिमार्गतत्त्वयुतो भवेदित्यर्थः । विशेषनिश्चयस्तु, 'आहिताग्नेस्तु सन्यासो वेराग्यादुत्तरायुषि । यावज्जीवश्रुतेस्तत्र न निरोधः कथञ्चन । यजमानोऽग्निवचनादपुनर्भाविधान्यत । न्यासो निधेयस्तनादौ यागनिनिन्दनात् । श्रेयानित्यादिवचनादपुनर्भाविधान्यत । आत्मयागनिधानाच्च द्रव्यं प्रातर्हुत्वा यथानिवि । भार्यानुज्ञा तु नपेक्ष्या देवादारुदिवान्यत । त्व ब्रह्मेति च नापेक्ष्य पुत्राणां लौकिकव्रत । बागूपचयनं कृत्वा जीवश्राद्धविधानत । आम्बुदेवप्रकारेण श्राद्धान्यष्ट समाचरत् । वर्गत्रयं प्रसिद्धं हि तत आत्मत्रयं मतम् । देहेन्द्रियप्राणदेवा पञ्चमे देवता मता । शिर पाण्ड्यायङ्गदेवा यन्तुदेवास्त्वगादिका । गोलाधिष्ठानदेवाः चक्षुराद्यास्ततः परम् । निधाहङ्कनिदेवाश्च रद्र सङ्कर्षणं शिव । सप्तमे गुणदेवास्तु ब्रह्माद्या अप्तमे मता । ततो दण्डत्रयं शिष्यं पतित्र जलभाजनम् । पात्रं चेति समादाय तथा वापिनाक्रति मियादिषु श्लोकेषु व्रतते । सर्वो ग्रन्थ उत्सन्न, पूर्णो न लभ्यत इत्यत एते श्लोका न त्रिनिश्चयन्ते । अतस्तदुत्तरप्रकारस्तत्च्छापीयसन्यासपद्धतिभ्योवगन्तव्यः । भगवता सन्यासस्य स्फोरणादेवाचार्यैस्तिदण्डसन्यास एव कृतः । भार्यादिभिराज्ञाया अदाने स्वपणशाशास्त्रान् प्रदर्श्य तेर्निगच्छत् शीघ्रं निर्गच्छतेत्युक्ते करककोपीने गृहीत्वा निर्गता । ततोऽग्निरपि शातः । ततो यथानिवि सन्यास गृहीत्वा अरेलग्रामात् काश्यामागता । मासमात्रं चानशनं कृतम्, दिनाष्टकं च मौनव्रतम्, तेन पूर्वाज्ञाद्वयदेशदेशदेहागो पाक्षिरुदोषप विहारेण कृतो । तत आपादशुद्धिद्वितीयाया सिद्धिं गता उति प्राचा वान्यादवगम्यते ।

कमापसहतिगतश्रुतिसूत्रं यद्यद्वोधितं भगवता नितभूयमुल्ये ।

यत्रतरसदनुमूलं च वान्यजातं सन्यासनिणयमयं व्यग्रणोत्तदीय ॥ १ ॥

इति श्रीपीताम्बररत्नजश्रीपुरुषोत्तमविरचितं विवरणं सम्पूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीविद्वलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिसमेतः ।

विचारितपरित्यागः पश्चात्तापनिवृत्तये ।

प्रसीदन्तु सदा मध्यमङ्गीकृतपितृत्वका ॥ १ ॥

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेपतः ॥ १ ॥

भक्तानां स्वहिताज्ञानेपि भगवांस्तेषां हितमेव सम्पादयतीति वस्तुस्थितिः । अतः साधनदशाया भक्तेन चिकीर्षितेपि परित्यागे तस्य पतनमाशङ्क्य तत्र विघात करोति । ततो भक्तस्य तत्स्वरूपाज्ञानात् पश्चात् सेवानुसरे भावनादशायां तापो भवति, मया चिकीर्षितेषु महाफले परित्यागे भगवाननुघात करोति, अतो मयि न कृपेति मम फलमुखाधिकाराभावात् सर्वमेव व्यर्थमित्येवरूप । तन्निवृत्त्यर्थं परित्यागः केन कर्तव्यः, कदा कर्तव्यः, किं वा तस्य स्वरूपमित्येव विचार्यते, स्वमनसेव युक्तिभिः परिशील्यते, तत्स्वरूपं पश्चात्तापं वोप्यते, न तु कर्तव्यत्वेनोपदिश्यते । साधनदशाया निषेधस्य फलदशायां च स्वकृत्य-नाथ्यन्मय वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः । भक्तिमार्गाग्रेण फलानुभवकाले कृतो देहेन्द्रियादिषु स्वीयत्वत्यागोभिन्नास्तिभेदेन पूर्वमिद्धतत्यागो वा परित्याग इति कर्तृकालस्वरूपाणा त्रयाणा-मुत्तर भविष्यति, तज्ज्ञाने मम साधनदशापन्नत्वाद्भगवांस्तद्विघात कृपयैव करोतीति स्वस्मिन् कृपाज्ञानेन पश्चात्तापनिवृत्तिर्भविष्यतीति भावः । युक्तिभिः स्वमार्गाविनिर्धारार्थं सामान्यतः सर्वनिर्णयमाहुः स इति । फलरूपभक्त्यनुभावार्यं च मार्गद्वये विशेपतः प्रोक्त इत्यर्थः । यद्यपि कर्ममार्गेऽप्याश्रमधर्मत्वेनोक्तं, तथापि यानुश्रीववाच्यस्यापि नियमानत्वात् विशेपतो नोक्त इत्यर्थः ॥ १ ॥

कर्तव्यतापोधकराम्येन पार्श्वकर्तव्यत्वमाशङ्क्य तदपि निराकुर्वन्ति कर्मेति ।

कर्ममार्गं न कर्तव्यः सुतरां फलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गं कर्तव्यत्वादिप्रारणा ॥ २ ॥

यावज्जीववाक्येन प्रत्यवायश्रवणात् पाक्षिकोपि दोष परिहरणीय इति न्यायेन न कर्तव्य इति भाव । वान्यद्वयस्य रागारागभेदेन व्यवस्थायामपि कलो तु 'अग्निहोत्र गवा लम्भ'मित्यादिवाक्यै प्रत्यक्षत एव निषेधादेशादीना दुष्टत्वाच्च न कर्तव्य एवेत्याहुः सुतरा मिति । स्वस्य भक्तिमार्गविचारकत्वात्तन्मार्गीयकर्तव्यतामेव निचारे हेतुत्वेनाहुः अत इति । तत्रापि साधनदशया निषेधमाहुः श्रवणादीति ।

श्रवणादिप्रसिद्धार्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते ।

सहायसद्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्गर्भे च विरोधतः ।

गृहादेर्याधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अत्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।

स्वयं च विषयानन्तः पापण्डी स्यात्सु कालतः ॥ ५ ॥

विषयात्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

एतेषा साधनरूपाणां प्रकषणं गेहीयानामनुकूलत्वेपि कदाचित् स्वासक्तिसम्पादनेन प्रति बन्धकानामससंगेण सिद्धार्थं कर्तव्य इति चेत् ? स परित्यागोस्माभिर्नैष्यते, इष्टफलमाधक त्वादित्यर्थः । प्रतिफूले तु त्याग उचित एवेति भावः । तद्विशदयन्ति सहायेति । श्रवणे ग्रन्थावलोकनादिना स्वत एव शक्तितत्पयनिर्धारमभवे दोषा तरमाहुः साधनानामिति । पु स्तकादीनामित्यर्थः । तावत्स्थापनेपि परित्यागो न सिद्ध इति भावः । अत एव 'ग्रन्थान् नेवाभ्यसेत् बहू'निति वान्यम् । यत्किञ्चिद्ग्रन्थाभ्यासस्तु पुस्तकं विनापि भवतीति बहूनिपुस्तकम् । एष स्वरू पासाधक दोषद्वयमुक्तमित्यनयो समुचयेनेकरूपतयोधनार्थं चकार । फलासाधक दोषद्वयमाहुः अभिमानादिति । भूयोभ्यासेन प्रतिभोत्वतो पुस्तकादिरूपसाधनत्वान्नोपि अन्त करणाशुद्ध्या अहं ज्ञानात्त्वभिमानो भवेत् । ततो मुख्यफलसिद्धिः । तीर्थादिभिरन्त करणशुद्धानभिमानाभावे दोषान्तरमाहुः नियोगादिति । नियोगो निधित्तस्माद्धतोरित्यर्थः । मुख्यफलस्य त्रिष्यष्टद्वत्वा द्विहितत्वेन कृतेन त्यागेन न तत्सिद्धिरिति भावः । एव फलासाधक दोषद्वयमुक्तमिति चकार । मुख्यदोषमाहुः तद्गर्भे इति । तस्य भगवतो भजनकर्मणो धर्मस्तनुवित्तजसेवारूपेर्विरोधात् । त्यागे सति तादृशसेवाऽसम्भवादित्यर्थः । तथा च फलरूपाया मानसा पूर्वोक्तदोषैरिति । तनुवित्तनायाश्च त्याग इत्युभयप्रशं इति भावः । नन्वेव सति सेवाश्रवणादिसाधकस्थापनेन भार्यदेरनुकूलत्वेपि स्वासक्तिसम्पादनरूपपाक्षिकदोषसद्भावेन वाधकत्वात् पाक्षिकोपि दोष परिहरणीय इति न्यायेन त्याग कर्तव्य इत्याशङ्क्य निषेधन्ति गृहादेरिति । भार्यादेरित्यर्थः । साधनार्थमिति । अन्यजानासकत्या सेवाश्रवणादिसम्पादनार्थमित्यर्थः । तादृशैरिति । रागिभिः स्वस्मिन्नासक्तिसम्पादकैरित्यर्थः । नान्यथेति । अतिविरक्तैरित्यर्थः । तादृशैरुच्छले

सेवाश्रवणादिकमपि न सिध्येदिति भावः । ननु ते कीदृशा अपि भवन्तु, स्वस किं दूषणमित्यत आहुः स्वयं चेति । ते विषयाक्रान्तास्तत्सद्भात् स्वयं च तदीयैर्विषयै रूपादिभिराक्रान्तो लुब्धः सन् पाखण्डी वेदविरुद्धविषयभोगकर्ता भवेदित्यर्थः । ननु दृढचित्तः कथमेवं भवेदित्यत आहुः कालत इति । कलिकालस्यादाढ्यसम्पादकत्वादिति भावः । साधनदशायां कालस्य प्रबलत्वान्निश्चितमेव स्यादिति पक्षान्तरनिरासकस्तुशब्दः । मार्यादिसहभावे विषयाक्रमणेपि पाखण्डित्वं तु न भवेदिति भावः । ननु निषिद्धविषयाक्रमणे भवतु नाम वेदमार्गविरोधः, स्वमार्गीयफलस्य तु विष्यस्पृष्टत्वात् तत्र किं बाधकमित्याशङ्क्य स्वमार्गविरोधमप्याहुः विषयेति । स्वकीयैरनिषिद्धैर्विषयैरन्तःकरणमेवाक्रान्तं भवति । तदपि देहेन्द्रियप्राणानामनाक्रान्तत्वात् तैः सेवाश्रवणादिकरणे निवर्तते । तदा नित्यभगवदावेशो भवेत् । परकीयैर्निषिद्धैस्तु दुर्लभत्वेन निरन्तरभावनया दृष्टेर्दुरदृष्टजनकैः प्रतिलोभ्येन देहपर्यन्तमाक्रान्तं भवति । तथा च देहपदेनेन्द्रियप्राणान्तःकरणानामाक्रमणं कैमुत्येन सूचितम् । तादृशानां सर्वस्यापि सद्भातस्य विषयाक्रान्तत्वेन सेवाध-सम्भवात् तैर्विषयं यान्तीति व्युत्पत्त्या विषयैर्मृत्युरूपं दुःखमेव भवेत्, न तु दुःखहर्तुरावेशेनामृतरूपभगवदानन्द इति भावः । सर्वदेति । एवमपि गुणगानादिना तत्काले कदाचिद्भगवदावेशो भवेदपि, न तु सर्वदा । तादृशस्तु कादाचित्कत्वेनागन्तुकत्वादसमर्थ इति भावः । उपसंहरन्ति अतोत्रेति । अतो भगवदनावेशादेव हेतोरत्र मार्गो साधनभक्तिसिद्ध्यर्थं परित्यागो न भगवदानन्दप्रापकः, किन्तु मृत्युरूपदुःखप्रापक इत्यर्थः ॥ ३-६ ॥

द्वितीयदलानुभवाय फलानुभवकाले त्यागाम्यनुज्ञामाहुः चिरहेति ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेपः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

यद्विद्येत्प्रकटः स्वात्मा यद्विद्यत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

गुणास्तु सद्गुराहित्वाज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवान् फलरूपत्यागान्न बाधक इष्यते ।

स्वास्थ्ययाप्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

दुर्लभोपं परित्यागः प्रेम्णा सिष्यति नान्यथा ॥ १३१ ॥

पूर्वसंयोगव्यावृत्त्यर्थं तु शब्दः । सुप्तप्रभुद्वय्यायेन । तदनन्तरं जातस्तु संयोगो विर-
 हाभिन्न एव, तदर्थं परितस्त्यागो देहेन्द्रियादीनामप्यननुसन्धानरूपः । प्रकर्षेण गुरुरूपदेश-
 भार्याभ्यनुज्ञादिव्यतिरेकेणैव फलसाधकत्वेन शक्यते । तर्हि वेपोपि तथा न स्यादित्यतस्त-
 व्ययोजनमाहुः स्वीयेति । बहिस्तयावेपाभावे स्वीयानां भार्यादीनामन्तःकरणधन्यो
 वासनारूप एतस्मिंस्तिष्ठेदेव, वेपे तु कृते अयमस्मदुपयोगानर्ह इति ज्ञानेन स्वीयानां
 वासना एतस्मान्निवर्तेतेति तदर्थं स त्रिदण्डिवेपोत्र मार्गं शक्यते इति पूर्वेणान्वयः । न
 चान्यथेति । फलार्थं चकारात् साधनसिद्ध्यर्थं च नेत्यर्थः । ननु गुरुरूपदेशमावे 'यस्त्वि-
 च्छया कृतः पुम्भि'रिति वाक्याद्धर्माभासत्वेनाधर्मवत्त्वमेतस्य स्यादित्यत आहुः कौण्डिन्य
 इति । कुण्डिने भवा कौण्डिनी, आद्यमहिषी । तत्साधनत्वात् तस्या एव सर्वत्रापिष्ठत्वात्
 सर्वा एव महिष्यः कौण्डिन्यः । तथा च कौण्डिन्यो गोपिकाश्चेति वाचिककायिकतिरोधान-
 द्वयजनितद्विविधविरहानुभवविशिष्टं गुरुद्वयमित्यर्थः । तथा च तयोर्नियामकत्वात् स्वेच्छाकृति-
 रूपो दोषः । ननु तत्कृतोपदेशासम्भवात् कथं गुरुत्वमत आहुः साधनं चेति । तत् एत-
 द्वये निरन्तरमावनया सिद्धं स्यायिभावरतिरूपं क्रमेण तिरोधानद्वये वचनैः स्वरूपेणोक्तं
 सत् साधनम् । चकारात् फलमपि तत्र सिद्धो विरहानुभव एव । तथा च साक्षादुपदेशा-
 भावेपि साधनफलबोधकत्वात् गुरुत्वमिति भावः । नन्वेवं साधनसाध्यत्वे 'नायमाल्मे'ति
 वाक्यविरोध इत्यत आहुः भाव इति । भावनया चर्चणया सिद्धं स्यायिभावरतिरूपं विरहानु-
 भवस्य साधनं वरणादन्यत्प्रवचनदिरूपं नेष्यते, किन्त्विदं सर्वं वरणान्तःपाल्येवेति न पूर्वोक्त-
 वाक्यविरोधः । ननु विरहे विकलत्वास्वास्याभ्यां दुःखानुमानात् कथं फलत्वम् ? आनन्दस्यैव
 फलत्वादित्यत आहुः विकलत्वमिति । एतद्वयमन्तःस्थितस्य विरहात्मकस्यानन्दरूपस्य
 भगवत् एव प्रकृतिः स्वभावो धर्म इति यावत् । न त्वानन्दतिरोभावेन दुःखरूपायाः प्रकृतेर्धर्म
 इत्यर्थः । तादृशे दुःखधर्मत्वं नोचितमिति हि शब्दः । एवं सर्वदा द्वितीयदलानुभवे पूर्वदला-
 ननुभवात् पूर्णरसानुभवो न भवेदतः पूर्वदलानुभवमाहुः ज्ञानमिति । ज्ञानं 'तद्गृह्णा भगवान्
 कृष्णः प्रियायाः प्रेमबन्धन'मित्यत्रोक्तं प्रेमबन्धनदर्शनम्, गुणा ऐश्वर्यादयश्च क्रमेण तस्यैवं
 वर्तमानस्य गुरुद्वयस्य साधकाः, पूर्वानुभवं बाधित्वा पुनः संयोगरसानुभावका इत्यर्थः ।
 तत्र प्रकारमाहुः सत्येति । ज्ञानात् तत्पूर्वोक्तात् सत्यसाक्षरब्रह्मणः श्रीवत्सस्य लक्ष्म्याश्च
 लोके विशाले स्थाने वक्षसि स्थितिः 'आश्लिष्य बाहुना राज'त्रित्यत्रोक्ता भवति । नन्वेवं
 प्रकारं ज्ञानं तु पूर्वमप्यासीदतः कथं पूर्वं तिरोभावसम्पादनमत आहुः संन्यासेनेति ।
 सम्यक् न्यासेन विरहे देहेन्द्रियाद्यननुसन्धानेन विशेषितं प्रेमबन्धनज्ञानं जातमित्यर्थः ।
 नित्यज्ञानवत्त्वेपि रसमार्गस्य भगवतो रसमर्यादयैव ज्ञानोद्बोध इति सिद्धान्तात् ।
 नन्वेतादृशज्ञानस्य सत्यलोकस्थितिरूपस्य फलस्य चाद्यमहिष्यामेवोक्तत्वात् कथं सर्वासं
 गुरुत्वमित्यत आहुः भावनेति । पूर्वोक्तं भावसाधकभावनारूपं साधनं तथा आद्यमहिषी-
 सदृशं यत्र भक्तेषु भवेत् फलं चकारात् तत्साधनं भावश्च तथा पूर्वसदृशं विरहानु-

भवरूपं यत्र भक्तेषु भवेत् तादृशा भक्ताः महिषीरूपाः सत्यलोके आदिपदेन 'तामु-
 तथाप्य चतुर्भुज' इत्यत्रोक्तोन्थापनकेशसमूहनवकमार्जनादिना भुजादिषु च तिष्ठन्त्येव, ताव-
 त्सिद्धौ तावदपि युक्तमेवेत्येवकारः । तत्रैवाधान्यासामपी'त्यतिदेशादन संशयो न कार्य
 इत्याहुः न संशय इति । ननु पूर्वमपि सयोगस्य विद्यमानत्वात् कथं विरहानन्तर जात-
 स्यैव फलत्वमत आहुः वहिरिति । स्वस्य भक्तस्यात्मा भगवान् वाचिकतिरोधानलीलाया
 वहिः प्रकटो भक्तस्वरूपाद्बहिर्भूतो भिन्नश्चेत् सन् पुनर्गक्तस्वरूपे प्रविशेत्, सत्यलोकादौ
 तत्स्थापनेन तत्प्रत्यङ्गेषु सयुज्य स्थितो भवेत्, तदैव सकलो देहेन्द्रियादिषु वासनारूप
 आध्यात्मिकोपि बन्धो नाशमेति, नान्यथा तिरोभावातिरिक्तप्रकारेण न भवतीत्यर्थः । विर-
 हेतितोपेन देहेन्द्रियाननुसन्धाने सर्वांशेन तद्वासनानिवृत्तिः, तदनन्तर सयोगेप्याध्यात्मिका-
 विद्याया निवृत्तत्वाद्देहेन्द्रियादिकमात्मा च भगवदीयत्वेनैव प्रियो भवति, भगवानपि भगवत्त्वे-
 नैवेति मुख्यो निरोधो सिद्धो भवतीति पूर्वसंयोगेप्याध्यात्मिकबन्धस्य विद्यमानत्वान्न तस्य
 फलत्वम्, किन्त्वस्यैव निरोधस्यैव फलत्वादिति भावः । तत्र दृष्टान्तः वह्निवदिति । यथा वह्नि-
 मन्थनेन काष्ठाद्बहिर्भूतः सन् पुनः काष्ठे यदा प्रविशति तदा काष्ठांशं निवर्तयति तथेत्यर्थः ।
 एव वाचिकतिरोभावे वचसोत्कटेन भावेन विरहानुभवः, ज्ञानेन सयोगानुभवः, पुनरेवमिति
 पौर्णपर्येण दलद्वयानुभव एव, नान्यावस्थेति प्रथमगुरौ साधन फल चाभिहितम् ।
 द्वितीयगुरौ वाचिकतिरोभावे स्वरूपेणोत्कटेन भावेन विरहानुभवः, गुणैः सयोगानुभवः,
 सयोगेपि न विरहवाध, विरहेपि न सयोगवाध इति सार्वदिकशचलितरसानुभव
 इति । ततोपि निश्चिष्ट साधन फल चैवभिप्रेत्य पुनः पूर्वदलानुभावे साधन दलस्वरूप
 चाहुः गुणास्त्विति । पूर्वं गुरौ ज्ञान सर्वांशेन विरह वाधित्वा सयोगानुभावकमुक्तम्, न
 तथा गुणा अत्रेति तुशब्दः । किन्त्वैकांशेन विरह वाधित्वा सयोगानुभावका इति ।
 सद्गुराहिल्याद्देहेन्द्रियादिभिर्यः सद्गुराहिल्यात्तत्तिरोभावाद्देतोः स्वयमेव देहेन्द्रियादिरूपा
 भूत्वा फलानुभवाय जीवनसम्पादनार्थं साधनरूपा भवन्ति । न तु सर्वथा विरहवाधिका इत्यर्थः ।
 विरहेणात्युपमर्दिना देहेन्द्रियादितिरोभावे भगवद्गुणा एव तद्रूपा भूत्वा तत्र स्थिता इति चतु-
 र्याध्याये निरूपितम् । अत एव पश्चात्प्रायेपि गुणरूपा एव ता इति निरूपितम् । तथा च
 सद्गमेपि विरहे इवात्युत्कटदिदृक्षासत्त्वेन न सर्वथा विरहवाधः । अत एव सद्गमेपि 'दिदक्षितदृशो-
 न्यगम'त्रिणि वाच्यम् । विरहेप्यान्तरमणान्न सर्वथा सयोगवाधः । अत एव 'वर्णयन्त्योभिरंमिरे'
 'रंमिरेहस्यु तच्चिताः' । 'विशोका अहनी निन्सु' रित्यादिवान्यानि । एव शनलितरसानुभवः सर्वदा,
 न त्वेकरवाधः । अत्र कदाचिदिदृक्षापूर्तिप्रलापादिभावा अपि जायन्ते । उद्धवोपदेशानन्तरभावे
 तु सर्वदैव नयेति तस्मात्प्रत्यङ्गम् । ननु विरहभावस्य प्रचलन्वाहृणैर्वाधामम्भवेपि भगवान्
 न्यसद्गमेन तद्गानुपायकः स्यादित्याशङ्काहुः भगवानिति । भगवानुभयकलरूप इति स्वरूपतो
 नेहतरवाधकः दृष्ट्यन्ते, किन्तु वाच्यं न्यास्प्यजनक विरहमाननिवर्तक 'मयापरोक्ष भजता
 विरोधित्व'भियादिरूपं यदिति । तादृश वाच्यं तु एताभिर्न कर्तव्यं न मन्तव्यं, 'स्वागतं व' इत्यादि-

वाक्यवत् । एतासां स्वरूपमात्रनिष्ठत्वाद्वाक्यैः पूर्वभावोपमर्दो न भवतीत्यर्थः । ननु दलयो-
रुभयोर्विरुद्धत्वादेकदेवोभयदलरूपो भगवान्मर्यादाया विरुध्यत इत्यत आहुः दयालुरिति ।
भगवानेतासु दयालुरतो दयया शबलितपूर्णरसदित्सया मर्यादात्मप्यतिक्रम्य लीलां करोति ।
अतो न विरुध्यते, विरोधविषयो न भवतीत्यर्थः । ननु विरहभावात् पूर्वम'प्यात्मारामोप्यरी-
रम'दिति प्रकारकभावस्य जातत्वात्तदैव देहेन्द्रियादितोभावरूपः परित्यागः कुतो न सम्पन्न
इत्यत आहुः दुर्लभ इति । अयं पूर्वोक्तः परित्यागो दुर्लभः, दुःखेन वियोगात्मकेन लभो लाभो
यस्य तादृशः । तत्र हेतुः । प्रेम्णा भावनासिद्धेन रत्याख्येन सिध्यति, नान्यथा, प्रकारान्तरेण
न सिध्यति । तादृशप्रेमोक्तं तु विरहात्मकदुःखे एव भवति । अतो दुर्लभत्वात् वियोगात्
पूर्वं तत्सिद्धिरित्यर्थः ॥ ७-१३ ॥

ज्ञानमार्गीयं निरूपयन्ति ज्ञानमार्गं त्विति ॥

ज्ञानमार्गं तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पापण्डित्वं भवेद्यापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रवृत्त्वादिति स्थितिः ॥ १६ ॥

भक्तिमार्गीयोस्माभिर्विचारितः, ज्ञानमार्गीयस्तु प्रमाणगम्यत्वात् तैर्विचारित एव ।
अस्माभिस्त्वनूद्यते, परप्रीतिविभेदज्ञापनाय तुशब्दः । विविदिपाविद्वेदेन द्विविधोपि प्रमाणै-
र्विचारितः । साधनमपि विचारितमित्याहुः ज्ञानार्थमिति । भक्तिमार्गीयेण त्यागेन विरहानु-
भवार्थं साधनत्वेन भावः पूर्वमुक्तः । ज्ञानमार्गीयेण 'यदहरेव विरजे'दिति प्रकारेण त्यागेन
आत्मापरोश्वरूपज्ञानार्थं साधनत्वेन उत्तरं मुख्यमङ्गं श्रवणं, तदपि विचारित 'मात्मा वारे द्रष्टव्य'
इति वाक्यादित्यर्थः । पूर्वस्मादेतस्य वैलक्षण्यमाहुः सिद्धिरिति । परमत्र जन्मशतैरेक-
जन्मभिः सिद्धिर्भवति, तत्र तु न विलम्बः, 'बहूनां जन्मनामन्ते' इति वान्यादिति
भावः । नन्वायुर्भागप्रकारेण कृते कर्ममार्गीयेषु संन्यासे तुरीयाश्रमे ज्ञानमेवाभिहितम् ।
अतो विशेषाभावात् कर्ममार्गीयोपि कुतो न कर्तव्य इत्याशङ्क्य मार्गद्वयीयज्ञानयोर्भेदार्थं
ज्ञानं चेति । ज्ञानमार्गं पश्चाद्विप्रकारेणाधिकारिदेहस्य सिद्ध-
कर्ममागायज्ञानस्वरूपमाहुः ज्ञानं चेति । साधनानपेक्षम्, श्रवणरूपं तु साधनं फलनान्तरीयकत्वात्
त्वाज्ज्ञानमसिद्धन्माने साधनानपेक्षम्, श्रवणरूपं तु साधनं फलनान्तरीयकत्वात्
फलाङ्गमेव, अत एवोत्तराङ्गमित्युक्तम् । कर्ममार्गीयं तु ज्ञानमस्मिन्नपि जन्मनि साधनापेक्षम्,
गाईस्थ्ये यज्ञादयः कर्माण्या इति श्रवणाद्धेतोर्मतं सम्मतमित्यर्थः । चत्स्वर्थे, पूर्वज्ञानव्यवच्छे-
दाय । अतः साधनापीनत्वात् साधनानां कलौ देशादिदोषेणासिद्धत्वाच्चित्तशुद्ध्यभावेन
ज्ञानानुदयान्नया शृवैव परित्यागः कृत इत्याकारकपश्चात्तापाय स कर्ममार्गीयः संन्यासो

भवेत् । नान्यथेति । ज्ञानभक्तिप्रकारकस्तु साधनानपेक्षत्वात्तथा न भवेदित्यर्थः । न केवलं पश्चात्तापमात्रं किन्तु दोषसम्बन्धोपि भवेदित्याहुः पापण्डित्वमिति । चित्-चाञ्चल्याद्वेदविरुद्धकार्यकर्तृत्वमपि भवेत् । कदाचिद्दोषाभावेपि पाक्षिकदोषसम्भावनाया विद्यमानत्वात् फलसिद्ध्यभावाच्च न कर्तव्य इति चकारः । पूर्वोक्तपश्चात्तापसमुच्चयार्थमपि-शब्दः । तस्माद्धेतोर्ज्ञाने साधनापेक्षज्ञानसिद्धयर्थं न संन्यसेत्, संन्यासं न कुर्यादित्यर्थः । ननु कालदोषा इव कर्माणि प्रमाणसिद्धमतः कालेन कथं कर्मबाध इत्यत आहुः सुतरामिति । कलिदोषाणां सुतरां कर्मापेक्षयापि प्रचलत्वात् । काले कर्मविधाने कर्मणः कालाधीनत्वात् कालस्य कर्मापेक्षया प्रचलत्वम् । 'इम्यनुसारी'त्यारम्य 'योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैत' इति सूत्रेण कर्मणि कालबाधस्य व्यवस्थापितत्वादिति स्थितिरित्युक्तम् ॥ १५-१६३ ॥

ननु तत्र तु ज्ञान एव कालानपेक्षोक्ता । अतः कर्मणीव भक्तावपि कालबाधः प्राप्त इत्याशङ्क्य तत्समाधानमाहुः भक्तिमार्गेपीति ।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः कनित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः मियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

किं कार्यं, भक्तिमार्गेणैव स्येयं, तं मार्गं परित्यज्य ज्ञानमार्गो वा आश्रणीय इत्याश-
ङ्गायां समाधानमुच्यते । व्यासस्य ज्ञानावतारत्वेन ज्ञानरूपत्वात्तन्मार्गसमाधानं व्यासै-
रुक्तम् । अस्माकमासत्वेन भक्तिरूपत्वाद्भक्तिमार्गसमाधानमस्माभिरुच्यते इत्यर्थः । तत्र
ज्ञानमार्गे फलदशायामेव बाधाभाव उक्तः । अत्र तु साधनदशायां फलदशायां च तथेति
ततोपि वैशिष्ट्यबोधनार्थं पूर्वं साधनदशायां बाधाभावमाहुः अत्रेति । आरम्भे साधन-
दशायामित्यर्थः । बाधो हि स्वरूपतः फलतः साधनतथेति । तत्र प्रथमं स्वरूपतस्तदभाव-
माहुः न नाशः स्यादिति । भगवतः सर्वतः प्रचलस्य रक्षकत्वान्न भवत्येवेति स्यादिति
विधिरुक्तः । फलतस्तदभावमाहुः दृष्टान्तस्येति । फालदृष्टो यः अन्तः फलं तस्मान्मावात् ।
स्वदृष्टमेव हि फलं कालेन नाश्यते, इदं तु फलं कालातीतम्, अतः कथं फलनाशद्वारा
श्रवणादिसाधननाशः कालेन कर्तुं शक्येत्यर्थः । साधनतस्तदभावमाहुः स्वास्थ्येति ।
कालकृतनाशस्य निवृत्तित्वात् स्वं कालस्तत्सत्यं श्रवणादीनां नाश इति यावत् । सर्वमेव
नष्टं सत् कालस्यं भयति । तादृशनाशस्य हेतुर्विषयादिः । विषयोपाधिकमेव श्रवणादिकं नाश-

प्रतियोगि भवति, न तु भगवदीयम्, स्वास्थ्यस्य नाशस्य हेतोर्विषयादेः परित्यागात् स्थितस्य च भगवति समर्पणादित्यर्थः । भगवदीयो विषयस्तु स्थितोपि कालेन नाशयितुमशक्य इति साधनतोपि नाशाभाव उक्तः । अतः प्रकारत्रयस्याप्यभावादस्य साधनभूतश्रवणादेः कालकृतो बाधः केन प्रकारेण सम्भवेदित्यर्थः । फलस्य तु बाधः सम्भावयितुमपि न शक्य इति तत्र कैमुत्यमाहुः हरिरत्रेति । दुःखहर्तृत्वेन सर्वात्मना विरहं बाधितुमुचितोपि तद्वा-
वस्यापि भगवद्रूपत्वेन प्रबलत्वात्तद्वाधां कर्तुं न शक्नोतीत्युक्तम् । अपरे कालादयः कुतो हेतोः करिष्यन्ति, एकांशेनापि बाधहेतुभूतयोर्ज्ञानगुणयोरपि कालाद्यतीतत्वात् कुतो हेतोरि-
त्युक्तम् । भगवान् संयोगं पुनरनुभावयितुं तं भावमेकांशेन ज्ञानगुणान्यां बाधयति, सर्वा-
ंशेन तु बाधनेऽशक्तः । कालादयस्तु बाधहेतोः संयोगरूपफलस्य ज्ञानगुणरूपस्य साधनस्य च स्वागम्यत्वात् कुतो हेतोरैकांशेनापि बाधितुं शक्नुवन्तीत्यर्थः । एवं भगवतोऽशक्तौ स्वरूपमेव हेतुरिति दृष्टान्तेन बोधयन्ति अन्यथेति । भगवतो बाधकत्वे मातरो न पुपुपुरित्यपि स्यात् ।
तथा च यथा मातृस्वरूपस्यैव तथात्वान्मातरो धालान् स्तनैर्न पुपुपुरित्यसम्भावितम्,
तथा भगवत्स्वरूपस्यैव तथात्वाद्भगवता सर्वांशेन भावबाधनमप्यसम्भावितमिति विष्व-
प्रतिविष्वभावसिद्ध्या दृष्टान्तालङ्कारसिद्धिः । ननु 'तर्हि भवतीनां वियोगो मे न ही'त्यादीना
कथं विरहाभावबोधनमित्यत आहुः ज्ञानिनामपीति । ज्ञानिनां ज्ञानमिश्रभक्तिमार्गीयाणामपि
सम्बन्धिना तादृशबाधयेन भक्त ज्ञानांशरहितं शुद्धभक्तं न मोहमिष्यति, पूर्वसिद्धविरहानुभव-
रहितं न करिष्यति । ज्ञानमिश्रभक्तिमार्गीयाणामेव तादृशैर्बाधैर्विरहबाधो भवति । एतासां
तैर्बाधैः प्रस्युतस भाव उत्कटो जातः । एतच्च विवृतं तत्रैव । ननु ज्ञानिन इव भक्तमपि कुतो न
मोहयति, अशक्तावपि तुल्यबलत्वादधिकप्रयासेन तत्सम्भवादित्याशङ्क्य तत्र प्रयोजनाभावं हेतु-
त्वेनाहुः आत्मप्रद इति । ज्ञानमिश्राणां विरहे विप्रयोगरसात्मकस्य स्वरूपस्य न प्राकट्यम्,
अत आत्मनः स्वरूपभूतस्यानन्दस्य दानार्थं पूर्वभाव बाधयति । सुखदानुत्वेनैव च प्रियः,
अतो दुःखाबाधे प्रियोपि न स्याद्, अतः पूर्वं बाधयतीत्यात्मदाने प्रीतिरूपप्रयोजनद्वयं भगव-
न्निष्ठं भक्तनिष्ठं च निरूपितम् । एतासां तु विप्रयोगरसात्मकस्वरूपानुभवाद्दिरहेपि भगवान्
आत्मप्रदः । निरुपाधिकप्रीतिविषयत्वात्तादृशदुःखेपि प्रियः । अतः प्रयोजनद्वयस्य तदापि
सिद्धत्वात् किमर्थं कस्मै प्रयोजनाय मोहयिष्यतीत्यर्थः । तत्र 'नीलाम्बुदश्यामो हृदयाद-
पसरत्वि'त्यादिनोक्तोपि भावो जायते इति चकारः । परं तस्य व्यभिचारिभावत्वाच्च स्थायि-
भावरूपप्रीतिर्हानिः । तादृशस्वरूपदानेपि प्रीतिसूचनायापिशब्दः । एवं गुरुद्वये सिद्धं सर्वं
निरूपितम् । तत्राधुनिकस्य यावत्कर्तव्यं तदाहुः तस्मादिति । यतो भक्तिमार्गीयस्य न
बाधस्तस्माद्धेतोरुक्तेन गुरुद्वये सिद्धेन प्रकारेण परित्यागो विधीयतामित्यनुज्ञा । गुरौ दल-
द्वययुक्तम् । तत्रैकदलार्थं तत्सम्पादकः परित्याग आधुनिकेनापि कर्तव्यः । अपरस्य तु दलस्य
तत्र सिद्धस्य नाधिकार इति तदाकाङ्क्षायां बाधकमाहुः अन्यथेति । परित्यागादन्यप्रकार-
करणे इत्यर्थः । अपरदलेच्छायामपि स्वस्मिन् सिद्धादर्थान् फलाद्भ्रश्यते, ततोप्यधः पतती-

त्यर्थः । अयोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येवेत्यवधारणात् । एतस्य फलान्तरविचारस्य प्रमाणा-
गम्यत्वात् स्वसैवाऽसत्त्वेन भक्तिरूपस्य भवेः सम्मतिमाहुः इति मे निश्चिता मतिरिति ।
उपसहरन्ति इति कृष्ण इति ।

इति कृष्णप्रसादेन बह्वभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

कृष्णस्य प्रसादेन कृष्णेन तस्यैव बह्वभेन करो विनिश्चित, भक्तौ फलरूपभक्तिमिच्छ-
र्थम् । संन्यासो प्रियते स्वीक्रियते अनेन करणेन तादृशो विचारः संन्यासवरणम् । इति
समाप्तमित्यर्थः । 'अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारेण'त्यनेन भक्तिमार्गीयस्यैव तात्पर्य-
त्रिपयत्वेनोपक्रान्तत्वात्तेनैवोपसहारः । न्वनिश्चितमिदमेव । जानमार्गीय तु प्रमाणैर्निश्चितमेव,
न्ययमनूदित परमिति भावः । अन्यथाकरणे बाधरूमाहुः अन्यथेति । स्वयं निश्चितात् फल-
मार्गीयादनूदिताच्च जानमार्गीयादन्यथा साधनमार्गप्रकारेण कर्ममार्गप्रकारेण वा करणे तस्मात्
साधनात् पतितो भवेत्, निरुद्धाचरणात् स्वयमेव पतितो भवेत् । ननु भगवांस्तत्पातक इति
क्लेशे स्वामिनामग्रहणस्य हेतुत्वेनायुक्तत्वात् कर्मपदमित्यनेन वृत्रवान्यत्रिवरणे प्रभूक्ता भक्ति-
मार्गमयीदा सूचिता । स्वस्यतन्निश्चयस्य सिद्धत्वेपि करणकर्तृकथनेनैवत्रिधनिश्चये कृष्णप्रसाद
एव साधनम्, तस्त्रियत्वमेव च स्वरूपयोग्यतासम्पादकमित्यनुग्रहेतरसाधनासाध्यत्वं सूचितम् ।
नन्वेव सति स्वस्य दामत्वमायाति, अत एव ग्रन्थान्तरेपि 'इति श्रीकृष्णदासस्यै'त्युक्तम्,
अन्यत्र च 'वैश्वानराद्वाग्भते'रित्यनेनाधिदैविकास्यत्व स्वयमेवोक्तम्, अतः कथं विरोधपरिहार
इति चेदुच्यते । यथा भगवतो 'जीवय मृतमिदं दास'मित्यादिवाक्यैस्तथात्वमप्युच्यते, तत्र
रसात्मकत्वस्य प्रमाणसिद्धत्वाद्रसस्य च तादृधित्वाद्भूमिग्राहकमानेनोभयरूपत्वम्, न तु
कस्यचिदारोपितत्वमिति निर्णयः, तथा प्रकृतेपि रसात्मकत्वेन दास्यरसानुभवार्थमाविर्भावा-
त्तद्रससैव तथाविधत्वाद्भयरूपत्वम्, न तु किञ्चिदारोपितम्, अतो यथार्थत्वादित्वेनासत्त्वात्तद्वा-
क्यमखिलप्रमाणमूर्धन्यमिति तदनुग्रहभाजनैरवगन्तव्यम् । एवमेवात्रिकुमारचरणेष्वपि भगवत्त्व
'यावन्ती पदपद्मानी'त्यादिपुक्तं तदासीत्वमित्यादिकं यद्यद्रसानुभवे यद्यदुक्तं तत्तत्सर्वमनारोपि
तमेवेति ज्ञेयम् । एतेन विरुद्धधर्माश्रयत्वकथनेन भक्तेभ्यः स्वस्य भगवत्त्वमेव सूचित
भवति, मानुषभावस्वीकारादनधिकारिणा परं न तथा प्रतीतिरिति विभावनीयम् । पूर्वप्रणि-
पातादिकरणेपि 'न पारयेह'मित्यादिवाक्यैः भक्तप्रकारकं दास्यं न सम्पन्नम्, अत एवमाविर्भूय
ग्रन्थद्वयोक्तप्रकारेण स्वामिनीदास्यरसत्वमनुभूतवानिति भावः ॥ २२ ॥

स्वीयेषु कृपयोक्तस्य ग्रन्थस्यास्य महात्मनि । वदनानलदासोक्ता व्याकृति पूर्णतामगात् ॥१॥

इति श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीबह्वभक्ता संन्यासनिर्णयस्य

विष्टुतिः सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविद्युतिसमेतः ।

निघन्धे 'त्रिदण्डं परिगृह्णीत सर्वशास्त्राविरोधि तत्' इत्यादिवचनैरुपेत्यात्र त्रिदण्ड-
विषयकेष्टसाधनताभ्रमाद्रभसवशेन पुष्टिमार्गीयोपि तुरीयाश्रमत्वेन त्रिदण्डं गृह्णन् पश्चात्ता-
पमाभ्युदा, अतस्तदनुदयाय पुष्टिमार्गसंन्यासस्य विचारमारभन्ते ।

पञ्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

कलिकालजन्यदोषान्तान्तत्वात् कर्ममार्गीयस्य विलम्बेन फलजनकत्वात् ज्ञानमार्गीयस्य
च परित्यागस्य सदोपत्वमुद्भाव्य पुष्टिमार्गीयपरित्यागस्य किं प्रयोजनं, कोत्र गुरुः, किं वा
साधनं, का च परित्यागिनो व्यवस्थितिरित्यादिविचारः क्रियते इत्यर्थः । तथा चैवं विचारेण
परित्यागे निर्णते सलन्यत्र प्रवृत्त्यनुदयात् पश्चात्तापानुदय इति भावः । स इति । यस्य
विचारः क्रियते स परित्यागो भक्तौ भक्तिमार्गे ज्ञाने ज्ञानमार्गे च कर्तव्यत्वेन प्रोक्त
इत्यर्थः । विशेषत इति । मार्गद्वितयोक्ताचपि ज्ञानमार्गे विशेषत उक्त इत्यर्थः ।
तथा च वेदस्मृतिपुराणेतिहासेषु सर्वत्र प्रसिद्धत्वाद्विशेषेणोक्तः, भक्तिमार्गे तु भगवदनुम-
हैकलभ्यभजनानन्दानुभवयोग्यतासम्पादकविरहाणुभवार्थं भगवत्कृतवरणरूपस्तद्रसिकेष्वेव प्र-
सिद्धत्वाद्विशेषेण नोक्त इति भावः ॥ १ ॥

ननु मार्गद्वितयप्रोक्त एव विचार्यते, न तु कर्ममार्गीयः, तथा च तस्याविचारे को
हेतुरित्यत आहुः ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥ २ ॥

वस्तुतो ज्ञानमार्गेपि न कर्तव्य एव, अनन्तजन्मभिः सिद्धिसम्भवात्, परन्तु ज्ञानमार्गे
दैवात् ज्ञानसिद्धौ पाक्षिन्यपि सिद्धिः, अतः कर्तव्योपि, कर्ममार्गे तु न कर्तव्य एव-
त्याशयेन सुतरामित्युक्तमिति बोध्यम् । तत्र हेतुः कलिकालत इति । कर्ममार्गस्य देश-
कालद्रव्यकर्तृमन्त्रादिसापेक्षत्वात् कर्तौ तु देशादीनामशुद्धत्वात् कर्ममार्गीययावत्प्रदायसिद्धिः
कालत्रयेपि बाधितेत्याशयः । तथा च कलिकालजन्यदोषान्तान्तत्वेनाकर्तव्यत्वात्तद्विचारोपि
न क्रियते इति भावः । अत इति । सत्परासन्दिग्धफलजनको निर्दोषोऽवश्यकर्तव्यश्च,
अतो हेतोः ज्ञानमार्गीयपरित्यागविचारात् प्रथमं भक्तिमार्गीयो विचार्यते इत्यर्थः ॥ २ ॥
तत्र प्रथमं परित्यागप्रयोजनं विचारयन्तः प्रयोजनानन्तरमाशङ्क्य दूषयन्ति ।

श्रवणादिप्रसिद्धयर्थं कर्तव्यञ्चेत् स नेप्यते ।
 सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥
 अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।
 गृह्णदेर्षाधिकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥
 अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।
 स्वयं च विपयाक्रान्तः पापण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥
 विपयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।
 अतोऽथ साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

प्रेमजनकश्रवणादीनां गार्हस्थ्ये व्यासज्ञान्तरेण सम्यगसिद्धेः, प्रकर्षेण सिद्धयर्थं परित्यागः कर्तव्य इति पक्षो नेष्ट इत्यर्थः । अनिष्टत्वे हेतुमाहुः । श्रवणे सहायाः श्रवणकारयितारः तत्सङ्गसाध्यत्वात् श्रवणस्येत्यर्थः । तथा च परित्यागे सर्वसङ्गराहित्येन स्थितिरपेक्षितेति भावः । ननु मास्तु श्रवणार्थं, कीर्तनस्मरणादिनिमित्तपरित्यागे को दोष इत्यत आहुः साधनानामिति । कीर्तनस्मरणादिसाधनानां बाधनसादीनां प्रेमाभावात् स्वतोऽप्रवर्तमानानां प्रयत्नेन कीर्तनस्मरणादिषु रक्षणात् स्थापनात् प्रवर्तनादिति यावत् । तथा च स्वतः प्रवृत्तिरहितानीन्द्रियाणि बलेन प्रवर्तनाद्विक्षेपमासादयन्तीति भावः । एवं पादसेवनादिषु सर्वत्रेन्द्रियप्रवृत्तौ स्वयमूढम् । दाढ्यार्थं हेत्वन्तराण्याहुः अभिमानादिति । मया सर्वं परित्यक्तं, मत्समः कोपि नास्तीत्येवमादिरूपाद् गर्वादित्यर्थः । तथा चैवं गर्वे सति सर्वेषामुद्देगजननात् ऐहिको वेदस्मृत्यादिनिन्दनात् पारलौकिकश्रोत्रप्रवृत्त इति भावः । नन्वभिमानत्यागे को दोषोत आहुः निष्योगादिति । ईश्वराज्ञालक्षणाद्देवादेरित्यर्थः । तथा च वेदादिप्रसिद्धयतिधर्मानुष्ठाने सति अनुष्ठानरूपव्यासङ्गात् श्रवणस्य सम्यगसिद्धिः, तदनुष्ठानाभावे त्वारूढपतित एव स्यादिति नियोगादुपद्रव इत्यर्थः । ननु तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावत्ता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायत' इति वाक्याद्भगवदीयैकसङ्गः सन् श्रवणादीनि कुर्वीतः सत्सङ्गवशात् शनैः शनैः स्वतः प्रवर्तमानेन्द्रियो गर्वमप्यकुर्वन् उक्तवाक्याद्यतिधर्मानपि नानुतिष्ठन् सत्सङ्गातिरिक्तं सर्वं परित्यजेत्तदा को दोष इत्याशङ्काहुः तद्धर्मैरिति । पुष्टिमार्गीयपरित्यागधर्मैरित्यर्थः । तथा च पुष्टिमार्गीयरसिकानुभवैकसाक्षिकभगवद्भरणरूपपरित्यागे भावनासिद्धभावातिरिक्तयावत्साधनानामनभिमत्त्वात् भावपोषकविरहानुभवातिरिक्तयावत्पदार्थस्य व्यासङ्गान्तरजनकत्वेन तत्तदनुभवसाक्षिकभावरूपैः प्रकृतपरित्यागधर्मैः विरोधात् परित्यागकारणीभूतप्रेमजनकश्रवणादिप्रसिद्धयर्थं कर्तव्यो नेत्याशयः । तथा च विचारसारबन्धत्वात् प्रकृतप्रयोजनकातिरिक्तपरित्यागकथनम्, वस्तुतस्तु विरहानुभवातिरिक्तप्रयोजनकः परित्यागः पुष्टिमार्गीयभक्तानां बुद्धिस्थोपि न प्रभवति, कुतोऽस्य कर्तव्यतेति ध्येयम् । ननु भावविरोधित्वान्मास्तु श्रवणाद्यर्थं, परन्तु पुष्टिमार्गीयमत्कोपदिष्टप्रकारेण साध्यमाने भावलक्षणे नरूपानन्दस्य साधने प्रतिबन्धकीभूतभार्यादेस्त्यागे को दोष इत्याशङ्काहुः गृह्णदेरिति । सा-

घनार्थं साधनं भावस्तिसिद्धयर्थं यदि चेत्तथा परित्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । तथा च प्रतिबन्धक-
निवृत्तिरवश्यं सम्पादनीयेति गृहादेर्भावोत्पत्तौ प्रतिबन्धकत्वेन चेत् परित्यागो भावरूपसाधन-
सिद्धयर्थमिति भावः । दोषमाहुः अत्रेपीति । तादृशैर्भावसिद्धौ प्रतिबन्धकैरेवेत्यर्थः । तथा च
कृतेपि भेषजे न क्षान्तो व्याधिरिति न्यायापात इति भावः । नान्यथेति । ये अन्यथा अतादृशा
धवाधकाः साधका इति यावत्तैः सक्तो न भवतीत्यर्थः । तथोक्तं निबन्धे विवृतौ 'सन्ति ब्रह्मभावं
प्राप्ता नत्वेतादृशा मक्ता' इति । यद्यपि 'प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति निबन्धे प्रोक्तं, तथापि स परि-
त्यागः पूजानिर्वाहजनकत्वेनोक्तः, न त्वेतदेहावसान एव भजनानन्दरूपफलार्थमिति पूजानि-
र्वाहको भिन्नः, अयं च भिन्न इत्यनुसन्धेयम् । तथा च पूजानिर्वाहके तु सहायसङ्केत्यादिनो-
क्तमेव दूषणमित्यपि ध्येयम् । तर्हि प्रकृतगृहादिपरित्यागस्य का गतिरिति चेत्, न । प्रकृते तु
गृह एव तिष्ठन्नविरतमेव तन्मार्गीयोपदिष्टप्रकारेण भावनां कुर्वाणः सिद्धभावलक्षणसाधनः सन्
गृहादि सर्वं परित्यजति विरहानुभवार्थं, न तु साधनसिद्धयर्थमिति सर्वमवदातम् । ननु बाधकं
गृहादि परित्यज्य सर्वसङ्गरहितः सन् भावनया भावलक्षणं साधनं साधयेत्तदा को दोष इति
अत आहुः स्वयं चेति । आहारादिविषयाप्राप्त्या क्लिष्टः सन् तदेव ध्यायन् विषयाक्रान्तः
स्यात् । ततो मनसेन्द्रियार्थान् स्मरन् मिथ्याचारपदवाच्यः पापण्डी तु भवेत्, तथा च
भावरूपेष्टसिद्धिस्तु दूरे, प्रत्युतानिष्टसिद्धिरिति भावः । नन्विन्द्रियनिग्रहे सर्वमुपपद्यत इत्यत
आहुः कालत इति । कलाविन्द्रियनिग्रहस्य दुःसाध्यत्वादित्यर्थः । विषयाक्रान्तत्वे पापण्डि-
त्वम्, एकमनिष्टमुक्त्वा द्वितीयं बलवदनिष्टमाहुः विषयाक्रान्तेति । देहो लिङ्गशरीरं तस्य
मोक्षपर्यन्तमनवरतमुपचीयमानत्वाद्देहपदेनोक्तिः, एवञ्च लिङ्गशरीराध्यक्षत्वेन (अध्यस्तत्वेन)
तदभेदं मन्यमान आत्मैव (देह) पदेनोच्यते, तथा च विषयाक्रान्तात्मनां भगवदावेशः
संहरन्ति अतोत्रेति । यत उक्तदूषणानि अतो भक्तौ श्रवणादिसिद्धयर्थं अत्र साधने
अनन्यभावलक्षणसाधनसिद्धयर्थं च परित्यागो नैव सुखावह इत्यर्थः ॥ ३-६ ॥

एवं प्रयोजनान्तरेण प्रयोजनान्तरकृतपरित्यागे च दूषणमुक्त्वा प्रकृतप्रयोजनमाहुः ।
विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयघन्यनिवृत्त्यर्थं धेपः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।

भावनया साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

वहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३ ॥

निरोधलक्षणे 'हरिमूर्तिः सदा ध्येया सङ्कल्पादपि तत्र ही'त्याद्युक्तप्रकारेणान्तररम-
णान्त-पातिसयोगविशेषानुभवेनोत्पन्नस्योत्कण्ठानिशेषस्य निपयीभूतानां भगवत्स्वरूपनिष्ठतत्-
त्वदार्थानामनवाप्तेर्भवति हि विरहस्तदनुभवाय परित्यागः प्रशस्त इत्यर्थः । प्रयोज-
नमुक्त्वा प्रकारमाहुः । अत्रास्मिन् परित्यागे वेदादिषु प्रसिद्धः स वेशो बन्धुजनकृतमन्थ-
नारानिमित्तत्वेनैव स्वीकार्यः, न तु सस्कारत्वेनेत्यर्थः । कापायदण्डादिधारण तत्प्रयोजन
चोक्त्वा गुरुमाहुः । भगवदर्थमेव सर्वनिपयत्वजनात् कौण्डिन्यो गुरुः, गोपिकास्तु
सर्वप्रकारेषु गुरव इत्याशयः । गुरुमुक्त्वा साधनमाहुः साधनं चेति, । तत् पुष्टिमार्गीय-
रसिकेषु प्रसिद्धमित्यर्थः । किं तदत्र आहुः भाव इति । ननु भावे किं साधनमित्याकां-
क्षायामाहुः भावनयेति । भावे भावनैव साधनम्, अन्यत् साधनान्तरं तद्रसिकसम्मत
नेत्यर्थः । तथा च ज्ञानमार्गीयपरित्यागे श्रवणमननादिभिरुत्पन्न ज्ञान मोक्षे साधनं, तथा
भावनया सिद्धो भावः स्वरूपानन्दे साधनमिति भावः । साधनमुन्त्वेदानीमस्य ज्ञानिस-
दृशी दशान्यादृशी वेत्यत्र आहुः । विकलत्वमात्माद्यनुसन्धानराहित्यम् । अस्वास्थ्यमभिल-
षितार्थानवाप्तेर्यावद्विषयनिर्वेदादनिवृत्तिरिति यावत् । तथा च सङ्कल्पप्रतिभाते भगवति
जातसु चक्षूरागचित्तासङ्कसङ्कल्पनिद्राच्छेदतनुतात्रिषयनिवृत्तिप्रपानाशोन्मादमूर्छान्तासु नव-
स्ववस्थासु विषयनिवृत्तिपर्यन्तानामस्वास्थ्यपदेन प्रपानाशोन्मादमूर्छानां विकलत्वगि-
त्यनेनोक्तिरिति ध्येयम् । एव च अस्वास्थ्य विकलत्व च भावनासिद्धभाववतः प्रकृतिः
स्वभावः स्वाभाविकमिति यावत् । हि निश्चयेन प्राकृतं न, प्राकृताः सत्त्वरजस्तमोगुणास्त-
त्सम्यन्धि न भवतीत्यर्थः । ननु गुणजन्यज्ञानेनापि जडोन्मत्तसदृशव्यवस्थाजननात् भवति
विकलत्वम्, तथा तमोगुणजन्यप्रमादमोहाज्ञानैरपि तज्जायते । एव रजोगुणजन्यलौकिकवि-
षयलोभे सति लौकिकविषयानवाप्तेरपि सादस्वास्थ्यम् । तथा चैतेपि विकलत्वास्वास्थ्ये प्राकृते
एवेत्याशयमाहुः ज्ञानमिति । एव वर्तमानस्य विकलत्वास्वास्थ्यसहितैतादृशभाववतो निर्गु-
णमपि ज्ञान बाधक, गुणा अपि बाधकाः, तथा च यद्यप्रतिबन्ध्य निर्गुण ज्ञान सात्तदैकाल्य-
स्फूर्त्यादयः, यदि च सत्त्वरजस्तमासि स्युन्तदा सगुणज्ञानलौकिकविषयलोभप्रमादमोहाज्ञा-
नैश्च प्रतिबन्धजननात् अयं भाव एव नोत्पद्येतेत्यन्वधानुपपत्त्या ज्ञानस्य गुणानां चाभाव-
निश्चयाद्विकलत्वास्वास्थ्ययोः प्राकृतत्व दुर्वचमित्याशयः । न च गतिस्मितप्रेक्षणेत्यादिनिरूपि-
तैकाल्यस्फूर्तिरपि प्रतिबन्धिकास्त्विति वान्यम् । तस्मात्सत्त्वरसामयिकभावान्तरेण प्रतिबन्ध-

त्वात् । यद्यपि पुष्टिमार्गीयैकात्म्यस्फूर्तिलक्षणं रसान्तःपाति निर्गुणं ज्ञानमप्रतिबन्धमप्रसिद्धमेव,
तथापि 'मन्त्रिष्ठं निर्गुणं स्मृत'मिति भगवद्वाक्याद्भगवद्विषयकं भगवच्चरणारविन्दरूपाक्षरविष-
यकं च ज्ञानं सत्त्वगुणजन्यमपि ज्ञानं निर्गुणमेव, तच्चाप्रतिबन्धं सत् प्रतिबन्धकमिति बो-
ध्यम् । एवं च निर्गुणं ज्ञानं प्रतिबन्धकं यत्र, तत्र गुणानां प्रतिबन्धकत्वे किं वक्तव्यमिति कैमु-
तिकन्यायप्रदर्शनपूर्वकं गुणानां प्रतिबन्धकत्वाय ज्ञानमित्युक्तमिति विभावनीयम् । ननु रज-
समसोरास्तां लौकिकविषयलोभादिजननेन प्रतिबन्धकता, सत्वस्य तु ज्ञानमात्रजननेन कथं
प्रतिबन्धकतेत्याशङ्क्य तुरीयाश्रमविहितश्रवणादिना सत्वगुणोद्रेकात् जातस्य सगुणज्ञानस्य
मोक्षरूपफलान्तरविषयकेच्छाजननपूर्वकं सत्वलोकलक्षणफलजननात् प्रतिबन्धकत्वमाहुः ।
विशेषितात् सहकृतादित्यर्थः । नन्वत्र ब्रह्मणा सह मोक्षोपि, ततोर्वाक् ब्रह्मलोकीयसुखानुभव
इति फलद्वयजननेन पुष्टिमार्गीदुत्कृष्ट इत्यत आहुः । यत्र भावे यथा भावना कारणं तत्र तथा
फलमपि स्यात्, तथा च भावनया यथा भावो जन्यते, तथा भावेन स्वफलमपि
जन्यत इत्यर्थः । एवं च भावनयास्मिन्नेव जन्मति भावो जन्यते यथा, तथा भावेन
भजनानन्दलक्षणं स्वफलमपि झटित्येतद्देहावसानाव्यवहितोत्तरक्षण एव जन्यत इति भावः ।
एवं भावस्योत्कर्षमुक्त्वा ज्ञानस्यापकर्षमाहुः तादृशा इति । अप्राप्तमोक्षा एवेत्यर्थः ।
इत्थं चानेकजन्मक्रियमाणयोगाभ्यासादिभिर्ज्ञानं विलम्बेन जन्यते यथा, तथा ज्ञानमपि
ब्रह्मस्थितिपर्यन्तं ब्रह्मलोके स्थापयित्वा ब्रह्मणा सह मोक्षजननाद्विलम्बेनैव स्वफलमपि जनय-
तीत्येवमादिरूपाद्भावात् भावसाधनात् भावफलान्न स्फुटतर एव ज्ञाने ज्ञानसाधने ज्ञानफले
चापकर्ष इति भावः । नन्वास्तां तावत् भावस्त्वरया फलजनकः, परन्तु यदुक्तं स्वासाधनी-
भूतभावनातः सत्त्वरमुत्पन्नत्वात् स्वफलमपि सत्त्वरमेव जनयति भावस्तत्र साधु । नहि वर्ष-
शतेन पुष्टो दृढदण्डो घटजननेऽचिरयति, नवा सत्त्वरमुत्पन्नं कपालं सति प्रतिबन्धे सजीभवति
घटमुत्पादयितुम्, तथा च को हेतुर्भावस्य सत्त्वरफलोत्पादन इत्याशङ्क्य आहुः । यथा दारुण्य-
मिभूतो बहिर्मथनेनोद्भूतः सन्नन्तःप्रविष्टः सर्वं भस्मसात्करोति तथाविर्भूतो भगवान् सर्वमप्य-
विधारूपं बन्धं नाशयतीत्यर्थः । तथा च व्यापकत्वात् सर्वत्रैव भगवानस्ति, यदा तु भक्त्या
अन्तःकरणे प्रकटीमृयान्तःकरणे प्रकटो भवति, न कदाचित्तिरोधत्ते इति यावत्, तदा
झटित्यविद्यानाशात् स्वरूपानन्दानुभव इति भावः । न चेति ज्ञानमार्गीयप्रकारेण
नैवमित्यर्थः । ज्ञाने तु स्वापप्रबोधवदुदयानुदयाभ्यां चिरेण ब्रह्मणा सह मुक्तिरिति भावः ।
नन्वविषादस्य जीवनं सम्भवति, नत्वबद्धस्य । तथा च बन्धे नष्टे किं प्रयोजनं जीवनस्य,
किं वा जीवनसाधनमिति आशङ्क्याहुः । तुशब्दात् कारणान्तरव्यापृतिः । भगवद्गुणा एव
जीवनं सम्पादयन्ति । हि निश्चितोयमर्थ इत्यर्थः । ननु गुणाः किमर्थं जीवयन्तीत्यत आहुः
सङ्ग्रेति । सङ्गराहित्यादिरहात् प्रयोजनीभूतादित्यर्थः । तथा च भजनानन्दानुभवयोग्यता-
सम्पादकविरहानुभवसिद्धिनिमित्तं गुणा एव जीवनार्थं भवन्तीत्याशयः । ननु सर्वसमर्थो
भगवान् यथा गुणैर्जीवयति, तथा संयोगेनैव कुतो न जीवयति, यतः किञ्चित् स्वास्थ्यमपि

सादित्याशङ्गाहुः भगवानिति । यदि संयोगं सम्पादयेत्तदा भजनानन्दानुभवयोग्यताजनक-
विरहनाशजननेनास्वाप्यापगमात्, स्वयमेव प्रतिबन्धकः स्यात्, तथा च फलरूपस्य स्वस स्व-
प्राप्तौ प्रतिबन्धकत्वं नोचितमित्यर्थः । नन्वतिक्लेशात् कदाचिद्द्वैरेणास्य मनसि फलप्राप्तिसन्दे-
होदयजन्यमस्वास्थ्यं स्यात्तत्रिष्टुत्यर्थं सन्देहनिवारकं यचनं वक्तव्यम्, यथा ब्रह्मानन्ददानार्थं
यतमानं नारदं प्रति 'गन्ता भजनतामसी'त्युक्तवांस्तथेत्याशङ्गाहुः स्यास्थ्येति । कर्तुमेव
योग्यं न भवति यतोऽयं दयालुरनुग्रहकर्ता यतश्च स्वयं न विरुध्यते । विरोधी नातो हेतोः,
तथा च स्वेच्छयानुष्टम्ब दुर्लभपरित्यागपर्यन्तं सर्वं सम्पादितवान्, अतो दयालुर्यतश्च
स्वप्रापकभावोत्पत्तौ प्रतिबन्धकं न कृतवानतोऽविरोधी, इत्थं चाविरुद्धानुग्राहको भगवां-
स्तथैव मनः प्रेरयति यथा न सन्देहोदयः, न च तत्रन्यमस्वास्थ्यमिति तादृशवाक्यं प्रयो-
जनाभावात् कर्तुमुचितमिति भावः । इदानीं प्रकृतपरित्यागाधिकारं यदन्त उपसंहरन्ति
दुर्लभोपमिति । ज्ञानमार्गीयवैराग्यमिवात्र व्यसनरूपं प्रेम साधकम् । तथा च प्रेमवानधि-
कारीत्यर्थः । नेति । प्रेमाभावेऽयं परित्यागः सिध्यत्येव नेत्यर्थः । दुर्लभो भगवदनुग्रह-
कसाध्यत्वाद्दुःप्राप इत्यर्थः ॥ ७-१३३ ॥

इत्थं प्रकृतमुपसंहृत्य ज्ञानमार्गीयसंन्यासे किञ्चिदाहुः ।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पापण्डित्वं भवेचापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम् ॥ १६३ ॥

विचारित इत्यविचारेपि सिद्धवन्निर्देशाद्भस्तुतोत्र न किञ्चिद्विचार्यमस्तीत्यर्थः ।
तथाहि, विद्वत्संन्यासस्य प्रकृतपरित्यागविचार एव प्रसङ्गाद्भवस्योक्तैव सत्यलोक इत्यादिना ।
परमवशिष्यते विविदिपासंन्यासः, तस्य तूच्यत एवेति न किञ्चिदपि विचार्यमस्तीत्याशयः ।
अवशिष्टव्यवस्थामाहुः ज्ञानार्थमिति । उत्तरस्य स्वजन्यज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमुत्पत्समानस्य
मोक्षस्य अङ्गपरम्परया प्रयोजकः, न तु साक्षात्जनकः, तथा चैतादृशपरित्यागो ज्ञानोत्पत्त्यर्थं
चेत्किन्त्येतेत्याशयः । दोषमाहुः सिद्धिरिति । परन्तु तत्फलमनेकैर्जन्मभिर्भवतीत्यर्थः । ननु
सत्वरमेव कुतो न भवतीत्यत आहुः ज्ञानं चेति । यज्ञा आदिर्यस्येदृशश्रवणाद्भवति, यतः
साधनापेक्षं मतं कारणसापेक्षं स्वीकृत सर्वैरित्यर्थः । तथा च यतेर्मानसमखानामावश्यकत्वात्
कृतिपूर्वकमेव श्रवणमुचितम् । इत्थं च मानसमखश्रवणयोस्तच्चिद्विन्दियनिग्रहाधीनत्वात् नि-
ग्रहस्य सुतरामशन्यत्वाच्चाप्येकैरपि जन्मभिः सिद्धिर्दूरतरा ज्ञानस्येति भावः । उक्तं च निबन्धे
'तपसा वेदयुक्त्या च प्रसादात् परमान्मनः । विद्यां प्राप्नोत्युरुक्लेशः कथितं सत्ययुगे पुण्य'निति
ध्येयम् । इममेवार्थमाहुः अत इति । सत्ययुगे कदाचिदपि सिद्धिः, कलौ तु पश्चात्तापातिरिक्तं

किमपि फलं न भवतीत्याशयः । नेति । अस्मिन्नर्थे न काचिद्विप्रतिपत्तिरित्यर्थः । एवमत्रेष्ट-
सिद्ध्याभावमात्रं न, किन्त्वनिष्टसिद्धिरपि भवतीत्याहुः पापण्डित्यमिति । यद्योक्ताश्रम-
धर्माणामनाचरणद्वेदमार्गाद्युतेः पापण्डित्वं, चकारान्नरकोपि स्यादित्यर्थः । उपसंहरन्ति
तस्मादिति । ज्ञाने ज्ञानमार्गे संन्यासो न कर्तव्य इत्यर्थः । इत्थमकर्तव्यत्वसाम्यादुपस्थित-
ज्ञानमार्गायिसंन्यासस्य स्थूणानिखननन्यायेन पुनरकर्तव्यतामाहुः सुतरामिति । कलिदोष-
श्रावल्यात् सुतरां न कर्तव्य इति सिद्धं, प्रथममेवोक्तमगूढमेत्याशयः । तथा चोभावपि न
कर्तव्यौ, समानदोषत्वादिति भावः ॥ १४-१६३ ॥

एवं मार्गान्तीययोः सदोपलभ्युत्त्वा प्रकृतस्य संयुक्तिकं निर्दोषत्वमाहुः ।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावात् ।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्वाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं धार्थां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान् स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्माद्भुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भ्रद्यते धार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

भक्तिमार्गे परित्यागकृतौ यदि दोषसम्भावना तदा किं कर्तव्यमित्यर्थः । तथा च
परित्यागः कर्तव्यो न कर्तव्यो वेत्याशङ्गायां समाधानमुच्यते इत्यर्थः । समाधानं वदन्तः
प्रथमं प्रवृत्तिप्रतिबन्धकविघ्नरूपं दोषमाशङ्क्य तदभावमाहुः । अत्रास्मिन् परित्यागे आरम्भे
प्रवृत्तौ नाशो विघ्नो न भवेदित्यर्थः । ननु मास्तु प्रवृत्तौ प्रतिबन्धकस्तदभावस्यानुभक्तित्वात्
परन्तु फले प्रतिबन्धकान्तरात्तुमाने को दोष इत्यत आहुः दृष्टान्तेति । अनुमानस्य दृष्टान्त-
सापेक्षत्वात्तदभावादनुमातुं न शक्यत इत्यर्थः । अपिशब्दात् सद्देतोरप्यभावाच्चानुमानमित्या-
शयः । ननु लौकिकविषयानुरागात् स्वर्गाधक्षरानन्दतागुणिकफलाभिलाषाच्चास्वास्थ्यनाशेन
फलप्रतिबन्धलक्षणो दोषः प्रकृतपरित्यागेपीत्याशङ्गाहुः स्वास्थ्यहेति । स्वास्थ्यहेतोरस्वास्थ्यना-
शकस्येत्यर्थः । तथा च भजनानन्दतिरिक्त्यावदभिलाषविषयानां प्रथममेव तुच्छीकृत्य परित्याग-
त्वात्तदभिलाषामावेन फलप्रतिबन्धः केन स्यात्, न केनापीत्यर्थः । ननु कालादयश्चेत्प्रतिबन्धकाः
स्युरत आहुः हरिरिति । अपरे कालादय इत्यर्थः । पूर्वपक्षिणं मनसिक्कृत्याहुः अन्यथेति ।
प्रश्ने चासन्नकाल इति सूत्रेणासन्नकालिक्यां क्रियायां पृच्छमानायां पुपुषुरिति लिट् । अन्यथा
धार्थां करोति भगवानिति, यदि त्वं निश्चितोसि तदाहं पृच्छामि, क्वचिदद्य प्रातः सन्नवे वा
मातरो बालान् स्तन्यैर्न पुपुषुः किमित्यर्थः । तथा चैतावत्कालं तु मातरोर्भक्त्योपपणपरा
एव सर्वसंमतास्त्यथा त्वद्य किमुष्णन्त्यो दृष्टा इतीदृशः प्रश्नः पुपुषुरित्यस्य वाच्यः । इत्थं च

यद्यसम्भावितमर्भकपोषाभावमद्राक्षीस्तदा भगवत्कृतपाधामपि मनस्यानयेः । एवं चोमयमपि शशविपाणायमानमिति भावः । ननु देवात् मिलिता ज्ञानिनः स्वानुभवज्ञापनपूर्वकं स्वमार्गोपदेशं कुर्युस्तदा का गतिरत आहुः । यद्वा, ननु भगवान् स्वयं प्रतिबन्धं न जनयति, परन्तु सर्वमोहिका माया चेन्मोहमुत्पाद्य मार्गान्तररुचिलक्षणं प्रतिबन्धं जनयेदित्याशंस्याहुः । ज्ञानिनामपीति च वाच्यं चेति कर्मधारयः । तथा च 'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा, चलादाकृत्य मोहाय महामाया प्रयच्छती'ति वान्येनेत्यर्थः । एवं चास्मिन् वान्ये ज्ञानिनामित्युक्तम्, ननु भक्तानामपीत्यतो ज्ञानिमोहजनन एवासा शक्तिर्न तु भक्तमोहजनन इत्याशयः । मोहेति । अतीतवर्तमानमोहयोरभावस्त्वेतन्मार्गान्यथानुपपत्त्यैव निश्चितः, परमवशिष्यते सन्दिग्धसम्भवो भविष्यमाणः स तु पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय इति न मोहयिष्यतीत्यनेन परिह्रियत इति ध्येयम् । ननु भगवद्विच्छाया दुरूहतरत्वाद्भगवतः स्वतन्त्रमत्वात् कदाचित्स्वयमपि मोहयेदत आहुः आत्मप्रद इति लुब्धो द्वेषा वाऽभविष्यदमोहयिष्यद्भगवांस्तु जीवकृतिसाध्यसाधननिरपेक्षः सन् स्वात्मानमपि प्रकल्पेण ददद्दुदरः, तथा द्वेषापि न भवति, उदासीनोपि न भवति, अपि तु प्रियः, तथा च प्रयोजनयोः लोभद्वेषयोरभावाच्चैव मोहयिष्यतीत्यर्थः । अत्रापि अतीतवर्तमानमोहयोरभावस्तु वरणान्यथानुपपत्त्यैव निश्चितः, अवशिष्टस्य तूच्यत एवेति ध्येयम् । एवं प्रकृतपरित्यागे दोषाभावगुणप्राद्य प्रवृत्तिं विदधति । यस्मात्सर्वथा निर्दोषैस्सात्पादुक्तप्रकारेण 'स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेश' इत्याद्युक्तप्रकारेणेत्यर्थः । स्वार्थाद्विरहानुभवलक्षणस्वप्रयोजनात् रहितो भवतीत्यर्थः । किमत्र प्रमाणमत आहुः इति मे इति । निश्चिता साक्षात्कृतविषया मतिरेव प्रमाणमित्याशयः ॥ १७-२१ ॥

नन्वय परित्यागः किं तुरीयाश्रमः, किं वा भक्तिमार्गीयः साधनविशेष इति सन्दिहानं प्रत्याहुः ।

इति कृष्णप्रसादेन बह्वभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासचरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इति समाप्तोयं ग्रन्थ इत्यर्थः । भगवत्प्रसन्नतया हेतुभूतया साक्षात्कृतमित्यर्थः । भक्तौ भक्तिमार्गे संन्यासचरणं परित्यागलक्षणो भगवदङ्गीकारः । तथा च नायं तुरीयाश्रमः, न वा भक्तिमार्गीयः स्वकृतिसाध्यः साधनविशेषः, किन्तु भगवत्कृतो जीवसाङ्गीकाररूपोयं परित्याग इत्याशयः । अन्यथाङ्गीकाराभावे पतितोऽस्मान्मार्गात् व्युत्तो भवेत् । तथा चैतन्मार्गाभ्युत्तिः पातित्यमेवेति पतितपदप्रयोग इति बोध्यम् । इत्थं च भगवानेव स्वभिन्नयावहौकिकालौकिकविषयेभ्योन्तःकरणं निरुप्य यदि स्वस्मिन् व्यसनं सम्पादयेत्तदायं परित्यागो मजनानन्दानुभवयोग्यतासम्पादकविरहानुभवार्थं कर्तव्यः, नो चेतनुवित्तजैव सेवा कर्तव्येति श्रीमदाचार्यचरणानामाशयोऽनिश्चयसन्धेयः । तथा चोक्तं विद्वन्मण्डने श्रीमत्प्रभुचरणैः 'तस्मात्तुरीयानां मर्यादं हितकारिणी'ति ॥

चाद्याश्रीगोपेशकृता संन्यासनिर्णयविद्वृत्तिः सन्पूर्णा ॥

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतं-पञ्चदश-

निरोधलक्षणम्

षड्भिष्टीकाभिस्समलंकृतम्

१. चाचा श्रीगोपेशानाम्
४. श्रीवल्लभानाम्
२. काका श्रीवल्लभानाम्
५. श्रीपुरुषोत्तमानाम्
३. श्रीहरिरायानाम्
६. श्रीब्रजराजानाम्

परिशिष्टप्रयोपेतम्

- १ श्रीहरिरायणां प्रथमा अक्षमूर्णा टीका
- २ श्रीलालभट्टकृत-निर्णयार्थवान्तर्गत-
एतद्ग्रन्थसंशयनिरास.
- ३ श्रीलालभट्टकृत-निरोधस्वरूपनिरूपणम्-
ब्रह्मसुबो, योजनान्तर्गतम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-वशात्प्रस-नित्यलीला-स्थित-श्रीस्वामिश्री-
१००८- श्रीपुरुषोत्तमलालजी-महाराजश्री-स्यैतेषा-स्मृतौ-
तदात्मजैः-श्रीस्वामिश्री-१०००श्रीगोपाललाल-महाराजै
प्रकाशितम्

वि. सं. २०३७

श्रीवल्लभाब्द : ५०३

प्रकाशक :

गोस्वामिश्री १००८ श्रीगोपाललालजी महाराज
श्रीमहाप्रभुजीका बडा मन्दिर, पाटनपोल, कोटा,
राजस्थान, ३३४००६, भारत.

साधारण संस्करण २००० प्रति

राज संस्करण १००० प्रति

श्रीवल्लभाय ५०३

प्रथम परिचय लेखक . गोस्वामी द्रयाम मनोहर

मुद्रक :

स्टूडियो बहार, २३-ए, सेन्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी, बम्बई-४००००७



गोस्वामित्री १००८ श्रीपुरपोत्तमलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलैर्म्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

निरोपलक्षण ग्रन्थ श्रीमहाभ्रमुने गुजरातके आपके शिष्य राजा दवे और माधव दवे के लिए लिखा था. एक किंवदन्तीके अनुसार इसका रचनाकाल वि स. १५६६ है. ^१

चौरासी वैष्णवोंकी बातके अन्तर्गत इन दोनों भार्दजीकी कथा भावप्रकाशने यो मिलती है :

“राजा दुबे — माधो दुबे के माता-पिता भादे भये तब दोऊ बेटानसो कहें—‘अब हमको या समे श्रीरनछोड़जीके दरसन करावो तो वहीत आछो.’ तब वे दोऊ बोली भाड़े करि माता-पिताको बैठारि धौठाकुरजीको सग ले चले सो श्रीरनछोड़जीके दरसन माता-पिताको कराये. तब तहा कछुक दिनते श्रीआचार्यजी द्वारकामे हते .. तब राजा दुबे — माधो दुबे खोगनसो पूछें—‘इहा कहु कथावार्ता—भगवत्सर्षा होत होई तो तहा जंये .. तब एकने कही—‘श्रीवल्लभाचार्यजो पृथ्वी-परिक्रमा करि इहा पवारे हैं सो कथा वहीत आछी कहत है’.. तब दोऊ भाई प्रसन्न होई आगे आई बँठे. तब श्रीआचार्यजी नन्दमहोत्सवको वर्णन — श्रीभागवत दशमस्कन्धके पाचमे अध्यायको वर्णन किये सो नन्दालयकी लीलाको प्रकट अनुभव दोऊ भाईनको कराय दिये. .

.. श्रीआचार्यजीके पास बड़े सबेरे आई बिनती किये— ‘महाराज ! हमको सरनि लीजिये.’ तब श्रीआचार्यजी दोऊ भाईनको फेरि न्हवाईके नाम सुनाये ब्रह्मसम्बन्ध कराये पाछे श्रीआचार्यजी कहे—‘अब तुम भगवत्सेवा करो !’.. सो श्रीआचार्यजी धौठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराई राजा दुबे — माधो दुबे के माथे पधराये और आशा किये—‘सब ठोरते मन झुटारि निरोध करि भगवत्सेवा करो.’ तब राजादुबे—माधोदुबे बिनती करि जो—‘महाराज! निरोधको स्वरूप कहा है?’...

या प्रकार दोऊ भाईनकी दीनता सरल स्वभाव देखिके दशमस्कन्ध जाको ‘निरोध-स्कन्ध’ कहे हैं ताको आप ‘निरोपलक्षण’ ग्रन्थ करि दोऊ भाईनको पाठ करायके कहें—‘तुम दोऊ भाईनको निरोध सिद्ध होईगो’ सो तत्काल दोऊ भाईनको मन अलौकिक है गयो लीलारसको अनुभव होन लग्यो तब श्रीआचार्यजी कहे—‘अब अपने घर जाय सवा करो... देवी जीव आवें तिनको नाम बीजो. तुमको निरोध सिद्ध भयो और जो तुम्हारो सग मन लगायके करेगो ताहूको निरोध सिद्ध होयगो?’

सो अपने गाम मण्डमे आवे. धरमे दोऊ भाई भगवतलेवा करना लागे. कछुक द्रव्य परमे हतो तामें निर्वाह करे. काहसो बहोत बोले नाही. जो आवे तपर दया करिके खानपानको समाधान करे. भगवद्वाता करि दोऊ भाई श्रीठाकुरजीकी लीलाके रसमे मगन रहते !”

भगवान्के भक्तोमे तथा भक्तोंके भगवान्मे तल्लीन ही जानेकी कथा भागवतके दशमस्कन्धमे निरोधलीलाके रूपमे वर्णित हुई है. भगवान्की इस निरोधलीलाके फलस्वरूप, यह बड़ा कहा गया है कि उन भक्तोंकी ऐसी स्थिति हो गई कि वे सोते-जागते, चलते-वार्तालाप करते, क्रीडा या स्नान करते और भोजन करते हुए भी अपनी सारी सुषुब्ध श्वांकर केवल श्रीकृष्णमे ही तल्लीन रहते थे— “शय्यासनाटनालापक्रीडासनाशनादियु न विक्रु सन्तमात्मानं वृष्णम कृष्णचेतसः” (भाग १०-१०.४६) यह निरोधका परिनिष्पन्न स्वरूप है.

योगका लक्षण हमारी केवल चित्तवृत्तियोगा निरोध माना गया हैं—“योगश्चित्तवृत्ति-निरोध”. केवल चित्तवृत्तिका निरोध किन्तु भक्तिमार्गमे अपर्याप्त माना गया है. पुष्टि-भक्तिरूप निरोध श्रीकृष्णके संयोग एवम् वियोग को गहराईसे अनुभूत करना है. केवल चित्तवृत्ति ही नहीं अपितु देह-इन्द्रिय-प्राण-मन-बुद्धि-अहंकार-चित्त-आत्मा, तथा अन्य भी आत्मीय वस्तु और परिजनो का कृष्णभजनमें विनियोग या तत्पर हो जाना पुष्टि-मार्गीय निरोध है.

इस भक्तियोगके निरोधकी व्याख्या उसके (१) कारणलक्षण (२) स्वरूपलक्षण (३) कार्यलक्षण एवम्, (४) प्रयोजनलक्षण के आधार पर चार तरहसे दी जा सकती है कारणलक्षण

भागवतके द्वितीयस्कन्धके दसवे अध्यायकी छठी कारिका—“निरोधोऽस्यनुशयनमात्मनः मह शक्तिभिः” में निरोधके कारणलक्षणका निरूपण हुआ है. श्रीमहाप्रभुने भी भागवतार्थ निबन्ध (१०:१४-१७) में इसका विवेचन किया है. वहाँ यह समझाया गया है कि अपनी दुर्बिभाव्य शक्तियोंके साथ श्रीकृष्णका इस घरातलपर क्रीडार्थ प्रकट होना निरोध है. ‘निरोध’ के इस तरह के लक्षणमें ‘निरोध’ शब्दका सार्थक नहीं किन्तु योगिकार्थ विवक्षित होता है. नवमस्कन्धका वर्ण्य-विषय भक्ति और दशमस्कन्धका वर्ण्य-विषय निरोध माना गया है. इनके पूर्वपर होनेकी क्रमसगति यह मानी गयी है कि नवमस्कन्धमे तिदित्त भक्ति जितने प्रकट होती है ऐसे भक्तोंका, उन्हें विमुक्त करनेके लिए भगवान्के द्वारा, जो रोध किया जाता है, उमे ‘निरोध’ कहते हैं क्योंकि जो श्रीकृष्णके द्वारा निरुद्ध होते हैं वे सत्तारसे मुक्त हो जाते हैं. संसारावेश भक्तिको अशुद्ध बनाता है अतः भक्तिको शुद्धताके लिए श्रीकृष्णके द्वारा भक्तोंका निरोध आवश्यक है.

दशमस्कन्धमे वर्णित भगवान्की प्रत्येक लीलाकी चरम परिणति यही दिखलायी गयी है कि कैसे उन-उन लीलाजोसे सम्बद्ध भक्त श्रीकृष्णके प्रति प्रबल आकर्षणके कारण प्रपञ्चको भूल कर श्रीकृष्णमे अनन्यतया आसक्त हो गये थे.

वास्तव्यभाववाले नन्द-यशोदाकी यही गति हुई सत्यभाववाले गोपाबालकोकी यही गति हुई माधुर्यभाववाले गोपिकाओकी भी यही गति हुई. प्रजके तो पशु-पक्षी-पुष्प-मवंत-नदी पर्यन्तकी यही गति वर्णित हुई है. आगे चल कर मथुरालीला या द्वारकालीला से सम्बद्ध भक्तोकी भी प्रपञ्चविस्मृति और कृष्णासक्ति ही पूरे अवशिष्ट दशमस्कन्धका प्रमुख वर्णनीय विषय है

इस जगतमें भगवान्की जैसी लीलाके कारण भक्त, प्रपञ्चको भूलकर, भगवान्में अनन्य-तया आसक्त हो पाता हो वह भगवान्की लीला भक्तके भगवान्में निरुद्ध होनेका कारण मानी जाती है. अतः ऐसी भगवल्लीलाके निर्देश द्वारा निरोधकी व्याख्या, निरोधका कारण-लक्षण माना जाता है

भगवान्की मनीहारी लीलाओके द्वारा अवतारकालमें तो भक्तोका निरोध भागवतके दशमस्कन्धमें वर्णित हुआ है, किन्तु आधुनिक भक्तोंके निरोधकी सम्भावना कितनी हो सकती है? इस प्रश्नका समाधान श्रीमहाप्रभुने भागवतार्थ-निबन्धके गुणप्रकरणमें किया है. वहाँ यह कहा गया है कि जैसे धर्मरूपमें श्रीकृष्णके स्वयमेव प्रकट होनेपर भक्त उनमें निरुद्ध हो गये, इसी तरह भगवान्के गुण-धर्मोंका निरन्तर ध्वन-स्मरण-कीर्तन करनेसे, आधुनिक भक्त भी भगवान्में निरुद्ध हो सकते हैं अतएव दशमस्कन्धके अन्तमें छह अध्याय गुणप्रकरणके रूपमें द्योतित किये गये हैं

परमात्मा परमार्थतः यदि निर्गुण निर्धर्मक निराकार निर्विशेष हो तो कृष्णावतारकी लीलाको मायाका रूपनाटक मानना पड़ेगा. इसी तरह परमात्माका मूलरूप श्रीकृष्ण न हो तो दशमस्कन्धमें वर्णित लीलाओकी आधिदैविक महत्ता खण्डित हो जायेगी अतः परब्रह्मपरमात्मा भगवान् स्वयम् सगुण-साकार श्रीकृष्ण हैं, यह दिखलानेके लिए अन्तिम गुणप्रकरणमें श्रीकृष्णके विषय अकृष्टित एवम् पारमार्थिक, ऐश्वर्यं वीर्यं यथा श्री ज्ञान और वीरग्य रूप, छह गुणोंका द्योतन छह अध्यायों द्वारा किया गया है (भा नि १०।४१८।-४२०)

अवतारकालमें अपने स्वरूपगत आकर्षणसे भगवान् भक्तोको अपनेमें निरुद्ध करते हैं. अवतारकालमें स्वयम् भगवान्के प्रकट न होनेपर भी भगवद्गुणोंका ऐसा माहात्म्य है कि गुणगानकर्ता भक्त भगवान्में निरुद्ध हो ही जाते हैं अर्थात् भगवद्गुणोंके सकीर्तन करनेसे भी प्रपञ्चकी विस्मृति और भगवदासक्ति सुलभ हो जाती है—“स्कन्धासंस्तु” निरोधो हि रुतस्तेनोपसृष्टः। अयेपि ये भविष्यन्ति कीर्तनात्तेपि तद्गुणः” (भा नि १०।४२९।)

इससे सिद्ध होता है कि भगवल्लीलासे प्रत्यक्ष सम्बन्धकी तरह परोक्षमें उसका ध्वन-स्मरण-कीर्तन भी प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति रूप निरोधका कारण बनता है

यकित्तर्धिनीमें अतएव दोनों कल्प दिखलाये गये हैं : मेवा और कथा, तथा केवल कथा-भागवतार्थ-निबन्धके तामसफल-प्रकरणके उपसंहार (१०।११०—१११) में यह कहा गया है कि “गुणगान-कथा परोक्षमें करनी चाहिये प्रत्यक्षमें भजन-सेवा श्रेष्ठ होती है इस

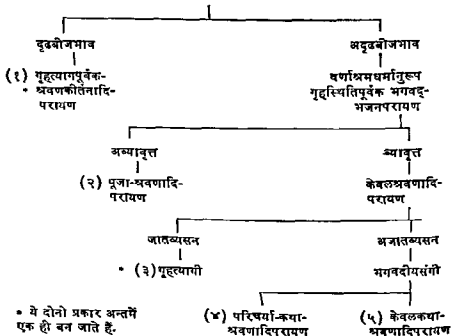
तरह वियोग एवम् सयोग की अनुभूतियोंका चक्रकी तरह आवर्तन निरन्तर चलने लग जाये तो निरोधदशाकी सिद्धि मान लेनी चाहिये。” अनवतारकालमें भगवत्सेवा पुष्टिमार्गमें भगव-
ल्लीलाकी प्रत्यक्ष अनुभूतिकी तरह मान्य है. अतएव सेवाके अनवतरमें कथाका समाश्रयण
आवश्यक है.

स्वरूपलक्षण

निरोधके कारण-लक्षणकी पहचानके बाद स्वरूपलक्षण मुबोध हो जाता है. प्रपञ्चको
सर्वथा भूलकर भगवानमें ही अलग्नतया आसक्त हो जाना निरोधका स्वरूपलक्षण है “प्रपञ्च-
विस्मृतिः तस्मात् कृष्णासक्तिश्च वर्ण्यते”

भागवतके नवम स्कंधमें भक्तिका वर्णन अभिप्रेत है. ऐसी भक्तिवाले जीव प्रपञ्चको
भूलकर अनन्यतया भगवान्में आसक्त किस तरह हो पाये, यह दिखलाना दशम स्कंधमें
अभिलपित है. तदनुसार षोडशप्रश्नमें भी, भक्तिवर्धिनीमें पहले भक्तिके विविध प्रकारोका
वर्णन किया गया है, और बादमें निरोधलक्षण प्रश्नमें ऐसी भक्तिवाले जीवोंके लिए
अनन्यतया भगवान्में निरुद्ध होनेके उपाय समझाये गये हैं एतदर्थं भक्तिवर्धिनीमें वर्णित
भक्तोके पाचो प्रकारपर धोडासा दृष्टिपात उपयोगी होगा :

भक्तिमार्गीय जीव



इस तालिकापर दृष्टिपात करनेके बाद यह समझ लेना भी आवश्यक है कि योद्धा-ग्रन्थोमे कौनसा ग्रन्थ किस अधिकारीके लिए मुख्यतया उपदेशाहं है। इसके अन्तर्गत निरोध-लक्षण ग्रन्थके उपदेशार्थ अर्पित अधिकारीके ज्ञानसे इस ग्रन्थकी, अन्य भक्तिवर्धिनी आदि ग्रन्थोंसे, सगति तथा तात्पर्य का निर्धारण सरल हो जाता है :

ग्रन्थ	किस अधिकारीके लिए
१) यमुनाष्टक	भक्तिवर्धिन्युक्त पाचो के लिए
२) बालबोध	" " "
३) सिद्धान्तमुक्तावली	" " "
४) पुष्टिप्रवाहप्रकाश	" " "
५) सिद्धान्तरहस्य	२ तथा ४ के लिए
६) नवरत्न	भक्तिवर्धिन्युक्त पांचोके लिए
७) अन्त करणप्रबोध	" " " "
८) विवेकसौम्यश्रवण	विशेषत ४ और ५, सामान्यतया सभीके लिए
९) कृष्णाश्रय	सभीके लिए
१०) चतुर्दलीकी	२ तथा ४ के लिए
११) भक्तिवर्धिनी	सभी के लिए
१२) जलमेद	" " "
१३) पञ्चपद्यानि	" " "
१४) सन्यासनिर्णय	१, ३ तथा ५ के लिए
१५) निरोधलक्षण	सभी के लिए
१६) सेवाफल	२ तथा ४ के लिए

इस तालिकापर भी दृष्टिपात कर लेनेसे अब निरोधलक्षण ग्रन्थकी सर्वविध अधिकारि-योके लिए उपयोगिता मान्य करनेपर इसके तात्पर्यनिर्धारणमे क्लेश नहीं रह जाता है

जो भक्त अपने गार्हस्थ्यके साथ, राजादुर्वे-भायीदुर्वेकी तरह, घरमे भगवान्की सेवा और कृपा दोनोको निभा पाते हों, उनके लिए गृहत्याग निरर्थक हो जाता है। क्योंकि पूर्वोक्त रीतिसे सेवा-कृपाके सतत आवर्तनसे ही उन्हें प्रपञ्चकी विस्मृति और भगवान्मे आसक्ति दृढ़ हो जाती है। यह मुख्य कल्प है

स्वगृहमे भगवत्सेवा न निम्नोपर, परगृहमे उक्त गृहस्वामो भगवदीयके परिचारक बनकर उतके द्वारा की जाती भगवत्सेवामे सहयोग देना अर्थात् परिचर्या करना, और जब वह भगवत्कृपा करता हो तब श्रीताके रूपमे उसमे सम्मिश्रित होना, यह भगवदीय पद्मोसीके निकट रहनेवाले भजातव्यसन भक्तिमार्गीय जीवके लिए आवश्यक माना गया है निरोधकी सिद्धिके लिए यह भी एक गौणकल्प स्वीकारा गया है, गृहत्यागके विकल्परूपमे.

भक्तिवर्धिनीमे इन दोनों कल्पोंको (अर्थात् स्वगृहमे भगवत्सेवा-कथा-भय जीवनयापन, अन्यथा ऐसे किसी भगवदीयके समीप पर बनाकर रहना और परिचर्यायं एवम् कथा-श्रवणायं उस भगवदीयका सग करना, यो दोनों कल्पोंको) लक्ष्यमे रखकर—“शैवाया वा कथाया वा मस्यासक्तिर्दंडा भवेत् यावज्जीव तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम” आदवासनद्वारा श्रीमहाश्रमु निरोधसिद्धिकी बात ही समझा रहे हैं क्योंकि निरोधमे अभावमे—“हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यह्निशाम्” इस निरोधलक्षण ग्रन्थके वचनके अनुसार भवसागरमे मग्न होना निश्चित माना गया है अतः परगृहमें भी भगवत्परिचर्या तथा भगवत्कथाश्रवण की प्रणालीसे निरोधकी सिद्धि स्वीकारनी ही पडती है

कारण और स्वरूपके विमर्शके बाद अब निरोधके कार्य अर्थात् इसके कारण पैदा होने-वाले प्रभावोंका विचार आवश्यक हो जाता है

जो भक्त प्रपञ्चकी विस्मृतिके साथ भगवान्मे आसक्ति जोड़ पाता है, उसे भगवान्मे-सयोग एवम् वियोग की अनुभूति तीव्रतासे होने लगती है जैसा कि प्रजभक्तोंके बारेमे वर्णन मिलता है—“गोपीना परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने क्षण युगशतमित्य घासा येन विनाभवत्” (भा १०।१९।१६) भक्तिवर्धिनीमे इस अवस्थाको ‘भ्रमसन्देहा’ कहा गया है निरोधकी स्वरूप निष्पन्न होते ही निरोधका प्रभाव अर्थात् व्यसनदशा व्यक्त होने लग जाती है भगवत्सयोगमे परमानन्दकी अनुभूति और एक क्षण भी भगवद्-वियोग सह न पान्त यह निरोधका कार्य माना गया है— ‘भगवद्विरहसामयिक—परभुदुःखकारणत्वे राति भगवत्सयोग-सामयिकपरमानन्दसाधकत्वे निरोधत्वम्’ (निर्णयार्णव).

भगवदन्वतार—कालमे भगवत्सेवाका अवसर भगवत्सयोगानुभूति है तथा अनन्तर वियोगानुभूति है अतः कार्यलक्षण भी अवतारकाल और अनन्तरकाल दोनों परिस्थितियोंमे उपपद्य हो जाता है

प्रयोजनलक्षण

भागवतमे तथा भागवतार्थ-निबन्धमे भी निरोधका प्रयोजन मुक्ति एवम् आश्रयभावापत्ति स्वीकारा गया है— निरोधोस्यानुसायनमात्मन सह शक्तिभि मुक्तिर्हित्वान्यधारूप स्वरूपेण व्यवस्थिति, आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते स आश्रय पर ब्रह्म परमात्मेति शब्दते’ (भा २।१०।६—७) इसी तरह भागवताय निबन्धमे भी कहा गया है—“भक्ता पूर्वत्र निर्दिष्टा ते रोद्धव्या विमुक्तये, कृष्णे निरुद्धकरणात् भक्ता मुक्ता भवन्ति हि” (भा नि १०।१५—१६) और “हरिराश्रय इत्युक्तो मुक्तानामिति वर्णितम्’ (भा. नि १२।१७)

पोडनग्रन्थकी निरूपणशैलीसे इसमे थोडासा यह अन्तर है कि यहा निरोधोत्तर दो अवस्था (१) मुक्ति और (२) आश्रयभावापत्ति स्वीकारी गई हैं पोडनग्रन्थमे जबकि निरोध-

लक्षण ग्रन्थके बाद आते सेवाफल ग्रन्थमें सेवाके तीन फल (१) अलौकिक सामर्थ्य (२) सायुज्य; और (३) वैकुण्ठादिपु सेवोपयोगिदेहो स्वीकारे गये हैं स्पष्ट है कि इनमें 'सायुज्य' और 'मुक्ति' समानार्थी पद हैं, इसी तरह 'वैकुण्ठादिपु सेवोपयोगिदेह' और 'आश्रयमावापति' भी अर्थात् एक ही अवस्थाके द्योतक है

जहा तक 'अलौकिक सामर्थ्य' के अलग होनेका प्रश्न है तो उसमें यह ज्ञातव्य है कि भागवतके दशमस्कन्धमें तामस राजस एवम् सात्त्विक प्रकारके भक्तोंके भक्तिकी प्रेम आसक्ति एवम् व्यसनदशा का वर्णन क्रमशः प्रमाण प्रमेय और साधन के रूपमें हुआ है साधनके बाद तीनों ही प्रकारके भक्तोंकी फलावस्थाका भी वर्णन किया गया है. निरोधकी यही फलावस्था सेवाफलमें अलौकिकसामर्थ्यके रूपमें वर्णित है. इसे 'व्यसनोत्तर-कृतायंता' 'सर्वारम्भान्', 'मानसी सेवा' अथवा 'फलनिरोध' कही बात एक ही बनती है

पोडघग्रन्थ पुष्टिमार्गीयोंके लिए श्रीमहाप्रभुने प्रकट किया है. पुष्टिप्रवाहमर्षादा ग्रन्थकी —'भगवानेष हि फल स यथाविभेदं भुवि गुणस्वरूपभेदेन तथा तथा फल भवेत्' (वा १७) कारिकामें यह समझाया ही गया है कि पुष्टिमार्गमें फल स्वयम् भगवान् है, वे गुण या स्वरूप के भेदसे जैसे भी इस भूतलपर प्रकट हों, तदनुसार, उन्हें फल माना जाता है. स्वयम् स्वरूपात्मना इस भूतलपर भगवान्का भक्तोंके बीच प्रकट होना पुष्टिमार्गीय फल है इसी तरह गुणगानकी प्रक्रिया द्वारा भी भक्तके हृदयमें भगवान्का प्रकट होना फल ही है दोनों ही तरहके भगवत्प्राकट्यके कारण भक्त प्रपञ्चकी भूलकर भगवदासक्त हो पाता है हर सूरतमें इस भूतलपर यदि भगवदनुभव नहीं होता तो इस देहके छूटनेके बाद भगवान्में सायुज्यरूप मोक्ष मिलेगा अथवा वैकुण्ठ आदि लोकमें सेवोपयोगी देह मिलेगा ये दोनों ही फल इस भूतलपर घटित होनेवाली अनुभूति नहीं हैं, अतः पुष्टिप्रवाहमर्षादा ग्रन्थमें परिभाषित पुष्टिमार्गीय फलानुभूतिकी तुलनामें ये कुछ मोक्ष अनुभूतियाँ हैं अतएव इन अनुभवोंके सामर्थ्यको 'अलौकिक' नहीं कहा गया है, क्योंकि इनके लौकिक अनुभव होनेकी शका ही नहीं उठ सकती है. फलनिरोध इस भूतलपर होनेवाली अनुभूति है, मानसीसेवाकी तरह, अतः इसके अनुभवको 'अलौकिक सामर्थ्य' कहा गया है अथवा भूतलपर घटित होती अनुभूतिकी कोई लौकिक समझ सकता है वास्तविकता जबकि यह है कि यह इस लोकमें घटित होनेपर भी अलौकिक घटना ही है

निरोध अपने दोना रूप, अर्थात् साधननिरोध एवम् फलनिरोध, में इस लोकमें घटित होनेवाली अलौकिक घटना है "प्रपञ्चे क्रीडन हरे" बचनमें श्रीमहाप्रभु अतएव भारपूर्वक प्रपञ्च अर्थात् इस लोकाका उल्लेख करते हैं इस भूतलपर भक्तोंके बीच भगवत्कीडा साधन-निरोध है और ऐसी लीलाके कारण जब भक्त जगत्की भूलकर जगदीशमें अनन्यतया आसक्त हो जाता है तो वह फलनिरोध है इस स्पष्टीकरणक बाद निरोधका प्रयोजन-लक्षण सुगम ही जाता है

भगवदवतारकालमें भूतलपर प्रकट होनेवाले भगवद्रूपकी यह लीला कि जिसका प्रयोजन जीवात्माको सर्वात्मभावका दान करना हो वह 'निरोध' कहलाती है। अवतारकालमें सायुज्य-मुक्ति या आश्रयमात्रापति प्रदान करनेके लिए, जो वियोगानुभव भगवान् कराते हैं; और इस तरहके तीव्र वियोगमें, भक्तका निरन्तर भगवान्के गुणगानमें तल्लीन हो जाना भी निरोध ही है। ये दोनों तरहके लक्षण भगवदवतारकालके हैं।

अनवतारकालमें लीलाका स्थान तनु-वित्तत्रा सेवा ले लेती है और गुणगानका स्थान भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कितन ले लेते हैं। तदनुसार निरोधका प्रयोजन सेवाफलमें वर्णित अलौकिक सामर्थ्य, सायुज्य एवम् बंकुष्ठादिलोकमें सेवोपयोगी देह का लाभ माना जाता है।

अवतारकाल हो या अनवतारकाल सच्चे पुष्टिभक्तकी भक्ति निरुपाधिक-निष्कारण-निष्प्रयोजन ही होती है। भक्त केवल भगवान्की ही चाहता है; मुक्तिको नहीं, पर भक्ति अवाञ्छित फलप्रदान करती ही है। यह तृतीयस्कन्धमें कहा गया है। अतः प्रयोजनलक्षण भक्तके भाव-अभिप्रायको दृष्टिगत रखकर नहीं दिया गया है किन्तु भक्तिके स्वभावको दृष्टिगत कर दिया गया है।

इसका अलावा एक और दृष्टिमें भी निरोधका लक्षण-व्याख्यान किया जा सकता है वह है :

- १) करण-निरोध
- २) व्यापार-निरोध
- ३) फल-निरोध

१) करण-निरोध

सुबोधिनी तथा भागवतार्थ-निबन्ध के तामसप्रकरणके प्रारम्भमें इस विषयकी विवेचना हुई है कि जीवके स्वभावका बदलना स्वयम् जीवके लिए सर्वथा असंभव बात है। अतः जीवके सात्त्विक राजस या तामस स्वभावोंके अनुरूप स्वरूप धारण कर भगवान्, जब भूतलपर प्रकट होते हैं और भक्तोंके बीच लीला करते हैं, तब अपने-अपने स्वभावोंके अनुरूप जीव भगवान्के स्वरूप एवम् लीलाओं में आसक्त हो ही जाते हैं। इस लीलाविहारी श्रीकृष्णमें आसक्तिके कारण प्रापञ्चिक विषयोंमें आसक्ति अनायास स्वतःपूव टूट जाती है। अथवा स्वार्थबुद्धिरहित केवल भगवद्रूपयोगिताकी भावनामें रूपान्तरित हो जाती है। यह विलक्षण परिवर्तन जिस लीलाके कारण सम्भव होता है, उस भगवल्लीलाको करणात्मक निरोध माना जाता है।

'करण' यानि असाधारण कारण। दशमस्कन्धमें वर्णित भक्तों-विशेषतः व्रजभक्तों-को जो प्रपञ्चविस्मृति और कृष्णासक्ति की सिद्धि मिली, उसका असाधारण कारण भक्त-स्वभावानुरूप भगवद्रूप एवम् भगवल्लीला ही थे। अतएव कहा गया है—“ते नाधीतश्रुतिगणाः नोपासीदमहत्तमा. अत्रतातन्तपस. सत्सगन्धामुपागता केवलैर्न हि भावेन गोप्यः गाव. नगा

मृगाः येन्ये भूबधियो नागा. सिद्धाः मामीपुरञ्चरता, यं न योगेन गांस्त्वेन दानवततपोञ्चरैः
 व्याख्यास्वाध्यायसन्ध्यासं प्राज्नुयाद् यत्नवानपि" (भा. १.१.१२।७-९). यहा जिस तत्संग
 और जिस भाव को स्वप्नप्रतिमे भगवान्ने साधन माना है, वह स्वयम्का लीलात्मक संग तथा
 लीलासक्तिरूप भाव ही है. अन्य सभी योग सास्य दान व्रत तप यज्ञ व्याख्यान स्वाध्याय
 एवम् संन्यास रूप साधनोकी अकिञ्चित्करता स्वयम् भगवान्ने ही वर्णित कर दी है
 इसे 'साधननिरोध' अथवा 'भगवान्का भक्तोमे निरोध' माना जाता कहा जाता है.

इससे सिद्ध होता है कि भक्तोके स्वभावानुरूप भगवान्की लीला, भक्तोके निरोध
 अर्थात् प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति का असाधारण कारण है

२) व्यापार-निरोध

कारण दो तरहके होते हैं : (१) उपादान (२) निमित्त मिट्टी घटेका उपादान कारण
 होती है चक्का दण्डा आदि उपकरण निमित्त कारण माने जाते हैं निमित्त कारणके निष्क्रिय
 होनेपर कार्य उत्पन्न नहीं होता. अतः सक्रिय-क्रियाव्यापार करनेवाले कारणको 'करण'
 या 'उपकरण' कहा जाता है.

भगवल्लीलाको निरोधकी उत्पत्तिमें करण माना गया है. तदनुसार ही कुछ व्यापार भी
 होना चाहिये अतः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति यह भगवल्लीलाका व्यापार है. जैसे
 चक्केका फिरना या दण्डसे फिरना, इन व्यापारोके कारण चक्का-दण्डा आदि उपकरणोको
 'करण' कहा जाता है.

३) फल-निरोध

भक्तके स्वभावानुरूप करण-भगवल्लीला, और उसके व्यापार-प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक
 भगवदासक्तिके फलस्वरूप भक्तके प्रापञ्चिक विषयोके सारे बन्धन टूट जाते हैं इनका
 अभाव हो जाता है यह दो प्रकारसे होता है या तो भक्तते सम्बन्धित सारे लौकिक पदार्थ
 और भावो मे भगवदावेश अलौकिकता अर्थात् सच्चिदानन्दात्मकता प्रकट हो जाती है, या
 फिर लौकिक पदार्थ और भावो से मुक्त होकर जीव सायुज्य या वेकुण्ठ आदि लोकोमे
 सेवोपयोगी देह प्राप्त कर लेता है अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं— "लौकिकेषु तु भावेषु
 यत्रैव हृदिदेवान् निवर्तते तदेवात्र बन्धैर्दास्य यथा" (सुबो. १.०।५।१). जिन-जिन लौकिक
 भावोमे या पदार्थोमे भगवदासक्तिके कारण भगवदावेश हो जाता है उन सभी पदार्थो और
 भावो मे तिरोहित चिदञ्ज और आनन्दास पुन प्रकट हो जाता है यो सच्चिदानन्दासके पूर्ण
 प्राकट्यके कारण वे ब्रह्मात्मक हो जाते हैं काष्ठमे तिरोहित अग्नि जैसे एक बार प्रकट हो
 जाती है तो काष्ठ स्वयम् अग्निरूप हो जाता है ऐसे ही जिस भक्तमे प्रपञ्चविस्मृतिके
 साथ भगवदासक्ति प्रकट हो जाती है, उसके सभी पदार्थ और भाव भन्तत. सच्चिदानन्द
 ब्रह्मका रूप धारण कर लेते हैं. वैसे भी जगतकी प्रत्येक वस्तुका वास्तविक या आन्तरिक
 स्वरूप तो ब्रह्मात्मक ही होता है, पर अज्ञानवश हमे दिपरीत मान होता है, और यह भाव
 निवृत्त हो जाता है.

अद्वैतियोंके सिध्दा-मायिक प्रपञ्चकी तरह यह प्रपञ्चका वाधमान नहीं है. न न्यायि-
कोवे अनित्य प्रपञ्चकी तरह यह प्रपञ्चका नाश ही है साक्ष्यके प्राकृत प्रपञ्चकी तरह इसे
विकृतका प्रकृतिमें पुन लीन हो जाना भी माना नहीं जा सकता है. प्रपञ्चके ब्रह्मात्मक
हो जानेका तात्पर्य केवल इतना ही है कि दृष्टा-जीवको वह ब्रह्मात्मक होनेपर भी वेता
दिसलाई नहीं देता है, पर निरुद्ध भक्तकी दृष्टिमें अपने प्रियतम परमात्मके अलावा अन्य
कुछ आता ही नहीं, फलतः जड़जगतके विभिन्न पदार्थ भी उसे सच्चिदानन्दारमक दिसलायी
पड़ने लगते हैं इसी तरह जीवजगतके भी सभी रूपोंमें ब्रह्मात्मकताका भान होने लगता है-
जड़ जीवात्मक जगतकी जड़रूपता एवम् दुःस्वरूपता तिरोहित हो जाती है. इस अर्थमें इस
अवस्थाको कभी 'प्रपञ्चप्रलय' या 'प्रपञ्चनाश' कहा जाता है यह फलनिरोध है अर्थात्
भक्तका भगवान्में निरोध है इसका प्रयोजनलक्षणके अन्तर्गत विचार हुआ है
दशम स्कन्धमें भगवान्की लीलाका वर्णन चतुर्धा हुआ है :

- (१) प्रमाण-निरोध
- (२) प्रमेय-निरोध
- (३) साधन निरोध
- (४) फल-निरोध

(१) भगवान्की प्रमाणरूपा निरोधलीलाओंके कारण भक्त अपने स्वभावके अनुरूप
धारण किये गये भगवद्रूपको जान पाता है अतः ऐसी लीलाको 'प्रमाणनिरोध' कहा जाता
है. प्रमाणलीलाके कारण वननेपर व्यापार भक्तके हृदयमें प्रेमके रूपमें प्रकट होता है. इसका
फल भक्तके हृदयमें प्रमेयकी स्थिरता होती है

(२) भगवान्की प्रमेयरूपा निरोधलीलाके कारण भक्त-स्वभावानुरूप धारण किया गया
भगवान्का रूप-प्रमेय भक्तके हृदयमें सर्वथा आरूढ हो जाता है अतः ऐसी लीलाको
'प्रमेयनिरोध' कहा जाता है प्रमेयलीलाके कारण वननेपर व्यापार भक्तके हृदयमें भगवदा-
सक्ति-भगवान्से अलावा अन्य सभी विषयोंमें अर्चि-के रूपमें प्रकट होता है इसके
फलस्वरूप भक्त अपने मनोरथोंके अनुरूप भगवान्के रूपकी प्राप्तिके साधनोंमें जुट जाता है

(३) भगवान्की साधनरूपा निरोधलीलाओंके कारण भक्त-स्वभावानुरूप धारित भगवान्के
रूपकी प्राप्तिके साधनोंमें भक्त तत्पर हो पाता है अतः ऐसी लीलाको 'साधननिरोध' कहते
हैं साधनलीलाके कारण वननेपर व्यापार भक्तके हृदयमें भगवद्व्यसनके रूपमें प्रकट हो
जाता है अब भगवान्के बिना भक्त रह नहीं पाता फलस्वरूप अपने मनोरथके अनुरूप भग-
वद्रूप एवम् भगवल्लीलाकी अनुभूति उसे होने लगती है

(४) भगवान्की फलरूपा निरोधलीलाओंके कारण भक्त-स्वभावानुरूप धारित भगव-
द्रूपकी लीलामें भक्त सम्मिलित हो पाता है अतः ऐसी लीलाको 'फलनिरोध' कहा जाता है
फलात्मिका लीलाके कारण वननेपर व्यापार भक्तके हृदयमें मानसी सेवा, सर्वात्मभाव

आदिके रूपमें प्रकट होता है. फलस्वरूप भगवान्‌के बाह्य-आन्तर अनुभवाका चक्र भक्तके हृदयमें निरन्तर चलने लग जाता है. भक्त भगवान्‌में तन्मनस्क तदालाप तद्विषेष्ट तदात्मक तद्गुणगानपरायण होकर अपने देह-गेहकी मुध-मुध खो देता है ! भजनानन्दकी इस परा-काष्ठाकी तुलनामें भक्तकी ब्रह्मानन्द कभी मुहाता नहीं है !! ब्रह्मानन्दमें एकरसता होती है शुद्ध-अद्वैतरूप, जबकि भजनानन्दमें अनेकविध मधुरता रहती है : द्वैतरूप भी और अद्वैतरूप भी !!!

सायुज्यरूप मोक्ष अथवा ब्रह्माभावापरितरूप संकुण्ठादि लोकमें मेवोपयोगीदेह भी इस पूर्वोक्त अलौकिक-सामर्थ्यकी तुलनामें भक्तके मनको लुभायने नहीं लगते हैं. भगवत्संयोग—तेवा और भगवद्वियोग—रूपा के अर्हनिश चलते चक्रते बढ़कर केवल विप्रयोगको माना नहीं जा सकता है यही कारण है कि मुक्ति या आश्रयभावापत्ति की ओर ले जानेवाले भ्रमरगीतमें षण्णित वियोगका स्थान फलप्रकरणमें न हो कर प्रमेयप्रकरणमें है.

“मय्यावेश्य मन कृत्स्न विमुक्ताशेषपृत्ति यत्, अनुस्मरन्त्यो मा नित्यमचिरान्मामवाप्ययम्” (भा १०।४७।३७) की मुबोधिनीमें इस अवस्थाकी व्याख्या करते हुए श्रीमहाप्रभु कहते हैं—“अहं हि कृत्स्नः प्रसादेनापि प्राप्त कृत्स्नेनैव साधनेन प्राप्तु योग्यः साच कृत्स्नता अस्या-मेवावस्थाया भवति नान्यथा” अर्थात् तामसफल-प्रकरणमें भगवान्‌के रसात्मक रूपका अनु-भव यद्यपि पूर्णतया हो ही गया था, किन्तु वह साधनावस्थाके बाद फलावस्थाके क्रमानुसार न होकर भगवदनुग्रहवश साधनाचरणकी पूर्णतासे पूर्व ही फलानुभूतिके सम्पन्न हो जानेकी लीला यो अब राजसप्रमेय-प्रकरणमें, अर्थात् जो राजस भक्तोंके लिए प्रमेयरूपा निरोध-लीलाका प्रकरण है, वहा तामसभक्तोंकी तो फलानुभूतिका नहीं किन्तु साधनानुभूतिका ही स्तर है

“आन्तर तु पर फलम्” (सुबो. १०।२६।१) अथवा युगलगीतमें षण्णित “द्विंशोऽस्तगो-पिकाना स्वानन्द भगवान्‌ हृदि प्रर्यामास तेनैव पूर्णानन्द इतीयते” वाला परमफलरत्मक वियोग भ्रमरगीतमें षण्णित वियोग, नहीं है. अतएव श्रीप्रभुचरणने इस वियोगानुभूतिका वास्तविक स्वरूप इन शब्दोंमें समझाया है—“ एतासा तु अधुनैव बहिस्तगमो अभिलषितः तदभावाद्दस्मदनभिप्रेतामपि अस्मदधिकारविक्रामपि ज्ञात्वा ईश्वरभावेनाज्ञापितवान्, अन-त्वेनैव श्रुतत्वात् तथैव फलिष्यति. नतु उपदेशत्वेनेति ज्ञापनाभावे सन्देशपदम्” (टिप्प. १०। ४४।२९). प्रमेयस्वभावके विवश प्रजभक्तोंने वियोग स्वीकारा है—निज भाव या अभिलाषा के वश नहीं. भगवत्कथाके श्रवण या कीर्तन का फल, भगवत्स्वरूप एवम् भगवल्लीला का पहले आन्तर और बादमें बाह्य अनुभव स्वीकारा गया है. बाह्यानुभवके अभावमें केवल आन्तर व्यर्थ होता है—“बाह्याभावे तु आन्तरस्य व्यर्थता” (सुबो १।६।१).

इस आन्तरअनुभव और बाह्य अनुभव के सूक्ष्म रहस्यकी समझनेके लिए निरोधने दो और भी रूपोंको समझना आवश्यक हो जाता है .

(क) स्वरूप-गुण-उभयकृत निरोध

(ख) केवल-गुणकृत निरोध

(क) तामसफल-प्रकरणके विवेचनमें श्रीमहाप्रभुने यह समझाया है कि यहां सात अध्यायोमें, अर्थात् २६ वें अध्यायसे लेकर ३२ वें अध्याय तक, क्रमशः (१) ऐश्वर्य (२) वीर्य (३) यश (४) श्री (५) धर्मी (६) वैराग्य (७) ज्ञान यो छह भगवद्गुण और सातवें स्वयम् धर्मी भगवान्के स्वरूपका वर्णन अभिप्रेत है.

इस फलरूपा निरोधलीलाके स्वरूपका भलीभांति विमर्श करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि सातों अध्यायोमें फलरूपलीलाका ही वर्णन अभिप्रेत होनेपर भी धर्मनिरूपक पांचवें अध्याय तथा ज्ञाननिरूपक सातवें अध्याय का कुछ विशिष्ट महत्त्व है ही. अतएव प्रारम्भमें रूपलीलाके —“वाह्याम्यन्तरभेदेन” —जो दो प्रकार दिखलाये गये है, वे इन दो अध्यायोमें चरमोक्तयोंके रूपमें वर्णित हुए हैं. धर्मप्रकरणमें बाह्य संयोगसुखका तथा ज्ञानप्रकरणमें आन्तर संयोगका वर्णन हुआ है.

“ज्ञान भक्तिश्च सतत चक्रवत् परिवर्तते” को उक्तिके अनुसार महा परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों में संयोगसुखका ही वर्णन अभिप्रेत है. अतएव इसे फलप्रकरण माना गया है.

(ख) इसके विपरीत राजसप्रमेय-प्रकरणमें प्रजभवतोकी अनुभूतिका स्वरूप श्रीमहाप्रभुने इन शब्दोंमें दिया है— “अन्तनिष्ठा वा विरहो वा, द्वयमेव, नतु तासामन्या लौकिकी अवस्था” (सुबो. १०।४४।४८). यहाँ पूर्वोद्धृत “आन्तर तु परं फलम्” वचनके आधारपर अन्तनिष्ठाकी तो परमफलरूप मानना ही पड़ेगा. परन्तु द्वितीयांश विरहकी फलरूप माननेका कोई भी आधार मिलता नहीं है यह विरह अतः फलरूप न होकर पूर्ववर्णित ‘साधनकरस्तता’ ही है इसीलिए श्रीमहाप्रभु इसे ‘फलरूप’ न कहकर ‘फलसाधक’ कहते हैं. — “. . . फलसाधकत्वाद् भक्तिमार्गं विरह एव पुरुषार्थः.” विरहावस्थामे किये जाते गुणगानके सुख और भगवत्स्वरूपानुभवके सुख का परस्पर तारतम्य समझाते हुए श्रीमहाप्रभु कहते हैं— “पर विरलममृतम्. केवल मरणोपस्थिति तन्निवर्तकमेवेति, नतु सम्भूयैकाग्र रसजनकम्. रसपिण्डयोरिव तव कथायाश्च विशेष अन्यथा कथार्थमेव यत्न कृत स्यात्. पर विरहे मरणनिवर्तकत्वेन तदुपयोग इति भगवत्वेन स्तूयते”. भगवत्कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनके कारण भक्तके प्राण तीव्र विरह-वेदनामें भी निकल नहीं जाते— टिके रहते हैं. एतावता भगवान्की तरह भगवद्गुणगानकी भी प्रशंसा की जाती है वास्तविकता परन्तु यह है कि भगवत्स्वरूपकी रसानुभूतिमें सुख पनी-भूत होता है और भगवत्कथामे वह तरल हो जाता है.

इससे सिद्ध होता है कि केवल गुणकृत निरोधमे बाह्य एवम् आन्तर संयोग सुखकी फलानुभूतिका चक्र सतत नहीं चलता. वहा विरहदुःख और अन्तनिष्ठाके संयोगसुख का चक्रवत् आवर्तन चलता है अतः इसके अर्थांशमे साधनरूपता और अपर्थांशमे फलरूपता है. जबकि रसात्मक होनेके कारण द्विदलात्मक, और द्विदलात्मक होनेके कारण संयोग-वियोगात्मक या ‘नटवर’ वगु रूप भगवान्का फलरूप होना, वियोगमे अन्तनिष्ठाके कारण मिलते

आन्तर संयोगसुख और संयोगमें स्वरूपानुभूतिके कारण मिलते बाह्य संयोगमुखको लक्ष्यमें रखकर स्वीकारा गया है। आन्तरसुख-दान रसनाटन है तथा बाह्यसुख-दान रसरूप प्रत्यग्र-भोग है। यह 'वर्हापीड' श्लोककी सुबोधिनीसे सिद्ध होता है। अतः उत्तरदलमें अन्तर्निष्ठाके अंशमें फलरूपता तथा विरहाना या धर्मविप्रयोग के अंशमें साधनरूपता है। केवल विरहके फलरूप होनेका उल्लेख श्रीमहाप्रभु अथवा श्रीप्रभुचरण के किराी भी वचनमें मिलता नहीं है। आन्तर-संयोग-सुख प्रदान करनेवाला विप्रयोग स्वतन्त्र अंगीरूप निरोध है। जबकि केवल विरह आन्तरसंयोग-सुखके अभावके कारण, मुक्ति या आश्रयभावापत्ति का अंगरूप निरोध माना जाता है। इसे 'केवलगुण-कृत निरोध', 'धर्मविप्रयोग' 'केवल विरह', 'मुक्त्यग निरोध' या 'आश्रयभावापत्त्यंग निरोध' कुछ भी कहो अर्थ एक ही होता है।

इस तरह निरोधके कारण-स्वरूप-कार्य-प्रयोजन-रूप चतुर्विध लक्षण, त्रिविध स्वरूप-करण-व्यापार-फल-रूप; तथा स्वरूप-गुण-उभयकृत और केवलगुणकृत निरोध के रूपमें अनेकधा भेद-उपभेदोंके विस्तृत विमर्श करनेपर निरोधलक्षण ग्रन्थको समझना एकदम सरल हो जाता है। फिरभी ग्रन्थके अनुवादसे पूर्व एक और स्पष्टीकरण अत्यन्त आवश्यक है। उसे देखनेके बाद ही ग्रन्थानुवाद देखेंगे।

वैसे तो हमने देख ही लिया कि निरोधलक्षण, भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें वर्णित पाचो प्रकारके अधिकारियोंको लक्ष्यमें रखकर उपदिष्ट हुआ है फिरभी इसे सोपपत्तिक समझ लेना अत्यावश्यक है। सन्यासनिर्णय ग्रन्थके— "कौण्डिन्यो गोपिका प्रोक्ताः गुरवः साधन च तद्-भावो भावनाया सिद्ध " वचनमें ब्रजभक्तोंके भावोंका भावनात्मक अनुसरण विरहानुभवार्थं गृहत्याग करनेवालोंके लिए आवश्यक माना गया था ब्रजभक्तोंके भावोंकी भावना केवल गृहत्यागियोंके लिए ही है ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्योंकि "भजनीयो ब्रजाधिप." कहकर गृहत्यागियोंके लिए ही है ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्योंकि "भजनीयो ब्रजाधिप." कहकर ब्रजभावनाकी उपयोगिता सभी पुष्टिमवतोंके लिए सर्वदा ही चतुर्वलीकीमें आवश्यक मानी गयी है इसी तरह पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें पुष्टिजीवोंके फलानुभवके प्रकारमें गुण-स्वरूपका प्रभेद मान्य हुआ ही है। "स्मरण भजन चापि न त्वाज्यम्" वचनद्वारा भगवत्सेवा-कथाकी आवश्यकता चतुर्वलीकीमें प्रतिपादित हुई है। अतः सेवा और कथा दोनोंमें ही ब्रजभावना आवश्यक है अतः इस निरोधलक्षण ग्रन्थमें सभीके लिए सर्वप्रथम ब्रज-भावनाका स्वरूप समझाया जा रहा है

निरोधकार्य संयोगसुख-वियोगदुःखकी भावना

जिन भक्तोंसे सेवा और कथा दोनों निभ पाती हो उन्हें अपने भावके अनुरूप सेवा करते समय गोकुलकी भावना और कथाके समय वृन्दावनकी भावना करनी चाहिये।

गोचारणके लिए प्रतिदिन भगवान् वृन्दावन पधारते हैं। तब गोकुलमें वास्तव्यभाववाले नन्द-यशोदा आदि भक्तोंकी तथा धूमरगाववाली गोपिकाओंकी जैसे विप्रयोगदुःखकी अनुभूति होती है, वैसे दुःखानुभूति-विरहवेदना हमें कथाकालमें कब होगी !

सायंकाल गोचारण कर भगवान् गोकुल छोड़ते हैं. तब गोकुलमें गोपिगाओंकी तथा अन्य भी सभी यज्ञवासियोंको अनेक रीतिसे भगवत्सेवाद्वारा जैसा मंयोगमुख मिलता है, वैसा मुख सेवाके समय भगवान् मुझे कब प्रदान करेंगे !

इस तरह तामसफल-प्रकरणके “ज्ञान भवितश्चः सततं चक्रवत्परिवर्तते” वचनमें बर्णित रायोग-विद्योग-रूप अवस्थामें निरोधके कार्यं मुख-हु तककी भावना करनी चाहिये.

जिन भक्तोंसे सेवा-कथा एक साथ नहीं निभ पाती, ऐसे मध्यमाधिकारियोंको पहले, राजसप्रमेयप्रकरणमें बर्णित तीव्र विप्रयोग-वेदनाकी भावना करनी चाहिये; और बादमें कथाश्रवणकालमें अन्तर्निष्ठाके साथ आन्तरसयोग-मुखकी भावना करनी चाहिये.

उद्धवके व्रज आनेपर उनके साथ भगवत्कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनमें जैसा एक सुमहान् उत्सव प्रकट हुआ, वैसे उद्धवकी अनुभूति कथा-श्रवण करते समय हमारे मनमें कब होगी ! गोकुलमें सख्य-वात्सल्य-भाववाले व्रजभक्तोंको और वृन्दावनमें सख्य-माधुर्य-भाववाले व्रज-भक्तोंको उद्धवके साथ भगवद्गुणगान करते समय जैसा आल्हाद अनुभूत हुआ वह मेरे हृदयमें कब प्रकट होगा !

केवल कथाका समाश्रयण करनेवाले भक्तको ऐसी भावना करनी चाहिये. इस तरह यह निरोधका कार्यलक्षण श्रीमहाप्रभुने सूचित किया है

निरोधके कारणभूत गुणगानकी आवश्यकता

कार्यलक्षणको सूचित करनेके बाद श्रीमहाप्रभु निरोधके कारणलक्षणको सूचित करना चाहते हैं.

पूर्वांक्त भावनाओंको करते रहनेपर भी हृदयमें भावोंका उदय सहसा नहीं हो पाता है महान् भक्तोंकी कृपा होनेपर ही भगवान् ऐसी बया हमपर करते हैं कि हमारे हृदयमें भाव अकुरित हो पाते हैं. इस बीच आनन्दसन्दोह—सुखसिन्धु भगवान् श्रीव्रजाधिपके रूप गुण लीला एवम् नामो का सकोर्तन हमें करना चाहिये. इससे भक्तिमार्गपर हमारी यात्रामें हम सुखपूर्वक आगे बढ़ पायेंगे.

श्रीप्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि “तादृशी भावना कार्या यया भावाकुरोदय, श्रीमदाचार्यकृपया भवेद् भावो न चान्यथा....भावो भावनया सिद्ध इति वाक्यात्प्रतीयते, तद्वाक्यपरिनिष्ठाणा हृदि भावाकुरो भवेत्” अतः श्रीमदाचार्यचरण, श्रीयमुना तथा पुष्टिपथके आद्य-पथिक—गुरु श्रीव्रजभक्तों की कृपा होनेपर भगवत्कृपाभाजन बतनेका अधिकार प्राप्त होता है.

पी चुपड़ी हुई गरम रोटी और रूखीसूखी दासी रोटीके स्वादमें बहुत अन्तर पड़ जाता है. इसी तरह स्नेहभावकी ऊष्मावाले पूर्ण भगवदीयोंके मुखसे, उनकी कृपादृष्टिकी स्निग्धताके साथ, भगवत्कीर्तनका श्रवण जितना सुखद होता है, उतना लीकिक प्रयोजनकी पूर्तिके लिए ठंडे दीमागसे जोड़तोड़ बँटाकर, भगवत्कथामें प्रवृत्त होनेवाले व्यक्तिके मुखसे भगवत्कथा सुनना सुखद नहीं होगा वह तो रूख कीर्तन लगता है. भगवान् गोधिदके गुण-

गानमे जैसा सुख श्रीशुकमुनि जैसे निरपेक्ष आत्माराम मुनियोंको मिलता है, वंसा उन्हें अपनी ब्रह्मात्मिकताकी अनुभूतिमें भी नहीं मिलता है, अतएव श्रीशुकने—“परिनिष्ठितोपि नैगुण्ये उत्तमरत्नोक्तीलया गृहीतचेता राजर्षे आख्यान मदधीतवान्” (भा. २।१।१९) बचनकी व्याख्यामें श्रीमहाप्रभुने विवेचन किया है “आत्मलाभसे उत्कृष्ट कुछ भी नहीं है ऐसे शास्त्रीय बचनोंके अनुसार आत्मपर्यवसायी गुणातीत समाधिमें नित्य स्थित होनेपर भी भागवतके रसकी अनुभूति होनेपर, उसकी अप्राकृतता—दिव्यता समक्षमें आनेपर, श्रीशुकको यह समक्षमें आया कि ब्रह्ममें लीन होनेवालेको जब समाधि—अवस्थाकी गरज नहीं रह जाती, तब ब्रह्मानन्दसे भी अधिक रमप्रद भागवतके कथारसको छोड़कर कौन समाधिमें चक्करमें पड़े।”

इस भगवद्गुणगानके कारण भक्तके हृदयमें भगवदासक्तिरूप स्थायी भाव, जब भगवद्विरहबलेका कारण तापयुक्त हो जाता है, तब हृदयमें छिपे हुए भावात्मा भगवान् सदानन्द श्रीकृष्ण कृपायुक्त होकर बाहर प्रकट हो जाते हैं, आलम्बन-विभावके रूपमें

भावात्मना हृदयमें विराजे अथवा भावके आलम्बनात्मना बाहर प्रकट हो, भगवान् सर्वत सर्वथा आनन्दमय ही होते हैं इस आनन्दमय परमात्माका सर्वोत्तमभावके रूपमें प्रकटय उस परमात्माकी परमकृपासमयी आनन्दानुभूति है यह कृपा मुदुर्लभ है भक्तके हृदयमें भावके रूपमें भरा हुआ सेतु, भगवद्गुणगानके श्रवण-कीर्तनके सखिवाहसे अहमिश भरे जानेपर एक दिन छलक जाता है। इस तरह कि भक्तने देह इन्द्रिय प्राण अन्त करण आत्मा तथा अन्य भी आत्मीय वस्तुओं को यह अपनी अलौकिक रसानुभूतिसे प्लावित कर देता है।।

अतः सदानन्द श्रीकृष्णके द्वारा निरुद्ध अर्थात् पुष्टिमार्गमें अमीकृत जीवाको चाहिये कि सारी लौकिक आसक्तियोंको छोड़कर केवल भगवान्के गुणगानमें वे तत्पर हो जाय गुणगानके कारण अन्तत सर्वत्र ब्रह्मरूपताकी अनुभूति भक्तकी अपने देह इन्द्रिय-अन्त करण तथा आत्मा से भी होने लगेगी प्रपञ्चकी अनुभूति रह ही नहीं जाती तो स्मृति कहासे होगी? फलस्वरूप प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति रूप निरोध सिद्ध हो जाता है

निरोधके वास्तविक स्वरूपके उपदेशक श्रीमहाप्रभु

छान्दोग्योपनिषद्में आता है कि देवता देवविद्या और आत्मविद्या का उपदेश ता कर सकते हैं, पर गति तो आचार्य ही दिखला सकते हैं, आचार्यसे जब विद्या मिलती है तो वह मिदतम होती है—“ते होचक्षुषकोसल्लया सौम्य तेऽममद्विद्या आत्मविद्या च, आचार्य-स्तु ते गतिवक्ता” (४।१।४।१) ‘आचार्यद्वयेव विद्या विदिता साधिष्ट प्रापतीति’ (४।१।३)

भागवत (५।१२।१२) में भी गुरुकृपाकी महत्ता महत्पादरजोभिषकके रूपमें प्रशंसित हुई है—“रहणेतत् तपसा न याति न ज्ञेयया निवपणाद् गृहाडा न छन्दसा नैव जलाग्नि-सूर्यविना महत्पादरजोभिषकम् यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवाद प्रस्तूयते प्राम्यकयाविधात निषेधमाणोनुदिन मुमुक्षोर्मती सती यच्छति वासुदेवे”

इससे सिद्ध होता है कि भगवन्मार्गमें आचार्यकी महत्ता असाधारण है अतः स्वयम् भगवान्ने भी आज्ञा दी है कि "आचार्यं मा विजानीयात् नावमन्येत कर्हिचित् न मत्वंबुद्ध्या-सूयेत सर्वदेवमयो गुह" (भा. ११।१७।२७). अर्थात् आचार्यको साक्षाद् भगवद्रूप ही समझना चाहिये - मत्वंबुद्धिसे आचार्यको देखना आचार्यके साथ असूयका व्यवहार है. आचार्यके माध्यमसे ही भगवान् अपनी गति व्यक्त करते हैं—"आचार्यैवेत्यवपुषा स्वर्गतिं व्यनक्ति" (भा. ११।२९।६).

निरोधके कारणलक्षणमें यह समझाया गया था कि इस भूतलपर भक्तोंके बीच भगवान्का प्रकट होना करणनिरोध है, अर्थात् भगवान्का भक्तोंमें निरुद्ध होजाना है. अतएव श्रीमदाचार्यचरणका भूतलपर प्रकट होना उनका भक्तोंमें निरुद्ध होना ही है. इसे सर्वोत्तम-स्तोत्रके चार नामों—"श्रीभागवतगुडार्थ-प्रकाशान-परायण.", "जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकुट्ट" तथा "सर्वासक्तो भक्तमात्रासक्त." के अवलोकन करनेपर अच्छी तरह समझा जा सकता है.

श्रीप्रभुचरणने अतएव बल्लभाष्टकमें—"घोषापीश तदेमे कथमपि मनुजा प्राप्नुयु नैव दैवीसृष्टिर्व्यर्था च भूयान्निजफलरहिता देव वैश्वानरैषा" कह कर श्रीमदाचार्यचरणके प्राकट्यके कारणनिरोध होनेकी पुष्टि की है. स्वयम् श्रीमदाचार्यचरणने भी—"अयं तस्य विवेचित् नहि विभु वैश्वानरादात्मते अन्यस्तत्र विधाय मानुषतनु मा व्यासदत् श्रीपति. इत्वागा च कृपावलोकनपटुः यस्मादतोह मुदा गुडार्थं प्रकटीकरोमि" (सुबो. १।१।१) कह कर अपने प्राकट्यकी निरोधरूपता ही ध्वनित की है वही कारणनिरोधरूपता अपने प्राकट्यकी श्रीमहाप्रभु "अह निरुद्धो" वचनद्वारा यहा सूचित कर रहे हैं

पुष्टिमार्गीय जीवोंकी भगवदासक्ति और प्रपञ्चविस्मृति में कहीं कोई बाधा न आ जाये एतदर्थ आपने पृथ्वीपरिक्रमा करके उनके समस्त स्वयम् भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा के अलावा अन्य सभी वस्तुओंकी विस्मृतिका उदाहरण स्थापित किया. इस व्यापारनिरोधकी ही यहा 'रोधेन' पद द्वारा सूचित करते हैं

इस व्यापारनिरोधके कारण ही फलनिरोध भी आपके अनुयायीओंमें प्रकट हुआ है. इसका सूचन सर्वोत्तमस्तोत्रमें—"साधिप्रथमात्र-दत्त-श्रीकृष्णप्रेमा" द्वारा श्रीप्रभुचरणने भी किया है यही 'निरोधपदवी' है, जिसे श्रीमहाप्रभुने पुष्टिमार्गमें भगवान्के द्वारा निरुद्ध या अगीकृत देवी जीवोंके निरोधके लिए पारण की है—"रोधेन निरुद्ध निरुद्धाना तु रोधाय निरोधपदवी गतो अह ते निरोध वर्णयामि".

अथवा वार्तामें हम देख गये हैं कि राजा-माधो देवको आपने आज्ञा दी थी—"अब अपने घर जाय सेवा करो, देवी जीव आवे तीनको नाम दोजो तुमको निरोध सिद्ध भयो और जो तिहारी सग करेगो ताहूको निरोध सिद्ध होयगो!" यदि यही भाव यहा भी स्वीकारें तो अन्वय यों होगा—"रोधेन निरुद्धो निरोधपदवी गतो अह निरुद्धाना तु रोधाय ते निरोध वर्णयामि" जैसे श्रीमहाप्रभुकी सेवा-कथामय दिनचर्या - कारणनिरोध तथा व्यापारनिरोध-से राजा-

मायो दवेको फलनिरोध—प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति सिद्ध हुई थी, वैसे ही राजा-मायो दवेके सेवा-कषामय जीवनसे पुष्टिमार्गमें निरुद्ध अनेक जीवोंको प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति का लाभ होगा. यह वरदान श्रीमहाप्रभु इस श्लोकमें दे रहे हैं.

निरोधका स्वरूप

मुक्ति और आश्रयभावापत्ति, (अर्थात् सायुज्य और वैकृष्ण्टादि लोकमें सेवोपयोगीदेह) की प्राप्तिकी सुलना में, निरोधकी महत्ता यही है कि वह इस भूतलपर होनेवाली भगवदनुभूति है, जोवन्मुक्तिकी तरह.

सायुज्यमुक्तिमें जीवात्मा परमात्मामें लीन हो जाती है. भक्तके हृदयमें किन्तु ऐसे मनोरय नहीं चल सकते. भगवान् स्वयम् कहते हैं कि "अनिच्छती गतिमण्वी प्रयुक्ते" (गाग ३।२५ । ३६). अतएव वेणुगीतकी सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने निरोध और मुक्ति की तुलना : नेत्रवान् व्यक्तिको किसी सुरम्य दर्शनीय स्थल दिखाने और उसे निबिड अन्धकारवाले कूपमें बन्ध कर देने से की है— "इदमेव इन्द्रियवर्ता फलं मोक्षोपि नाप्यथा यथाप्यकारे नियता स्थितिः नाक्ष्णोः फलं भवेत् एवं मोक्षोपि इन्द्रियादियुक्ताना सर्वथा नहि"

इसी तरह आश्रयभावापत्तिके भी अनेक प्रकार वर्णित हुए हैं. उनमें, वैकृष्ण्टादि लोकमें नूतन सच्चिदानन्दात्मक दिव्य देह, यदि सेवोपयोगी मिलता हो तो, ऐसे दिव्य देहेन्द्रियोसे भगवदासक्ति तो सम्भव है ही, अतः उसे भक्त भी स्वीकार सकता है तार्कालिक आवश्यकता परन्तु भक्तको इस भूतलपर इन देहेन्द्रियोसे अपने प्रियतम परमात्माके अनुभूतिकी है.

प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिसे जीवके सम्पन्न होनेपर यह अनुभूति सम्भव है अन्यथा श्रीहरि जिन्हें विनिर्मुक्त करते हैं, अर्थात् जिन्हें निरुद्ध नहीं करते, वे भक्तसागरमें मग्न हो जाते हैं—डूब जाते हैं. यहाँ इस भूतलपर भगवान्की आन्तर एवम् बाह्य सयोगानुभूतिके कारण; अथवा सेवा और कषा के कारण अहंनिश मोदप्रमोदका अनुभव तो भगवान्के द्वारा निरुद्ध जीव ही कर पाते हैं.

लौकिक रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दोभे आसक्त अर्थात् ससारावेशतो दूषित हमारी इन्द्रियोकी दर्शनरति आस्वादनरति आघ्राणरति स्पर्शनरति श्रवणरति, या अन्य भी कर्मेंद्रियोके एवम् अन्त.करणके व्यापारोभे रतिओ का ग्रहित दो तरहसे हो सकता है या तो उन्हें किसी भी प्रकारके निग्रहके बिना लौकिक क्षुद्र सुखीकी खोजमें निरन्तर भटकते रहने दिया जाये, या फिर उनका पूर्णतया निग्रह करके उन्हें सर्वथा खतम ही कर दिया जाये. विषयव्याप्या-मुल करनेके बजाय. विषयोसे व्यामूढ करनेकी बात तो समझने आ सकती है पर नेत्रोंको दर्शनरतितसे अश्वित करतमें नेत्रवान्की क्या लाभ हो सकता है ? इन्द्रियवृत्तियोका ऐसा दमन या निरोध 'कृत्योप' कहलाता है. श्रीमहाप्रभु कहते हैं— "सर्वेषामेव निरोधने तत्तद-धिष्ठातृदेवद्रोहो भवत्येव भगवत्समर्पणे तु तद्वचनेन तदुक्तमेव कृतमिति न कोपि दोष. सम्भवति" (सुबो २।४।१७) इन्द्रियोकी रत्यात्मक वृत्तियोका दमन उचित नहीं है. इसी

तरह लौकिक विषयोंमें इन्द्रियवृत्तियोंका दुरुपयोग भी उचित नहीं है. अतः इनके दुरुपयोग या अनुपयोग के बजाय कुछ भगवदुपयोग खोज लेनेपर इनका सदुपयोग हो जाता है

सुबोधिनी (३।१४।४६) में श्रीमहाप्रभुने इसका विस्तृत निरूपण किया है—“प्राणिनोंमें सतरह तरहकी वृत्तियाँ होती हैं दस कमंजानेन्द्रियोंकी वृत्तियाँ, चार अन्तःकरणकी वृत्तियाँ, एक देह सम्बन्धी वृत्ति, एक प्राणसम्बन्धी वृत्ति और एक आत्मसम्बन्धी वृत्ति. इन सभी वृत्तियोंको भगवत्सम्बन्धी-भगवद्विषयक बनानेसे सर्वभवनसमर्थ-सर्वभावापन्न भगवान् प्रसन्न होते हैं”

यही ‘भूमासुख’ अथवा ‘सर्वस्मिभाव’ कहलाता है. “भूमासम्प्रसादादध्युपदेशात्” (१।३।८) ब्रह्मसूत्रमें यह निरूपण किया गया है कि सभी वृत्तियोंसे भगवदनुभूति भूमासुख है—“यो वै भूमा तत्सुखं नास्ते सुखमस्ति”, “यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा” (छान्दोग्य ७।२३।१ और ७।२४।१).

अतः इन्द्रियादिकी वृत्तियोंके सर्वथा अनुपयोग अथवा लौकिक विषयोंमें दुरुपयोग में उनका अहित-अल्पसुख होता है. भूमा-गुरुपीतम श्रीकृष्णमें उन्हें योजित करना उनका वास्तविक सदुपयोग एवम् हित है इसे ही ‘प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति’ भी कहते हैं यह भक्तका भगवान्में निरोध है. भगवत्स्वरूपमें यह मुख्य निरोध जिनके लिए शक्य न हो उन्हें भगवान्के गुणोंके श्रवण-स्मरण-कीर्तनमें अपना चित्त लगाना चाहिये. मूर्खोंकी भगवान्के गुणोंमें आसक्ति और प्रपञ्चविस्मृति सिद्ध हो जानेपर, न तो सासारिक क्लेशोंकी अनुभूति होगी और न भगवद्विरहक्लेशकी ही भगवान्के गुणानुवादमें भी साक्षात् भगवान्की तरह सुखदानका सामर्थ्य है

केवल गुणकृत निरोध

इस केवलगुणकृत निरोध द्वारा यदि भगवान् सुखदान न करते होते तो उन्हें दयालुके बजाय क्रूर ही मानना पड़ेगा. क्योंकि प्रपञ्चविस्मरणके कारण लौकिक सुखोंके छूट जानेपर, भगवान् यदि भक्तको भगवत्स्मरणकी प्रक्रियामें सुखदान न करते हो तो, भक्ति दुःखनिवर्तक ही मानी जायेगी, सुखप्रद नहीं परन्तु गुणकृत निरोधमें भी इतनी सामर्थ्य है कि भक्त सासारिक क्लेश और भगवद्विरहजन्य क्लेश, दोनोंसे ही उभर सकता है

भागवत (१०।८७।२०) में कहा गया है “अपने दुर्जय आत्मस्वरूपका भक्तोंको सुखानुभव करानेके लिए भगवान् अनेक रूप धारण करते हैं इन रूपोंमें भगवान् अनेकविध लीला भूतलपर प्रकट करते हैं ऐसे भगवच्चरित्रके सुखसागरमें तैरनेवाले भक्त भगवान्के परण-सरोजोंके बीच निवास करनेवाले इस परमहसोंके कुलमें प्रविष्ट होनेकी कामनासे निजकुल परिवारोंको छोड़ देनेपर भी, अपवर्ग या सायुज्यमुक्ति की कामना नहीं करते हैं” यहाँकी सुबोधिनीमें कहा गया है—“यतोवतीर्णस्य कृष्णस्य चरित्रमात्रश्रवणेपि तादृश आनन्दो

जायते येन विचारकाः अपवर्गमपि परमानन्दप्रापकं न परित्यजन्ति कदाचिदपि न वाञ्छन्ति ...
 गृहे हि महत्सुखं भवति. तत्सिद्धं विद्यमानं तदपि परित्यजन्ति. यदि भगवति सहस्रांशोनापि
 आनन्दसन्देशो भवेत् तर्हि विद्यमानं को वा त्यजेत्... चरणसरोजैकाधया ये हंसास्तेषां कुलं
 समूहः तेषां संगार्षं विगुष्टं स्वगृहं यैस्तैः सह परमानन्दो द्यूढ्या भोक्तव्य इति मोक्षापेक्षयापि
 भगवत्कथाश्रवणरसोपेक्षो निरूपितः." अतः केवलगुण-कृत निरोधकी अवस्थामें भी, प्रपञ्च-
 विस्मृतिके कारण न तो सासारिक क्लेशकी अनुभूति होती है; और न भगवद्-विरह-जन्य
 क्लेशकी अनुभूति ही होती है, भगवदासक्तिवशा होती आन्तर सयोगानुभूतिके कारण.

इस गुणवृत्त निरोधकी प्रारम्भिक अवस्थामे केवल मन वाणी और श्रवण इन्द्रियोंका
 ही भगवान् मे विनियोग होता है. सकल इन्द्रियोंका नहीं. ऐसी स्थितिमे अवशिष्ट इन्द्रिया
 कभी अपने-अपने लौकिक विषयोंमें रहती आसक्तिके कारण प्रपञ्चविस्मृति अथवा भगवदा-
 सक्ति में बाधा पहुंचा सकती हैं ! ऐसी बाधा गुणकृत निरोधके बारेमें नहीं करनी चाहिये.
 क्योंकि गुणकृत निरोधमे भी प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके एक बार सिद्ध होनेपर, सभी
 इन्द्रियोंसे 'आसक्तिभ्रमन्याय' (प्रेमी या प्रेमिका को गाढ़ आसक्तिके कारण एकदूसरेके आगमनकी
 या उपस्थितिकी आप्ति जैसे होती रहती है) से भगवान्का अध्यास, या भगवान्के गुणोंका अध्यास,
 लौकिक विषय-व्यक्तियोंमें तथा लौकिक रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द आदि गुणोंमे भी बना ही
 रहता है. अतः लौकिक विषय इस अध्यासके कारण निरोधमे बाधा उपस्थित नहीं कर सकते.

अतएव छान्दोग्योपनिषद्मे इस सार्वभौमिकी अनुभूतिमे आसक्तिभ्रमन्यायसे होने विभिन्न
 सञ्चारिभावोंका वर्णन तदादेश अहकारादेश और आत्मादेश के रूपमें किया है— "स एवाध-
 स्तात् स एवोपरिष्ठात् स पश्चात् स पुरस्तात् . स एवेदं सर्वमिति अथातो अहंकारादेश
 एवाहमधस्तादहमुपरिष्ठादहम् .. अहमेवेदं सर्वमिति. अथात् आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मैवो-
 परिष्ठादात्मा पश्चादात्मा पुरस्ताद्... आत्मैवेदं सर्वमिति. स एष एव पश्यन् एव मन्वान
 परिष्ठादात्मा पश्चादात्मा पुरस्ताद्... आत्मैवेदं सर्वमिति. स एष एव पश्यन् एव मन्वान
 एवं विज्ञानन् आत्मरतिरात्मकीद आत्ममिथुन आत्मानन्द स स्वरार्द्र भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु
 कामचारो भवति." (७।२५।१-२). तिष्ठ भक्तको कभी अपनेमे भिन्न परमात्माकी अनुभूति
 सर्वत्र होती है — कभी स्वयम्की ही अनुभूति सर्वत्र होने लग जाती है— कभी अपनेमे अभिन्न
 परमात्माकी अनुभूति सर्वत्र होने लग जाती है! रामपञ्चाध्यायीमे भगवान्के तिरोहित होने-
 पर "कृष्णोह पश्यत गति ललितामिति तन्मना" (१०।३०।१९) वचनोंमे शोषिकाओंके इसी
 तरहके अध्यासका उदाहरण मिलता है

सर्वविषयोंमे भगवान्के अध्यासके कारण पुन लौकिक विषयासक्तिमे मनके भटक जाने-
 की आशंका भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि उन लौकिक विषयोंमे लौकिक-विषयत्वेन तो
 विराग ही रहता है. ऐश्वर्यं धीर्यं यश धी ज्ञान वैराग्य जने भगवद्धर्मके भक्तमे भी आवेशके
 कारण, इन धर्मके आवेशसे पूर्व भी परमानन्दरूप भगवान्के धर्मरूप स्थायिभाव-भगवद्भक्तिके
 कारण भी लौकिक विषयोंमे विराग स्थिर रह सकता है. सार्वभौमिकी भी भगवद्धर्मरूप

माना गया है, अतः सर्वात्मभावरूप भगवद्दर्शनके कारण भी लौकिक विषयोंमें विराग स्थिर रह सकता है.

इस विषयवैराग्यके साथ भगवान्के गुणोंके अहंनिराश श्रवण-स्मरण-किर्तनके कारण गुणोंके माध्यमसे सर्वदुःखहारो श्रीहरिकृपा आन्तर सुखस्पर्श बना ही रहता है. अतः दुःखी होनेका तो कोई सवाल ही नहीं उठता.

सर्वात्मभावकी अनुभूति ज्ञानमार्गमें भी होती है और भक्तिमार्गमें भी. ज्ञानमार्गीय सर्वात्मभाव शान्तरसात्मक होता है, तथा भक्तिमार्गीय सर्वात्मभाव यथायथ श्रृंगार सख्य वात्सल्य या वास्य भावात्मक होता है. ज्ञानमार्गीय सर्वात्मभावमें केवल आत्मना ब्रह्मानन्दकी अनुभूति होती है पर भक्तिमार्गीय सर्वात्मभावमें सर्वेन्द्रिय अन्तःकरण तथा आत्मा से भी भजनानन्दकी अनुभूति होती है. अतएव भ्रमरगीतकी सुबोधिनीमें यह कहा गया है कि सकल इन्द्रियोसे अतीत अधोक्षज भगवान्को सकल इन्द्रियोका विषय बनाना मुनियोके लिए भी दुर्लभ अनुभव है, जो गोपिकाओंको सर्वात्मभावके कारण मुलभ हुआ (सुबो १०।४४।२५-२७). हरिकथा-वर्णनके श्रवण-स्मरण-कीर्तनके कारण पनपे इस सरस निरोधका यह उत्कर्ष, ज्ञानमार्गीय रूक्ष नीरस चित्तवृत्तिके निरोधकी तुलनामें, स्वीकारना ही पड़ता है

हरिकथाके श्रवण-कीर्तनमें दो साधनियोंकी अतिशय आवश्यकता है. प्रथम तो यह कि इस हरिकथाको, स्वर्धा-ईर्ष्या-द्वेषकी हमारी तुच्छ मनोवृत्तियोंको सन्तुष्ट करनेका माध्यम न बनाया जाये दूसरे हरिकथाको उदरपूर्ति यश कीर्ति अथवा चन्दा एकत्रित करनेके लोभ-वश न किया जाये अन्यथा यह हरिकथा भक्तिमार्गीय उत्कृष्ट निरोध सिद्ध करनेमें विफल हो जाती है—“अमत्सरं अलुब्धं दक्ष वर्णनीया सदा गुणा”.

गुण-स्वरूप-उभयकृत निरोध

अवतारकालमें तो स्वेच्छया स्वरूपका प्राकट्य होता है. अनवतारकालमें स्वरूपके प्रकट न होने के कारण स्वरूपकृत निरोध सम्भव है कि नहीं? यह प्रश्न विचारणीय है

तामसफल-प्रकरण (१०।२६।१३) में इस प्रश्नका खुलारा इतना शब्दोंमें दिया गया है—“ज्ञानभक्त्योस्तु आविर्भावार्थमुपयोग आविर्भावश्चेदन्वयासिद्ध तदा न ज्ञानभक्त्योरुपयोगः. अत्रतु भगवान् स्वतएव आविर्भूतः, भक्तिदानार्थं सर्वसाधारण्येन. ईश्वरेच्छया अनियम्यत्वात् अत आविर्भाव स्वेच्छया भक्त्या ज्ञानेन वा भगवदवतारातिरिक्तकाले द्वयमेव हेतुः अवतारदशाया तु न तयो प्रयोजकत्वम् वर्षाकाले जल सर्वत्र मुलत्रमिति न कूपनदीनामनुपयोगः शकनीयः” अर्थात् भगवदाविर्भावके लिए ज्ञान या भक्ति की आवश्यकता है अवतारकालमें तो भगवान् स्वेच्छया स्वतएव सभीके समक्ष प्रकट हो जाते हैं अतः उस समय ज्ञान-भक्ति अनावश्यक हो जाते हैं. एतावता अनवतारकाल में उन्हें अनुपयोगी नहीं मान लेना चाहिये

सर्वनिर्णय-निबन्ध (का. २२८-२२९) में भगवान्के भक्तिमार्गीय आविर्भावकी प्रक्रिया दिखलायी गयी है : (१) साकारब्रह्मवादके सिद्धान्तके अनुसार वस्तुमात्रके ब्रह्मात्मक होनेसे

भगवन्मूर्तिके भगवदात्मक होनेमें किसी प्रकारके सन्देहकी आवश्यकता नहीं है. (२) भक्तिका बीज भगवदनुग्रह ही होता है. अतः भक्तके हृदयमें किसी विशेष भगवन्मूर्तिके प्रति लगाव पैदा होता हो तो उसका बीज, उस मूर्तिरूपद्वारा भक्तोद्धारके, भगवान्के स्वल्पमें निहित होता है (३) भक्तके भक्तिमार्गीय भावनामय सकल्पके कारण भी भक्तके सेव्य-स्वरूपको "भगवान्के एक विशेष-व्यक्तिगत अवतार" के रूपमें मान्य करना चाहिये

ब्रह्म व्यापक भी है और साकार भी. अतएव भगवन्मूर्तिको मायिक अथवा चित्तको एकाग्र धननेका एक उपकरण माननेकी रीति वाल्लभ सिद्धान्तसे विपरीत है "ये यथा मा प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजाम्यहम्" (गीता) वचनके अनुसार मूर्तिमें साक्षात् प्रजाधिपकी सच्चे हृदयसे भावना करनेपर सचमुच ही प्रजाधिपका उस रूपमें प्राकट्य होता है.

भगवान्के इस कृपात्मय सकल्प और भक्तके भावनामय सकल्प के बलसे प्रकट हरिमूर्ति-का ध्यान अपने हृदयमें, भक्तको अर्थ सभी रूपोंको भूलाकर, सदा-निरन्तर बनाये रखना चाहिये. यह भगवान्के स्वरूपमें अन्तःकरणको निरोध है इसी तरह इसी स्वरूपके नेत्रोंसे दर्शन तथा स्पर्शेन्द्रियसे स्पर्शन के लिए आतुरता होनी चाहिये. हाथोंको इस स्वरूपकी सेवा के लिए उद्यत रखना चाहिये पैरोंको इस स्वरूपके दर्शनार्थ या भजनार्थ दोड़नेकी उद्यत रखना चाहिये कानोंसे भगवद्गुणगान सुनते समय, वे गुण, इसी भगवत्स्वरूपके गुण हैं, ऐसी भावना करनी चाहिये. वाणीमें कीर्तन, इस स्वरूपके रूपसौन्दर्यका गुणमाधुर्यका और लीलावाच्य का करना चाहिये.

असमर्पित अन्न वस्त्र पुष्प गन्ध आदिका त्याग पहले ही सिद्धान्तरहस्यमें—"असमर्पित-वस्तुना तस्माद् व्रजंमाचरेत्" द्वारा समझा दिया गया है. अतः पुनर्भक्ति अनावश्यक है यहा यह अवधेय है कि इन्द्रिया तीन तरह की होती हैं (१) जिनका साक्षात् भगव-द्विन्दियोग शक्य हो यथा नेत्र त्वचा कर्ण वाणी हस्त चरण और अन्तःकरण (२) कुछ इन्द्रियोंका विषय भगवत्स्वरूपको साक्षात् नहीं बनाया जा सकता है जैसे रसना और नासिका अतः इन्हें भगवत्प्रसादरूप अन्न तथा गन्ध के ग्रहणके व्रतमें दीक्षित करना चाहिये (३) पूर्वोक्त दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंके व्यापार ग्रहणरूपक होते हैं विसर्जनरूपक नहीं अतः उनका विषय साक्षात् भगवत्स्वरूप अथवा या स्वरूपसम्बन्धी प्रसादी अन्न-गन्धको बनाया जा सकता है, पर पायु और उपस्थ इन्द्रियोंका व्यापार ग्रहणरूपक न होकर विसर्जनरूपक होता है अतः इनका विनियोग कथमपि साक्षात् भगवत्स्वरूप या तत्सम्बन्धी पदार्थोंके ग्रहण में शक्य नहीं है फिरभी पायुसे मलमूत्रत्यागके द्वारा शुद्ध देहको भगवत्सेवोपयोगी बनाया जा सकता है इसी तरह कृष्णसेवामें सहयोगी सन्ततीके जन्मके लिए उपस्थका भी उपयोग सम्भव है—"पुत्रे कृष्णप्रिये रति"

इस तरह जिस इन्द्रियका, साक्षात् अथवा परम्परया भी भगवत्स्वरूपमें विनियोग अथवा भगवत्कार्योपयोग दिसलायी न देता हो, उसका निश्चयेन अच्छी तरह निग्रह करना

चाहिये. इस नियमके पालनसे अनवतारकालमें भी गुण-स्वरूप-उभयकृत निरोध शक्य बन जाता है

भक्तको भगवत्सेवा तथा भगवत्कृपा के द्वारा प्रपञ्चविरमृति और भगवदासक्ति सिद्ध हो जाती है

निरोधकी सिद्धि साधनावस्थाकी अन्तिम अवधि है कोई भी साधन षोडशग्रन्थमें वर्णित अष्टाक्षरपञ्चाक्षर-मन्त्र (या अन्यत्र वर्णित मन्त्र—“ हा हा कृष्ण भुखारविन्दविरहान्दे” भी) उभयकृत निरोधसे अर्थात् कृष्ण-सेवाकथा-मय जीवनसे परतर—उत्कृष्ट साधन नहीं हैं न इस षोडशग्रन्थमें वर्णित यमुनाष्टक या कृष्णाश्रय जैसे स्तव (या अन्यत्र भी वर्णित सर्वोत्तम आदि स्तोत्र भी) इस निरोधसे परतर-उत्कृष्ट साधन हैं. भाष्य निबन्ध आदि ग्रन्थोंमें वर्णित अनेकविध ब्रह्मविधायी या सर्वनिर्णय आदि ग्रन्थोंमें प्रशंसित तीर्थाटन भी इस गुण-स्वरूप-उभयकृत निरोधसे परतर साधन नहीं हैं

इस निरोधसे परतर यदि कुछ है तो वह है आगे सेवाफलमें वर्णित होनेवाला अलौकिक सामर्थ्य रूप फल, जो इस निरोधका प्रयोजन है परन्तु उसे तो ‘फलनिरोध’ ही पुन कहा-जाता है

निरोधलक्षण ग्रन्थका प्रस्तुत संस्करण, वि स १९७३ में प्रकाशित संस्करणका ऑफ-सेट् प्रतिसद्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. इसमें दिये परिशिष्टोंको हमने यथोचित क्रममें पुनर्योजित किया है पूर्वसंस्करणके प्रकाशक थे गौस्वामीश्री १००८ श्रीजीवनलालजी महाराज (पौर-बन्दर) सम्पादक थे श्रीमूलचन्द तुलसीदास तैलीवाल तथा श्रीधीरजलाल ब्रजदास सांकलिया इन सभी महानुभावोंका हम हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं



ग्रन्थसङ्ग्रहपरिचयः ।



१ सर्वां मुद्रितटीका अन्यपुस्तकद्वय च इष्ट्वा धीमदाचार्यप्रकटित निरोधलक्षण मुद्रितमस्यामि । तत्र विद्यमाना पाठभेदा श्लोकक्रमभेदाश्च जिज्ञासुभिर्विवरणेषु मुद्रितेषु प्रष्टव्या । गूढमाप्रस्य पुस्तकद्वय इकनकॉलेजहस्तलिखितसमग्रहस्य, प्राय शुद्ध प्राचीनं च ।

२ चाचाधीगोपेसकृतविवरणस्य पुस्तकपञ्चकमुपलब्धम् । तत्र पुस्तकद्वय प० गद्दालस्य लिखितसमग्रहस्य, एक प्राचीन विन्तु अशुद्ध, अन्यत् नूतन, प्राय शुद्धम् । तृतीय शुद्ध नूतन च धीवल्लभलालानाम् । चतुर्थं प्राय शुद्ध, प्राचीन च रा० तनसुखरामसकाशादुपलब्धम् । पञ्चम धीजीवनलालानाम्, शुद्ध दिव्ययुत च ।

३ श्रीविठ्ठलेशारमजधीवल्लभकृतटीकाया पुस्तकद्वयमुपलब्धम् । एक प० गद्दालस्यसमग्रहस्य, अन्यत् धीमजरानाम् । प्रथम प्राचीन प्राय शुद्ध, द्वितीय नूतन, परन्तु क्वचित् शोधितम् ।

४ श्रीहरिधनचरणकृतविवृते द्वादशपुस्तकानि ग्राह्यानि । तत्र पुस्तकत्रय प० गद्दालस्यसमग्रहस्य, अन्यत् पुस्तकत्रय इकनकॉलेजसमग्रहस्य, द्वय धीजीवनलालानां, एक धीनृसिंहलालतनयधीगोपे वर्धनलालानां, एक गोस्वामिनीश्रीकृष्णप्रियाणां, एक रा० तनसुखरामसकाशादुपलब्धम् । एक भाई नारायणशास्त्रिण । सर्वाण्येतानि प्राचीनानि प्राय शुद्धानि । एक तु श्रीहरिरायहस्ताक्षरयुतमिति प्रतिभाति । श्रीहरिरायैनिरोधलक्षणविवरण वारह्वय लिखितमिति प्रतिभाति । पञ्चाब्धोधि वा विस्तृत्य लिखित विवरणमत्र मुद्रितम् । पूर्वं लिखित तु जिज्ञासुवृहस्पयं परिशिष्टे निवेशितम् । पूर्वलिखितविवरणस्य पुस्तकद्वय मिलितम् । एक धीवल्लभलालानाम् अन्यत् रा० तनसुखरामसकाशादुपलब्धम् । उभय नपि प्राचीन प्राय शुद्ध परन्तु द्रुष्टितम् । यथादृष्टमेव परिशिष्टे मुद्रितमस्यामि । रा० तनसुखरामत उपलब्धे पुस्तके एवमपि भाषाया लिखित 'निरोधलक्षणकी टीका प्रथम धीहरिरायवृत्ते कीनीधी पत्र २२' इति । एतेनास्मदुक्त समर्थ्यते ।

५ चतुर्थं मुद्रित व्याख्यान धीवल्लभानाम्, धीमोकुलनापानाम् । एतद्विवरणस्य पञ्च पुस्तकान्युपलब्धानि । एक प० गद्दालस्यसमग्रहस्य । द्वितीय इकनकॉलेजसमग्रहस्य । तृतीय धीजीवनलालानाम् । चतुर्थं सुरतिस्यगोस्वामिधीगिरिधराणां गोस्वामिनीश्रीकृष्णप्रियासि कृपया प्रदत्तम् । पञ्चम सुन्दरलाल माणिक्यचन्द्र धी ए इत्येतेन प्राप्तम् । इदं नूतनमशुद्ध च । धीजीवनलालाना तसदृश नूतन, प्राय शुद्धम् । इकनकॉलेजसमग्रहस्य प्राचीन प्राय शुद्धम् । अन्यद्वय प्राय शुद्धम् ।

६ पञ्चम श्रीगुरुप्रेतमानाम् । अस्यापि षट् पुस्तकानि मिलितानि । एक योगिधीगोपेधराणां हस्ताक्षरेर्लिखितदिव्ययुत शुद्ध प्राचीन च, प० गद्दालस्यसमग्रहस्य । द्वितीय गोस्वामिधीनृसिंहलालतनयधीगोपेवर्धनलालानाम् । इदमपि प्राचीन प्राय शुद्धम् । तृतीय गोस्वामिधीजीवनलालानाम्, नूतन, प्राय शुद्धम् । चतुर्थं गोस्वामिनीश्रीकृष्णप्रियासि प्रदत्तम्, प्राय शुद्धम् । पञ्चम काशीस्य श्रीगिरिधरजीमहाराजाभितरामकृष्णभट्टस्य, गुजराती अधिपतिनटवरलालेन सहर्षं प्रदत्तम् । षट् स्वम्भतीर्थस्वशास्त्रिभाईनारायणस्य ।

७ षट् धीमजरानानाम् । एतद्विवरणस्यैकमेव पुनःकमस्याभिरुपलब्धम् । कुत्रापि एतत् मिलति । अस्य एक पुस्तक षट्पद्या सुरतिस्यश्रीगिरिधराणां मन्दिरस्थसमग्रे उपलब्धम् । तत् तत्रत्यगोस्वामिनीश्रीकृष्णप्रियाभिरुपलब्धत्वात् बलदेवदासकृतनट्टद्वारा अस्मत्सकाशं प्रेषितम् । एतदुर्लभपुस्तकप्रदानेन वयमत्यन्तमनुगृहीतास्तामि । प्राथम्याग्रे चाम्या अपि गोस्वामिय एता अनुकुर्वुरिति । अभि-पुस्तकसङ्घे प० गद्दालस्यस्याया 'काश्यापञ्च काशीदास नारायणदास इलाल, धी ए पूज् एव, धी

सुख्यट्टी येथी विभुवनदास' इत्येतेषां महत्सुपकृति । डॉ एम् के बेलवलकर एम् ए पी एच. डी इत्यस्य, गोस्वामि श्रीगोवर्धनलालानां, कल्याणशास्त्रिणां, गोस्वामि श्रीवल्लभलालानां माधवशास्त्रिणां, गोस्वामि श्रीजीवनलालानां, गोस्वामिनी श्रीकृष्णप्रियाणां, बलदेवदासस्यापि, गोस्वामि श्रीप्रजरसानां शास्त्रिभाईनारायणस्य च महत्सुपकृति । तन्मुखराम मन सुखराम त्रिपाठी श्री ए, सुरदास माषि स्वयच्छर्मा श्री ए, नटवरलाल सूर्यराम देसाई श्री ए इत्येते सहस्रं प्राचीनहस्तलिखितपुस्तकप्रदानेना सन्ताननुगृहीता वयम् । 'अस्मिन्प्रोत्सवकाल रामकृष्ण पठ्या' इत्यस्य प्रतिष्ठितने कश्चिदुपकार । अस्य यावत्प्राप्तविवरणसमेतस्य लिरोधलक्षणस्य सुदृढव्यय गोस्वामिवर्यश्रीजीवनलालै सहस्रं कृत इति तेषां सुपकृति वय सधिनय सराम । प्राथम्यमहे चापेपि गोस्वामिन धीमतो वैष्णवाश्चैताननुकुर्युरिति । एतेषां गोस्वामिपर्याणां रूपयैव निरोधलक्षण पद्धिवरणयुत मुद्रित सामग्रदायिकाणां सुगम भविष्यतीति ।

विवरणकृता परिचय ।

१ तत्रादौ धीमद्रुभाचार्यप्रकृतित निरोधलक्षण पद्धिवरणयुत समुद्यते । स्वीयानुग्रहाय भाचार्यैसाप्रकटीकृतमिति । भाचार्याणां प्रादुर्भावात् १५३५ वर्षे चैत्रकृष्ण एकादश्या रविवारे । तेषां चरित्रादिकं तु साम्प्रदायिकवार्ताविषु प्रसिद्धमिति मेह विस्तार । षोडशम-येष्वय निरोधलक्षण मस्य पञ्चदशसख्यां भवते ।

२ मयम मुद्रित विवरण चावाधीगोपेक्षानाम् । इमे श्रीगोपेणा धीमद्रभुवराणां सप्तम पुत्रश्रीजनश्यामानां सूनव । षोडशम-शोपरि यद्भवतेषां टीका इत्यने । तत्कृतसेवाकलटिप्पणी स्वधु वैवास्वामि प्रकृतिता । भाद्रपदकृष्णपञ्चम्यां १६५२ वर्षे प्रादुर्भूता ।

३ द्वितीय विवरण श्रीविठ्ठेशा मजधीवलमानाम् । इमे धीवलभा धीमद्रभुवराणां पञ्चमपुत्र धीरतुनायकभद्रुर्षी सख्या विभूषयत् १७२९ वर्षे कालिकृष्णद्वादश्या प्रादुर्भूता । नवरत्नटि प्पणामश्यासनिगयटीकासेवापत्नीकादनां प्रणेता एत एव । नवरत्नटिप्पण्या एक प्राचीन पुस्तकस्य स्यान्निर्णयम् । तत्र श्रीविठ्ठलरायाभ्यधीवलभकृता नवरत्नटिप्पणी तिस्रमासौ वतने । एतत्पुनक धीमद्रोस्वामिधीद्वारकेभारामज श्रीगिरिधराणां सपर १८३२ पौषशुद्धे लिखितम् । तत्पुस्तकोपरि अस्मिन्पुत्रवराणां लेख इति लिखितम् । समदायवशाद्दृष्टे तेषां सम्बन्ध एव दर्शित ।

श्रीविठ्ठलराय — श्रीविठ्ठलेश

श्रीगिरिधरजी

श्रीवलभजी १७२९

श्रीद्वारकेशजी

श्रीगिरिधरजी १७७९

एतेन सेवाकलप्याख्यास्य प्रणेताशोपि धीरतुनायकदया इत्यश्रुमीयते । दशमस्कन्धधीसु शोभिनीलेखस्यापि प्रणतारम् एवेति प्रतिभाति । विदोष तु पुष्टिभक्तिसुधाया सप्तमवर्षस्य त्रयमासिके प्रपञ्चितम्, मित्रासुभिन्नेव द्रष्टव्यम् ।

४ तृतीय व्याख्यान धीमद्रिधमचरणानाम् । श्रीद्वाराराय इति प्रसिद्धा हि ते । धीमद्रभु चरणद्वितीयवर्माश्रीगोविंदराययेषु सुदृढपुत्रश्रीकल्याणरायाणां ज्येष्ठसूनव भाद्रपदकृष्णपञ्चम्यां १६९७

वर्षे प्रादुर्भूता । एषां प्रहसन्मन्वसंस्कारस्तु भीविहलेभराणां चतुर्थंछाडै धीयह्यै भीगोकुलनायेति-
प्रतिवैतै कृत । श्रीहरिरायानामसख्यात्ता सूक्ष्मग्रन्था इत्यन्ते । सम्प्रदाये प्रसिद्धानि शिक्षापत्रा-
प्यपि तै प्रादुर्भावितानि । धीमन्दीर्घनचरणस्वरूपे तु शुद्धपुष्टिमार्गीय फलात्मक रसात्मक विप्रयो-
गारमक साक्षाद्दिव्य भूर्तिमत् प्रादुर्भूतमनुभूयते । तेषां व्याख्यानानि सर्वाण्यपि भक्त्यनुगुणानि ।
नि साधनजीवानुग्रहार्थमेव तेषां प्राकट्यमिति प्रतिभाति । अत एवात्र मुद्रित तेषां निरोधलक्षणव्या-
ख्यान निगूढ भक्त्यनुगुण सरस भक्तिनिष्ठजनानुग्रहार्थं विराजते ।

५ चतुर्थं व्याख्यान श्रीवल्लभानाम् । इदं व्याख्यान धीमन्त्रोकुलनाथानामिति वेचिह्वदन्ति । आदर्शो
पुस्तकद्वये श्रीयल्लभकृतमिति लिखितम् । अन्यस्मिन्नादर्शत्रये विमपि नाम नास्ति । धीगोकुलनाथा
प्रसिद्धानु स्मृतटीकास्तु धीमद्विहलेभरप्रभुचरणान् स्वपितृचरणत्वेन आरभ्ये नमस्कृत्यन्ति, अथवात्ते
तथैव स्मरन्ति । अस्मिन् निरोधलक्षणविवरणे यद्यपि धीमन्प्रभुचरणा नमस्कृता, तथापि सामान्यतः,
न तु स्वपितृचरणत्वेन । अत एव क्वचित्सन्देहः । धीमन्त्रोकुलनाथास्तु धीमद्विहलेभरप्रभुचरणानां
चतुर्थंस्वयं मार्गीर्यैर्गुरुकुलसन्ध्या १६०८ वर्षे प्रादुर्भूता । पौषकृष्णनवम्यां १६१७ वर्षे सिद्धि-
गता । धीमन्प्रभुचरणलालेषु इमे अतिप्रसिद्धाः । पित्र्पादीनां सन्धासपापविद्वान्मुसमर्देन कृत्वा
मोगलराजजहागिर च वशीकृत्य स्वमार्गारक्षा एतैरेव कृता । सतां कण्ठे माला च तैरेव सुरक्षिता
स्वरूपबलेनैव । धीमदाचार्यप्रकटितधीमन्नागधत्तुचोधिन्ध्या विशेषप्रचारस्तैरेव कृत, अतस्तेषां
धीसुबोधिनीप्रवर्तका इति नामापि प्रसिद्धम् । साम्प्रदायिकवार्तादीना प्रकटीकर्तारोपि ते एव । स्व
सम्प्रदायस्य प्रचारार्थं प्रवृत्त्यर्थं च गुर्जरभूमिरेकवार स्वचरणनलिनरजोभित्तै पवित्रीकृता । दक्षिणे
पुण्यपत्तनपर्यन्तमेकवार तदर्थमेव गता । परन्तु तत्रस्थान् कृष्णभक्तिरसानधिकारिण इष्ट्वा तस्मात्प्र-
वर्तत । दक्षिणास्या 'भैसा' इत्युपहास तैरेव कृत । तकीतनादिषु च प्रसिद्ध । धीसर्वोत्तमस्रोत्रसि-
द्धान्तमुक्तापलिपुष्टिप्रवाहमर्यादासिद्धान्तरहस्यान्त करणप्रबोधयतु श्लोकीभक्तिवर्धनीत्यादीना ग्रन्थानां
विवृतय तेषां नयनगोचरीभवन्ति । श्रीकल्याणभद्रकृतकलोलै श्रीगोपालदासकृतमालाप्रसंगे च तेषां
चरित्रादिकं सुविस्तृत, विशेषजिज्ञासुभित्तैत्रैवापलोकनीयम् ।

६ पञ्चमं व्याख्यान श्रीपुरुषोत्तमानाम् । धीमदाचार्यतः पुरुषगणनया सप्तमीं सत्या विभूय
यन्तो आर्षपदशुद्धदशम्यामेकादश्या वा १७२४ वा १७१४ वा वर्षे प्रोज्जता । तेषां विवरणं शा-
स्त्रार्थरीत्या बुधुसुबोधकमिति प्रतिभाति । विशेषतः तेषां चरित्रजिज्ञासुभिः पुष्टिभक्तिमुपैति मारिक
पत्रिकाया पञ्चमवर्षस्य तृतीयाको द्रष्टव्य । यावत्प्रायः बाह्यमान्तरं वा तेषां चरित्रादिकमस्माभिसु
नैव निवेदितमिति नात्र पुनरुच्यते । अत्र मुद्रित तेषां निरोधलक्षणविवरणं शास्त्रार्थरीत्या बुधुसुबोध-
कमाचार्योशय सम्प्राणं प्रकटीकृत्यन्ते विराजते ।

७ षष्ठं व्याख्यान श्रीश्यामलसुतश्रीवज्रराजानाम् । इमे श्रीवज्रराजा माघकृष्णद्वितीयायां
१६८२ वर्षे प्रादुर्भूता । धीमन्प्रभुचरणधीविहलेभरतृतीयकुमारश्रीमद्वालकृष्णानां प्रपौत्रा द्वाद-
शन्तविजयिगोस्वामिधीमन्पुरुषोत्तमानां पितृव्यचरणा । अयुना सुरतिपुरमलकुर्वन् श्रीवालकृष्णप्रभु
गोड्डले धीमन्हारकापीश्वरप्रभोस्वसने विराजितवान् । स्वाग्रहेण तत्स्वरूपं स्वशिरसि श्रीवज्रराजे
सुरतिपुरे सेवितम् । अत्र निरोधलक्षणव्याख्याने मगलाचरणे श्रीवज्रराजैस्तस्वरूपमेव निरोधाभावत्वेन
सूचितम् । तेषां रोषिया धीमद्वालकृष्णप्रभु सुरतिपुरे श्रीपुरुषोत्तमानां भूमिं विराजितवान् । स
एव धीमद्वालकृष्णप्रभुमन्दासोस्तस्त्रवान् श्रीमन्तराजानां शिरसि अयुना विराजते । धीपुत्रोत्तमा
स्वपितृव्यचरणं श्रीवज्रराज स्वदशमणिं गणयन्ति । श्रीवज्रराजानां ग्रन्था भावपूर्णो बहव इत्यन्ते ।
गीताभूततरंगिणी रत्नगोपालभट्टेन काश्यवा श्रीपुरुषोत्तमानां प्रकटीकृता । सप्तश्लोकीयतु श्लोकी
कृष्णाध्यादिपौडसाम्पयेषु बहूनां व्याख्यानानि भावा मकानि तै प्रादुर्भावितानि ह्यगोचरीभवन्तीति ।
अत्र अस्माभिरपलक्षयानि पद्धिवरणानि प्रकटीकृत्यन्ते एतान्येव प्रसिद्धानि, तथापि एतावन्त्येव
विवरणानि नैवाविकानीति नैव दास्यते वक्तुमस्मानि । अतो यदि अत्रामुद्रित निरोधलक्षणव्याख्यान

केवाक्षिर् महानुभाषाणां पुलकसंमदे विधेत् श्वेतदा ते रूपया यदि सङ्घातकाशं प्रेषयिष्यति,
तदा तदपि सोपकारं स्वीकृत्य मुद्रयिष्यामः । प्रायेणामदे च विद्वांसः अकदेतां प्रायेणां रूपया स्वीकृत्य
सम्प्रदायोक्तिं कर्तुमुद्यता भविष्यन्तीति । कोटाग्रामस्थबालशास्त्रितः भुलमेवास्मामिदं श्रीमपुराणी-
शामन्दिरसंमदे निरोधलक्षणस्य अन्यत् टीकाद्वयं वर्तते, एका श्रीकल्याणरायाणाम्, द्वितीया श्रीदेवकी-
नन्दनानाम् । प्रयत्ने कृतेपि नास्मामिद्विवरणद्वयमुपलब्धम् । अतस्तत्संमहमत्र कर्तुं वयमशक्ता इति ।

वामनजयन्ती १९७३.
मुम्बई. }

भूलचन्द्र तेलीवाला.
धैर्यलाल सांकलीया.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥
गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां ब्रजवासिनाम् ।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥
उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥
महतां कृपया पावद्भगवान् दयधिष्यति ।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥
महतां कृपया यद्भूत् कीर्तनं सुखदं सदा ।
न तथा लौकिकानां तुं स्निग्धभोजनरुक्षवत् ॥ ५ ॥
गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।
यथा तथा शुक्रादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥
क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं यत्निः ॥ ७ ॥
सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।
हृन्तः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णाः ह्लावयन्ते जनान् ॥ ८ ॥
तस्मात् सर्वे परिलज्ज्य निन्द्वैः सर्वदा गुणाः ।
सदानन्दपरैर्गोपाः मच्चिदानन्दना तनः ॥ ९ ॥

१ चति पाठ । २ चति पाठ । ३ सदानन्दमयस्यापीति पाठ ।
४ सग इति पाठ ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।
 निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते' ॥ १० ॥
 हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।
 ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ॥ ११ ॥
 संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।
 कृष्णस्य सर्ववस्तुनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥ १२ ॥
 गुणेष्वविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ।
 संसारविरहकेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम् ॥ १३ ॥
 तदा भवेद्यालुत्वमन्यथा क्रूरता मता ।
 बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तद्दध्यासोपि सिध्यति ॥ १४ ॥
 भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः ।
 गुणैर्हरिसुखस्पर्शात्तु दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १५ ॥
 एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षां हरिवर्णने ।
 अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥
 हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।
 दर्शनं स्पर्शनं स्पर्ष्टं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥
 श्रवणं कीर्तनं स्पर्ष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।
 पापैर्मलांशल्यागेन शेषभावं तनौ नपेत् ॥ १८ ॥
 यस्य वा भगवत्कार्ये यदा स्पर्ष्टं न दृश्यते ।
 तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥
 नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।
 नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मभाचार्यचरणप्रकटितं निरोधलक्षणम्
 समाप्तम् ।

१ तमिति पाठ । २ भूत्रि द्वादश योजयेदिति पाठ । ३ हरेः मुखस्पर्शमिति
 पाठ । ४ उरुवर्णमिति पाठ । ५ गुणवर्णने इति पाठ । ६ स्वेष्टमिति पाठ ।
 ७ वायोरेति पाठ । ८ शेषभागमिति पाठ ।

धीरुष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवृतिसमेतम् ।

श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यामन्येषु च स्वग्रन्थेषु निरोधस्य निगद्यमानत्वात् तमाचक्षाणाः
तदवश्यंभावसूचकं मनोरथस्वरूपमाहुः ।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥

गोपिकानां त्वित्यन्तेन सर्वोत्कृष्टता स्नेहतमता च सूचितेति ज्ञेयम् । स्यादिति
प्रार्थनायां लिङ् । क्वचिदिति दुर्लभत्वम् । तथा च बहिराविर्भूतो भगवान् मातृचरणादीनां
विरहानुभवजननार्य-यदा मधुरां गतस्तदा यद्विरहात्मकं दुःखं समजनि तद्भवेदित्यर्थः ॥ १ ॥

विप्रयोगदशायां तादृशरसिकानुभवसाक्षिकान्तरसुखविषयकं मनोरथमाहुः ।
गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम् ।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

त्विति पूर्ववदेव । यद्यपि नास्त्यत्र संशयस्तथापीष्टतमसार्धस्य सिद्धौ सन्देहा-
स्पदताया लोकेऽपि दुर्निवारत्वान् किमुत सर्वसाधनाप्राप्यत्वाखिलप्रमाणागोचरस्येति
विभावनीयम् । ननु विहाय सर्वप्रसिद्धं संयोगसुखं कथमान्तरामिलाप इति चेत् । न ।
आन्तरस्य महाफलत्वादस्यामवस्थायामसौचितत्वाद्दृष्टसंयोगसुखस्य च विजातीयवपुः-
साध्यत्वादितिदिक् ॥ २ ॥

अथ 'सर्वेन्द्रियसुखास्तादो यत्रास्तीत्यभिमान्यते । तत्रास्तीच्छां ससङ्ख्यामुत्कण्ठां
कवयो विदुः' रितिलक्षणलक्षितोत्कलिकाजनकोत्सवविषयकमाहुः ।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।
घृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

यदा भगवदुक्तं वाचिकमादायोद्धवः समागतस्तदा जातो यथा घृन्दावने रास-
क्रीडायां भगवदन्तर्यानिानन्तरमाविर्भूते सति जातो यो वा गोकुले जात इत्यर्थः । सर्वेषामपि
प्रत्येकं विजातीयोत्कलिकाजनकत्वेन स्पृहणीयत्वात् सर्वविषयकं स इति ध्येयम् ॥ ३ ॥

अवान्तरभेदविशिष्टान्तरविषयकमाहुः ।

महतां कृपया याचन्नृगवान् दययिष्यति ।

तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

‘अस्मिन्मार्गे स्वामिन्य एव गुरुव’ इतिश्रीप्रमुचरणोक्तिरनुसन्धेया । तथा च महत्पदवाच्यास्ता एवेति तादृशगुरूणामनुकम्पयेत्याशयः । सुखायेति । सुखजनकः सादित्यर्थः । सुखसमूहरूपो भगवान् यद्यल्लीलाविशिष्टः कीर्त्यते तत्तल्लीलासहितो ह्यया-
विर्भूतः सन्नन्तरानन्दमनुभावयतीत्याशयः ॥ ४ ॥

इदानीं विजातीयकीर्तनविषयकं तमाहुः ।

महतां कृपया पद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा ।

न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

स्वामिनीनां कृपया हृदि स्फुरितस्य भगवतो यत्कीर्तनं तदेव सर्वदा मनसि सुखं
स्यात्, न तु लौकिकानां विहितकीर्तनोपदेष्टृणां कृपयेत्यर्थः । एषां मर्यादास्वत्वेनोत्कृष्ट-
पुष्टाप्रवेशात् । तत्कृपास्फुरितकीर्तनस्य विहितकीर्तनस्य च तारतम्येन सुखजनकत्वे दृष्टान्त-
माहुः स्निग्धेति । रूक्षपदेन रूक्षभोजनम् । तथा च स्निग्धभोजनरूक्षभोजनयोस्तारतम्येन
सुखजनकत्वं यथा तथा तत्कीर्तनयोरपीतिभावः । एवञ्च महत्कृपया स्फुरितस्यैव कीर्तनं मे
हृदि सुखजनकं भवत्वित्यर्थं मनोरथ इति ध्येयम् ॥ ५ ॥

ननु मर्यादामार्गीयविहितकीर्तनेषु अशुपुलकादीनां सत्त्वात् कथमत्रैवाग्रह इत्या-
शंकाभासस्य समाधानमाहुः ।

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।

यथा तथा श्लुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

गोविन्दस्य गोगोकुलपतेरनन्यगोकुलस्वामिन इति यावत् । गुणगाने क्रियमाणे
यथा आनन्दो भवति तथा विरक्तानां प्रथमावापन्नानां श्लुकादीनामपि आत्मनि
न भवति, किमुतान्यत्रेत्यर्थः ॥ ६ ॥

एवं निरोधसाधनीभूतभानविषयकं निरोधावश्यंभावसूचकं मनोरथमुन्त्वेदानीं
तादृशमनोरथविषयगूढे दुःखे जायमाने कदाचित् कृपया आन्तर सुखमपि प्रयच्छति तदाहुः ।

हृदिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।

तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्यं निर्गतं यद्दिः ॥ ७ ॥

‘भवेदिति देहलीदीपन्यायेनोभयनाप्यन्वेनि । यदा कृपालुर्भवेत् तदा विरहदुःखा-
नुभवितृहृदयस्थितं सदानन्दं भगरत्नरूपं स्वयं सर्वशेन मायोद्घाटनेन अयोगोलके
पक्षियत् किमिच्छाकं हृदय एव पक्षिराविर्भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥

ननु 'शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्षणशः स्मरन्ति नन्दन्ती'त्यादिमर्यादामार्गीय-
श्रवणादिभिरप्यानन्दो भगवदाविर्भावश्च भवेतामेव तत्कोयमाग्रहो दुःखानुभव इत्यासंख्याहुः ।

सदानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः ग्लाययते जनान् ॥ ८ ॥

हेतुं विना कृपानन्दो नैत्याशयः । तर्हि गुणगानस्य किं फलमत आहुः हृद्गत
इति । स्वगुणश्रवणेन कृपया पूर्णः सन् स्वरूपानन्देनाहुतान् करोतीत्यर्थः । यथा चाद्य-
रमणे रासक्रीडायां विरहानुभवानन्तरं 'जयति तेधिकं जन्मने'त्यादिना कृते गुणगाने
कृपया पूर्णः सन् स्वरूपानन्दं प्रायच्छत्, तथात्राप्यान्तररमणे संकल्पप्रतिभातो भगवान्
भजनानन्दस्य कश्चन लेशं ददातीत्याशयः । 'यद्यपि गतिस्मितप्रेक्षणे'त्यत्र गुणगानं नोक्त-
मान्तररमणे, तथापि चाद्यरमणानन्तरगन्तर्धाने विनापि गुणगानं आन्तरमास्ताम्, परन्तु
साधनदशायामेतच्छरीरावच्छिन्नात्मनीयमेव सरणिरिति ध्येयम् । ननु विकलत्वास्वास्थ्य-
नाशकान्तररमणसम्पादनं भगवतो नोचितमिति चेत्, न । विप्रयोगस्यैवोद्बोधकमिदमा-
न्तरमित्यधिकतरास्वास्थ्यविकलत्वयोर्युक्तमेव । तथा चोक्तं श्रीमद्भजरत्नप्रष्टेन श्रीगोपी-
जनवल्लभेन 'यथाधनो लब्धधने प्रणष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेदे'ति । तथा च
किञ्चित्कालिकोऽयमाविर्भावो निर्धनस्याल्पकालिकधनलाभ इव भक्तस्य सङ्कल्पप्रतिभाते
भगवत्स्वरूपे संयोगरसस्वाहुलाभः । ततन्तदनवाप्तेरधिकतममस्वास्थ्यं विकलत्वं च
भवतीति ध्येयम् ॥ ८ ॥

एवं कृपोद्रेकजनकगुणगानमावश्यकमित्याहुः ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।

सदानन्दपरैर्गैः सच्चिदानन्दता स्वतः ॥ ९ ॥

निरुद्धैः पुष्टिमार्गीयैः सदानन्दपरैः श्रीकृष्णमाप्रनिष्ठान्तःकरणैः एवंकृतौ
स्वतोऽनभिलषितापि सच्चिदानन्दता स्फुरतीत्यर्थः । तथा च गुणगानं तु कृपोद्रेक-
जननार्थमेवेयं तु स्वत एव भवतीति भावः ॥ ९ ॥

नन्वीदृशालौकिकप्रकारे किं प्रमाणमित्याशङ्क्य स्वानुभवमेव प्रमाणमाहुः ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि तम् ॥ १० ॥

निरुद्धः पुष्टिमार्गीयोऽहं रोधेन भजनानन्दातिरिक्तयावत्फलेभ्यो निवृत्त्या निरोध-
पदवीं निरोधाधिकरणतां प्राप्तः सन् निरुद्धानां पुष्टिमार्गीयाणां रोधाय रोधसिद्धौ
यदधिकरणतामहं प्राप्तस्तं निरोधं कथयामीत्यर्थः । ते इति पाठे कमपि वक्ष्यमाणशङ्का-
वन्तमभिमुखीकृत्य ते तुभ्यं कथयामीत्यन्वयः ।

ननु निरोधस्य भगवताग्रे सम्पादधिष्यमाणत्वात्त्रिरुद्धानामिति वचः कथं सङ्गच्छत इति चेत्, न । भगवतो विषयाव्यभिचारिण्यामेवविधस्वरूपानन्ददित्सायां सम्प्रदान-
त्वेन विषयीभूते पुष्टिजीवे सिद्धवत्कारेण निरुद्धपदप्रयोगेन काचिदप्यनुपपत्तिरिति ध्येयम् ।
ननु कोयं रोध, को वा निरोध इति चेत्, उच्यते । लोकेवेदसमाधिभापाप्रसिद्धपशु-
पुत्रादिपुरपोत्तमसायुज्यान्तयात्रत्फलेभ्यो निवृत्ती रोधः, रोधपूर्विकात्मोपाधिकप्रियत्वा-
निपन्वनी भगवन्मात्रोपाधिकप्रियत्वनिबन्धना भगवत्परता निरोधः । रोधे भजनानन्दाति-
रिक्तयात्रत्फलनिरपेक्षता, निरोधे तु स्वात्मनोपि निरपेक्षता, यतो भगवान् स्वार्थं न प्रियः,
किन्तु स्वात्मापि भगवदर्थमेव प्रियो, भगवानपि भगवत्त्वेनैवेत्ययमेव नितरां रोधो
ए स्वात्मनोपि निवृत्तिः । तथा च रोधनिरोधयोरय भेदः । इत्थं च 'न वा रे पुत्रस्य कामाय
पुत्र प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पुत्र प्रियो भवती'तिश्रुतेः सर्वत्रात्मोपाधिकमेव
प्रियत्वम्, तच्चिन्वन्नेव च प्रवृत्तिः, अत्र तु स्वात्मनो भगवत्तश्च प्रियस्ये भगवानेत्रोपाधि-
रिति भगवन्मात्रोपाधिनिबन्धनैव भगवद्विषयिणी प्रवृत्तिर्भजनानन्ददित्साविषयीभूते जीवे
पूर्वं रोध सम्पाद्य भगवता निरोधः सम्पाद्यत इति भावः । ननु निरोधो भगवतः क्रीडा,
तत्कथमिदं लक्षणमिति चेत्, न । रोधनिरोधयोः सम्पादनगपि भगवतो विशिष्टक्रीडायामेव
निविशंत, न त्वतिरिच्यत इति दिक् । तर्हि रोधस्य भगवदेकसम्पाद्यत्वे रोधसिद्धयर्थं
श्रीमदाचार्यकर्तृक निरोधवर्णनं कुत्रोपयुज्यत इति चेत्, न । 'नमामि हृदये शेषे
दीलाक्षीगान्विशायिन'मित्युक्ते 'निरोधपदवी गत' इत्युक्तेश्चानवरतमन्तःकरणे श्रीमद्भोपी-
जनसङ्घो भगवान् रममाणन्तिष्ठति । तथा चान्तःकरणस्थो भगवानेवाचार्याणामानन-
सरोजेन पुष्टिजीवानामुक्तलक्षणकरोवसिद्धयर्थं निरोधं वर्णयामीति वदतीति ध्येयम् ।
उक्तश्चेत्यमृतोर्थं श्रीमदाचार्यचरणैर्देशमस्करुन्धस्य प्रथमाध्याय'श्वैतन्निसम्य भृगुनन्दन
सायुजादम् । यथासक्तिः सभगवानथ विष्णुरात'मित्यस्य श्लोकस्य विवरणे 'भगवता सहित-
तदन्तःस्थितो भगवानेवोत्तरं प्रयच्छती'त्यनेन सभगवानितिपदव्याख्यानेन 'वाण्या यदा
तदा म्याम् प्रादुर्भूतं चकार हं'ति सर्वात्मने श्रीमत्प्रसुचरणोक्तेर्भगवन्पुत्रारविन्दमेव
श्रीमदाचार्या इति तदीयैररिमतमाकलनीयमिति दिक् । इत्थं च भगवानेव निरोधवर्णनेन
निरोधस्य सर्वोत्कृष्टत्वेन ज्ञानमुत्पाद्योक्तफलेभ्यो निवर्तयतीति भगवत्सम्पाद्यत्वं रोधस्येति
सर्वं सुस्थम् । वस्तुतस्तु यदत्र साधनं यच्च फलं तत्सर्वं चरणैकलभ्यत्वाद्भगवदेकसाध्य-
मंत्रेण किमेभिस्मत्कर्त्तरिति भाग्यत्रद्विर्भाषनीयम् । निरुद्धानां त्विति तुशब्दादन्यार्थं
न वर्णयामीति भावः ॥ १० ॥

ननु पुनः सर्वाथं न निरूप्यत इत्याह्लाहायामाहुः ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदसायान्त्वत्निर्जाम् ॥ ११ ॥

सर्वदु खहर्त्रोपि येऽन्यत्रिपयेभ्यो निमोच्य स्वस्वरूपलिप्सो न कृतास्तेषा मन्द-
भाग्यानामर्थे कथ निरूपणीयमिति भाव । यद्यपि तेषा मार्गान्तरेण यत्किञ्चिदपि
फल जायताम्, तथाप्येतदतिरिक्तफलेषु सामान्यबुद्धिरेण श्रीमदाचार्यचरणानामत एव
भवसागरे मग्ना इत्युचिरेतराम् । श्रीमद्भागवतेषु 'सर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन'
इति ॥ ११ ॥

भावनासाधनीभूता माधनतापन्ननिरोधपदवाच्या भावनामाहु ।

संसारशब्ददुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।

कृष्णस्य सर्ववस्तुनि भृन्न ईशस्य योजयेत् ॥ १२ ॥

रूपरसादितन्मात्रासु पर्यवसन्नत्वाद् दुष्टाना चक्षूरसनादिज्ञानेन्द्रियाणा नि-
पिद्धनानान्रियाजनकाना कर्मेन्द्रियाणा तत्तद्वेपनिरसनपूर्वक तत्तत्फलसिद्धौ सदानन्दस्य
सर्वान् रूपादीन् पदार्थान् तत्तदिन्द्रिययोग्यान् योजयेदित्यर्थ । नन्वनवरतमन्तरङ्ग
भक्तेर्भज्यमानस्य भगवतस्त्रय तत्रोपयुक्ता सर्वे पदार्था कथ योजयितु शक्या इत्या-
शङ्कायामाहु भृन्न इति । ईशस्य सर्वसमर्थस्य भृन्न बहुत्वात् । तथा च सुगपद-
नेत्रेषु स्थलेषु मायोद्घाटनेनाविर्भवति भगवति सर्वमुपपद्यत इति भाव । योजनप्रकारस्त्वग्रे
वक्ष्यते ॥ १२ ॥

ननु मनोमात्रयोजनेन निःप्रत्यूहं ब्रह्मरूपं रूपरसादिविषयवैराग्य-
जनकमविदितदु खं निहाय कथमेवविधप्रकारे प्रवृत्तिर्जायेतेतिशङ्कानिरासाय ज्ञानमार्गे
यत्परमफल तदत्र गुणवर्णकस्य निनिडाच्छन्ननौकया गच्छतोऽनाशास्यमानशीतसदाग-
तिस्पर्श इव मध्येमार्गमिदमवान्तर फलमित्याहु ।

गुणेष्वाधिष्ठितानां सर्वदा मुरवैरिणः ।

संसारचिरदृक्क्षेत्रौ न स्यातां हरिवत्सुखम् ॥ १३ ॥

संसारस्य चिरहो लौकिकत्रिपयवियोगजन्य दुःख क्षेत्रो रोगादिजन्यो
द्वावपि न भवेतामित्यर्थ । न हि क्षार कृपपानीय पिबत पामरस्यापि पानकपानसम्पत्तौ
तादृशकृपपानीयनिरहो दृष्ट श्रुतो वा । एव प्रकृतेष्वनसानविरसान् नश्वररूपादीन् बुद्धानस्य
स्वरूपानन्दानुभनसम्पत्तौ न संसारनिरह इति भाव । हरिवदिति । स्वरूपानन्दो यो
भगवतानुभूयते स एवानेनेति भाव ॥ १३ ॥

ननु गुणमात्रनिष्ठया कुत एव करोतीत्याशङ्कायामाहु ।

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा कूरता मता ।

याधशङ्कापि नास्त्वत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १४ ॥

यदि गुणमात्रनिष्ठयैव न कुर्यात्तदा कूरता मता । दयालुत्व न स्यात् । तथा च

निसर्गदयालु भगवत्स्वरूपं कथमन्यथा भवेदित्यन्यथा क्रूरतेत्यस्यार्थः । इत्थं च सर्वतो
 बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिरिति युक्तिरुक्तेति भावः । एवं ज्ञानमार्गोपास्येऽव्यक्ते मनो-
 योजनेन यत्फलं जायते तदत्र गुणमात्रे मनोयोजनेनेति ध्येयम् । निःप्रत्यूहमित्यत्राहुः
 बाधेति । देशकालादिसापेक्षसाधनसाध्यफले हि कालादिकृतप्रतिबन्धशङ्का स्यादयं तु
 भगवदनुग्रहातिरिक्तसर्वसाधनरहित इति न तच्छङ्केति भावः । ब्रह्मेत्यत्राहुः तदिति ।
 तदध्यासोऽक्षरात्मता । यद्यपि नेयमिष्टा तथापि गुणगानेन संसारावेशनाशे सति
 स्वस्वरूपस्फूर्तिरनाशासमानापि निसर्गादेव जायते, यतो जीवस्य मूलमक्षरं ब्रह्मेति
 ध्येयम् । तथा चोक्त सिद्धान्तमुक्तावल्या विवृतौ ब्रह्मबोधनमित्यस्य व्याख्यायां तथापि
 वस्तुस्वभावाद्भवत इति ॥ १४ ॥

रूपेत्यत्राहुः ।

भगवद्भर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः ।

गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

ज्ञानमार्गे 'भात्रास्पर्शास्त्वि'तिवाक्येन यत्पूर्वकमनित्यत्वादिभाषनेन यलान्निर्वेदः,
 अतोऽस्थिरश्च भवति, प्रकृते तु तन्मनस्कत्वादिस्निग्ध्यानवरतमानन्दमात्रकरपादमुखो-
 दरत्वादिभगवद्भर्मस्फूर्त्या सर्वत्र मनश्चक्षुरादीनां रागात् प्रवृत्तेः कदर्थ्येषु विषयेषु
 जायमानो विरागः स्थिर एव भवतीत्यर्थः । अविदितेत्यत्राहुः गुणैरिति । सर्वदुःखहर्तु-
 र्यत्सुखं तस्य स्पर्शादीपत्सम्बन्धमानादित्यर्थः । तथा च सर्वांशेन तदनुभवस्य भगवतो
 विजातीयवपुःसम्पादनेन करिष्यमाणत्वाद्ब्रह्म स्पर्शमात्रमेवोक्तमिति ध्येयम् ॥ १५ ॥

उपसंहरन्ति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गाद्भुत्कर्पो हरिचर्णने ।

अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

उत्कर्पो गुणेति पाठे ज्ञानमार्गाद्गुणवर्णने उत्कर्पोऽस्ति एवं ज्ञात्वेत्यन्वयः ।
 अमत्सरैरिति । एतन्मार्गीयभगवद्भक्तेषु द्वेषरहितैस्तेषामनवरतमेतद्भावावेशेन भावात्मक-
 भगवदात्मकत्वात् स द्वेषो भगवत्सर्ववसायी भवतीत्याशयः । अलुब्धैरिति । स्वसैवं-
 विधमगवद्वीयत्वत्यापनेनोदरदरीमपूरयद्विरित्यर्थः ॥ १६ ॥

प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रस्तुतमिन्द्रिययोजनप्रकारगाहुः ।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।

दर्शनं स्पर्शनं स्वेष्टं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥

श्रवणं कीर्तनं स्पर्ष्टं पुष्टे कृष्णप्रिये रतिः ।

पायोर्मलांशल्यागेन शेषभायं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥

मुख्यं तु विजातीयवपुःसाध्यमिति तदसम्भवात् सङ्ख्यादपि दर्शनादि सर्वे भावयेदित्यर्थः । अत्राक्षुण्वतां फलमित्येतद्वाख्यायां 'भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च । आश्लेषः सेवनं चापि स्पर्शश्चापि तथाविधः ॥ अधरामृतपानं च भोगो रोमोद्गमस्तथा । तत्कृजितानां श्रवणमाप्राणं चापि सर्वतः ॥ तदन्तिकगतिर्नित्यमेवं तद्भावनं सदेत्येतत्सर्वमनुसन्धेयम् । स्पर्शनं स्पष्टमिति पाठे अत्रैव लोके प्रकटमाधिदैविकमुत्तमं 'कामाल्ख्यं सुखमुत्कृष्टं कृष्णो भुङ्क्ते न चापर' इत्यनुसन्धेयम् । पुत्र इति । सङ्ख्याज्ञातत्वात् सङ्ख्यास्य पुत्रे कामे इत्यर्थः । अत एव 'भगवानपी'तिश्लोकविवरणे 'कामपितामहं मन उत्पादितवा'नित्यनेन कामपितामहत्वमुक्तं मनस इति ध्येयम् । नन्वत्र काम आपामरप्रसिद्धो ग्राह्योऽन्यो वेलाशङ्कायामाहुः कृष्ण इति । अलौकिक इत्यर्थः । उक्तं 'चात्मारामोऽप्यरीरम'दित्येतद्वाख्यायां 'क्रिया सर्वापि सैवान् परं कामो न विद्यत' इति श्रीमदाचार्यचरणैरिति ध्येयम् । रत्निरिति । अलौकिकं तमुद्भाष्य स्पर्शविशेषो भावनीय इत्यर्थः । नन्विन्द्रियेषु पायोरपि सत्त्वात् तस्य का गतिरित्याशङ्काया-माहुः पायोरिति । मलांशत्यागमात्रैकप्रयोजनकस्योपरोधजदुःखनिवर्तकस्य सुखाजनकस्यास्य शेषभावं गौणत्वं प्रापयेदित्यर्थः । तथा चाकिञ्चित्करत्वाद्ध्यर्थमेवेति भावः । वायुमिति पाठे अजामरण्यं नयतीतिवत् स्पष्ट एवान्वयः ॥ १७ ॥ १८ ॥

तर्हि स्त्रीपुमवयवविशेषयोः का गतिरित्याशङ्कायामाहुः ।

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।

तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

विनिग्रहस्तिरस्कारोऽवगणनेति यावत् । तथा च यथास्थ्यादीनि मलानि च तथानुयोगात् पुमवयवविशेष इति तस्य निग्रह इति भावः । वेति निकल्पादेकसास्तूप-योग इति ध्येयम् ॥ १९ ॥

एवं निरोधमुक्त्वा खानुपदिशन्ति ।

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।

नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

मन्त्रो मननीयो नितरां गोपनीयश्च । स्तवो भगवत्प्रसादहेतुः । विद्या काम्य-मानयावदर्थसाधनम् । तीर्थं प्रतिबन्धकीभूतदुरितनिचयनिरसनपूर्वकं तत्प्राप्तिसम्पादक-भागधेयोद्बोधकमित्यर्थः ॥ २० ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरप्रभुचरणात्मजश्रीचनश्यामतनयश्रीगोपेशगोखामि-
विरचिता निरोधलक्षणविधृतिः समाप्ता ॥

श्रीवृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीविद्वलेशात्मजश्रीवल्लभकृतनिरोधलक्षणविवृतिसमेतम् ।

देवासु प्रार्थितं मङ्गमनुरूपफलद्वयम् ।

व्यासेन च समासेन फलत्रययुता खयम् ॥ १ ॥

निरोधलक्षणमिति ग्रन्थनाम । निरोधस्य लक्षणं लक्ष्यत अनेन तादृशमिति करणं व्युत्पत्तिरत्र । तथा च लक्षणनिरूपणेन निरोधज्ञापकमित्यर्थः । तत्र लक्षणं द्विविधम्, स्वरूपलक्षणं कार्यलक्षणं चेति । तत्र स्वरूपलक्षणं यथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति । कार्यलक्षणं यथा 'ज-माद्यस्य यत्' इति । तत्र स्वरूपलक्षणं दशमस्कन्धे बहुधा निरूपितमिति कार्यलक्षणान्यत्रोच्यन्ते यच्चेत्यादिना ।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।

गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥

नन्दादीनां चेत्यत्रादिपदेन उपनन्दादयः । चकारेण अन्तरङ्गगोपा । तथा च यशोदाया नन्दस्य उपनन्दादीनामन्तरङ्गगोपानां च यद् दुःखं येन पूर्वोक्तत्रयाणां दिवा वनगमने भगवद्विन्ततमन्तरङ्गगोपानां च रात्रौ गुणगानं तद् दुःखम् । चकारात् पूर्वोक्तानां चतुर्णां सुखं लीलानुभवरूपं निरोधलक्षणं भगवदासक्तिकार्यमित्यर्थः । गोपकृतगुणगानसासक्ति-कार्यत्वमष्टादशाध्यायकारिकासु स्फुटम् । अन्येषु लक्षणेष्वन्यस्यानधिकारात् स्वपरत्वेनैव तानि निरूपयन्ति गोपिकानां त्विति । 'निन्दुर्दुःखेन चासरा नित्योक्तं दुःखं च निरोधकार्यम् । इदं तु क्वचिन्मम स्यात्, अन्यस्य तु सर्वथा दुर्लभमेवेत्यर्थः । अन्यव्यावृत्तये तु शब्दः । चकारपक्षे इदमपि दुःखं निरोधकार्यमिति समुच्चयः ॥ १ ॥

सुखरूपं निरोधलक्षणमाहुः गोकुले इति ।

गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां व्रजवासिनाम् ।

यत्सुखं ममभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

गोपिकानां चकारेण अन्तरङ्गगतानां यत्सुखं पूर्वदलानुभवरूपम् । सर्वत्र-
धामिपदेन अन्तरङ्गदास्य उच्यन्ते । पुल्लिङ्गपदं परोक्षवादात् । तेषां च यत्सुखमत्यन्तं

रङ्गलीलादर्शनरूपं समभूत् तदपि निरोधलक्षणम् । अन्यसायोग्यमतो भगवान् मे किं विधासतीत्याशंसेत्यर्थः । अत एव अष्टकान्ते विट्ठलपदामिधेये मध्येवेत्येवकार उक्तः ॥२॥

आत्यन्तिकविरहानुभवरूपं मुख्यं लक्षणमाहुः उद्धवागमनेति ।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।

वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

उत्सव आत्यन्तिकविरहानुभवरूपः । एतस्य मुख्यफलत्वसिद्धान्तात् सुमहानित्युक्तम् । अयमुत्सवो गोपिकानां नन्दादीनां च भ्रमरगीतप्रसङ्गे अध्यायद्वयेनोक्त इति वृन्दावने गोकुले वेत्युक्तम् । अत्र अन्यस्नानधिकार इति मे मनसि स्यादिति उक्तम् । दुर्लभत्वख्यापनाय क्वचिदिति । एतेषु स्वाशंसाकथनेन पूर्वं 'यव' इत्यर्थेनोक्ते दुःखसुखे अन्येनापि भक्तेन मयि स्यादिति आशास्य इति सूचितम् । तथा च यशोदाया नन्दस्योप-नन्दादीनामन्तरङ्गगोपानां च दुःखसुखानि निरोधलक्षणानि भक्तेन स्वपरत्वेनाशासानि । गोपिकानां दुःखसुखे, अन्तरङ्गगोपीनां अन्तर्गृहगतानामन्तरङ्गदासीनां सुप्तम्, सर्वेषामात्यन्तिकविरहानुभवश्च । इमानि निरोधलक्षणानि स्वरूपतो ज्ञेयानि, न तु स्वपरत्वेनाशासानि, तत्रानधिकारादित्युक्तम् । भगवान् कृपया सम्पादयेद्येदस्तु, स्वयं नाशासा-नीत्यर्थः ॥ ३ ॥

स्वपरत्वेन आशास्यस्य पूर्वोक्तस्यापि फलस्य दुर्लभत्वेन चिरकालसाध्यत्वात् तत्सिद्धिपर्यन्तं क्लेशभावायवान्तरं निरोधफलमाहुः महतामिति ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दपयिष्यति ।

तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

महतामत्रत्यगुरूणां स्वामिनीनां कृपया भगवान् यावद्दपयिष्यति पूर्वश्लोकार्थोक्तं फलं सम्पादयिष्यति तायत् कीर्त्यमान आनन्दसन्दोहो भगवान् सुखाय भवति । गुणगानजं सुखं निरोधस्यावान्तरफलमित्यर्थः ॥ ४ ॥

मुख्यफलस्य स्वामिनीकृपासाध्यत्वमुक्त्वा अवान्तरफलमप्यत्र तत्कृपासाध्यमेव ज्ञेयमित्याहुः महतामिति ।

महतां कृपया यद्यत्कीर्तनं सुखदं सदा ।

न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

लौकिकानां लोके प्रसिद्धानां नारदशुकादीनां कृपया जातं कीर्तनम्, तथा स्वामिनीकृपया सजातकीर्तनप्रकारकमुखदं नैत्यर्थः । तत्र हेतुं दृष्टान्तेन स्पष्टयन्ति स्निग्धेति । स्निग्धभोजनं रूक्षभोजनं च तद्भदित्यर्थः । स्वामिनीकृपया अन्तर्भगवत्याकट्यात्

कीर्तनस्य स्निग्धभोजनतुल्यत्वम् । अन्यत्र तु मानसा मूर्तेः कल्पितत्वेन वस्तुतः प्राकट्या-
भावात् कीर्तनस्य रूक्षभोजनतुल्यत्वम् । महतामित्यस्य कीर्त्यमानेनाप्यन्वयः । तत्कृतं
कीर्तनं न त्वन्येनोपनिबद्धमित्यर्थः । मुख्यफलप्राप्तिपर्यन्तं गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तम् ॥५॥

तत्र कर्मणापि तावत्पर्यन्तं क्रममुक्तिप्रकारेण स्वर्गादिमुखावाप्तिसिद्धौ किमर्थं
गुणगानाग्रह इत्याशङ्क्याहुः गुणगाने इति ।

गुणगाने मुखावासिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।

यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

गोविन्दस्य गुणगाने यत्प्रकारिका मुखावासिसत्प्रकारिका मुखावाप्तिः
शुकादीनां सिद्धज्ञानानां तत्रापि आत्मनि आत्मविचारदशायामपि न जायते,
तर्हि अन्यतः कर्मभ्यः कुतः सादित्यर्थः । अत एव 'परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य' इत्यादि
वाक्यानि ॥ ६ ॥

तत्कृतकीर्तने विशेषमाहुः क्लिश्यमानानितिद्वयेन ।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।

तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥

सदानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान् ॥ ८ ॥

सदानन्दं सद्रूप आनन्दो यस्मिन् तादृशं स्वरूपं क्लिश्यमानान् जमान्
दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत् तदा बहिर्निर्गतं भवति, स कृपानन्दस्तु सुदुर्लभः ।
कर्मणा ज्ञानेन वा न भवति, किन्तु क्लेशेनैव भवति, अतस्तथेत्यर्थः । सदानन्दस्य बहिर्नि-
र्गमनं विवृण्वन्ति हृद्गत इति । तत्तद्दृष्ट्वो भगवान् स्वगुणान् अन्योऽन्यं वर्णितान्
श्रुत्वा पूर्णो भवति । इदं द्वाविंशाध्यायकारिकायां स्फुटम् । स्वयं पूर्णः सन् जनान्
प्लावयते, स्वरूपानन्दे निमग्नान् करोति, तेषामन्तर्बहिः स्वरूपानन्दं प्रकटीकरोति । इदं
सदानन्दस्य बहिर्निर्गमनमित्यर्थः ॥ ७, ८ ॥

सशीकर्तुमुपसंहरन्ति तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।

सदानन्दपरैर्गैः सच्चिदानन्दता ततः ॥ ९ ॥

सर्वं कर्मज्ञानादिप्रसासं परित्यज्य निरुद्धैर्भक्तैः सह सदानन्दपरैः कर्तुंभिः
गुणा गेयाः । एतस्य फलस्य अवान्तरत्वं साधयन्ति सच्चिदानन्दतेति । ततो गुणगानात्
सच्चिदानन्दता भवति, थलौकिकशरीरप्राप्त्या परमफले स्वरूपयोग्यता भवतीत्यर्थः ।
स्वत इति पाठे गुणगानस्वभावादेव भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

ननु यैः सह गुणा गेयास्ते निरुद्धाः कथं ज्ञेया इत्याशङ्क्य तदभिज्ञापकं कथयामीत्याहुः अहमिति ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदर्यां गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते ॥ १० ॥

रोधेन निरोधपूर्वावस्थापन्नेन भावविशेषेण अहं निरुद्धः निरोधस्य पदर्यां मार्गं पूर्वोक्तयुक्त्यफलपर्यन्तं गतः प्राप्तः । अतो गोपिकानां त्वित्यादिनोक्तफले इव अभिज्ञापककथने मम न प्रयोजनम्, किन्तु अन्यार्थं कथयामीत्याशयेन कश्चित्सेवकमभिमुखीकृत्याहुः ते इति । तव निरुद्धानां सम्यग्धि यो रोधस्तदर्थं त्वयि तादृशभावसिद्धयर्थमित्यर्थः । निरोधं वर्णयामि अभिज्ञापककथनेन कथयामीत्यर्थः ॥ १० ॥

विविच्य कथनाय व्यावर्त्यानामपि अभिज्ञापकमाहुः ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ॥ ११ ॥

सर्वदुःखहर्त्राणि ये विनिर्मुक्तास्ते भवसागरे मग्ना इति व्यावर्त्यानामभिज्ञापकमुक्तम् । निरुद्धानामभिज्ञापकमाहुः ये इति । अत्र गुणगानादौ इत्यर्थः । यथा सर्वज्ञत्वमलौकिकं तेजश्च ज्ञाने निदर्शनम्, तथा गुणगानादौ मोदो निरोधे निदर्शनम् । एवं निदर्शनेन निरुद्धान् ज्ञात्वा तैः सह गुणगानं 'यच्च' इत्यर्थेनोक्तफलसिद्धिपर्यन्तं कर्तव्यम् । फलप्राप्त्यनन्तरं तु तत्त्वमावप्राप्तमेव सर्वं भविष्यतीति न तत्र कथनापेक्षेति भावः ॥ १३ ॥

ननु परमदयालुर्भगवान् कथं कांश्चिजीवान् मुञ्चति येन ते भवसागरे मग्ना भवन्तीत्याशङ्क्य धर्मिप्राहकप्रमाणसिद्धमेतदिति आहुः गुणेष्वितिसार्धेन ।

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ।

संसारचिरहृल्लेशौ न स्यातां हरिचत्सुखम् ॥ १२ ॥

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता ।

समाधानं तु निबन्धे 'आत्मसृष्टेर्न वैपम्य'मित्यनेनोक्तमत्र ज्ञेयम् । येन संसारकेशो भगवद्विरहकेशश्च निवर्तते, हरेरिव सुखं च भवति, तादृशगुणावेशो यदा भवति तदा भगवतो दयालुत्वं भवेत् । एतावत्फलपर्यन्तं प्राप्ता भक्तिमार्गीया एव भवन्तीति भक्तिमार्गीयेषु दयालुत्वं भवतीत्यर्थः । अन्यथा भक्तिमार्गीयत्वाभावे भगवतः क्रूरता तेषां मोचनम्, येन ते भवसागरे मग्ना भवन्तीत्यर्थः । कर्ममार्गे पुनरावृत्तिकथनात् संसारे मज्जनम् । ज्ञानमार्गेपि 'ज्ञानिनामपि चेतांसी'ति वाक्यात् तथा । इदं निबन्धे द्वितीय-प्रकरणान्ते व्यवस्थापितम् । इदं सर्वं प्रमाणसिद्धमेवेति मतेत्युक्तम् ॥ १२ ॥

ननु ज्ञानमार्गे मायेव अत्रापि कश्चिद्वाधेतेत्याशङ्क्याहुः ।

वाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १३ ॥

अत्र वाधसम्भावनापि नास्तीत्यर्थः । तत्र हेतुः तदध्यासोपीति । माया हि ससारे अध्याससम्पादनेन मज्जयति, अत्र तु भगवदीयत्वेनैव अध्यासो भवतीत्यर्थः ।
यद्द सर्वात्मना त्याज्यमिति त्यागपक्षसमुचयाय अपिशब्दः ॥ १३ ॥

गुणावेशेन उभयङ्गेशाभावे हेतुमाहुः ।

भगवद्भूमसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः ।

गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १४ ॥

गीयमाना ये भगवद्भूमस्तसामर्थ्यात् विषयवैराग्यं भवति, तेन ससारङ्गेशाभावः ।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शाद्विरहङ्गेशाभाव इत्यर्थः ॥ १४ ॥

मार्गान्तरेभ्य उत्कर्षं स्फुटं कर्तुमुपसहरन्ति एवमिति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गाद्दुत्कर्षां गुणवर्णने ।

अमत्सरैरल्लुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १५ ॥

ननु 'पराधि या'नीतिनाक्यादिन्द्रियाणामन्यपरत्वस्य साहजिकत्वात् तैः सर्वदा विषयभोगे गुणगानं कथं भविष्यतीत्याशङ्क्य तदुपायमाहुः ।

संसाराचेष्टादृष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।

कृष्णस्य सर्ववस्तुनि भृशं ईशस्य योजयेत् ॥ १६ ॥

एतेषां हिताय भगवत्परतासिद्धये कृष्णस्येशस्य वस्तुनि एतैः सह योजयेत् ।
प्रपञ्चे प्रसन्नमाननां कुर्यादिति सिद्धान्तमुक्तत्वात्पुत्रोक्तोर्थोऽनुसन्धातव्यः । भृशेति चतुर्थी ।
भूमा सर्वात्मगान्तस्यार्थमित्यर्थः । भगवदीयैरेव वस्तुनि सर्वव्यवहारसिद्धौ सर्वोप्यात्मनो
भागे भगवति मित्रो भवनीत्यर्थः ॥ १६ ॥

भगवदीयवस्तुनामिन्द्रियैः सह योजनेन सिद्धं भूगानं निवृण्वन्ति हरिभूर्तिरिति ।

हरिभूर्तिः सदा ध्येया संकटपादपि तत्र हि ।

दर्शनं स्पर्शनं श्रेष्ठं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥

अथवा कीर्तनं स्पर्शनं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।

पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पर्शनं न दृश्यते ।

तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्यं इति निश्चयः ॥ १९ ॥

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।

नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

आद्यचरणेन मनसो भाव उक्तः । इन्द्रियाणामाहुः सङ्कल्पादपीति । दर्शनस्पर्शन-
कृतिगतिश्रवणकीर्तनानि चक्षुस्त्वन्पाणिपादश्रोत्रवाक्कार्याणि सङ्कल्पादपि तत्र भगव-
त्स्य सम्पादनीयानि । भगवद्विषयकाण्येव दर्शनादीनि सङ्कल्पनीयानि, न तु विषयविषय-
काणीत्यर्थः । मुख्यतस्तु भगवद्विषयकाणि तानि कर्तव्यानि । तदसम्भवे सङ्कल्पनायमपि
कर्तव्यमिति सङ्कल्पस्य ततो गौणत्वसूचनाय अपिशब्दः । भगवद्दर्मसामर्थ्यसिद्धवैराग्य-
स्वरूपं तेन साध्यं फलं च यदन्तः पायोर्विनियोगमाहुः पुत्रेति । कृष्णप्रिये पुत्रे रतिः
तनौ नचेत् प्रापयेदित्यन्वयः । मलत्यागस्य पायुकार्यत्वान् पायुग्रहणम् । अत एवा'सिद्धोः
पुर. पुर्या नाभिद्वारमपानत' इति देहत्यागस्य अपानकार्यत्वमुक्तम् । अपानं इन्द्रियमिति
उक्तेरपानं पायुश्चेत्येकमेव । कृष्णप्रिय इति । भगवदीयेषु रागो अन्यत्र निराग इति
लक्षण वैराग्यस्वरूपमुक्तम् । कृष्ण. प्रियो यम्य तादृशे भगवदीये । तथा च भगवदी-
यत्वेन राग इत्यर्थः । पुत्रपदमुपलक्षणम् । भार्याद्विषय्येयम् । 'नापुत्रस्य लोकोस्ती'त्यादि-
यान्त्रैः पुत्रे रागस्य प्रमाणसिद्धत्वेन कर्तव्यत्वशङ्का पुत्रपदम् । अन्यत्र आत्मन एव
निरूपधिसिद्धत्वात् पुत्रस्य च 'आत्मा वै पुत्रनामासी'त्यादिवाक्यैरात्मत्वकथनात्
तत्र राग उक्तः । अत्र तु भगवत एव निरूपधिसिद्धत्वात्पुत्रपदमाहुः भगवदीये एव रागोन्यत्र
निराग इति भावः । मल द्विनिधम्, प्रतिजन्मनि जायमान देहरूपमेकम्, प्रत्यहं जायमा-
नमपरम्, उभयनिधमलनिघृत्तेः पायुकार्यत्वादेककथने द्वितीयमप्युक्तं जातमिति ज्ञेयम् ।
प्राणरसनोपस्थाना विनियोगमाहुः यस्य वेति । अन्येषां भगवति विनियोगसङ्कल्पो विषय-
भोगसङ्कल्पनिग्रहश्चोक्तः । एतेषामधुना भगवति विनियोगसङ्कल्पासम्भवात् निग्रहमात्र
कर्तव्यम् । एतैर्विषयभोगो न सङ्कल्पनीय इत्यर्थः । वाशब्दोऽनादरे । यस्य एव इन्द्रियस्य
कार्यं भगवत्सम्बन्धि यदा यस्मिन् काले स्पष्टं न दृश्यते तदा तस्मिन् काले तस्ये-
न्द्रियस्य विनिग्रहः कर्तव्यः । तदिन्द्रिय विषयान्तरे न प्रवर्तनीयम्, पतिप्रतावचूर्णी
श्लेषमित्यर्थः ॥ १७, १८, १९, २० ॥

स्वीयेषु कृपयोक्तस्य ग्रन्थस्यास्य महात्मभिः ।

वदनानलदासोक्ता व्याकृतिः पूर्णतामगात् ॥ १ ॥

इति श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीबलभट्टभकृता निरोधलक्षणविघृत्तिः सम्पूर्णा ॥

श्रीरूप्याय नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीहरिरायकृतनिरोधलक्षणविवृतिसमेतम् ।

नमामि श्रीमदाचार्याननल्पकरुणासुतान् । निरोधफलदानाय प्रमुणा प्रकटीकृतान् ॥ १ ॥
यदीयचरणाम्भोजं वरणं मूर्तिमत्प्रभो । तत्कृपातः करिष्येह निरोधविवृतिं मुदा ॥ २ ॥
तदाविर्भावितश्रीमत्प्रभुसेवारसात्मकः । अस्मत्प्रभुः कृपयतु प्रियः श्रीविड्दलेश्वरः ॥ ३ ॥
वन्दे पितृपदाम्भोजं श्रीमदाचार्यसन्निधे । यतोऽहमभव सर्वसाधनाभायवानपि ॥ ४ ॥

अशोषोद्धाततया इदं विचार्यते, को निरोधः? किञ्च तस्य कारणम्? कथं वा तस्य फलत्वमिति । तन्नोच्यते । प्रपञ्चविस्मृतिसहिता आसक्तिर्निरोध इति । न च आमक्तिमात्रं स इति वाच्यम् । विषयासक्तौ व्यभिचारात् । न च तत्र प्रपञ्चविस्मृतिः, किन्तु विशेषतः तदभिनिवेश एव । न चासक्तिनिषयातिरिक्तप्रपञ्चविस्मृतेरुभयसाधारण्येन अतिव्याप्तिरिति वाच्यम् । प्रपञ्चशब्दस्य नत्सामान्याभिप्रायत्वात् । न च लौकिकासक्तिविषयो न प्रपञ्चः इति वाच्यम्, तद्रूपस्य तादृशशक्त्यैवोत्पादकत्वात् । न च प्रपञ्चमात्रास्मरणं आसक्तिर्निषेधव्यवस्थापात इति वाच्यम् । प्रपञ्चातीतस्य तद्विषयत्वात् । न च तद्विषयस्य तदतीतत्वे प्रापञ्चिकजीवासक्तिविषयत्व न स्यादिति वाच्यम् । योगजधर्मप्रत्यासत्त्या अतीन्द्रियार्थस्य इत्थं भक्त्या प्रपञ्चातीतस्य निषेधव्यवस्थापातः । किञ्च, श्रुतानुरागस्थले लोकेऽपि अतीन्द्रियार्थस्य तद्विषयत्वमस्ति एव । अत एव कल्पतरुकामधेन्वादिमाहात्म्यश्रवणेन दृश्यते अखिलानां लोकानामभिलाषः । वस्तुतस्तु प्रपञ्चातीतस्य अपि ऐन्द्रियकत्वमेव, चक्षुरवेद्यत्वेऽपि श्रवणवेद्यत्वात् । 'कश्चिद् धीर' इति श्रुतेर्'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' 'तस्मिन् दृष्टे परानरे' 'पश्यन्ति ते मे' 'त एव पश्यन्ति' इत्यादि-स्मृतिभ्यश्च निशिष्टचक्षुर्वेद्यत्वाच्च । ननु लक्षणे प्रपञ्चत्याग एव कुतो न निरोधनिशेषण-तयोच्यत इति चेत् । न । तस्य ज्ञानमार्गाद्यनोक्षसाधनत्वेन अत्र अनुपयोगात् । अत्र तु भजनान्यथानुपपत्त्या ममतापरावर्तनस्यैव त्यागपदार्थत्वेन तस्य तद्विस्मृतिमात्रपर्यवसितत्वात् । अत एव 'त्वन्माययात्मात्मजदारगेदेष्यासक्तचित्तस्य' इति घृतरचः । उक्तं च प्रभुभिः श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपे 'ब्रह्मभावात् तु भक्तानां गृहमेव निशिष्यत' इति । तस्मात् तद्विस्मृतिमात्रमेवात्र न्ययनिति । अत्र एव भरताचार्योप्याह तद्विज्ञानं 'या तु व्यसन-सम्प्राप्तिर्निरोधः स तु कथ्या' इति । व्यसनं च प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका आसक्तिरेव । अतः

एव क्षणमपि तत्र तेन विना स्थातुमशक्तिः । अंशतोप्यन्यस्मरणे क्षणं तेन निर्वाहात् । अत एव प्रोचुः परमदुर्लभत्वमेव वदन्तः श्रीमदाचार्याः भक्तिवर्धिन्यां 'यदा स्वाङ्गसन् कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि' इति । विशेषेण असन् क्षेपणं सर्वस्य यस्मादिति व्युत्पत्त्यापि तस्य भावस्य प्रपञ्चविस्मृतिरूपत्वमेव निश्च्यति ।

स च निरोधो द्विविधः । भागवतोऽन्यथ । अत एवोक्तमाचार्यैः 'निरोधो यदि भक्तानां स्वस्मिन् स्वस्य च तेषु हि, तदोभयसुसम्बन्धात् दृष्टो भवति नान्यथे'ति । तत्र आद्यो भगवतः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभक्तविषयकामक्तिरिति । 'निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभि'रितिवचनात् । अस्त्येति पष्ठथा भेदेन निर्देशात् । 'निरोधोऽस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरे'रित्याचार्यचरणैर्विधृतत्वाच्च । लीलारूपेषु सर्गादिषु परिगणितत्वाच्च । 'स च गोपीभिः स्तोभित' इत्यादिना निरूपितः ।

नन्यत्र लक्षणमिदमनुपपन्नम्, भक्तानां प्रापञ्चिकत्वेन भगवतस्तद्विषयकासक्तौ प्रपञ्चविस्मरणाभावादिति चेत्, उच्यते । अवधारितं च तेषु त्वया प्रापञ्चिकत्वं केन प्रमाणेन ? न तावत् प्रत्यक्षम्, तेषां लीलासृष्ट्यतिरिक्तजनप्रत्यक्षागोचरत्वात् । भक्तविशेषप्रत्यक्षस्याप्रापञ्चिकृतानुकूलत्वात् । 'सदा पश्यन्ति सूर्य' इति श्रुतेः, 'यद्धि पश्यन्ति मुनयः' 'ते एव पश्यन्ति' 'पश्यन्ति ते मे' इत्यादिवाक्यैः । एतत्प्रपञ्चान्तपाते भक्तानां सगुणघ्नविषयताया अनिवार्यत्वात् । अत एवाप्रापञ्चिकत्वं बोधयन् निजैश्वर्यस्य 'दिव्यं ददामि ते चक्षु'रिति प्रसुरुक्तवान् । नाप्यनुमितिः, अनुकूलतर्कभावात् । न च दृश्यत्वाददामि ते चक्षु'रिति प्रसुरुक्तवान् । नाप्यनुमितिः, अनुकूलतर्कभावात् । न च दृश्यत्वाददामि ते चक्षु'रिति प्रसुरुक्तवान् । ननु अस्तु भक्तानां तयात्वम्, तथापि भगवतोप्रतिहतज्ञानशक्तेः इति नानुपपन्नं किञ्चित् । ननु अस्तु भक्तानां तयात्वम्, तथापि भगवतोप्रतिहतज्ञानशक्तेः प्रपञ्चविस्मरणं कथमुपपाद्यत इति चेत्, इत्थम् । भगवान् हि पुष्टिमार्गं अह्निकुर्वन् स्वधर्मानपि त्यजति, विपरीतांश्च विदधाति । 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्', 'आत्मारामोऽप्यस्खण्डितः', 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्', 'न पारयेह'मित्यादिवाक्यैः । एवं सति यत्र निरोधं चिकीर्षुर्भवति प्रभुः, तत्र तदनुकूलस्वरूपमपि सम्पादयतीति तदर्थमञ्जत्वमपि युक्ततरम् । विविधानन्तशक्तिमत्त्वेन तत्र सर्वोपपत्तेः । न च विरोधादञ्जत्वे सर्वज्ञत्वमनुपपन्नमिति वाच्यम् । विरुद्धविविधधर्माधारत्वस्य भगवति 'तदेजति तत्रैजति' इत्यादिश्रुतिसिद्धत्वात् । एतच्च यथा तथा अस्मत्सामिभिर्निरूपितं विद्वन्मण्डने । न च अञ्जत्वस्य अविद्याजन्यत्वनिषेधेन भगवति तदभावात् तथात्वमसम्भवीति वाच्यम् । अविद्याया अपि 'श्रिया पुष्ट्ये'तिवाक्यात् तच्छक्तित्वेन तदधीनत्वात् । न च 'बन्धोऽस्मादविद्या अनादि'रिति वाक्यादविद्याश्रयत्वे तथा बन्धसम्भव इति वाच्यम् । तस्यास्येति-

पदेन जीवविषयत्वस्य वाक्ये एवोक्तत्वात् । अत एव श्रीमदाचार्यैर्निरूपितं निबन्धे, 'विधाविधे हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते, ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशते'ति । तं च धर्मं प्रभुः पुष्टिमार्ग एव आविर्भावयतीति 'मदन्यते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी'तिवचनादवसीयते । अत एव निरूपितं केनचित् भगवत्स्वरूपतत्त्वाभिज्ञेन 'संमुष्णन्' इत्यादि । तदेतत् सर्वमाचार्यैर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रम' इत्यत्र निरूपितमिति सहृदयैस्तत एव विभावनीयम् ।

अथ किं तस्य कारणमिति चिन्त्यते । न तावन्निरोधो लोक इव वासनया जन्यत इति वक्तुं शक्यम् । तस्या अनुभवजन्यत्वात् । भगवतश्च साक्षात्कारात् प्राक् लौकिकविषयविषयीन्द्रियाविषयत्वेन अनुभवात् । साक्षात्कारे तु दिव्यदृष्टिदानेन तथात्वसम्भवात् । 'दिव्यं ददामि ते चक्षुरिति वाक्यात्, 'कश्चित् धीर' इति श्रुतेश्च । नापि भक्तिः, सा हि द्विधा, मर्यादापुष्टिभेदेन, तत्र न तावदाद्या, तस्या 'भक्त्या त्वनन्यया,' 'विश्वे तदनन्तरम्,' 'ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः, द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षण' इत्यादिवाक्यैः सायुर्ज्यमुक्तिफलकत्वेन निरोधाजनकत्वात् । ननु 'भक्त्या सखातया भक्तये'त्यादिवाक्यैर्मर्यादाभक्तेः पुष्टिभक्तिफलकत्वेन तस्याश्च निरोधसाधकतया कथं न परम्परयैतस्या अपि तज्जनकत्वमिति चेत्, न, पुष्टिमक्तेरपि तज्जनकत्वस्य विचार्यत्वेन मर्यादायामप्रसक्तेः । न हि सापि साक्षान्निरोधं साधयति, किन्तु भगवतः साक्षात् तत्साधनत्वे निमित्तमात्रं सा । अन्यथा 'कृष्णेन चोद्धृता' इतिवाक्यं विरुध्येत । न हि निरोधः कदाचिदपि स्वकृतसाधनैः सिध्यति । अत एवोक्तमाचार्यैः 'आसक्तिः प्रेमपूर्वैव प्रेमापि हरिणा कृत'मिति । अत एव प्रजसीमन्तिनीष्वेव निरोधः सिद्धः, नान्येषु, भगवता तत्रैव तथा सम्पादितत्वात् । अत एव श्रीमदाचार्यैर्भक्तिवर्धिन्यां 'यदा स्याद्भ्रसनं कृष्णे कृतार्थः सात् तदैव ही'ति दुर्लभत्वमेवोक्तम् । तर्हि किमाकास्मिकतैवेति चेत्, न, स्वरूपसैवानुग्रहविशेषसहकृतस्य हेतुत्वात् । तद्विशेषश्च सर्वात्मभावसाध्यफलदानेच्छेवेति सङ्क्षेपः । यद्यपि भावनागुणगानादेः साधनता श्रूयते, तथापि फलस्य निःसाधनत्वभङ्गमिषा योगक्षेमसाधारणं साध्यत्वमादाय सा वक्तव्येति भावः ।

अथ कथं तस्य फलत्वमिति चिन्त्यते । सुखदुःखाभावान्यतरत्वाभावात् । प्रत्युतासक्तेः स्वविषयाप्राप्त्या दुःखसहकृतत्वाच्चेति । अयमर्थः । निरोधो हि प्रपञ्चविस्मृतिसहिता आसक्तिः, सा च स्वविषयविषयकविविधमनोरयजनको भावः, तस्य च स्वरूपत्वेन सुखरूपत्वात् । 'रसं हि एवायं लब्ध्वा आनन्दीभवती'नि श्रुतेः । प्रपञ्चविस्मृतिरूपत्वेन प्रापञ्चिकदुःखाभावरूपत्वाच्च । किञ्च, फलं पुरुषार्थः, तत्त्वं च तेन स्पृष्टित्तयेष्यमाणत्वम् । तथा च आसक्तिगर्भ्यपनिहतदुःखस्यापि आकाङ्क्षणीयत्वेन तथा-

त्वम् । 'विपदः सन्तु ताः शश्वत्' इतिवाक्यात् । अन्यथा श्येनादावपि तज्जन्यनरकस्य तदुभयरूपत्वाभावेन फलत्वं न स्यात् । ननु शत्रुविपत्तिरेव तत्र फलम्, न नरक इति चेत्, न । 'भूयान् मे नरकोऽपि शत्रुविपद्यतामि'तिथिया श्येनकरणात् । सुखसाधनं तदिति चेत्, तदा प्रकृतेऽपि दीयतां दृष्टिः । न च सुखप्रमात् प्रवृत्तिरिति वाच्यम् । नरके सुखप्रमायोगात् । तस्मात् पुरुषार्थस्यैव फलत्वेन दुःखसम्भ्रमस्यापि निरोधस्य फलत्वमिति । यस्तुतस्तु दुःखमेव न, किन्तु रसान्तर्गतत्वेन प्रभुप्राकृत्यसाक्षाद्भेदतया परमानन्द एव । अत एव श्रीशुकैर्दिवा वियोगदुःखानुभवसमयेपि 'रेमिरे ऽहःसु तञ्जिता' इत्युक्तम् । श्रीमदाचार्यैरग्यमिहित'मतो निरोधो महाफल' इति । तस्मान्निरोधः सकलफलमूर्धन्यं फलमिति सिद्धम् ।

ननु कथमत्र निरोधस्य दशमार्थस्य परमफलत्वसिद्धिः । तदुत्तरवर्तिस्कन्धद्वयप्रतिपाद्यलीलाद्वयरूपमुक्त्याश्रययोरन्यतरसाश्रयस्यैव वा तथात्वोक्तयौचित्यादिति चेत्, न । मुक्त्याश्रययोरेतदुपयोगित्वेन स्कन्धद्वयेन प्रतिपादनात् । तथाहि । निरोधे चास्ति प्रकारद्वयम्, सगुणनिर्गुणभेदेन, निर्गुणे त्वन्यैव व्यवस्था । सगुणे तु निरुद्धभक्तदेहस्य भौतिकतया निवर्तनीयत्वेन भक्तिमार्गप्रकारेण निवर्त्य देहमलौकिकं लीलोपयोगिनं सम्पाद्य स्वान्तःस्थापयित्वा ततो लीलेच्छायां स्वास्थानाद्भिर्मोचयति, पुनः तदुपरतो स्वाश्रितानेव करोतीति लीलाद्वयं सगुणनिरोधोपयोगित्वेन निरूपितमिति न परमफलत्वसिद्धिविरोध इत्यर्थः ।

अतःपरं निरोधरूपपरमफलं निरूपयन्तः तत्साधनं साक्षात्परमभेदेन गौणमुख्यभेदेन वा निरूपयितुं तन्निमित्तकारणभूतयोर्भावभावनगुणगानयोर्मध्ये प्रथमं श्लोकत्रयेण मुख्यं भावभावनं दुर्लभत्वयोषाय स्वविषयवतयैव प्रार्थनारूपेण निरूपयन्ति यच्च दुःखमिति । निरोधे हि साधनद्वयम्, तद्भावभावनं गुणगानं वा । तत्र भावनीयभावश्च सर्वोत्तमभावेन निरुद्धानां सुखदुःखात्मको, 'विकलत्वं तथासास्थ'मिति वाक्यात् । तथा च तद्भावनं साधनं निरूपयितुं प्रपञ्चविस्तृतिसम्पादकतया अभ्यर्हितं प्रथम भावप्रथमांशं दुःखं प्रार्थयन्ते यच्च दुःखमिति ।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।

गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥

यदिति प्रसिद्धं श्रीभागवतादौ परमार्तिरूपं प्रभुप्राकृत्यकारणं सुगपदनुभूताखिललीलानुभावकं लोकविलक्षणं प्रमुखरूपात्मकं वस्तुतः फलरूपं चकारात् तत्संबलितसुखशचलितमपि दुःखं यशोदाया जशास्त्रीयभक्तायाः सर्वथा दयाधिकरणभूतायाः यावद्भावबद्धदयदेशभिष्ठितस्याविभावोत्पत्तिनिमित्तभूतायाः, तथा नन्दादीनां श्रीनन्दप्रभृतीनामखिलव्रजवासिनां चकारात् तत्सम्बन्धिनामन्येषामपि यद्दुःखं भगवता परमफलदित्सुना दत्तं येनैवं कथनं 'मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रया' इत्यादि, तदपि

गोकुले सर्वथा निरोधस्थाने स्थानस्थितानामेव सम्पादितं दुःखं मम क्वचिदपि स्यादित्य-
ग्रिमेण सम्बन्धः । एवं श्रीयशोदानन्दादिदुःखं भगवतो दानक्रमेण प्रार्थयित्वा अतिदुरारं
गोपिकादुःखं प्रार्थयन्ते गोपिकानां त्विति । तुशब्दः पूर्वस्मादौक्तवैलक्षण्य्यादि-
योपकः । गोपिकानां व्रजसीमन्तिनीनामात्मत्वभक्तवश्यत्वादिभिर्भर्मः सर्वथा निरुद्धानां
यत्स्वरूपात्मकं रसात्मकतया प्रसिद्धं श्रीभागवतादौ, यस्तुतो भावांशमूततयानन्दरूपं
तदुःखं मम क्वचिदपि देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणेषु स्यादिति अभिलाष इत्यर्थः । ननु
व्रजवासिनो हि सर्वेपि सर्वथा सर्वात्मभावेन भगवन्तमानन्दनिधिं प्राप्ताः परमानन्दसमुद्र-
निमग्रा दुःखलेशसम्भावनारहिताः स्वाश्रितशोकनिरसनसमर्थाः आनन्दसृष्टिसमुत्पन्नाः,
तदुःखप्रार्थनमसम्भावितमिव भातीति चेदुच्यते । 'रतो वै स' इतिश्रुत्या भगवान् रसात्मक
इत्यविवादम् । स च स्वशास्त्रसिद्धप्रकारक एव तथा भवतीति प्रमोरपि तथा मन्तव्यं
रूपमकामेनापि त्वया । तथा च पूर्वसररीत्या स्वरूपानन्ददानं 'आत्मना प्रथमा लीले'
त्याद्युक्तप्रकारेण पञ्चथा देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणादिषु जायत इति तेषामतिव्यक्ततया
तन्निष्ठस्वरूपानन्दस्यापि व्यक्तत्वेन पश्यतां तत्र सुखत्वव्यवहारः, यत्रोत्तररीत्या रसदानं
तन्मनस्सेवेति तस्मान्व्यक्ततया तन्निष्ठस्वरूपानन्दस्यापि तथात्वेन बहिःप्राकट्याभावात् तत्र
दुःखत्वव्यवहार इति तमादाय दुःखमित्युक्तम् । यस्तुतस्तु स महानानन्द इति दशम-
स्कन्धविद्युतावसकृदभिहितमिति सहृदयैः तत एव विभावनीयमिति दिक् ॥ १ ॥

एवं भावनार्थं भावप्रथमांशं दुःखं प्रार्थयित्वा श्रीयशोदानन्दादिसुखप्रार्थनस्य रास-
स्त्रीभावपूरितविग्रहत्वेन स्वस्वायोग्यतया तदप्रार्थ्यं गोपिकानामेव सुखं भावोत्तरांशमूतं
प्रार्थयन्ते गोकुले गोपिकानामिति ।

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम् ।

यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

भगवतो हि स्थानद्वये गोपिकासम्बन्धिनी लीला, सैव ताभिर्विरेहे सर्वदा अनु-
भूयते सङ्गेनेव च तत्र सुखमिति । तत्र प्रथमं गोकुले भगवतो लीलाभिर्वत्सपुच्छाव-
लम्बनहैयङ्गवस्तेयनृत्यगीतपीठकानयनादिभिर्गोपिकानां सर्वथा परिगृहीतानां चकारात्
तद्धारकमन्येषां गोपादीनां शय्यास्तरणस्थलसमीकरणादिभिरसङ्कोचेन सर्वेषां व्रजवासिनां
तत्सम्बन्धिसम्बन्धिनां पक्षपादीनां च यत्सुखमनुभूयमानलीलालयसम्पादकमभूत् तत्
किं मे मम तत्सम्बन्धी वा हृदयस्थो भगवान् किं विधास्यति विशेषेण करिष्यति
पोषयिष्यतीति वार्यः । किमिति प्रश्नार्थकाव्ययप्रयोगेण एतत्सुखप्राप्तेर्लीलारूपप्रभुप्राकट्या-
धीनतया पूर्वोक्तदुःखासितो दुर्लभत्वं सूचितम् । अन्यत्र तथा करणे सामर्थ्याभाव-
याशङ्काहुः भगवानिति । स हि सर्वत्र सर्वं कर्तुं समर्थः, अतः कृपायामन्यत्रापि तथा
करिष्यतीत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं भावनार्थं भावांशद्वयं प्रार्थयित्वा कदाचिदतितीव्रचिरहभावोत्पत्तौ नाशसम्भाव-
नादामुद्धवागमनजनितोत्सवोऽपि तथाभावननिर्वाकतया स्फूर्तिविषयो जात इतिभाषान्तः-
पातेपि लीलाजनितसुखविलक्षणत्वादेकदेशभूतं तमप्यंशं प्रार्थयन्ते उद्धवागमन इति ।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।

घृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

उद्धवस्य उत्सवात्मकस्य आगमने जातः प्रकटीभूतो यः सर्वविलक्षणो भगव-
त्स्वरूपावयवदर्शनेन तदीयत्वनिर्धारणात् उत्पन्नः यः स्वार्थदूतप्रेषणाभिमत्यात्मको य
उत्सवो व्रजसीमन्तिनीनां यथा येन प्रकारेण तथा तेनैव प्रकारेण तद्भावभावनायां मे
मम मनसि क्वचित् कदाचिदपि स्यादित्यभिलाष इत्यर्थः । अयमुत्सवो नन्दादीनां
गोपिकानां च जात इति व्यवस्थया स्थानद्वयं निर्दिशन्ति घृन्दावने गोकुले वेति ।
घृन्दावने पुष्टिस्थाने रहसि व्रजस्त्रीणाम्, गोकुले गोष्ठे नन्दादीनामिति व्यवस्था ।
'गञ्जोद्धव व्रजम्,' 'प्राप्तो नन्दव्रज'मिति सामान्योक्त्यावसीयते । नन्वागमनोत्सवप्रार्थने
प्रन्वागमनसमयोत्पन्न 'सं विलोक्यागत'मित्यादिनोक्तः स कथं न प्रार्थित इति चेत्, तत्राहुः
सुमहानिति । प्रियागमनोत्सवापेक्षया विरहे तद्वागमनोत्सववैशिष्ट्यस्यानुभवसिद्धतया
विरहरसगोपकत्वेन चायमुत्सवः ततोपि सुतरां महानित्यर्थः ॥ ३ ॥

एवं अलौकिकसामर्थ्यरूपो मुख्यो निरोधः स्वस्यैवेति तत्साधननिर्देशः प्रार्थना-
व्याजेन स्वविषयतयैव कृतः, अन्येषां तु भगवान् महापुरुषरूपया तदधिकारानुसारेण
सायुज्यं सेवोपयोगिदेहं वा दासतीत्यभिप्रायेण तावत्पर्यन्तं स्थितिप्रकारमाहुः महतामिति ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति ।

तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुन्वाय हि ॥ ४ ॥

यावत् भगवान् दययिष्यति फलोन्मुलां दयां करिष्यति तावत् कीर्त्य-
मानः कीर्तनविषयीक्रियमाणः एव स सुखाप्येत्यर्थः । 'महत्से विष्णो सुमर्ति भजामहे,
'विना महत्पादरजोभिपेकम्', 'किरातहृष्यान्त्र', 'देवर्षिर्मे प्रियतमः' 'त्वत्पादपोतेन
महत्कृतेन' 'सदनुग्रहो भवा'नित्यादिवाक्यैर्भगवतो दयायां च नान्यत्कारणमिति वक्तुमाहुः
महतां कृपयेति । महतां भगवद्भर्मैः महत्त्वमाप्तानां कृपया करुणयेत्यर्थः । अन-
वतारदशायां विशेषतो महापुरुषद्वारैवोद्धारात् । एतेन इदानीं भक्तिमार्गस्य ते एव निर्वा-
ह्यज्ञ इत्युक्तं भवति । ननु कीर्त्यमानेपि भगवति फलपर्यन्तं श्रमेण कर्मादिशिव दुःस-
भेवेत्याशङ्क्याहुः आनन्दसन्दोह इति । भगवत आनन्दसमुदायरूपत्वेन तद्गुणानामपि
तदभिन्नतया स्वरूपसमानयोगक्षेमत्वात् साधनदशायामपि तत्कीर्तनेन आनन्द एव भवति,
न कर्मादिभिरिव दुःसमित्यर्थः । अत एव अयगतभगवत्कारणसः परीक्षित् एतदर्थकमेव

‘श्रोत्रमनोभिरामा’दितिगुणानुवादप्रतिशेषणमुक्तम् । ऋति युक्तोयमर्थ । कीर्तन
निपयम्यानन्दगन्धोद्धारूपत्वे सुखस्य युक्तत्वात् ॥ ४ ॥

ननु कीर्तन हि सुखसाधनम्, तत्र महता कृपयेति को वाग्रह यथाकथञ्चिदपि
कृत तत्तयेति प्रश्नेनेत्याहु महतां कृपयेति ।

महतां कृपया यद्वत्कीर्तनं सुखद सदा ।

न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षयत् ॥ ५ ॥

यद्वत् यथा महतां महापुरुषाणा कृपया करुणया लोकविलक्षणाना भगव
त्मन्मन्विना कृपया निरुपनिषद्दु सप्रहाणे ऽद्या सदा कालापरिच्छेदेन कीर्तनं सुखदं
तापत्रयनिवृत्तिपूर्णपरमानन्ददायक निरोधजनक वा तथा लौकिकानां लोकात्म
न्विना महापुरुषद्वारा अभगवत्प्रणामतानाम्, अत एव केवलसमारासत्ताना कीर्तनं न
तथेत्यर्थ । वदक्षयत् तत्तु लौकिक दृष्टान्तमाहु स्निग्धभोजनरूक्षयदिति । स्निग्ध
तद्भोजनञ्च स्निग्धभोजनम्, तत्र रूक्ष च, अर्थात् रूक्षभोजनम्, तयोरिव तद्वदित्यर्थ ।
तथा च यथा स्निग्धभोजनरूक्षभोजनयोस्तारतम्य तथा महापुरुषकृपाविशिष्टतदविशिष्ट
कीर्तनयोरपीत्यर्थ । एतेन स्निग्धभोजनस्य पुष्टिसाधकत्ववत् महापुरुषकृपाविशिष्टकीर्तनस्य
पुष्टिफलसाधकत्वम्, रूक्षस्य तदगावकत्ववत् लौकिककीर्तनस्य तत्फलासाधकत्वमुक्त
मितिभाव । स्निग्धस्य घृतसुतस्त्रात्रादेर्भोजने रूक्ष प्रीतिरहितस्तस्य भोजनमिवेत्यर्थ ।
यथा कस्यचित्त्तराद्यभिभूतस्य स्निग्ध वस्तु न रोचते तस्य यथा तद्रसानभिज्ञरसज्ञस्य
प्रतिदिन क्षीयमाणशरीरस्य न तद्भोजन पुष्टिफल, तथा महापुरुषकृपाऽभावरूपदोष
युक्ताना तादृशकीर्तने रूक्षाणा लौकिकाना कीर्तनस्य न पुष्टिफलवमिति भाव । यद्वा,
स्निग्ध भोजन यस्य स चार्थात् तद्रूक्षश्च तयोरिव तद्वदित्यर्थ । तथा च यथा
स्निग्धभोजनरूक्षभोजनयोस्तारतम्य तथा अलौकिकलौकिककीर्तनकारणीत्यर्थ ॥ ५ ॥

ननु सुखसिद्धय दयापर्यन्त कीर्तन कर्तव्यत्वेन निरूपितम्, तत्र ‘तरति
शोरुमान्ममिन्’ ‘ब्रह्ममथोऽमृतत्वमेती’त्यादिश्रुतिभि ज्ञानेनेव दु खनिवृत्त्या सुखप्राप्ते
ज्ञानावस्थयन स्थेयम् किं गुणगानेन इति चेत्, तत्राहु गुणगान इति ।

गुणगानं सुखादासिर्गोविन्दस्य प्रजायने ।

यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुनोन्यतः ॥ ६ ॥

यथा गोविन्दस्य गोगोकुलपतेनि साधनाधिपस्य गुणाना गाने स्तुतिबुद्ध्या
कथने शुकादीना मिद्विज्ञानफलानामपि सुखम्, तथा तेषामेव आत्मनि स्वात्मविषये
जायमान ब्रह्माम्यकरोधेन सुख न तथेत्यर्थ । यद्वा यथा भक्तैः कियमाणे गुणगाने
तद्भ्रमेण गोविन्दस्य प्रभो सुखानासिर्धद्भक्ता यत्र गायन्ती’तिवाक्यात् तथा तत्कर्म-
णामपि शुकादीना आत्मनि अन्तकरणे नेत्यर्थ । तथा च प्रभोरतिशयिततोप-

हेतुतया ज्ञानमार्गस्थित्यपेक्षया सुखाधिक्याच्च गुणगानेनैव स्यात्तद्व्यमिति भावः । अत एव
 'लोकांश्च लोकानुगतान् पशूश्च हित्वाश्रितास्ते चरणात्पत्रम्,' 'परस्परं त्वद्गुणवादासीधु-
 पीयूषनिर्घोषितदेहधर्माः,' 'अथ ह वाच तव महिमासृत,' 'यदनुचरित,' 'तव कथामृतम्,'
 'श्रवणादर्शनात्,' 'येऽन्योन्यतो भागवता' इत्यादिवाक्यैर्गुणगानपराणां इतरनैरपेक्ष्यो-
 क्त्यापि स्वतःपुरुषार्थत्वं सर्वाधिकफलत्वं चावगम्यते गुणगानस्य । इतोऽपि तदेव कर्तव्य-
 मिति भावः । तदेवाहुः कुतोऽन्यत इति । अन्यतः ज्ञानादिभ्यो विषयादिभ्यो वा
 कुत एतत्सुप्रमित्यर्थः । 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य,' 'निवृत्ततपैः,' 'नैधातिदुःसहे'त्यादिवाक्यैः
 श्रीभागवते तथैव निरूपणात् । ननु 'तरति शोकमात्मवित्,' 'तमेव विदित्वातिश्रुत्युमेती'-
 त्यादिश्रुतेः का गतिरिति चेद्, अत्र वदामः । तस्माद्भक्तियुक्तस्येत्यादिवाक्यैर्भक्तिमतो
 ज्ञानानपेक्षणात् ज्ञानिनस्तु 'नैष्कर्म्यमपी'त्यादिवाक्यैः सर्वथा भक्त्यपेक्षणात् तन्निरपेक्ष-
 भक्तिमार्ग एव समीचीनः । तथा च मोक्षरूपाक्षयसुखसाधकत्वं ज्ञानस्यापि भक्तिसहकृतस्यै-
 वेति केवलज्ञानस्थितिमपहाय केवलभक्तावेव स्थितिः कर्तव्येत्यर्थः । श्रुत्यादिषु ज्ञान-
 फलोक्तिस्तु दुःखाभावपर्यवसन्नैव । परमानन्दावाप्तिस्तु भक्त्यैव । वैस्तुतस्तु दुःखाभावोऽ-
 प्येतदधीन एव । 'अनर्घोपशम'मित्तिवाक्यात् । अत एव आचार्यैरानन्दमयाधिकरणे
 'एव सती'त्यारभ्य 'स्वीयत्वेन वरणे भक्तिभावात् सहकारियोग्यतासम्पत्त्या पुरुषोत्तमप्राप्ति-
 भवती'ति निर्णयत इत्यभ्यधायि ॥ ६ ॥

ननु कृते गुणगाने किं भवतीत्याशङ्क्य तत्र प्रवृत्त्यर्थं परिचायक फलमाहुः
 क्लिश्यमानानिति ।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।
 तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥

गुणगाने तत्स्वरूपस्थित्या तत्पात्यर्थं क्लिश्यमानानुपतपतो जनान् दृष्ट्वा अव-
 लोक्य यदा परीक्षासाधनसम्पत्तौ कृपायुक्तो भवेत् तदा सर्वं सर्वशपूर्णं सदानन्दं
 परं ब्रह्म यशोदोत्सङ्गलालित हृदिस्थ परमव्योम्नि प्रादुर्भूत बहिः प्रकट भवतीत्यर्थः । अत

१ कर्मादिभ्य इति पाठ । २ सर्वथा दुःखाभावस्य भक्त्यधीनत्वादेवेत्यर्थः । एव सतीत्यादिप्रथम्या-
 यमाशयः । ब्रह्मविदामेति परमित्यत्र श्रुतौ अक्षरप्रश्नविद् परमज्ञप्राप्तिरित्युच्यते । 'नायमा मा प्रवचनेन
 लभ्य' इतिश्रुत्यन्तरे च ज्ञानादीनां साधनत्वनिषेधपूर्वकं परमस्यैव साधनं व प्रतिपाद्यते । एव सती
 श्रुतिद्वयविरोधपरिहाराय अक्षरब्रह्मज्ञानेन अविद्यानिवृत्त्या द्रुदलसंपादनेन पुरुषोत्तमप्राप्तौ स्वरूपयोग्यता
 संपाद्यते इति ब्रह्मविदाम्रोतीतिश्रुत्याशयः । एवं नोभ्यतासंपत्तावपि पुरुषोत्तमप्राप्तिस्तु तादृशज्ञानवतो
 जीवस्य स्वीयत्वेन वरणे सति भक्तिभावोत्पत्तायेव भवतीति 'नायमात्मे'तिश्रुत्याशय इति भाष्ये एव
 सतीत्यादिप्रथमेन निर्णयते । एव च ज्ञानेनाविद्यानिवृत्तावपि पुण्योत्तमप्राप्त्यभावपन्नित्तु रा तु नापि ।
 तस्मात् सर्वात्मना दुःखाभावरतु भक्त्येवेत्यर्थो भाष्यमन्वयतुल्यमेवेति भावः ।

एव ब्रजसीमन्तिनीना गुणगानेन हृदि प्रादुर्भूय 'तन्मनस्का' इत्यादिना तथाभावसम्पत्तौ कृपया भगवान् प्रादुर्भूत इत्युच्यते । तदेवोक्तमाचार्य 'नहि साधनसम्पत्त्या हरिस्तुप्यति कस्यचित् । भक्ताना दैन्यमेवैक हरितोपणसाधन'मिति । सदानन्दहृदिस्थमितिपाठे सदानन्दस्य भगवतो हृदिस्थं अभिप्रायादिकं बहिर्निर्गतं भवतीत्यर्थः । अयमाशयः । 'रुद्रु सुस्वर'मित्यादिना गुणगानममय एवातिदेन्यभावे यदा कृपायुक्तो जातस्तदा तत्र स्वाभिप्रायः प्रभुणैव 'मया परोक्ष भजता,' 'न पारयेह'मित्यादिना आनिर्भाषित इत्यन्यत्रापि गुणगाने क्लेशेन प्रादुर्भूय स्वरूपा ज्ञापयिष्यतीति तदाशया गुणगानमेव कर्तव्यमित्यर्थः ॥७॥

ननु किमिति कृपाप्रेक्षया गुणगानेन क्लेश मम्यादनीय, ज्ञाननिष्ठया ब्रह्मनिष्ठत्वेव सम्पाद्यतामिति चेत्, तत्राहुः सर्वानन्दमयस्यापीति ।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः ह्यावयते जनान् ॥ ८ ॥

'एतस्तेजानन्दम्यान्यानि भूतानि मात्रामुपनीयन्ती'ति श्रुते सर्वत्र स्थितो य आनन्दः स भगवति प्रापुर्यणं वर्तते इति तदाश्रितस्य मानुषानन्दमात्रेभ्या ब्रह्मानन्दः न कस्यापि दुर्लभत्वं, 'सर्वं मद्भक्तियोगेन' इति वाक्यादपि, तथापि कृपानन्दः कृपारूपो य आनन्दः, भगवद्दर्शना स्वरूपाभिन्नतया आनन्दरूपत्वात् । यद्वा, पुष्टिमार्गप्रवेशानु कूलानुग्रहरूपया कृपया य आनन्दो भजनानन्दाख्यः स सुतरां दुर्लभः । ब्रह्मानन्दस्यापि दुर्लभत्वात् । 'सुदुर्लभं प्रशान्तात्मा कोटिं त्रिपि महासुन' इति वाक्यात् । भजनानन्दस्तु दुर्लभ एव । सम्भवति साधनमिह किञ्चिदिदं चेत्? गुणगानमेवेति गृह्याण । अत एव दुर्लभत्वं तस्योक्ता श्रीमदाचार्यैः । 'लोकिकस्त्रीषु समिद्धस्तद्वारा पुरुषे भवेत्, स्वानन्दस्थापनार्थं यो ग्यतापि निरूपिता, अतो हि भजनानन्दः स्त्रीषु सम्यग् विधार्यते' इत्यादि । एतदर्थं तु तत्र एव विभाष्यताम्, विस्तरमिष्यात् न लिख्यते । तथा च यत्रेतादृगनुग्रहस्तत्रैतद्विचारितात् तदानन्दप्राप्तिरित्येतदभिसेन्धायोक्तं कृपानन्दः सुदुर्लभ इति । श्रीभागवतेषु 'नेम विरिञ्चि,' 'नाय सुपाप,' 'केमा स्त्रिय' 'शामामहो' इत्यादिराज्यैर्दुर्लभत्वनिरूपणाच्च । कथं दुर्लभ इति आकाङ्क्षाया तद्विरूपक तत्कार्यमाहुः, हृद्गतः इति । हृद्गतः हृदयप्रविष्टः स कृपानन्दः स्वरूपात्मकः स्वगुणान् गीयमानान् श्रुत्वा पूर्णः प्रतिक्षणं प्रवर्धमानो रसपूरुषः सन् जनान् जननादिधर्म-सुत्तानि ज्ञाद्यन्नेन स्वाभिर्भाषितगमिन्धौ निमज्जयतीत्यर्थः । अत एव 'वर्हापीठे'तिपद्ये स्वामिनीना हृदि त्रेणुपगिनसुमादाग भासा मरु प्रभुन्तः प्रविष्टो 'उत्पन्नता'मित्यादिभिन्त-द्रूपितगुणधरणेन देहेन्द्रियप्राणान्तं करुणादिषु 'पूर्णं श्रीडामयतामेव सम्पादितता'- नित्यमिहितम् । अत्र एतस्मात्कार्यस्युत्पत्तीने 'अन्नं प्रविष्टो भगवान् गुलाडुद्धृत्य कर्णयोः पुनर्निवेशयते मम इति तदा भवति सुस्थिर' इति ॥ ८ ॥

एवं सोपपत्तिकं गुणगानकर्तव्यतामभिधायोपसंहरन्ति तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।

सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता ततः ॥ ९ ॥

यस्माद्धेतोः कर्मज्ञानोपासनामार्गेष्वो भक्तिमार्गो निरतिशयितनिजविषयो 'ये त्विहासक्तमनसः,' 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति,' 'विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः,' 'पूजादिना ब्रह्मलोक'मित्यादिवाक्यैः तस्माद्धेतोः सर्वं कर्मज्ञानोपासनादिकं परित्यज्य सवासनं त्यक्त्वा निरुद्धैर्भगवता स्वीयत्वेन धृतैः अत एव किञ्चिद्विस्मृतप्रपञ्चैः, तदर्थं साधनानि विदधन्निः, सर्वदा निरन्तरं 'सर्वं मद्भक्तियोगेने'ति वाक्यात् सर्वं ददतीति सर्वदाः सर्वैष्टदातारो गुणा एव गेया इत्यर्थः । ननु 'वेदमार्गानुसारेण'तिवाक्यात् तथा भजने क्रियमाणे तन्मार्गस्य व्याख्यातृभिरन्यथाकृतत्वात् कं पक्षं अवलम्ब्य गुणान् गायेदित्याशङ्कयामाहुः सदानन्दपरैरिति । सदानन्दः साकारानन्दमयः परः परमात्मा परमकाष्ठापन्नो, न तु पुण्ड्रादिभावापन्नो येषां तादृशैरित्यर्थः । अधिकारिविशेषणमेतत् । अनेन मायावादादिमतमनाहत्य ब्रह्मवादे स्थित्वा गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तम् । ब्रह्मवादे एवानन्दमयस्यानन्दमयाधिकरणे परमकाष्ठापन्नत्वोक्तः । ततः किं भवतीत्याकाङ्क्षयामाहुः सच्चिदानन्दता तत इति । ततस्तेभ्य एव गीयमानेष्वो गुणेष्वो जीवस्य सच्चिदानन्दता गुणत्रयाविर्भावनाक्षररूपतया पुरुषोत्तमाविर्भावयोन्यता भवतीत्यर्थः । स्वत इतिपाठे गुणगाने क्रियमाणे स्वत एव वस्तुस्वभावात्तथात्वम्, न तु तदर्थं प्रयत्नान्तरापेक्षेत्यर्थः ॥ ९ ॥

एवं निरोधार्थं गीयमाना गुणा निरोधलक्षणलीलासम्बन्धिन एव भवितुं युक्ता इति तत्स्वरूपज्ञापनाय स्वस्य निरोधविधृतिकर्तृत्वमितिवदन्तः फलान्वभिचारितासिद्धयै स्वेषामर्थं प्रभुं विज्ञापयन्त इव स्वानुभवनिरूपणेन स्वजनप्रवृत्तिं द्रढयन्ति अहं निरुद्ध इति ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते ॥ १० ॥

अहं रोधेन सर्वं रोधयति प्रतिबध्नाति भगवदतिरिक्तमिति रोधो निरोधलीलानुसन्धानजन्यः सर्वत्र बाधकत्वस्फूर्तिरूप आसक्तिधर्मभूतो भावविशेषः, तेन निरुद्धः प्रपञ्चविस्मृत्या तदासक्तो, निरोधस्य पदवीं श्रुतिविमृष्ट्यां स्वतन्त्रभक्तिरूपां गतः प्राप्त इत्यर्थः । ननु एतादृशस्य किं निरोधवर्णनप्रयासेनेत्यत आहुः निरुद्धानां त्विति । निरुद्धत्वे प्रकारान्तरस्योतनाय तुशब्दः । भगवता शास्त्रानुसारेण महापुरुषद्वारा प्रमेयवलेन वात्मसात्कृतानां रोधाय निरोधजनकासक्तिधर्मरूपभावविशेषसिद्धयर्थं निरोधं लीलारूपं

भक्तेषु भगवत्कृतं घर्णयामीत्यर्थः । वर्तमानक्रियापदात् स्वस्य सर्वदैतदभिनिवेशः
सूचितः । अत एवातिकरुण इति प्रभुभिः श्रीबलभाष्टके विशेषणं निरूपितमाचार्याणाम् ।
स्वेषामर्थे भगवन्तं विज्ञापयन्तः इवाहुः त इति । त्वत्सम्बन्धिना तेषां त्वत्सम्बन्धिनां
निरोधं वा । अत उभयथापि तवैवायं भार इति भावः ॥ १० ॥

नन्वेतादृशेषु गुणेषु विद्यमानेषु कथमत्र सर्वे न प्रवर्तन्त इत्याशङ्क्य तदभाग्यमेव
हेतुत्वेनाहुः हरिणेति ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ॥ ११ ॥

ये इति भाग्यरहिता यतस्ते हरिणा सर्वदुःखहर्त्रापि भगवता विशेषेण नितरां
मुक्ताः सर्वथा त्यक्ताः । उपसर्गद्वयं कथमपि तेषां प्राश्यभावाय । 'निबन्धायासुरी
मते'ति प्रयोजनाभिधानात् । 'मामप्राप्यैवे'ति शिरश्चालनेनार्थनिरूपणे यथाकथञ्चित्
तत्सम्बन्धे सति प्राप्तित्स्तु प्रमेयबलेनेतिदिक् । अत एव व्यासोपि श्रीभागवते 'विना
पशुग्रा'दित्युक्तवान् । ननु तेषां किं फलमित्याकाङ्क्षायामाहुः ते मग्ना इति । ते आसुराः
कर्मिणो दैवा अपि भवः जन्ममरणप्रवाहः स एव सागरस्तत्र मग्नाः सर्वानुसन्धानरहिता
इत्यर्थः । तस्य सागरत्वं नकादिगिलनसम्भाषणया, तत्र तथा पुनरुन्मज्जनासम्भवः,
एवमत्रापि कामादिभिर्ग्रासेन पुनर्मोक्षमार्गप्रवेशासम्भव इत्येतद्धर्मसाम्येन निरूपितम् ।
निरुद्धानां व्यवस्थामाहुः ये निरुद्धा इति । भगवता ये निरुद्धा महापुरुषद्वारा स्वतो
वा आत्मसात्कृतास्त एवात्र गुणगाने मोदमानन्दमासमन्ताद् यान्ति प्राप्नुवन्ति । एव-
कारेणान्येषामनिरुद्धानां कथञ्चिदपि मोदासम्भव इति निरूपितम् । तेषां गुणेष्वरुचेः ।
तद्दुश्चिस्तु भगवदनुग्रहेणैव । अत एव नलज्ज्वरमणिश्रीवाभ्यामनुग्रहानन्तरमेव 'वाणी
गुणानुक्थन' इत्यादि निरूपितम् । उक्तं च तथैवास्मत्प्रभुचरणैर्भक्तिहसे 'तदर्थित्वस्यैव
वरणकार्यत्वा'दिति । अहर्निशमिति । न तेषां क्षणमपि सांसारिकदुःखसम्भव इत्युक्तम् ।
'गद्गतायातयामाना'मित्तिवाचयान् । याममात्रमप्येतद्वार्तापरत्वे गृहादेरचन्धकत्वमित्यहर्निशं
तथात्वे किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ११ ॥

ननु गुणगानं निरोधसाधकतया कर्तव्यमित्युक्तम्, तदिन्द्रियाणां वैमुल्ये न
सम्भवतीति तन्निवर्तकमुपायमाहुः संसारावेशाद्दृष्टानामिति ।

संसारावेशाद्दृष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।

कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भृश ईशम्य योजयेत् ॥ १२ ॥

संसारस्य अहन्ताममनात्मनस्य प्रपञ्चासक्तिमम्पादकस्य य अपिश आममन्ता-
दिन्द्रियेषु प्रवेशन्तेन दुष्टानां भगवद्गुणैरुत्पत्यरूपशेषयुक्तानामिन्द्रियाणां चक्षुरादीनां
हिताय भगवत्परतया हिन कर्तुं सर्ववस्तूनि दारागारपुत्रादीनि कृष्णस्य

सदानन्दस्य योजयेद् युक्तं कुर्यादित्यर्थः । कर्मादीनां सम्बन्धमात्रविवक्षायां पृष्ठधेवेति
ससम्पर्ये पृष्ठी । ननु कृष्णे सर्ववस्तुसमर्पणेन कथं इन्द्रियाणां दोषनिवृत्तिरित्याशङ्क्य आहुः
ईशास्येति । स हि समर्थ आपिदैविकतामपि सम्पादयितुं तस्मैन्द्रियमात्रदोषनिवर्तकत्वे
किमाश्चर्यमिति भावः । यद्वा, इन्द्रियाणि स्वतो रिमुत्तान्येव, 'पराधि स्थानि व्यनुण-
त्स्वयम्भूरि'ति श्रुतेः, तेषां हिताय कृष्णस्य भगवतः सम्बन्धीनि सर्ववस्तूनि
लीलासृष्टिस्थानि भावनयेन्द्रियैः सह योजयेदित्यर्थः । एतदे 'वाक्ष्यता'मित्यस्य विवरणे
'भगवता सह संलाप' इत्यादिना निरूपितमिति तत एव विभावनीयम् । नन्वीशत्वेपि
सर्वत्रेन्द्रियादिषु सम्बन्धाभावे कथं दोषनिवर्तकत्वमित्याशङ्क्याहुः भूम्न इति । भूमा सर्व-
व्यापकोऽतो ये यया भावयिष्यन्ति तत्र तथा प्रकटीभूय सम्बन्धो भविष्यतीत्यर्थः । यद्वा,
भूम्न इति तादृश्ये चतुर्थी । तथा च 'भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयती'ति
तार्तीयकाधिकरणनिरूपितभूमशब्दवाच्यसर्वात्मिभावरूपफलसिद्धये सर्ववस्तुसमर्पणं कर्त-
व्यमित्यर्थः । तत्राधिकरणे 'यो वै भूमा तत्सुख'मित्युक्त्वा भूमस्वरूपनिज्ञासायां 'य-
नान्यत्पश्यती'त्यादिना सर्वात्मभावस्वरूपमेव निरूपितम् ॥ १२ ॥

ननु भगवतो दयावधि महतां कृपया गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तम्, सा च पुनर्गुण-
गाने क्रियमाणे कदा भवतीत्याकाङ्क्षायामाहुः गुणेष्वाविष्टचित्तानामिति ।

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा सुरवैरिणः ।

संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम् ॥ १३ ॥

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता ॥ १३ ॥

यदा भगवतो गुणेषु ऐश्वर्यादिषु सौन्दर्यादिषु वा सर्वदा अव्यवधानेनाविष्ट-
चित्तानामन्यानुसन्धानरहितान्तःकरणानां 'तद्गुणेषु -प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति
ही'त्याचार्यवचनादासक्त्या वर्धमानया संसारो लौकिकेष्वहन्ताममतारूपः विरहक्लेशो
भगवद्विरहेण क्लेशश्च ताडुभौ न स्यातामित्यर्थः । 'शृण्वन् शृण्वन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्
नामानि रूपाणि च महलानि ते । क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोरविष्टचित्तो न भवाय
कल्पते,' 'परस्परं त्वद्गुणवादः,' 'ये योन्यतो भागवताः,' 'तव कथामृत'मित्यादि-
वाक्यैर्गुणाविष्टचित्तानां संसारविरहक्लेशाभावोक्तेः । अन्यथा सर्वपरित्यागो नियोगे जीवनं
च न सम्भवेत् । यद्वा, संसारस्तेन च यो निरहक्लेशो अभिलषितविनाशे तौ न स्याता-
मित्यर्थः । अत एवोक्त श्रीभागवते 'तस्मिन्महन्सुखरिता' इत्यारभ्य 'तान्न स्पृशन्त्यशन-
तृद्भयशोकमोहा' इत्यन्तम् । अथवा संसारो भगवत्वहन्ताममतारूपस्तस्य विरहेणाभावेन
यौ क्लेशौ अन्यसम्बन्धप्रभ्रमसम्बन्धजन्यौ तौ न स्यातामित्यर्थः । गुणाविष्टचित्तत्वे सर्वथा
भगवद्विषयकसंसारोत्पत्तेरन्यसम्बन्धाभावाच्च । ननु संसारः सर्वथा हेयः, कथं भगव-
द्विषयकः फलसाधक इति चेत्, न । भगवद्विषयककामादेरिव तस्यापि फलसाधकत्वेन

सतामपेक्षणीयत्वात् । अत एव 'कुर्वन्ति गोवत्सपद'मित्यत्र वत्सपदमात्रकरणोक्त्या 'अहमेतद्वासो अयं मम स्वामी'त्येतान् संसारः स्यापितो भवतीति निरूपितमाचार्यैः । गुणाविष्टचित्तत्वेऽनिष्टनिवृत्तिरेव न, किन्तु इष्टप्राप्तिरपीत्याहुः हरिवत्सुखमिति । यथा हरेः सर्वदुःखहर्तुः भगवतः सर्वदेवान्तर्धानदशायामपि भक्तसाहित्येन सुखं पूर्णानन्दत्वाच्च, तथा गुणानिष्टचित्तानामपि अन्तस्त्वदाविर्भावान् सर्वदा प्रभुसाहित्येनान्तरमणेनानन्दपूर्णत्वाच्च, तेषामपि सुखमित्यर्थः । 'सदा सत्सङ्गयुक्तानामवस्थैयं यदा भवेत्, तदा दयालुता दैन्यदर्शनात् तु हरेर्भवे'दित्याशयेनाहुः तदा भवेद् दयालुत्वमिति । यदा पूर्वोक्तरीत्या गुणगान सिध्यति तदा भगवतो दयालुत्व प्रादुर्भावहेतुमूलं भवेदित्यर्थः । अन्यथेति । भक्तानामेवंभूतत्वाभावे भगवतोपि धूरता अनवेक्षकत्वेन मत्ता सर्वशास्त्रसम्मता इत्यर्थः । अत एव 'नैवात्मन' इति श्लोके भगवत आत्मनः प्रभोर्निजलामपूर्णस्य विद्वज्जनोपहृतमानाग्रहीतुः करुणया किङ्करनिवेदितानुग्राहकत्वमुच्यते श्रीभागवते । सा च पूर्वोक्तभावेनैव भवतीति सर्वमनवद्यम् ॥ १३, १३॥ ॥

ननु कालकर्मस्वभावादिभिर्धुंदिनाशोद्वेगादिदोषैः प्रतिबन्धसम्भवे कथं गुणगाननिर्वाह इति चेत्, तत्राहुः बाधशङ्कापि नास्त्यत्रेति ।

बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १४ ॥

भगवद्दर्मसामर्थ्यादिरागो विषये स्थिरः ।

गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

अत्र गुणगाने काठादिबाधशङ्केव न, यतो भगवतैवोक्त श्रीभागवते, 'न कर्हिचिन्मात्सरा शान्तरूपे नक्ष्यन्ति नो निमिषो लेडि हेति'रिति । अन्यत्रापि 'आयुर्हरति वै पुसा उचन्नस्तमयन्नसौ । तस्मैतं यः क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तये'ति । एव गुणगाने बाधाभावमुक्त्वा सर्वत्र तदवभासरूप प्रत्युत साधक धर्ममाहुः तदध्यासोपि सिध्यतीति । गुणगाने तस्य भगवत अध्यास सर्वत्रावभास सोप्यवान्तरफलतया सम्यक् सिद्धिविषयो भविष्यतीत्यर्थः । अध्यासपद घटादिसर्वपदाथेषु भगवदवभासस्य भावप्रयुक्तत्वेन वस्तुत आसक्तिप्रभवोपनाय । अन्यथा घटादेः पुरुषोत्तमाभिन्नत्वं स्यात् । न हि घटादि साक्षात् तदभिन्न, किन्तु परम्परया । तस्याक्षरात्मतया तद्वारा तथात्वात् । अन्यथा तावद्दर्मविशिष्टत्व तेष्वप्यभिदध्यात् । ननुच्यन्त एव ब्रह्मधर्मा सच्चिदानन्दादयस्त्वेष्विति चेत्, अक्षरगतानामेव तेषा तद्भुक्तितया व्यपदिश्यमानत्वात् । अन्यथा पदार्थापीडत्वादयोपि व्यपदिश्येरन् । न चेष्टापत्ति, तदसाधारणवर्माणामन्यत्र कथनस्यानुचितत्वात् । किञ्च, सर्वेषा धर्माणा साधारणत्वे तद्गतासाधारणधर्माभावे लक्षणाभावादनिरूप्यत्व सर्वसमत्व सर्ववैशिष्ट्येनाभननीयत्वं च स्यात् । तस्मादभेदस्याक्षरसमानाधिकरणत्वेन तद्दर्मव्यपदेश एव, न पुरुषोत्तमधर्मगन्धोपीति बुध्यस्व । नन्वैश्वर्यादयो व्यपदिष्टा

एव, किं न ते पुरुषोत्तमधर्मा इति चेत्, सत्यम्, तद्धर्मा एव, परन्तु अक्षरस्य चरणरूपत्वेन तदभिन्नतया तेषां तत्र सद्भावात् । यतो व्यासादिष्वपि तदिच्छयैव तत्सद्भावः । 'युक्तं भगैः स्वैरिति वाक्यात् । एवं सति 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः,' 'पुरुषः स परः पार्थ,' 'भेदव्यप-
देशाच्चे'त्यादिश्रुतिसूत्रमीमांसया अक्षराभेदः पुरुषोत्तमभेद इति भेदाभेदादोऽस्माकमिति दिक् । ननु 'निवृत्ततर्पणगीयमाना'दिति वान्यात् वैराग्यस्य गुणगानाङ्गत्वेन अतिदुर्लभस्या-
भावेद्गहीनत्वेन कथं फलसिद्धिरित्याशङ्क्य तदप्यनेनैव भविव्यतीति साधनसाधकत्वरूप-
मुत्कर्षमाहुः भगवद्धर्मसामर्थ्यादिति । भगवद्धर्मोत्र गुणगानं, गीयमाना ये भगवतो
धर्मा ऐश्वर्यवीर्यादयः, तस्य तेषां वा सामर्थ्याद्दस्तुशक्तेरेव, विषये भगवदतिरिक्तविषये,
विरागो रागाभावः, स्थिरः अन्यापरिभाव्यो भवतीत्यर्थः । 'सा श्रद्धधानस्य विवृद्धमाना
विरक्तिमन्यत्र करोति पुंस' इति वाक्यात् । यद्वा, भगवद्धर्मा लीलादयः, तत्सामर्थ्यादासक्ति-
जननरूपादेव विषयविषयकविरागो भवतीत्यर्थः । अत एवोक्तं श्रीभागवते, 'परिनिष्ठितोपि
नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलाया गृहीतचेताः,' 'इत्थंभूतगुणो हरि'रित्यादि । ननु भगवद्धर्म-
सामर्थ्येन सुखसाधनेषु विषयेषु विरागो गुणगायकानां दुःखं सादित्याशङ्काहुः गुणै-
र्हरिसुखस्पर्शादिति । गुणानां स्वरूपाभिन्नत्वात् तैरेव हरिसुखस्य प्रभुसम्बन्धिसुखस्य
हृदयदेशे स्पर्शात् सम्बन्धाद्विषयविरागेण शीतोष्णक्षुधादिसहनेषु कर्हिचिदपि दुःखं न
भाति, भगवदानन्देन पूर्णत्वादित्यर्थः ॥ १५ ॥

एवं सोपपत्तिकं गुणगानकर्तव्यतामभिधायोपसंहरन्ति एवं ज्ञात्वेति ।

पुर्वं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गाद्दुत्कर्षं गुणवर्णने ।

अमत्सरैरल्लुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण ज्ञानमार्गाद्गुणवर्णने उत्कर्षं ज्ञात्वा सर्वापेक्षां
परित्यज्य सदा कालाव्यवधानेन गुणा एव वर्णनीयाः । अत्र वाधकद्वयं त्यागार्थमाहुः
अमत्सरैरल्लुब्धैरिति । मात्सर्यलोभयोरत्यन्तवाधकत्वात् त्याज्यत्वम् । 'निर्मत्सराणां
सता'मिति वाक्यात् । लोभश्च लौकिकक्षेत्रादितुल्यतापादकतया वाधकः । अत एवोक्तं
मक्तिहसे 'वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवह्नौकिक एव'त्यादि ॥ १६ ॥

ननु गुणगानं रागतानादिवशीकृतचित्ततया न कार्यं निरोधार्थत्वादिति तत्सिद्ध्यर्थं
गीयमानलीलाविशिष्टस्वरूपध्यानं साधनमाहुः हरिमूर्तिः सदा ध्येयेति ।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥

श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।
पायोर्मलशांत्यामेन शेषमार्गं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

हरेः प्रभो. मूर्तिः स्वरूप सदा ध्येया स्मरणीयेत्यर्थः । नन्वदृष्टरूपस्य कथं ध्यानमित्याशङ्क्य तस्यान्याशङ्क्यमनोरथपूर्तेः सर्वथा नि.साधनस्य गजेन्द्रखेव रक्षार्थं भगवाना-
विर्भवतीति न दर्शने दौर्लभ्यमिति ज्ञापयितुं हरीति । ननु योग इव कल्पितमूर्तेरुपास-
नायामिव सम्पादिताध्यस्तक्रियाविशेषप्रयुक्तमूर्तीनां ज्ञान इव सोपधानमूर्तेर्ध्यानमिहापि
भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः मूर्तिरिति । भक्त्यापिर्भूतरूपस्यैव ध्यानम्, न त्वन्यथाभूतस्येत्यर्थः ।
अन्यथा कल्पिताकारत्वे यथाकथञ्चिद्धरिर्ध्वं इत्येव वदेयुः । ध्येयेति कृत्यप्रत्यये-
नाप्रत्ययकत्वं द्योतितम् । ननु ध्यानसहितगुणगाने किं भवतीत्याशङ्क्य तदवान्तरफलमाहुः
सङ्कल्पादपीति । ध्यानस्य का कथा, यतः सङ्कल्पाद्विचारमानादपि तत्र ध्यानविषय
प्रभुस्वरूपे प्रादुर्भावाद्भगवतो दर्शनं सर्वावयवाप्रलोकनरूपम्, स्पर्शनं चरणादितद्रूपम्,
तथा कृत्तिः शिरसि कराम्बुजधारणादिरूपा, गतिर्विलासरूपा, एतत्सर्वं ध्यानपूर्वक-
गुणगानेन सङ्कल्पमानात् प्रादुर्भूतभगवत्स्वरूपे स्पष्टमनाधितम्, न तु भ्रमप्रतीत्या, प्रति-
क्षणमनुभूतं भवतीत्यर्थः । ननु श्रुतानां पुनः कीर्तनेन स्थिरीकृतानां गुणानां गानं सम्भव-
तीति तदर्थं श्रवणकीर्तने आहुः श्रवणं कीर्तनमिति । श्रवणं हि भगवद्वाचकानां
पदवाक्यानां शक्तित्वात्पर्यनिर्धार, तदनु कीर्तनं श्रुतस्य स्वैर्यसिद्धये पुनः पुनः स्वतः
सर्वत्र कथनम्, एतद्वयमपि सङ्कोचादिकमकृत्वा कर्तव्यम् । अन्यथा श्रवणकीर्तनयोरसम्भा-
वनाविपरीतभावेन स्याताम् । अत एवोक्तं श्रीमदाचार्ये श्रीभागवततत्त्वदीपे 'सर्वथा तद्गुणा-
लाप नामोच्चारणमेव वा, सभायामपि कुर्वति निर्भयो निःस्पृहस्तत' इति । श्रोतृसापेक्षं
कीर्तनम्, तन्निरपेक्षं गानमिति तयोर्विवेकः । ननु 'काममयोरुप' इति श्रुते सर्वथा
ध्याने सङ्कल्पानन्तरं यत्किञ्चित् कामसम्भवात् गुणगाने कीदृशं कामं कर्तव्यं इति तमाहुः
पुत्रे कृष्णप्रिय इति । पुत्रे सङ्कल्पपुत्रे सङ्कल्पोत्पन्ने कृष्णस्य सदानन्दपुरुषोत्तमस्य
अलौकिके सर्वपरित्यागपूर्वकधर्मस्वरूपमात्राभिलाषरूपे कामे रतिः प्रीतिः कार्येत्यर्थः । एतेन
सर्वात्मभावनान्न सर्वदा कर्तव्यमित्युक्तं भवति । तस्य भाव्यमानस्य कामस्य शरीरपरि-
वर्तनलक्षणं फलमाहुः पाद्योरिति । पाद्योः सर्वशरीरगतमलाविष्टानस्य स्मलाशमाने-
षैवाखिलशरीरलोक्रिकतापादकस्य सम्बन्धी यो मलांशो लौकिकविषयभोगजन्यस्तस्य
सर्वात्मभावनान्न 'सन्त्यज्य सर्वविषया' नित्यादिवाक्यैः सकारणस्य त्यागेन तन्नौ शरीरे
सा अलौकिककामरतिः सौप्त-भागं मलरहिताशरूपं भगवत्सम्बन्धयोग्यतापादकं नयेत्
प्रापयेदित्यर्थः । पुत्र इति सामान्यपदमस्यार्थस्यातिगोप्यत्वेन परोक्षवादसूचनाय । नन्वे-
तादृशस्यापि 'तादृशस्यापि सतत'मितिवान्याद् दुःसङ्गादिनां भावनाशसम्भवादुपायमाहुः
यस्येति । यस्य पुनादेरिन्द्रियादेर्वा भगवत्कार्यं सेवागुणगानादि स्पष्टं प्रातिकूल्येन न
दृश्यते शिक्षायामपि, तदा सति सामर्थ्यं तस्य विशेषेण भ्रणादिकमकृत्वापि निग्रहः
कर्तव्य इत्यर्थः । अन्यथा सत्या शक्तौ तदनिग्रहे 'अप्रतिपिद्धमनुमतं भवती'ति न्यायेन

तद्व्रतौ पुत्रे कृष्णप्रिय इत्यनेन विरोधापत्तिरित्यत आहुः इति निश्चय इति ।
इदमुक्तं भवति । भगवत्कार्यानुकूल्ये रतिः, प्रातिकूल्ये निग्रहः, सर्वथा असम्भवे त्यागः,
शरणभावनं वा कर्तव्यम्, 'प्रतिकूले गृहं लजेत्', 'अशक्ये हरिरेवास्त्री'तिवाक्यादिति
भावः ॥ १७, १८, १९ ॥

एवं निरोधे साधनद्वयं निरूप्य सर्वेभ्यः साधनेभ्यः तयोरुत्कर्षं वदन्त उपसंहरन्ति
नातः परतरो मञ्च इति ।

नातः परतरो मञ्चो नातः परतरः स्तवः ।

नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

मञ्चे हि कामितफलदत्त्वं देवतावशीकरणं च प्रसिद्धम्, तदत्र कामनाप्रसरणो-
रयान्तफलसिद्ध्या अनिर्बन्धेन प्रभुवशीकरणादतः साधनयुग्माद् मञ्चः परतरः । अवि-
लम्बेन साधकत्वात् कर्मादिभ्य उल्कृष्टत्वेपि एतस्मादतिशयेन नोत्कृष्ट इत्यर्थः । ननु
प्रभुप्रसादहेतुतया अनिर्बन्धेन स्वामिवशीकरणाच्च स्वावस्योत्कृष्टत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः
नातः परतरः स्तव इति । स्तवस्य मन्त्रादिभ्यः प्रसादसाधकतयोत्कृष्टत्वेपि प्रभुवशी-
करणाभावादेतस्मादतिशयेन नोत्कर्ष इत्यर्थः । ननु ब्रह्मविद्यायाः 'प्रियो हि ज्ञानिनोत्तर्यमहं
स च मम प्रियः' 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मत' इत्यादिवाक्यैः प्रभुश्रीतिसाधकतया साक्षात्कार-
हेतुत्वात् सकलपातकभस्मीकाराच्च उत्कृष्टत्वमित्याशङ्क्याहुः नातः परतरा विद्येति ।
विद्या हि पञ्चपर्वा, स्वसिद्धौ साक्षात्कारमात्रं सम्पाद्य तत्र लयं विधाय केवलमनसा ब्रह्म-
नन्दमनुभावयति । तदुक्तं अस्मदाचार्यैः श्रीभागवततत्त्वदीपे 'ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्म-
नैव सुखप्रमे'ति, भावभावनगुणगाने स्वस्मिन् प्रभुः प्रादुर्भावं सम्पाद्य देहेन्द्रियप्राणान्तः-
करणादिषु स्वरूपात्मकमानन्दं पूरयित्वा सर्वैरिन्द्रियैरन्तःकरणैरारमनापि तदानन्दमनुभाव-
यत इत्यन्वयेभ्य उल्कृष्टापि विद्या नैतस्मात् साधनयुग्मादुल्कृष्टेत्यर्थः । अखिलपापभस्मी-
कारस्तु 'दुःसहप्रेष्ठविरहे'तिवाक्यादत्राप्यवगन्तव्यः । नन्वेतत्सर्वं चित्तशुद्धौ सम्भवति,
अशुद्धचित्तस्य सर्वसाधनवैफल्यात् तच्छोधकतीर्थाश्रयत्वावश्यकत्वात् तीर्थस्योत्कृष्टता-
माशङ्क्य आहुः तीर्थं नातः परात्परमिति । तीर्थस्य सकलसाधनमूलभूतमनोमार्जक-
तयोत्कृष्टत्वेपि गुणगानादेः 'सर्वं च शुष्यत्यचिरेण पुंस' इतिवाक्यादविलम्बेन चित्त-
शोधकत्वात् सर्वतीर्थरूपत्वाच्च साम्प्रतं तेषां दुष्टावृत्तत्वेन तिरोहिताधिदेवत्वेन चासाध-
कत्वादेतस्मात् परात् सर्वोत्कृष्टात् साधनयुग्मात् तीर्थं न परं उत्कृष्टमिति स्वसिद्धान्त-
निष्कर्षो निरूपित इति दिक् ॥ २० ॥

स्वाचार्यचरणद्वन्द्ववन्दनादरसाधनात् । निरोधलक्षणग्रन्थं विबधे हरिदासकः ॥ १ ॥
इति श्रीमसिजाचार्यचरणाभिषेकलब्धमहाराज्यसुखानुभूतिश्रीहरिदास-
विरचिता निरोधलक्षणविद्युतिः समाप्ता ॥

धीष्टुष्णाय नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीवल्लभकृतनिरोधलक्षणविवरणसमेतम् ।

भक्तभावात्मरूपाय तन्मार्गव्यञ्जकाय च । तद्दानायात्तदीक्षाय स्वाचार्यप्रभवे नमः ॥ १ ॥
विरागादिन्द्रियाणां वै निग्रहे सति साधनैः । यमादिभिश्च विज्ञाने ज्ञाने भवति सत्फलम् ॥ २ ॥
तदभावेन सर्वेषु प्राकृतांशनिवृत्तितः । भक्तिमार्गे कथं साक्षात् फलं भवति तत्ततः ॥ ३ ॥
निःसाधनाङ्गीकृतस्य स्वात् फलं रोपतो यथा । तदर्थं साधनं रूपं तस्य स्वाध्वनि वर्ण्यते ॥ ४ ॥

प्रथमं दशमार्धनिरूपणे निरोधशब्देन 'निरोधोऽसानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः
प्रपञ्चे क्रीडनं हरे' रिति वाक्यात् साक्षाद्भगवत्क्रीडनमुक्तम् । तत्क्रीडनं लीलासृष्ट्यन्तर्गत-
भक्तानां प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं सकलेन्द्रियनिरोधे सति भवेदिति दशमस्कन्धे भक्तानां चित्त-
वृत्तिनिरोध उक्तो भक्तिमार्गो । तत्र पुनः प्राकृत्यदशायां तु साक्षादङ्गीकृतानां पुष्टिमार्गीय-
श्रीद्भक्तभावाङ्कुराणां परमभाण्यवतां व्रजसम्बन्धिनां निरोधः स्वरूपेणैव कृतः, सम्प्रतं तत्रा-
कथ्याभावादाधुनिकानां स्वाङ्गीकृतानां स्वमार्गीयतत्साधनाज्ञानात् कदाचिद् ज्ञानरीतिनिरो-
धसाधनेषु प्रवृत्तिर्भवेदिति तदभावार्थं श्रीमदाचार्यचरणाः कृपया ज्ञानमार्गीयसाधननिषेध-
पूर्वकं स्वमार्गीयनिरोधसम्भवे सर्वथा यदपेक्षितं मूलकारणं तन्निरूपयन्ति यच्चेति ।

यच्च दुःखं यदोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।

गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥

अत्रेदमाकृतम् । गोकुलं तु विविधविहरणेच्छाजनितसहजकृपया साक्षाद्भगवता
पुष्टिमार्गेङ्गीकृतमतः स्वानन्ददानार्थं लोके प्रकटितमपि तादृशाङ्गीकाररूपधीजस्वभावजनित-
तद्वासनया तदुरुरूपोद्भक्तभावाङ्कुरमेवासीदिति तद्भावस्वभावाद्दुःखमपि तत्र स्थितम्, येन
साक्षाद्भगवत्प्राकृत्यमभूद्, अत्रे सुखादिकमपीत्यधुना स्वकीयानामपि तादृशनिरोध-
मार्गीणां तादृशमेव दुःखं तत्तन्निरोधेन तत्राप्राकृत्यसाधकम्, अतस्तदेवैवं स्वस्मिन्सम्भाव-
नया सर्वदा भावनीयमिति स्वकीयान् प्रति लक्षयन्ति । तथा हि । अन्वयार्थस्तु स्पष्ट
एव । यदित्यनिर्वचनीयत्वमुक्तम् । चकारोप्यर्थकः सम्भावनायाम् । तथा च सुखं तु
दुर्लभमेव । दुःखमपि चेत्स्यादिति । एतद्दुःखस्य ब्रह्मानन्दस्यापि तुच्छकर्तृत्वात् सर्वो-
त्कृष्टत्वेनातिदुर्लभाधिकारज्ञापनाय सम्भावनैवोक्ता, न तु प्रार्थनम् । तत्रापि क्वचित्

कदापि भविष्यति, यदि भवेत्तदा किं वाच्यमिति सर्वदोषकण्ठापेक्षितेति सूचितम् । एवं सति एतद्भावानुरूपं दुःखमेव निरोपसाधकमिति ज्ञेयम् । दुःखं तु भगवत्प्रादुर्भावात् श्रागपि श्रीमातृचरणानां श्रीनन्दादीनां च पुत्रोत्पत्तितल्लालनक्रीडावलोकनादिविधिवन्नोरधात्मकमासीदेव, तथैव श्रीस्वामिनीनामपि प्रभुप्राकट्याशया तत्तन्मनोरथात्मकं तथा । ततः प्राकट्यानन्तरमपि घात्ये पूतनादिदर्शनजनितभयेन क्रूरदृष्ट्यादिपतनरूपम् । ततः प्रभोरतिचञ्चलस्वभावेन शृङ्गप्रियरूपं क्रीडासत्तया भोजनादिविलम्बजनितार्तिरूपं च । श्रीस्वामिनीनामपि प्राकट्यानन्तरं क्षणमात्रावलोकनाभावेन स्यातुमशक्यत्वात् प्रातर्यावत्पर्यन्तमुन्निद्रायतत्रिकसञ्चयमरोजदलसदृशमीक्षणयुगलगुन्मीलयत्प्रमुस्तावत्तापासहिष्णुतया 'चिरविरहे' व्युक्तप्रार्थनहेतुरूपं च । ततो गोचारणगमनादिषु प्रातरारभ्य सन्ध्यावधि तददर्शनजनिततत्तन्मनोरथात्मकं च । अग्रे नादनिष्ठाश्रुतपानानन्तरं स्वामिनीनां तु स्पष्टमेव । अग्रेपि रासलीलायां साक्षात् पूर्णरसदानपर्यन्तं तिरोधानजनितविचित्रभावात्मकं च । पुनरग्रे विप्रयोगस्फूर्तिं स्पष्टमेव । ततस्तस्य 'संसृत्य संसृत्ये-' व्युक्तत्वात्तल्लीलातुस्मरणकीर्तनादिना सर्वदा तदात्मकत्वात्तदस्फूर्तिं दुःखभानाभावाद्यथा पूर्वमेव प्रभुस्थितिं मन्यमानानां भक्तानां श्रीमदुद्धवोपदेशेन महदुःखार्णवनिमज्जनं चेत्वादि रूपम्, तथा चेदग्रे दुःखे जाते पूर्णो निरोधः सिद्धो भवतीति श्रीमदाचार्यैरेतदुःखान्तर्गतानिर्वचनीयसुखानुभवहेतुभावात्मकैः कृपया स्वकीयानामप्येवमेव तदपेक्षितमिति तदेव सम्भावनीयमिति तथोक्तम् ॥ १ ॥

एवं तेषां दुःखं सम्भाव्य तत्तदनन्तरजनितमनिर्वचनीयं तत्तत्सुखमपि तदुःखानुभवे सम्भावयन्ति गोकुल इति ।

गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां ब्रजवासिनाम् ।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

तदुःखहेतुकप्राकट्यानन्तरं महोत्सवादिचाल्यमारभ्य प्रेङ्गपर्यङ्गान्दोलनादिरिङ्गणक्रीडादानदधिदुग्धादिचौर्यान्तर्गतयावत्केलिवत्सगोचारणान्तर्निलायनप्रभृतिवेषुगीतव्रतगोवर्धनोत्सवरासान्तं स्वस्वमनोरथपूरकं तथा । तदनन्तरं विप्रयोगे जाते तल्लीलास्मरणेन तदात्मकतया दुःखभानाभावात् तदस्फूर्त्या यथा पूर्वबुद्ध्या मिश्रितं सर्वविलक्षणं च श्रीस्वामिनीनां तथा सर्वेषां ब्रजवासिनां च श्रीगोकुले यत्सुखं सम्यगनिर्वचनीयमभूत्तन्मे भगवान् किं विधास्यतीति पूर्वोक्तरीत्यैव तदगिलापोपेक्षित इति भावः । यद्यप्यतिदुर्लभं तथापि सर्वसामर्थ्यवत्त्वेन पूर्वं यथा स्वयमेव कृतवांस्तथाधुनापि करिष्यतीति ज्ञापनाय भगवत्पदम् ॥ २ ॥

एवं निरुद्धानां दुःखसुखाभिलाषं स्वस्मिन्निरूप्य पुनस्तादृशसुखानन्तरं विप्रयोग-
जनिते दुःखेऽपि विलक्षणसुखविशेषोत्पादकः कथनोत्सवो जायत इति तं सम्भावयन्ति
उद्भवागमन इति ।

उद्भवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।

घृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

यथा देशान्तरगते प्रिये तत्प्रेषितगृहसेवकागमने तन्मात्रादीनां विशेषतः प्रियायाश्च
प्रियकृतस्वस्मरणजनितौत्सुक्यविशेषेणोत्सवो भवतीति लोकरीतिः, प्रकृते तथोद्भवस्य
भगवद्भावेन सर्वदोत्सवरूपस्य प्रियसन्देशहारकस्य भगवदीयस्यागमने उत्सवः सुतरा-
मलीकिकत्वेन महान्यथा जातः, सुमहत्पदेन तस्योत्सवस्य तदनुभवैकवेधत्वेनाशक्य-
निर्वचनमुक्तम् । कुत्रेत्याकाङ्क्षायामाहुः घृन्दावने गोकुले चेति । चेति चार्थे । तेन
घृन्दावने श्रीस्वामिनीनां गोकुले श्रीमातृचरणानामिति विवेकः । तथा मे मनसि कदापि
भविष्यतीति तथापेक्षित इत्यर्थः । उत्सवस्तु मानसोत्साहरूपो मनोधर्म इति मनस्वेवाभिलाष-
उक्तः । अत्रायं भावः । भगवदीयस्य भगवत्सम्बन्धिनि समागते साक्षाद्भगवानेवागत इति
तादृशोत्साहः सर्वथापेक्षितः, नो चेत्, तत्त्वमेव न भवतीति सिद्धान्तः । एते तु सर्वथा
प्रपन्नाः परमभगवदीया इति तेषां सर्वदोत्सवरूपस्योद्भवस्यागमने प्रथमं तत्स्वरूप-
दर्शनेन कोऽयं भगवद्देशधारीति विस्मयेनोत्कण्ठारूपोत्सवो जातः, पश्चाद्भगवदीयत्वेन
निर्धारितत्वेऽस्मत्प्रियसम्बन्धी गृहे समागतः, तत्रापि परममक्तो निकटवर्ती ज्ञायते, अहो
महद्भाग्यमसदीयं यतोऽस्मात् तत्सम्बन्धित्वज्ञानेऽयमत्रागतः प्रेषितो वा, नो चेद्भगव-
दीयस्तदन्यत्र किमर्थं गच्छेत् । तेन प्रभुकृपाप्यस्मात् भविष्यतीत्यपि ज्ञायते, यतस्त-
त्कृपाऽभावे भगवदीयस्यागमनं न सम्भवति । किञ्च, तद्गृहमेव न भवति यत्र भगवदीयो
नायाति, यतस्तदागमने भगवानप्यागच्छतीति प्रभुस्नेहभरवशाद्बुद्धवेऽपि तत्सम्बन्धित्व-
जनितनिरुपधिस्नेहवात्सल्येनोत्साहभरवशात्तत्सत्कारादिकरणे परमोत्सवो जातः । क्वचि-
दित्येतादृशस्य दुर्लभत्वमुक्तम् । एवमाधुनिकानामपि निरोधमार्गीयाणां तत्सम्बन्धा-
भावजनितदुःखं सर्वदापेक्षितम्, भगवदीयागमने तादृश एवोत्सवोऽप्यपेक्षितः । एवं
सर्वात्मना चित्तादिनिरोधे जाते तेन च साक्षात् प्राकट्येन कृपया सुखमपि दास्यतीति
भावोऽपि ज्ञाप्यत ॥ ३ ॥

ननु ज्ञानमार्गे तु चित्तनिरोधे जाते ध्यानादिना आत्मसुखं भवति, अत्र दुःखेन
चित्तनिरोधेऽपि दुःखमेव तिष्ठतीति क उल्कर्षस्तत्राहुः महतामिति ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति ।

तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

येषां भगवदीयदर्शनमात्रात् परमानन्दाहुभावको महानुत्सवो भवति सर्वदा

भगवदवेशात् । स्वयमपि उत्सवरूपा अन्तरङ्गास्ते भक्ता महान्तः, तेषां कृपया यावद्भग-
वान् दयां करिष्यति, कृपया प्रादुर्भूय स्वरूपानन्दं दासति, तावत्तसोद्भूतप्रचुरभावैर्भग-
वदीयैः सह कीर्त्यमानो भगवान् साक्षादन्तःप्रकटीभूय सकलेन्द्रियाणामासक्तिं स्वस्वरूपे
विधाय सुखाय भवति, न दुःखायेति । हृदयस्थ एव तत्तदिन्द्रियेषु स्वानन्दं पुरयतीत्यर्थः ।
यत आनन्दसन्दोहरूपः । यथा स्वरूपं तादृशं तथा गुणा अपि, तेन कीर्तनद्वारापि तथा
आनन्ददातेति गुणगानमेव तेन कर्तव्यम्, नान्यदिति ज्ञापितं भवति । अनेन तद्दुःखमपि
रसभावात्मकमानन्दात्मकम्, न तु लौकिकविषयात्मकम् । यत्र दुःखस्यापि रसानन्दात्म-
कत्वम्, तत्र सुखस्वानन्दरूपत्वोत्कर्षः किं वाच्य इति सूचितम् । किञ्च, अत्र प्रभुदयायां
हेतुत्वेन महत्कृपोक्ता, तेन महच्छब्देन स्वामिन्य एवोक्ता इत्यवगम्यते । यतोयं रसस्तासामेव,
भगवानपि तदधीन एव रसानुभवं करोतीति तत्कृपाऽभावे प्रभोरपि न दयेति महत्कृपयैव
सर्वं भविष्यतीति सूचितम् । अत एव 'तद्द्वारा पुरुषे भवे'दित्यत्र 'तासामनुग्रहद्वारे'त्युक्तम् ।
अथवा तद्भावस्वरूपत्वेनात्मसूचकमेव महत्पद दत्तमिति ज्ञायते । तेनाधुनिकानां श्रीमदा-
चार्यकृपयैव प्रभुः कृपां कृत्वा आनन्ददानं करिष्यतीति भावः ॥ ४ ॥

ननु भगवद्गुणगानं सर्वैरेव क्रियते, तेन च सर्वेषां सुखमेव भवति, निरुद्धानां तु
को विशेषः, तत्राहुः महतामिति ।

महतां कृपया यद्वत्कीर्तनं सुखदं सदा ।

न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

महतां पूर्वोक्तानां कृपया स्वभावदानात्मिकया कृत्वा यथा कीर्तनं निरोध-
मार्गीयाणां सदा सुखदं भवति, यतः परस्परगुणानुवादे प्रोञ्जलितरसेन सकलेन्द्रियाणां
स्वरूप एव निरोधेन प्रपञ्चविस्तृतिपूर्वकं तदानन्दमग्ना एव तिष्ठन्तीति पुनस्तद्रसवासना
न गच्छतीति सदेत्युक्तम् । तथा लौकिकानां प्रमाणधर्मनिष्ठानां तादृग्भावाभाव-
वतां भक्तानां ज्ञानिनामपि तथारूपप्राकट्याभावात्तत्कीर्तनं तथा सुखदं न भवतीत्यर्थः ।
तत्र दृष्टान्तः स्निग्धभोजनेति । एकं स्निग्धभोजनम्, अन्यद्रूक्षम् । स्निग्धभोजनं
यथा सकलेन्द्रियाणां सुखदमाप्यायकं भवति, न तथा रूक्षम्, लौकिकेषु तद्भावाभावा-
द्रूक्षत्वमेवेति तथा । अत्रैतन्मार्गीयभावाभाववत्सु भक्तेषु ज्ञानिषु च लौकिकपदकथनेन
यथा लौकिकालौकिकयोर्यावत्तारतम्यम्, तावत्तारतम्यमेतयोरपीति ज्ञाप्यते । एवं सति
निरुद्धानां कीर्तने महानेव विशेष उक्तः ॥ ५ ॥

ननु सुखदत्वेपि दुःखं तु सर्वदा तिष्ठत्येवेति क उत्कर्षो गुणगाने, एतदपेक्षया
ज्ञानिनां सकलेन्द्रियादीनामात्मनि लयेऽत्यन्तदुःखसम्भावनारहितात्मसुखानुभवः सर्वोत्कृष्टः
प्रमाणसिद्ध इति चेत्त्राहुः गुणगान इति ।

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजापते ।

यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

गोविन्दस्य गोकुलेन्द्रस्य रसात्मकलीलाविशिष्टस्य गुणगाने सुखावासिर्यथा निरुद्धानां जायते प्रकर्षेण, तथा पूर्णज्ञानिनां तत्राप्येकान्तभक्तानां शुकादीनामात्मनि आत्मसुखानुभवदशायां नैव भवति, कुतोऽन्यतः भक्तिरहितेष्वित्यर्थः । एवेति निश्चयार्थः । गानद्वारा सुखप्राप्तौ प्रकर्षः साक्षात्स्वरूपप्राकट्यजनित एवेति ज्ञेयम् । यद्यपि श्रीशुकैरेवैयं लीला वर्णिता, भक्तिरसेनापि ते पूर्णाः, तथाप्येतदानन्दानुभवस्तेषामपि न जात इति मुख्यतया शुकपदमेवादी दत्तम् । एवं सति तत्कृपयैवायमानन्दः प्राप्यः, नान्यथा । तत्रैतद्दुःखमेव साधकमिति तस्यैव परमपुरुषार्थत्वम्, नान्यसेति । यथात्मसुखापेक्षया तद्दुःखस्यापि सर्वोत्कृष्टत्वम्, तत्र किमु वक्तव्यः सुखोत्कर्ष इति कैमुतिकन्यायेनापि ज्ञाप्यते ॥ ६ ॥

अनु परमपुरुषार्थत्वेन सर्वदा तेषु दुःखमेव स्थापयति भगवान्, किं वा कदापि वहिः सुरामपि प्रयच्छति, तत्राहुः ह्रिश्यमानानिति ।

ह्रिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।

तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं वहिः ॥ ७ ॥

एवं ह्रिश्यमानान् साक्षात्स्वरूपसम्बन्धाभिलाषजनितप्रचुरार्त्वा प्रतिक्षणमूर्च्छाजागरणाद्यवस्थाभेदानां शिं क्लेशानुभवं कुर्वतः स्वीयान् जनान् दृष्ट्वा प्रभुर्यदा कृपायुक्तो भवेत्तदा सर्वं सदानन्दं सर्वांशपूर्णं सदानन्दस्वरूपं तत्तदिन्द्रियेषु भावात्मकतया सर्वांशेनानन्दपोषार्थं हृदिस्थमलौकिककामरूपं वा साक्षात्स्वरूपं वहिर्निर्गतं प्रकटं करोति, वहिरानन्ददानार्थं हृदयात् प्रकटो भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

एवमयमानन्दः कृपैकसाध्य इत्यतिदुर्लभत्वमाहुः सर्वानन्दमयस्येति ।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः ह्लाचयते जनान् ॥ ८ ॥ .

ब्रह्मानन्दपर्यन्तं यत्र यत्रानन्दो गणितस्तन्मयस्यापि कृपानन्दः सुतरां दुर्लभः । अथवा सर्वेषां तन्मयस्य स तथा । मुक्त्यादिषु य आनन्दो भवति, सोप्येतदंश एव, परन्तु स साधनैर्भवति, अयं कृपैकसाध्यः, यतो दानं विना न भवति, अतः सुतरां दुर्लभः, न केनापि प्राप्तुं शक्यः । अथवा सुतरां दुःखेन शोभनेन वा लभ्यो लाभो यस्येति । समस्तसाधनासाध्यत्वादन्येषां दुर्लभः, तद्वतामेव सुलभ इति सूचितम् । तत्राप्राप्तिप्रकारमाहुः हृद्गत इति । तादृशदुःखजनिततापार्त्वा मिथो गुणानुवादेन स्वगुणान् श्रुत्वा हृद्गत एव पूर्णः सकलेन्द्रियव्याप्तः, तज्जनितोच्छलितरसान्धिपूरेणान्तःपुष्टः सन् वहिः स्वस्वरूपं

प्रकटीकृत्य जनान् स्वीयान् ह्याचयते, तत्तद्रसान्धितरङ्गेषु तरणं कारयति । यथा यथा सकलेन्द्रियाणां दुःखं जातम्, तथा तथैव तेषु खानन्दं पूरयतीति भावः ॥ ८ ॥

अतः परमेतत्कथनप्रयोजनमाहुः अहमिति ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि तम् ॥ ९ ॥

अहं स्वयं साक्षात् प्रसुणा पूर्वं निरुद्धः, निरुद्धानां मार्गोऽङ्गीकृतः, पश्चाद्गोधेन गुणगानद्वारा सकलेन्द्रियाणां रोधेन निरोधस्य पदवीं गतः, फलदशां प्राप्तः । निरुद्धेति पाठे निरुद्धानां पदवीं गतः, तन्मध्यवर्ती सन् तदानन्दालुभवं प्राप्तः । अतस्तदाज्ञया निरुद्धानामाधुनिकानां रोधाय तमेव निरोधं वर्णयामि, कथयामि । एतेन मनुक्त-रीतिकरणेन सर्वथा निरोधसिद्धिर्भविष्यतीति ज्ञापितम् । त इति पाठे तुभ्यं त्वदर्थं वर्ण-यामीति कमपि भाग्यवन्तं न्युक्तमित्यन्येषामानुपपन्निका शिक्षा सूचिता । किञ्च, यतोऽहं प्रसुणा साक्षात् स्वयं निरुद्धः, अतो मम वर्णनशक्तिः, नो चेत्, केन वक्तुं शक्य इत्यपि सूच्यते ॥ ९ ॥

एवं निरोधस्वरूपमुक्त्वा सर्वथा कर्तव्यत्वमाहुः तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।

सदानन्दपरैर्गैः सच्चिदानन्दता ततः ॥ १० ॥

यस्मादेवं सर्वोत्कृष्टत्वेन पराकाष्ठापन्नः सर्वदुर्लभः कृपानन्दः तस्मात् सर्वं परित्यज्यै-
तव्रापकत्वाभावात् सर्वं सवासनं त्यक्त्वा निरुद्धैः उद्भूतभावाङ्कुरैः सर्वदा गुणा एव
गेयाः, तेषामयमेव सहजो धर्म इति तदभिलाषिभिरपि तदेव कर्तव्यम्, नान्यदिति भावः ।
गुणास्तु तत्तल्लीलात्मका बहुविधा इति कीदृशानां गानं कर्तव्यमित्यपेक्षायां विशेषणमाहुः
सदानन्दपरैरिति । सदानन्दः साक्षाद्रसात्मकः पुरुषोत्तमः, तत्परैस्तन्निष्ठैः सद्भिः,
न त्वितरस्वरूपनिष्ठैः । रसस्वरूपनिष्ठत्वकथनेन गुणा अपि रसात्मका रसादिलीलारूपा
एव गेया इति सूचितम् । सदानन्दपरैस्तादृशैर्भगवदीयैः सद्देति वा योज्यम् । तेन
तादृशव्यतिरिक्तैः सह न गेया इत्युक्तं भवति । तत्र कथने सर्वथा हानिर्भवेति भावः ।
सर्वदेति क्षणमात्रमन्यन्याभावसम्बन्धमन्धामाधार्यम् । ततः सच्चिदानन्दता भवति,
सर्वत्र भगवद्भावेशतस्वरूपात्मकतैव भवेदिति भावः । अथवा सच्चिदानन्दता ब्रह्म-
भावसम्पत्तिः, तेनान्तःसाक्षात्पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता भवति, तस्य तदधिष्ठानत्वादिति
सूचितम् । कुत्रापि स्वत इति पाठः । तदा सच्चिदानन्दता भगवद्भर्मरूपता, सा
त्वस्मिन्मार्गे स्वत एवानापासेनैव भवतीत्यानुपपन्निकत्वमुक्तम् । यत्र ज्ञानमार्गीपरमफल-
मपि गुणगानस्यानुपपन्निकं फलम्, तत्र साक्षात्फलस्वरूपं किमु भाव्यम् ॥ १० ॥

ननु निरुद्धानामेव सर्वपरित्यागपूर्वकमेतदुच्यते, न अन्येषा साधननिष्ठानाम्, तत्किमिति तत्राहुः हरिणेति ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ॥ ११ ॥

हरिणा सर्वदुःखहर्त्रां ये विशेषेण लक्ताः, ग्यानन्ददानेन दुःखदूरीकरणेच्छाऽभावात् लक्ताः, ते तु भवसागरे मग्नाः, साधनान्तरप्रवृत्ता अपि एतदानन्दाभावात् तन्मग्ना एवेति भावः । ये तद्दानेच्छया निरुद्धाः पुष्टिमार्गाङ्गीकृताः, केवलस्वरूपनिष्ठ-भावैकसाधनाः, त एव तत्कृपया तादृशं मोदमायान्ति, बाह्याभ्यन्तरं रसपूर्णाः सन्त-स्तदानन्दसमुद्रमग्ना एव तिष्ठन्ति, तदप्यहर्निशम्, क्षणमात्रमपि न तदानन्दविच्छेद इति भावः । अतो निरुद्धानामेवायमानन्दः, न साधननिष्ठानामपीति तदर्थमेवोच्यते इति सर्वं सुस्थम् ॥ ११ ॥

ननु निरुद्धानामपि पूर्वस्थितसंसारस्य विद्यमानत्वात् तत्तद्विषयासक्तेन्द्रियाणां तद्विस्मरणमशक्यमिव भाति, तदभावे गुणगानादिप्रवृत्तिरप्यशक्या, तत्राहुः संसारेति ।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताप वै ।

कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भृञ्चि द्वादश योजयेत् ॥ १२ ॥

निरोधार्थं केवलपुष्टिमागंङ्गीकृतस्य साधनान्तरप्रवृत्तिनिवृत्त्योरप्रयोजकत्वादङ्गीकार स्वभावेन यथा स्वरूपे खेहात्मिका प्रवृत्तिर्भवति, न तथा विषयेषु, किन्तु तत्सम्बन्धदोषं निवारणीय इति संसारावेशदुष्टानां तत्तद्विषयभोगादिषु अहन्ताममतात्मकावेशेन दुष्टानां तत्रनितबन्धेन दुःखज्ञानाभावेन तन्निवर्तकधर्मविमुखानामिन्द्रियाणां हिताप श्रीतये पूर्वाक्तमेहेन हेतुना कृष्णस्य सदानन्दस्य सर्ववस्तूनि प्रकरणादेकादशेन्द्रियाणि सम्पूर्णस्वरूपं च, तानि प्रत्येकसमुदायान्यां तत्तन्मनोरथात्मकभावनाया भूमीः समस्तखेन्द्रिय-विषयाधिष्ठानानि कृत्वा स्वकीयान्यात्मसहितानि द्वादश तत्र योजयेत् । यद्यपि निरुद्धस्य स्नेहस्वभावेनैव भगवत्स्वरूपासक्तिः सकलेन्द्रियेषु भवतीति नियमविधिरयम्, तथापि संसारावेशिनामतिहेशं वीक्ष्य एतत्सम्बन्धेन मग्नापि क्लेशदुःखमेव भविष्यति, न तु स्नेहासक्तिर्जं सुखमिति भयेन ततः सांसारिकधर्मैः प्रत्यावर्त्य समत्तेन्द्रियाणि तत्र योजयेत् । यत्किञ्चित्सम्बन्धेनापि विज्ञो मा भूदिति कर्तव्यविधिरुक्तः । किञ्च, इन्द्रियाणां स्वस्वविषयप्रवृत्तिः सहजा, तथा चानितुच्छ विषय लाजयित्वा परमानन्दरूपविषयेषु तानि योजनीयानि । तथा चोक्तं 'मक्षण्वता'मित्यस्य विवरणे 'इन्द्रियवतामिदमेव फल'मिति, 'भगवता सह संलाप' इत्यारभ्य 'एवं तद्भावेन सदे'त्यन्तम् । अत्र तु द्वादशैव तद्विषया उक्ता इत्यत्रापि तावत्संख्यैवोक्ता । एवं सत्याधुनिकानामपि सांसारिकधर्मैः परावर्त्य तानि भगवति

योजनीयानीति शिक्षा सूचिता । एवं योजनेन तदासक्तौ सत्यां साक्षात्स्वरूपसम्बन्धाभावात् तद्गुणेष्वेवासक्तिवशादावेशो भवेत्, न त्वन्यत्रेति भावः ॥ १२ ॥

ननु एवं योजनेपि तत्तदिन्द्रियाणां पूर्वसंसाराध्यासात् तत्रद्विषयेषु यत्किञ्चिदहन्ता-ममतात्मकः संसारस्तिष्ठेदेवेति तत्प्रागजनिताङ्गेशोऽपि तस्यास्यभावाद् भवेदिति कथं सुखम् ? तत्राहुः गुणेऽपि चित्ति ।

गुणेऽपि चित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ।

संसारचिरहृद्देशौ न स्यातां हरिवत्सुखम् ॥ १३ ॥

एवमासक्त्या गुणगाने क्रियमाणे तत्रैवाविष्टचित्ता भवन्तीति मुरवैरिणस्य प्रति-
बन्धनिवर्तकस्य गुणेऽपि चित्तानां तेषां संसारः पूर्वोक्तस्त्यागजनिताङ्गेश-
तौ न स्याताम् । तेषां प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं गुणगानाविष्टत्वेन पूर्वोक्ताध्यास एव नश्यति,
कुतस्तस्यागजङ्गेशसम्भावनेति भावः । एतदेवोक्तं वेणुगीते 'क्रीडास्तन्मयतां ययु'रित्यस्य
विवरणे 'जाग्रत्स्वप्नेषु क्रीडामेव पश्यन्ती'ति । ननु तथापि पूर्ववद्विषयभोगेष्वेव तेषामा-
सक्त्या तत्सुखमपि पूर्वोक्तविषयजन्यसुखसदृशमेवेति चेत्, तत्राहुः हरिचिदिति । पूर्वोक्त-
भोगासक्त्या संसार एव । अत्र तु हरिर्यथा सर्वदुःखहर्ता नित्यालौकिकरसात्मकानन्दरूपश्च,
तथा तस्य सुखमप्यत्रे दुःखसम्भावनारहितं संसारनिवर्तकं तादृशमेव, न तु पूर्वसदृशं
भवतीति महद्वैलक्षण्यमुक्तम् ॥ १३ ॥

एवं सर्वेषां विषयवासनारहितदृढासक्तौ यद्भवेत्तदाहुः तदेति ।

तदा भवेद्यत्कालुष्यमन्यथा क्रूरता मता ।

बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १४ ॥

एवं प्रचुरतापात्मकभावासक्त्या सकलेन्द्रियाणां प्रपञ्चाध्यासरहितः पूर्णो निरोधः
स्वरूपात्मकारूपो यदा सिध्येत्तदा दयालुत्वं प्रमोर्भवेत्, स्वास्थ्यादिकरणेन
प्रतिबन्धको न भवेदित्यर्थः । अन्यथा तादृशासक्त्यभावे क्रूरता निश्चिता । साक्षात्स्वीय-
त्वेनाङ्गीकृतस्य स्वधर्मरूपभगवदभिप्रेताकरणे प्रमोराक्रोशो भवतीत्यपि क्रूरपदेन सूचितम् ।
ननु सर्वत्यागेन गुणगानमात्रप्रवृत्तौ कालकर्मादिककृतवाधः सम्भवेत्तत्राहुः बाधशङ्केति ।
बाधस्य शङ्कापि नास्ति । कुतो वाधः । अत्र गुणगान इत्यर्थः । सकलेन्द्रियेषु भगवत एवा-
विष्टत्वेन स्थितत्वाद्बाधः केन कर्तुं शक्यः, स्वयमपि भगवान् न शक्नोति, तदा कोन्य इति
नैव शङ्कोदयः । एतदेवोक्तं सन्न्यासनिर्णये 'अत्रारम्भे न नाशः सा'दित्युपक्रम्य 'हरित्रे'-
त्यन्तम् । अत्रेति कथनात् तत्तज्ज्ञानमार्गाधिसाधनेषु बहवो विघ्नाः सन्तीत्यपि ज्ञाप्यते ।
ननु तथापि स्वरूपमिलनाभिलाषस्य विद्यमानत्वात् स्वस्य भगवता सह भेदज्ञानं तिष्ठत्येव,
तत्र तदभिमानेन सम्भवति, स च बाधरूप एवेति चेत्तत्राहुः तदध्यास इति । यथा

ज्ञाने 'सोह'मिति स्फुरति, तथा स्वस्मिन् सर्वत्र देहादौ तस्य भगवत एवाध्यासः, तद्रूपत्वेनैव भानं 'कृष्णोह'मित्यादिरूपः सिध्यति, न तु स्वस्मिन् भिन्नत्वं स्फुरति । सिध्यति सिद्धिं प्राप्नोतीत्युक्त्या यथा संसारावस्थायां तादृशाध्यासः स्थितः, तथेदानीन्तनावस्थायां सत्यां साक्षाद्भगवत्स्वरूपाध्यास एव भवतीति स्वभावपरावृत्तिर्जायत इति सूच्यते । एत-
देव 'तन्मनस्का' इत्यस्य विवरणे द्रष्टव्यम् ॥ १४ ॥

ननु तथापि वैराग्याभावे कथं पूर्वोक्तप्राकृतविषयाध्यासनिवृत्तिसत्राहुः 'भग-
वद्धर्मेति ।

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थितः ।

गुणैर्हरेः सुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

भगवतः सकलैश्वर्यादिगुणयुक्तस्य धर्माः गुणगानद्भारान्तःप्रविष्टास्तेषां साम-
र्थ्याद्विषये प्राकृते तद्भावत्वेन भगवत्सपि वा तादृशस्य विरागः स्थितोऽस्ति । स्थिर
इति वा पाठः । विषयत्वेन सर्वत्र वैराग्यमेव, किन्तु तेषां पराकाष्ठापन्नालौकिकानन्दरूपे
साक्षाद्भगवति निरूपयित्वा केवलतदीयत्वबुद्धौ तथा प्रपन्नतेति 'सन्त्यज्य सर्वविषया'-
निति निरूपणेन ज्ञायते । अत एव भगवानपि स्वयं कृपया तादृशानन्दमनुभावयतीति
सर्वमवदातम् । तर्हि दुःखं कथं भवति ? तत्राहुः गुणैरिति । हरेः सर्वदुःखहर्तृगुणैः
सुखस्पर्शाच्च कर्हिचिदुःखभानम् । तेषामन्तस्तत्स्वरूपानन्दपूर्णानां सर्वदा तदात्मक-
तया दुःखस्य भानमेव नास्ति, कुतस्तत्सम्भावनेति भावः । तापात्मकं यद् दुःखं दृश्यते
तस्य रसरूपत्वात् सुखरूपत्वमेव, न दुःखरूपत्वमिति ज्ञेयम् ॥ १५ ॥

अतः परगुणसहरन्ति एवं ज्ञात्वेति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गाद्दुत्कर्षां गुणवर्णने ।

अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

साक्षाद्भगवदानन्दस्य सर्वेन्द्रियास्वाद्यत्वनिरूपणेन तत्साधनरूपगुणगानस्य सुख-
रूपत्वेन च ज्ञानफलसाक्षरलयपर्यवसायित्वात् तत्साधनस्य च कष्टसाध्यत्वाच्च ज्ञान-
मार्गाद्गुणवर्णने महोत्कर्षं इति ज्ञात्वा निरुद्धैः साक्षाद्भगवद्भाररूपाङ्गीकारादारभ्य
सर्वपरित्यागेन गुणा एव वर्णनीयाः, न त्वन्यत् । दृढासक्त्यनन्तरं तत्स्वभावात् स्वयमेव
गुणगानं भविष्यति, साम्प्रतं तदभारादन कर्तव्यविधिरुक्त इति सर्वमनवद्यम् । तत्र
प्रतिबन्धकरूपमान्तर दोषद्वयं सर्वथा त्याज्यमित्याहुः अमत्सरैरिति । मात्सर्यं परो-
त्कर्षासहनं लोभश्च तद्रहितैः कर्तव्यम् । भगवदीयेषु मात्सर्येण सौहार्दाभावे गुणवर्णन-
मशक्यम्, लोभे तु स्वार्थार्थमेवेति कुतस्तदावेशः, प्रत्युत सर्वथानुचितत्वाद्भगवद्भक्तानां
सर्वस्वहानिरेवेति सर्वथा दोषद्वयं त्यक्तव्यमिति भावः । सदेति कार्यान्तरव्यासङ्गे भाव-
शैथिल्याभानायोक्तम् ॥ १६ ॥

ननु श्रीसुखावलोकनादीनां भावजनकत्वेन सर्वदा भगवत्स्वरूपसेवैव कर्तव्येति भक्तिसिद्धान्तः, प्रकृते मुख्यतया गुणगानमेवोच्यते तत्कथमित्याशङ्क्य तत्राहुः हरिमूर्तिरिति ।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥

श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।
वायुर्मलांशत्यागेन शेषभावं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥

अत्रेदं प्रतिभाति । भगवानुद्धारार्थं मर्यादया सर्वानेवाङ्गीकरोति । तेषां स्नेहरूपा मानसी सेवा फलरूपेति तत्साधनत्वेन मार्गनिष्ठया सेवाकरणमावश्यकम् । येषां साक्षात्सुष्टिमार्गे निःसाधन एवाङ्गीकारस्तेषां तदाद्य एवोद्भूतस्नेहभावाङ्कुराणां स्वरूपसम्बन्धाभिलाषेण 'भगवता सह संलाप' इत्यादिरूपा भावनैव जायते, भावना तु मनोधर्मः, तद्भावनायां मनसस्तत्परता भवतीति तद्रूपा मानसी सेवा जायते इति पूर्वोक्तसेवाया अधुना प्रयोजकत्वाभावात्तद्दार्ढ्यार्थं गुणगानमेव मुख्यमिति तदेवोक्तम् । अत एव भगवद्भरणानन्तरमेवोद्भूतभावाभिः कुमारिकाभिः पूजादि सर्वं विहाय गुणगानमेव कृतमिति 'भूयानन्दसुतः पति'रित्यत्र विवरणे विवृतम्, साधनमार्गीयशरणागतानामपि साधनरूपसेवाकरणेन स्नेहानन्तरभावोत्पत्तौ गुणगानद्वारा तद्दार्ढ्यार्थं त्याग एवोक्तो भक्तिवर्धिन्यां 'तादृशसापी'त्यारभ्य 'त्यागं कृत्वे'तीति सर्वमनवद्यम् । किञ्च, पूर्वोक्तसाधनरूपसेवाकरणेन स्नेहभावजनितं तापात्मकं दुःखं जायते, तद्दुःखनिवृत्तिस्तु विरहानुभवे गुणगानेनैव भवतीति तदेव मुख्यत्वेनोक्तम् । तथा च यत्तत्तादृशपुष्टिमार्गाङ्गीकारस्वभावोद्भूतस्नेहभावाङ्कुरजनितमनोरथप्रकारेण हरिमूर्तिः सदा ध्येया भावयितुं योग्या भवति, अतस्तज्जनिततापनिवृत्त्यर्थं तद्दार्ढ्यार्थं च गुणगानमेवोक्तमित्यन्वयः । तर्हि ज्ञानमार्गेऽपि ध्यानमेव कियते, ततो गुणगाने को विशेषस्तत्राहुः सङ्कल्पादिति । सङ्कल्पात्पूर्वोक्तप्रकारकविविधमनोरथकदम्बादपि तत्र भावनायां साक्षात्प्रकटस्य भगवतो दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टमनुभूतं भवति, तथैव कृति-स्तदन्तिके गतिश्च, तथैव श्रवणं तत्कृजितानां, कीर्तनं भगवता सह संलापादिरूपं च तथा । पूर्वोक्तज्ञानसाधनध्याने तु न तथेति स्पष्टमित्युक्तम् । तत्र तु प्रत्यक्षेऽपि आत्मनि न तथाऽनुभवः । गाने तु सङ्कल्पमात्रादपि स्पष्टमनुभूतं भवतीत्यपिशब्देन द्योत्यते । एवं भावनायां प्रकटीभूय तापात्मकं दुःखं हरतीति ज्ञापनाय हरिमूर्तिरित्युक्तम् । ननु भगवदङ्गीकारेण तत्कृपया एतत्सर्वं भवेदिति 'कृपायुक्तो यदा भवे'दित्यनेनोक्तम्, परन्तु तत्र भगवत्कृपायां महत्कृपा पूर्वं हेतुत्वेनोक्ता 'महतां कृपयै'त्यनेनेत्यस्य तदधीनत्वेन तत्कृपाभावे स कथं प्राप्येतेत्यत आहुः पुत्र इति । यतः पूर्वोक्तभक्तास्तु पराकाष्ठापन्न-रसमेतकारो मात्सर्वादिदोषरहिता भगवत्कृपानिषयेषु सहजवत्सलशीला इति तेषां

तादृशे कृष्णप्रिये कृष्णः प्रियो यस्य कृष्णस्य फलदानसमुत्सवस्य प्रिये वा पुत्रे पुत्ररूपे रतिः प्रीतिरेव भवति । स्वप्रियप्रीतिहेतुत्वेन कृपया भावदानात्तेषां गुरुत्वात्तस्मिन् पुत्रत्वं सिद्धमेवेति तद्रूपत्वमुक्तम् । तासां गुरुत्व तु सञ्ज्ञासनिर्णये 'कौण्डिन्यो गोपिका' इति स्फुटीकृतम् । किञ्च, यथा पुत्रस्य कामप्यातिं दृष्ट्वा तस्मिन् वात्सल्येन तदुपचारः क्रियते, तथात्रापि तादृशीमार्तिं दृष्ट्वा वात्सल्येन तदानं तैरपि क्रियत इति ज्ञापनाय पुत्ररूप इत्युक्तम् । अन्यच्च, पुत्रे यथा तद्विहितविधिपराधादपि वत्सलतैव भवति, तथा तादृशे कृपापात्रे प्रीतिहेतोरपि तथोक्तम् । प्रीतिरपि तेषां भावात्मिकैव भवति, न तु तद्रहितेति ज्ञापनाय रतिपदमुक्तम् । रतिर्हास्येति तद्रूपत्व तस्याः स्पष्टम् । एवं सति तेषामपि कृपा तादृशे जायते इति स रसोपि तेन प्राप्यत इति सुधुक्तं तथा । किञ्च, यथा तादृशानां तादृशे भक्ते पुत्रभावस्तथा तस्यापि तादृशेषु भक्तेषु सर्वदा मातृभाव एव स्थापनीय इत्यपि सूचितम् । अथवाऽत्रायमपि गूढाभिसन्धिरनुमीयते । कृष्णप्रियास्तु बहुविधा . परन्तु स्फुरत्कृष्णप्रेमेति श्लोकोक्तरूपं कृष्णस्यानन्दरसात्मकस्य प्रियत्व श्रीमदाचार्येष्वेव विलसति नान्येषु, तद्धेतुकं साक्षात् श्रीस्वामिनीनामपि प्रियत्वं तादृग्वात्सल्येनैतेष्वेव सम्भवति, नान्येषु । यतः श्रीमदाचार्याणामेव तद्वात्सल्यकत्वं तन्मध्यपातित्वं च निजयते । तथा च कृष्णस्य प्रिये बलमे मयि पुत्र इव रति-स्तेषां वर्तत इति मदङ्गीकृत्येन्यस्मिन्नपि तादृशे भविष्यतीति भावः । अथवा कृष्णप्रिये मयि रतिर्वर्तत इति कथनात् स्वस्य तद्वात्सल्यकत्वात्तदन्तर्गतत्वाच्चाधुनिकानां स्वकृपयैव भविष्यतीत्यपि सूचितम् । एव तत्कृपया जगितो रतिरूपो भावो निखिल प्राकृतांशं त्याजित्वा क्रमेणालौकिकं साक्षाद्भगवदात्मकं तत्तद्विषयमिन्द्रियेषु योजयतीति सदृष्टान्तं निरूपयन्ति वायुरिति । वायुः सर्वदेहेन्द्रिय-वापी भुक्तगाननिखिलवस्तूनां यो मलांशस्तस्य त्यागेनाधोद्वारेण चद्विरुत्सर्गेण शेषभावः साराशं तनौ नाडीद्वारा तत्तदधिष्ठाने यथा प्रापयति तथायमपि प्राकृतांशं त्याजित्वा शेषभावं सर्वं भगवति नयेदित्यन्वयः । तनावित्युपलक्षणम्, किन्तु देहप्रागेन्द्रियादिष्वित्यर्थः । अथवा ज्ञानमार्गायस्य योगादिधारणाया प्राणायामादिकरणेन सकलेन्द्रियाणां तत्तत्प्राकृतत्रिषयग्रहणःदिरूपं मलांशं त्याजित्वा वायुः शेषभावभूतं प्राकृततद्विज्ञीभूतं आत्मानं तानि च परमात्मनि यथा योजयति तथात्रापि स भाव इति शेषम् । भागमिति पाठे स्पष्टमेव । अथवा वायुर्यथा कल्पितजलानां यो मलांशमन्मध्यस्य . पङ्क्तम्य त्यागेन शेषभागं मलांशवशिष्टं जलं तनौ स्वस्मिन्नयनि शेषशुद्धात्वात् गृह्णाति, तथा स भावोपि प्राकृताग्रत्यागेन शेषभावं मयि तनौ स्वदेहादिरूपे प्रभो प्रापयेत्, तदात्मनो भवतीति भावः । अथवा तनौ स्वतनौ यत्सर्वं शेषभागं तनुष्वनिरिक्तं मनः प्रभृति तन् सफलं नयेत्, हरिं प्रापयेत्, एतत्स्वरूपात्मनो भवतीति पूर्वं । एत पूर्णां निरोधं विद्धो भवति ॥ १७, १८ ॥

ननु तद्भावस्वभावात्स्वत एव भविष्यतीति कर्तव्यविधिः किमर्थमुच्यते ? तत्राहुः
यस्य चेति ।

यस्य चा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।

तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

वेत्यनादरे । यद्यपि तद्भावस्वभावादेव तादृशस्य सर्वं भवति, तथापि लौकिकजना-
गुरोर्धेन यस्येन्द्रियस्य भगवत्कार्यं भगवदावेशेन तत्कृतिरिव कृतिर्यदा स्पष्टं प्रकटं न
दृश्यते तदा लौकिकसर्वपरिहागेन पूर्वोक्तैः भगवदीयैः सह गुणगानेन तसेन्द्रियस्य
इति निश्चयो ज्ञेय इत्यर्थः ॥ १९ ॥

एवं पूर्णं निरोधस्वरूपं निरूप्य तत्साधकत्वाद्गुणगानस्य सर्वोत्कृष्टत्वमाहुः नातः
परतर इति ।

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।

नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

मन्त्रस्तवविघातीर्थादीनां लोकवेदोक्तफलप्रापकत्वालोके वेदे च महत्त्वं भवतु, न तु
तदतिरिक्ते । गुणगानस्य तदतीतफलप्रापकत्वात्तदतीतसर्वोत्कृष्टत्वमपीत्येतज्ज्ञापनार्थं फल-
स्तुतिरुक्ता । यद्यपि मन्त्रादिद्वारा चित्तशुद्ध्या निग्रहादिकं भवति, तथापि महता क्लेशेन,
तत्राप्येतदपेक्षया फलं स्वल्पतरं, गानद्वारा निग्रहादिकमपि सुखेन भवति, फलमपि महत्,
सर्वोत्कृष्टमिति गुणगानस्यैव सर्वातिशयवत्त्वं निरूपितम् ॥ २० ॥

श्रीमदाचार्यचरणसरोजसततस्मृतेः ।

ममार्थवगतिर्जाता दुर्वोधेष्वत्र निश्चितम् ॥ १ ॥

तेन सङ्गतमेवाहं मन्येत्र तदपि स्वतः ।

संशोधयन्तु सुधियः कृपया मयि वत्मलाः ॥ २ ॥

अहर्निशंविचारेस्मिन्नेवं निष्ठानि यन्मनः ।

अतो हि लिङ्गे नूनं प्रवृत्तिर्न न चान्यथा ॥ ३ ॥

श्रीषिष्टलेश्वरपदाम्बुजरेणुं सर्वस्वमित्यनिशमस्तु ममाभिलाषः ॥

यत्संपर्शतः सपदि देवजने स्वतः श्रीवैश्वानरोक्तपदवीं फलिताखिला स्यात् ॥ ४ ॥

इति श्रीनिरोधलक्षणविवरणं श्रीब्रह्मसूत्रं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविद्युतिसमेतम् ।

प्रणम्य श्रीमदाचार्यान् स्वीयेषु करुणावतः । निरोधलक्षणग्रन्थं तदासश्चिन्तयत्ययम् ॥१॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः सञ्ज्ञासनिर्णये भक्तिमार्गीयत्यागस्य निरहानुभवार्थं कर्तव्यतां गुरुद्वयकथनमिन्नकालफलबोधनाभ्यामधिकारिभेदं च सूचयित्वा, तस्य त्यागस्य प्रेमैकसाध्यत्वं, तत्र साधनाकाङ्क्षायां भावनामिद्वयस्य भावमात्रस्यैव साधनत्वं, ततो विलक्षणाधिकारे गुणानां जीवनहेतुत्वं चोक्तवन्तः । तत्र कीदृशस्याधिकारिणः कीदृश्या भावनया जातः कीदृशो भावः साधनतां प्राप्नोति, गुणाश्च तत्र बाधकत्वेनोक्ता अपि कीदृशाधिकारे केन प्रकारेण जीवनेहेतुतया साधकत्वं प्राप्नुवन्तीत्याकाङ्क्षोत्पद्यते । किञ्च, भक्तिवर्धिन्यां जातभक्तिदृढबीजभावस्य भगवदुक्तस्वविचारितरीत्या भजमानस्य भक्तिप्रवृद्धार्थं गृहत्यागपूर्वकश्रवणकीर्तनरूपं साधनमुक्तवन्तः । अदृढबीजभावस्य तु गृहे स्थित्वा पूजाश्रवणादिभिः स्नेहासक्तिव्यसनपर्यन्तमुपाय तेन कृतार्थतां चोक्त्वा, अग्रे त्यागैकरणादेरावश्यकत्वमुक्तवन्तः । तत्रापि भक्तिवृद्धेः किं स्वरूपमित्याकाङ्क्षोत्पद्यते । तथा सेवाफलविवरणे चाद्यफलाभावे सेवाया अनाधिदैविकीत्य हेतुत्वेनोक्तवन्तः । तत्रापि सेवाया आधिदैविकीत्व कथं स्यादित्याकाङ्क्षोत्पद्यते । एव तत्र तत्राकाङ्क्षोत्पत्तौ तत्रत्यास्ता आकाङ्क्षाः पूरयितुं यथा भगवानवतारदशायाम् भक्तदृग्गोचराभिर्गुणलीलाभिः प्रपञ्चनिश्च्युतिपूर्वकस्वासक्तिरूप निरोध क्रमेण विदधानो जीवानुद्हरति, तथेदानीमनन्तारदशायामपि श्रवणकीर्तनादिगोचराभिर्गुणलीलाभिरेव क्रमेण निरुन्धानो जीवानुद्हरतीति बोधनाय त्यागपूर्वक श्रवणजन्यभावनया भजता, त्यागपूर्वक कीर्तनेन भजता, गृहे स्थित्वा पूजादिना च भजता, यथाधिकार भक्तिप्रवृद्ध्यात्मरूपपूर्वोक्तनिरोधार्थं यतमानेन भाव्यम् । तत्रापि त्यागपूर्वक श्रवणजन्यभावनया भजता कृपा परीक्षणीया, गुणाश्च गातव्याः, स्वावस्था च परीक्षणीया, स्वाधिकारानुसारेण स्वस्मिन् निरोधोत्पत्तिराशयविशेषैः परीक्षणीया । कीर्तनेन भजता तु कीर्तनजन्यसुखत्रिशेषैर्भक्तिवृद्धिः परीक्षणीया, कृपा च परीक्षणीया । गेहे स्थित्वा

१. तद्गुणितजयोस्तु भावनाप्रधानत्वमिति भावः । आधिदैविकी सेवा प्रेमद्वारा त्यागसाधिकेति ।

२. सञ्ज्ञामाधम उक्त्वा गृहत्यागम आह । ३ त्यागसञ्ज्ञासयोर्भेदो गीतायाम् । ४ तथा फलस्य प्रवर्तकत्वात् तत्राह । ५ ध्यानत्वेन कृपात्वेन कार्यकारणभावः ।

भजता तु सेवाया आधिदैविकीत्वाय श्रवणकीर्तनध्यानांन्यभीक्ष्णं विधेयानीत्युपदेष्टुं
निरोधलक्षणग्रन्थमारभन्ते ।

नन्वास्य ग्रन्थस्य सन्न्यासनिर्णयादिशेषत्वेन विचारे किं बीजमिति चेत् ?
उच्यते । अत्र ग्रन्थकरणप्रतिज्ञाऽभावेन यत्किञ्चित् साकाहृत्ये निश्चिते, सन्न्यास-
निर्णयस्यभावनादेः स्वरूपाकाह्नोत्थापकत्वात्, गुणानां जीवनहेतुत्वकथनस्य च
प्रकाराकाह्नोत्थापकत्वात्, भक्तिवर्धिनीत्यभक्तिवृद्धिपदस्य च स्वाभिधेयस्वरूपाकाह्नो-
त्थापकत्वान्, सेवाफलविवरणस्थानाधिदैविकीपदस्य चाधिदैविकीकथंभावाकाह्नोत्थापक-
त्वात्, अत्रत्याशंसागुणकीर्तनादिकथनस्य चाकस्मिकतया कैमर्थाकाह्नोत्थापकत्वात्,
परस्परकाह्नापूरकत्वं दयालुत्वादिशब्दानां तत्रत्यप्रमेयस्यापि प्रत्यभिज्ञानं चेति जानीहि ।
न च भक्तिवर्धिनीत्यपदप्रत्यभिज्ञाऽभावात् तच्छेषत्वाभावः शङ्क्यः । सन्न्यासनिर्णयप्रमेय-
णैव तत्रप्रमेयस्यापि क्रीडीकरणाददोषात् । परस्परकाह्नावशादेव श्रीहरिरावैरपि 'श्रीकृष्ण-
रमविश्विसे'त्यादिश्लोकपञ्चकस्य स्वतन्त्रत्वेन प्रतीयमानस्यापि जलभेदशेषत्वमङ्गीकृतम् ।
तस्मादेवं शेषत्वैकवाक्यत्वयोगङ्गीकारे न किञ्चिद्वाधकमिति तच्छेषत्वेन व्याख्यायते ।
तत्र सन्न्यासनिर्णये त्यागिनो भावनामात्रसिद्धभावस्यैव साधनत्वेन साधितत्वात्, त्यागिषु
प्रथमाधिकारिकृतस्य त्यागस्य विरहविषयकानुभवार्थत्वात्, निरहस्य च प्राकट्यतिरोभाव-
जनितदुःखात्मकत्वात्, तादृशस्याधिकारिणः कृष्णे आसक्त्या गृहस्थानां वाधकत्वा-
नात्मत्वयोर्भासने कृते, ईषत्प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वतया भगवदामर्त्तौ जातत्वे, व्यसनेन च
भगवद्गुणलीलाप्राधान्यं निहाय भगवत्स्वरूपपरतायां जातायां, दैन्ये मति जन्मप्रकर-
णोक्तरीत्या भक्तदुःखस्यैव भगवत्प्रादुर्भावहेतुत्वज्ञानात्, तादृशदुःखाशर्मद्योत्यद्यत इति ।
तत्र तादृशदुःखजनकान्तिगम्यस्यैव भक्तिवृद्धिरूपत्वं, प्रपञ्चविस्मृतिभगवदामर्त्तयोराधि-
प्रथमं तदाहुः यथेत्यादि ।

यच्च दुःखं यजोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।

गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥

अत्र दुःखाधारभूतानां प्रयाणां कथनेन तेषां भावनेवित्थं द्योतितम् । चकारत्रयेण
तत्तत्सजातीयभाववन्तः कन्नादेः कालतोऽज्जानात्र दुःखभाजः मंगृहीताः । तदानीं कन्सादि-
वदिदानीमप्यमुरान्तराणां सभवात् । कालाज्ञानयोगि संभवाच्च । क्वचिदिति अनिर्णीत-
देशविशेषोक्त्या तत्र तत्र भगवद्देशेपु पर्यटित्वसूचनेनाधिकारिणस्त्यागिन्यं द्योतितम् ।
एवमग्रेषु ज्ञेयम् । तथा च ये बालादिभावे, ये च पौण्ड्यादिभावे, ये च प्रौढादिभावे
आसक्ताः, तेषां दुःख इष्ट्वा तन्नितृत्यर्थं तादृशतादृशरूपैव भगवान् तत्तद्भावावुत्तं सुखं
दानुं प्रकटीभवतीति भगवत्प्राकट्ये तादृश दुःखमेव साधनमिति स्वस्मिन् तदाशंमोत्सादको

यः प्रपद्यविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपो निरोधः स एव कृष्णे व्यसनस्य फलम् । तदाशंसैव प्रथमाधिकारिणो भक्तिवृद्धिलक्षणमित्यर्थः । अत्र स्यादित्याशंसासूचकम् । यद्यपि आशंसावचने लिङ्गिति सूत्रेण आशमावाचिन्सुपपद एव लिङ्गं विहितस्तथापि लोक उपपदाभावेपि देवदत्तश्चेदागच्छेद् मत्कार्यं भवेदित्यादिप्रयोगदर्शनात्तत्र दोषः । यदि च लोकोक्तिर्न प्रमाणमिति प्रार्थनायां वा सम्भाननायां वा लिङ्गिष्यते, तदापि तयोराशंसासूचकत्वादाशंसा न व्यभिचरति, तस्माददोषः ॥ १ ॥

अथ मध्यमाधिकारिकृतस्य त्यागस्य विरहसामयिकासक्तिप्रमन्यायकमगवदनुभवार्थत्वात् तस्य भक्तिवृद्धिस्वरूपं तादृशनिरोधलक्षणकथनमुत्पेनाहुः गोकुल इत्यादि ।

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां ब्रजवासिनाम् ।

यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विभास्यति ॥ २ ॥

तुशब्दः पूर्वव्यापृच्यर्थः । एषोत्यन्त विप्रयोगेण दुःखित इति रसप्रधान इति प्राकृत्यजनिका अत्यन्तासक्तिरेव तस्य भक्तिवृद्धिरिति यथाकथञ्चित् दर्शनजन्यसुखाकाङ्क्षारूपं कार्यं तद्भक्तिवृद्ध्यात्मकनिरोधलक्षणमिति ज्ञापनाय पूर्वं गोपिकापदोक्तिः । अन्येषां तद्वत् सर्वात्मभावाभावेन ततो न्यूनत्वात् पश्चादुक्तिः । किंशब्दो विकल्प द्योतयति । 'विकल्पे किं किमूत चे'ति कोशात् । आशसायां भविष्यत्काले हृद ॥ २ ॥

अधोत्तमाधिकारिकृतस्य त्यागस्य विरहानन्तरभाजिसाक्षात्कारार्थत्वात् तस्य तत्साक्षात्कारोत्तरं यदा पुनर्ब्रजस्थानामिष विरहस्तदा तस्य पूर्वानुभूतस्य लीलासुखादिस्मरणसवलितविरहमामयिकानुभववत्त्वात् तदा भगवतः स्वस्मरणोत्पादको निरोध एव तस्य भक्तिवृद्धिरूप इति तस्य स्वस्मिन्तदभिज्ञापक लक्षणमाहुः उद्धचेत्यादि ।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।

वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि कनित् ॥ ३ ॥

अत्रापि पूर्वश्लोकोक्ता स्यादिनि क्रिया अनुपजते । तथा च तादृशस्मरणोत्सवा-दिविषयिणी आशंसैव स्वस्मिन्तादृशभक्तिवृद्धिज्ञापक लक्षणमित्यर्थः ।

अत्र निष्पत्ति श्लोकेषु गोकुलादोक्त्या पूर्वोक्तरीतिको भाव श्रीव्रजनाथस्वरूपासक्तानामेव त्रिरक्षितः, नान्यम्वरूपासक्तानामिति ज्ञापितम् । ते एव परमानुग्रहविषया इति च । तृतीये वृन्दावनपदोक्तिस्तु तेष्वपि आधिक्यज्ञापनार्थेति बोध्यम् । तेनैतादृशपुष्टिमागीरिपयक एवाय निचारः, न तु सर्वसाधारण इत्यपि बोधितम् । चात्रामते त्वन श्लोकत्रये मुनोपिन्यायुक्तस्य निरोधस्याप्रत्यभावसूचको मनोरथ एवोच्यते । श्रीहरिरायाणामते तु निरोधनिमित्तकारणभक्तयोर्भावनयुगमानयोर्मध्ये प्रथम भावनमुच्यते, तत्र दुर्लभस्व-बोधनाय स्वनिषयकतया प्रार्थनारूपेणोच्यते । मन्मते त्विदमाशसाय भक्तिवृद्धिज्ञापक-लक्षणतयैवोच्यते इति ततो भेद इति ज्ञेयम् ॥ ३ ॥

एवं त्यागिषु ये श्रवणजन्यभावनामात्रपरास्तेषां भक्तिवृद्धिरूपं भावनात्मकं निरोध-
मांशंसारूपकार्यमुदेनाभिज्ञानार्थमुक्तत्वा, ये त्यागिषु ततोऽधिका गुणगानासक्तास्तेषां
भक्तिवृद्ध्यात्मकनिरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणं त्रिभिर्वदन्त प्रथमं गुणगातृषु
प्रथमाधिकारिणः स्वस्मिन्तदभिज्ञापक लक्षणमाहुः महतां कृपयेत्यादि ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति ।

तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुन्वाय हि ॥ ४ ॥

अत्र यावदिति पदमुत्तराभिज्ञापकं तावत्पद च पूर्वोक्तेः । महत्पदं च
परोक्ष्येण ब्रजभक्तज्ञापकम् । तथा च तासां कृपया भगवान् यावद्दययिष्यति
वक्ष्यमाणरीतिकस्यैकतानत्वसंपादिकां दयां करिष्यति तावत् ततः पूर्वं कीर्त्यमानः
'नामान्यनन्तस्य' इत्युक्तरीत्या स्मरणपूर्वकं वर्ण्यमानः आनन्दसन्दोहः श्रीमद्गुन्दा-
पनेन्दुप्रकटितरसिजानन्दस्य यः समूहः लीलारूपः हि निश्चयेन सुखाय भवतीति शेषः ।
अतन्तस्य कीर्त्यमानलीलाया सुखजनन व्यसनोत्कर्षरूपस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापक
लक्षणम् । इतनपत्नेन प्रपञ्चनिस्मृत्याधिकादित्यर्थः ॥ ४ ॥

अधैवकर्तुं पूर्वदशात् आधिन्य कीर्तनपरता च पूर्वोक्तमहत्कृपयाधिका भवतीति
तादृशनिरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापक लक्षणमाहुः महतां कृपया यद्वदिलादि ।

महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा ।

न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

महतां पूर्वोक्तानां कृपया यद्वद् यथा कीर्तनं लौकिकसाधे निषेधत्वात् भक्तकृतं
लीलाविषयकं कीर्तनं सदा सुखदं तथा लौकिकानां न, लौकिककर्तृकं लौकिक-
विषयकं च कीर्तनं न, सुखदं न । अत्रापि भवतीति शेषः । तत्र दृष्टान्तः । स्निग्धभोजन-
रूक्षवदिति । स्निग्ध भोजनं यस्यासौ स्निग्धभोजनं, स्निग्धभोजनस्य रूक्षेण तुल्यं
भवतीति स्निग्धभोजनरूक्षवत् । तथा च लौकिककर्तृके तद्विषयके च कीर्तने असुखदत्त-
विना, विनानन्दाश्रुतया शुद्धे भक्त्या विनाशय' इत्युक्तधर्मज्ञायमानं यत्सुखदत्तं तदेव
पूर्वस्माद्दृष्टव्यं निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापक लक्षणमित्यर्थः ॥ ५ ॥

अथ ततोऽप्युत्कृष्टाधिकारे पूर्वस्मादधिकस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापक लक्षणमाहुः
गुणगानं इत्यादि ।

गुणगाने सुन्वायासिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।

यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

'महतां कृपये'ति पदद्वयमत्राप्यनुपपन्नं । अतो महता कृपया गोविन्दस्य गुण-
गाने रामानुसारेण भगवद्गुणोपबन्धसुक्तपदवाक्यानां कीर्तने सुन्वायासिर्पथा येन

प्रकारेण प्रजायते प्रकर्षाज्जायते, तथा तेन प्रकारेण शुकादीनां ज्ञानिभक्तानां आत्मनि हृदये न. अन्यतः कुतः । ज्ञानभक्तिभ्यामेव चेन्न भवति तदा तदतिरिक्ता-
द्धेतोः कुतः स्यादित्यर्थः कैमुतिकेनोक्तः । तथा च भगवद्गुणगाने तादृशसुखावाप्तिः
पूर्वस्मादुत्कृष्टस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः । एवं च त्यागकर्तृणां मध्ये
कीर्तयितृषु गुणगातृषु च महत्कृपा हेतुत्वेनापेक्षितेति घोषितम् ॥ ६ ॥

सा कृपा तत्कार्यभूतं गुणकीर्तनादिजन्यं सुखं च कथं स्यादित्यपेक्षायां तत्र भगव-
त्कृपारूपं हेतुं प्रकारभेदेनाहुः क्लिश्यमानानित्यादि ।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।

तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गमं बहिः ॥ ७ ॥

जनान् जननधर्मवतः स्वकीयान् क्लिश्यमानान् स्वप्राप्त्यर्थं दुःखितान् दृष्ट्वा
यदा कृपायुक्तो भवेत् अत्यनुग्रहं कुर्यात् तदा हृदिस्थं सर्वं सदानन्दं बहि-
र्निर्गमं भवेत् । पूर्वाधीकता भवनक्रियाऽत्रायनुपजते । तथा च कीर्तयितृणां भगवद्दयया
भावनाप्रावत्ये दहरविद्योक्तस्यैव सर्वस्यान्तरस्य बहिःप्राकट्येन महतामपि प्राकट्यात्
तत्कृपया स निरोधः फलमुपपद्यतीत्यर्थः । तेनेदमपि फलोपधायकस्य निरोधस्यैव
लक्षणम् ॥ ७ ॥

अतः परं कीर्तयितृषु तनो विशेषं वक्तुं तथा तमाहुः सर्वेत्यादि ।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

दृङ्गनः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः श्लाघयते जनान् ॥ ८ ॥

उक्तरीत्या सर्वस्य सदानन्दरूपस्य बहिः प्राकट्ये जाता या सदानन्दता, तेन
सर्वानन्दप्रचुरम्यापि कृपाजनितो य आनन्दः सः सुगमं दुर्लभः । कुत इत्याकाङ्क्षायां तस्य
भगवदानहेतुकत्वं स्फुटीकुर्वन्ति दृङ्गन इत्यादि । हृदि स्थितो भगवान् कीर्त्यमानान् स्वगु-
णान् श्रुत्वा पूर्णः बहुधा निविष्टः । कृपापदस्य पूर्वमुक्तत्वान् कृपया वा पूर्णः सन् जनान्
स्वीकृतान् ग्राहयन्ते, अन्वर्षेण स्मर्यामानं करोति । अत्र श्रुत्येति पदाद्गुणानां कीर्त्त-
मानन्वर्षाधिकम् । तथा च तेषु कृपया जनितो यो भगवदानन्दः तेन तद्भवति, नान्यत
इत्यनो दुर्लभ इत्यर्थः । अत इदं फलान्मकस्य निरोधस्य लक्षणम् । एव च भक्तिवृद्धेः
स्वरूपमत्र पर्याप्तोति । तेन पूर्वोक्तेषु त्यागकर्तृषु साधनांशानान्येपि 'छन्दन उभयाविरोधा'
दिति न्यायेन यत्र भगवत्स्मरकृतृकस्वगुणगानकीर्तनयोः श्रवणेच्छा तेषां गृणगानादीं
प्रवृत्तिः, एत च या न तेषां भावनामात्र एव प्रवृत्तिरिति मुन्धाधिकारिषु व्यपस्था
पोष्या । एतेन कृपापरीक्षणप्रकार उक्तः ॥ ८ ॥

एवं नानाविधस्य निरोधस्य लक्षणाभ्युत्तया तत्र साधनमुपदिशन्ति तस्मादित्यादि ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।

सदानन्दपरैर्गोपाः सच्चिदानन्दता स्वतः ॥ ९ ॥

यस्माद्भावनापेक्षयापि भगवान् गुणगानेन अधिकं प्रसीदति तस्मात् सर्वं परि-
त्यज्य भक्तिमार्गीत्या प्रेम्णा सर्वं गृहादिकं सवासनं त्यक्त्वा निरुद्धैः प्रपद्यविस्मृतिपूर्वक-
भगवदासक्तियुक्तैः सदानन्दपरैः हृदयस्थलीलासृष्टैकतानैः सर्वदा अभीक्ष्णं काला-
विच्छेदेन वा गुणाः गोपाः गानविपयीकार्याः । तत्रावान्तरफलमाहुः सच्चिदानन्दता
स्वत इति । स्वतो यदच्छातः गुणगानातिरिक्तसाधनं विनैव सच्चिदानन्दता अक्षरमक्षता
भवति । ततः इति पाठे गुणगानादेवेत्यर्थो बोध्यः । एतेन गुणगातुः स्वावस्थापरीक्षण-
प्रकारश्चोक्तः । एवं च सिद्धान्तमुक्त्वावल्यां 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधन'मित्यनेन
यदवान्तरफलमुक्तं तदीदृशानामेव भवतीति बोधितम् ॥ ९ ॥

एवं त्यागिषु मुख्याधिकारिणां यादृशनिरोधस्य सिद्धिः तत्स्वरूपमुक्त्वा तत्र
ज्ञानुभवमग्रिमसिद्ध्यर्थं प्रमाणयन्तस्तद्वर्णनप्रयोजनमाहुः अहमित्यादि ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपद्वर्षी गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाद्य निरोधं वर्णयामि तम् ॥ १० ॥

अहं निरुद्धः पूर्वोक्तरीत्या भगवदासक्तः रोधेन संसारावेशराहित्यादिन्द्रियनि-
ग्रहेण निरोधपद्वर्षी गतः निरोधमार्गं प्राप्तः सन् निरुद्धानां रोधाद्य संसारावेशरा-
हित्याद्यर्थं तं पूर्वोक्तनिरोधं वर्णयामि । तुः प्रयोजनान्तरशङ्कानिरासे । त इति पाठे तु
चतुर्थी । तथा च यः कथं भक्तिवृद्धिरित्यादिकं पूर्वं शृण्वान् तस्मै तुभ्यं तदर्थमग्रे
वर्णयामीत्यर्थः ॥ १० ॥

एवं मध्यमाद्यर्थं निरोधवर्णनं प्रतिज्ञायोपपादनपूर्वकं तदुपयोगिनिरोधस्वरूपमाहुः
हरिणेत्यादि ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ॥ ११ ॥

विनिर्मुक्ताः विशेषेण लक्ताः, स्वीयत्वेन नाङ्गीकृता इति यावत् । अत्रेति
गुणगाने भावनायां च । तथा च संसारावेशस्य भगवदनङ्गीकृतलक्षणत्वात्तद्विरुद्धा या गुण-
गाने भावनायां चाहर्निशं मोदप्रसक्तिः । ना निरुद्धानां सामान्यलक्षणमित्यर्थः सिध्यति ॥ ११ ॥

एवं लक्षणं निरूप्य भावकापेक्षया गुणगावृषु विशेषमाहुः गुणेऽपिबल्यादि ।

गुणेऽपिबल्यादि ।

संसारचिरहर्षेण न स्यातां हरिषत्सुगम् ।

शुद्धैरिणः जडदोषनिवर्तकस्य गुणेषु गोवर्धनोद्धरणादिषु सर्वदासक्तचित्तानां संसारश्च विरहकेशश्च न स्यातां किन्तु हरिवत् सुखम् । तथा च भावकानां दुःखा-शसया सुखाकाङ्क्षया भगवत्कृतस्मरणाकाङ्क्षया च विरहकृत दुःखमेव बहुलम्, तत एव च शीघ्र लयः । गावृणां तु ससारवेशाभावान्न लौकिक दुःखम्, विरहस्फूर्तावन्तनिष्ठा, पहिरनुभवे च गुणगानम् । अतो भगवत इव सुखमित्यर्थः ॥ १२ ॥

एव भावयितृगानोर्विशेषमुक्त्वा तस्य कृपाहेतुकत्वं निगमयन्ति, मध्यमाधिकारो हेतु तद्व्यवस्था च वदन्ति तदेत्यादि ।

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथाऽऽकूरता मता ।

याधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १३ ॥

यदा पूर्वोक्ता रीति तदा भगवतो दयालुत्वं भवेदिति पूर्वोक्तस्य निगमनम् । अथ मध्यमस्य व्यवस्थोच्यते अन्यथेत्यादि । अन्यथा यदि न गुणाविष्टचित्तता तदा अकूरता भगवत, अघातकता तस्मिन् भक्तिमार्गच्युत्यभावेतुतेति यावत् । सा मता ससारवेशाभावगुणानिष्टचित्तताभावान्या युक्तिभ्यामनुचिन्तिता । तथा च तेन मध्यमाधिकार इत्यर्थः । एतद्व्यवस्थामाहु याधेत्यादि । अत्र अकूरताया चाशङ्का भगवद्विषयका-ज्ञानकृता निरोधच्युतिशङ्का, अपिशब्दात् भावनाप्राप्त्यकृतो लयश्च नान्ति, तदध्यास आसक्तिभ्रमन्यायको भगवदध्यासश्च मिष्यति । तेनेय सर्वा मभाप्रकट्यवती मध्यमाधिकारिव्यवस्थेत्यर्थः । एतदेव कार्यं तद्वन्नकृत्य तादृशनिरोधस्य लक्षण ज्ञेयम् । एतानता भक्तिपरिण्या 'बीजभावे ढेह तु स्यात् त्यागाच्छ्रमणकीर्तना'दित्यनेन यद्वक्तृद्विमाणन-मुक्त तस्य फलमुपपादित ज्ञेयम् ॥ १३ ॥

अथादृष्टीजभास्य पूजादिभिर्यतमानस्य समागं त्रेशसत्त्वान् तस्य व्यवस्था त्रिभि-र्वदन्त तत्कृतसेवाया आधिदैविकीत्वाय पूर्वमुद्देगनिवर्तक सर्ववस्तुममर्षणरूप साधनमाहु संसारावेशेत्यादि ।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां क्षिणाप च ।

कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भ्रम ईशस्य योजयेत् ॥ १४ ॥

भगवद्रर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः ।

गुणैर्हरिसुगन्धस्पर्शाद्य दृःग्यं भानि कर्हिचित् ॥ १५ ॥

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादृत्कर्षं गुणचर्षणे ।

अमन्मरंरच्छुच्यैश्च चर्षणीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

तादृशेन हि समागनेशुष्टानांन्द्रियाणि निग्राह्याणि । तानि च निशुद्धमाणानि क्षोभ

१ स्वस्याधोश्रवणं गुणेषु । २ शुद्धी दुष्टानीं इत्यादि शब्दव्यवहारप्रत्ययानि न भवन्ति, तस्मिन् इत्यादि प्रत्ययानि । ३ भवि ५२ ।

जनयन्ति, अतस्तदमावार्थं तेषां हिताय चै निक्षयेन सर्वाणि वस्तूनि स्वीयानि कृष्णस्य भूम्न ईशस्य योजयेत् । समर्थे भगवत्सम्बन्धमिश्रितान्यनुसन्दध्यात् । फलात्मकत्वबोधनाय कृष्णस्येति । अवतारादिवारणाय भूम्न इति । एतावन्मात्रसाधनकरणेषु विषयव्यासंगनिवारणसामर्थ्यबोधनाय ईजास्येति । 'तं यथा यथोपासत' इति श्रुत्या तत्कतुन्यायेन चोक्तधर्मपुरस्कारेण चिन्तनसावश्यकत्वात् पदत्रयकथनम् । तेन फलमुपपादयन्ति भगवदित्यादि । एकादशस्कन्धे 'दारान् सुता'निति प्रबुद्धवाक्ये सर्ववस्तुसमर्पणस्य भगवद्दर्भत्वकथनात्, कविवाक्ये च 'भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति'-रित्यादिश्लोकद्वये विषयवैराग्यस्य फलत्वेन कथनात्, सर्ववस्तुसमर्पणस्य भगवद्दर्भस्य सामर्थ्याद्विषये विराग स्थिरो भवति । तथा च भक्तिवर्धिन्यां 'स्नेहाद्रागविनाशः सा'दित्यनेन यत्फलमदृष्टीजभावस्य स्नेहादुक्तम्, तत्सैर्यकथनेन तज्जनकस्य स्नेहस्य दार्ढ्यमवनमत्र फलत्वेन बोधितम् । एव सर्वसमर्पणात्मकं योजनमेतादृशस्य निरोधलक्षणमिति च । आसक्तिदार्ढ्याय साधनान्तरमाहुः गुणैरिति । द्वितीयस्कन्धे 'विचक्षणो यच्चरणोपसादना'दिति शुकवाक्ये कीर्तनप्रणालिकया भगवद्भक्तिं प्राप्नुवतां गतकर्मत्वकथनेन कीर्त्तमानैर्गुणैः हरिसुखस्पर्शात् लौकिक दुःखं कर्हिचिदपि न भान्ति, न ज्ञानविषयीभवनीत्यर्थः । अत्र सर्ववस्तुयोजनस्य पूर्वं कथनेन तस्याधिकाररूपता बोधिता । तेन 'श्रद्धाश्रुते'त्यारभ्य आत्मनिवेदिनां भक्तिफलबोधकमेकादशस्कन्धीय भगवद्वाक्यजातं स्मारितम् । तेनात्मनिवेदनपूर्वकं क्रियमाणेन गुणगानेन दुःसानुसन्धानाभावरूपं फलं सिध्यतीति बोधितम् । एव फलमुपपाद्य दार्ढ्याय तदकृतिमुपदिशन्ति एवमित्यादि । एवं पूर्वोक्तरीत्या गुणवर्णने ज्ञानमार्गादुत्कर्षमन्धार्य, अमत्सरैरन्तुन्धैश्च परोत्कर्षामहन मत्सरः, लोभो गर्धः, अत्यन्ताभिलाषः, ताभ्यां दोषाभ्यां रहितैः, सर्वदा गुणा वर्णनीयाः । उत्कर्ष इति प्रथमान्तपाठे तु गुणैः हरिसुखस्पर्शात् दुःखाभानं ज्ञात्वा गुणवर्णने ज्ञानमार्गादुत्कर्षं सिध्यतीति शेषेण वाक्यं प्रणीयम् । तथा चैतदज्ञात्वा गुणवर्णने दुःखाभानमानम् । ज्ञात्वा वर्णने त्वेव उत्कर्ष इत्युक्तं भवति । तथा चैव गुणवर्णने तेनामक्तौ 'तद्गुणेषु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति ही'ति न्यायेन भगवदामगिदार्ढ्यं भक्तिवर्धिन्युक्ता गृहारुचिर्गृहस्थानां बाधकत्वानात्मत्वमानं च दृढीभवतीत्यर्थवर्णनं बोधितम् । एव गुणमानं चासक्तिगतो निरोधलक्षणमित्यपि । अथ ध्यसनदार्ढ्याय भगवन्ति साक्षात् परम्परया च स्वीयेन्द्रियविनियोगादिरूपसाधनान्तरमाहुस्त्रिभिः हरिमूर्तिगित्यादि ।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पपादपि तत्र हि ।
दर्शनं स्पर्शनं स्पर्शं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥

अचणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः । पापोर्मलांशल्यागेन
शेषभावं तनौ नयेत् ॥१८॥ यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

योऽदृढधीजः व्यसनार्थं यतते, तेन हरेर्भगवतो मूर्तिः स्वयं सेव्यमाना सदाभीक्ष्णं
निरन्तरं वा ध्येया, भगवदभिन्नत्वेन ध्यातव्या । हि यतो हेतोः । तत्र मूर्तीं संकल्पा-
दभिन्नताविचाराद्दर्शनं स्पर्शनं चक्षुषस्त्वचश्च कार्यं स्पष्टं स्वरूपदर्शनेन तत्स्पर्शनेन
च भगवत्सम्बन्धितया स्फुटम् । पूजाप्रवाहेण तत्र सन्निधाने लब्धे अन्तर्यामिब्राह्मणो-
क्तन्यायेन, गुणोपसंहारे कार्याख्यानाधिकरणे 'सम्बन्धादेवगन्धर्वापी'ति सूत्रेऽङ्गीकृतौ,
निबन्धे च 'तद्रूपं तत्र च स्थित'मित्येतद्बोधिते भगवदावेशे, बह्वययोगोलकन्यायेन
च भगवत्साद्ग्राह्य बहिर्भावात् स्फुटमित्यर्थः । एतदेव हस्तपादयोः कार्येऽतिदिशन्ति
तथा कृतिगती सदेति । उक्तन्यायेन यथा पूर्वोक्तं द्वयं भगवत्सम्बन्धि स्फुटम्,
तथा कृतिगती हस्तपादयोः कार्ये भगवत्सेवायां तदर्थं चलने च सदा भगवत्सम्बन्धिनी
स्पष्टे । पूर्वोक्तं स्पष्टपदमत्र विभक्तिरिन्द्रविपरिणामेन सम्बध्यते सन्देशात् । श्रोत्रवाक्-
कार्ययोस्तथात्वमाहुः अचणं कीर्तनं स्पष्टमिति । एतयोः प्रकारान्तरेणापि भगव-
त्सम्बन्धित्वस्य सर्वमममत्वं बोधयितुं स्पष्टपदस्य पुनरुक्तिः । उपस्थे भगवदुपयोगित्वसा-
स्फुटत्वात् तस्य भगवत्सम्बन्धित्वाय प्रकारमाहुः पुत्रे कृष्णप्रिये रतिरिति । 'कामः
सङ्कल्पजः स्मृतः,' 'मङ्गल्पप्रभवान् कामा'नित्यादिवाक्यैः सङ्कल्पस्य पुत्रे कामे कृष्णस्य
प्रिये सति रतिरुपस्थकार्यं भगवत्सम्बन्धि भवतीति शेषः । गोपालतापनीये 'यं मां स्मृत्वा
निष्कामः सकामो भवती'ति गान्धर्वी प्रति भगवद्वाच्यस्य श्रावणाद्भवद्भ्यानात् तादृश-
सङ्कल्पेन भगवद्विषयककामोत्पत्तौ सापि भवतीत्यर्थः । भगवद्विषयककामाभावे तु यथो-
पस्थहितं भवति तथा प्रकारस्त्वत्रे वाच्यः । पायोर्नियोगमाहुः पायोर्नित्यादि । पापोः
कार्यं हि विसर्गः, स चात्र मलांशल्यागरूपः, तेन कार्येण तजनकसेन्द्रियस्य तनौ
शेषभावं नयेत् । भगवति विनियोज्यमाने स्वशरीरे तच्छोधनद्वारा गुणभाव प्रापयेत् ।
अत्रायमर्थः । वैष्णुगीते 'अक्षण्वता'मित्यत्र सुनोविनीस्थास्विन्द्रियफलबोधिकासु कारिकासु
यद्रेमोद्गमरूपं पासुकार्यमुक्तम्, तथा 'एषां तु भाग्यमहिमे'ति प्रशिक्षाध्यायश्लोक-
विवरणे 'रोमायस्त्रेदो दशमकार्यं' मित्युक्तम् । यत्र तृतीयस्कन्धे 'सुघ्नमीलदृशाऽथु च'
द्वयप्रानन्दाश्रुमोचनरूपं तत्कार्यमुक्तं, तत् प्रथमाधिकारं न सम्भवति, द्वितीयस्कन्धे
'तद्रममरं हृदयं'मित्यत्र तथा निर्णयात् । अनोर 'अन्नमशिनं त्रेधा भवती'त्यादि-
ल्लदोगक्षुत्सुकोऽनन्तयोः स्थूलधातुः मूत्रपूरीपात्मको यश्च 'कफः पित्तं मलः खेपु प्रमेदो
नखलोम च । कर्पविद्रूपिका चेति धातूनां क्रमशो मला' इति वैषकोक्तो मलांशः,
स हि पासुर्नवेन्द्रियेण तत्तद्देहछिद्रद्वारा निर्गच्छति । तावतैव तस्सेन्द्रियस्य विनियोग
इति गौणत्वेन शेषता । किम्, एवं 'मसारायेशदुष्टाना'मितीन्द्रियविशेषणेन मध्ये धामत्सरै-

लुप्थेति कथनाद्गुणवर्णनकर्तृषु तत्सत्ताधोपेनान्ते चोक्तपायुकार्यकथनेन चैतेषा जघन्या-
धिकारित्व बोधितम् । तेन ये भक्तिवर्धिन्यामदृढवीजभावा उक्तास्तदर्थोयमुपदेश इति
सूचितम् । किञ्च, अत्र मन.प्रभृतीना नवाना विनियोजनप्रकार उक्तः, प्राणरसन
योस्तुविनियोगः कोपि नोक्तः । किञ्च, भगवत्प्रिये कामे उपस्थविनियोगकथनात्
तदभावे तदभावाः सूचितः । तथा सति तेषा भगवदुपयोगाभावे किं कार्यमित्याकाक्षाया-
माहु यस्य चेत्यादि । चेत्यनादरे । यस्येन्द्रियस्य भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न
दृश्यते तदा तस्येन्द्रियस्य विशेषेण निग्रहं सयमं कर्तुमावश्यकं इति निश्चयः ।
तथा च यदि तत्र तेषा निग्रहं न कुर्यात् तदा, नो चेत् 'प्रमत्तमसदिन्द्रिययाजिस्ता'
इत्युक्तन्यायेन त्रिपयदस्युषु पाते ससारावेशरूप महदेवानिष्टं स्यात्, अतस्तदानश्यकमि-
त्यर्थः । एवञ्च जघन्याधिकारिणा यदुक्तोपदेशरीत्या करणं तदपि तदुचितनिरोधस्यैव लक्ष-
णम् । तत्रापि मुत्प्राप्तिश्चेत्, तदा सुतरा तथेति बोध्यम् । एव कारणे उद्वेगनिवृत्त्या क्रमेण
सेवाया आधिदैविकीत्वं सम्पद्यत इत्येतदेव जघन्याधिकारिणा मुख्यासाधनमिति सिध्यति ।
एव सर्वमुपदिश्य जघन्याधिकारिणामेतत्प्रवृत्तिमुत्पादयितुं प्रवृत्तान्तर उपदिष्टेभ्यः
साधनान्तरेभ्य एतस्य साधनस्योत्कर्षं वदन्ति नान् इत्यादि ।

नातः परतरो मन्त्रो नान् परतर स्तत्र ।
नान्तः परतरा त्रिन्या तीर्थं नान् परात्परम् ॥ २० ॥

जघन्याधिकारिणामन्तः उक्तात् साधनानान् परतर उक्तान्तर मन्त्रोष्टा ।
रादिर्न । तदारतन हि सेवार्करणाद्गतनोक्तम्, अनुकल्पत्वेन च, अतस्तदवयव । एवमगपि
बोध्यम् । स्तत्र तृणात्रयादिमन्त्रोपपठ, गोपि तथा, अनुकल्पनादद्गत्वाच्च, त्रिक
धैर्याश्रये तर्धवाङ्गीकारादिति । त्रिन्या उपामना, तीर्थं गङ्गादि, तयोरपि भगवत्प्रभाभारे
विलम्बेन फलसाधकान्, शुभा तत्रतुन्यायादग्णात्, भारते च यजतीरियो समान
फलत्वेन कथनात् तयोरत्र पृथगिति । तेन जघन्यानामधिकारिणामत्रोक्त योजनेनादि
साधनत्रयेणैवावश्यकम् । तत्र स्वामर्षि यमनाना क्रमेण गृहत्यागोत्तर पूजाकनिरोधा
त्मकभक्तिउद्दिमिन्द्रिरिति सिद्धम् । तत्र गोर्धना श्रीहरिगयाश्च इन्द्रिया ये त्रिनिमुक्ता'
इति श्लोकोत्तर समाराज्यं मरु पठति तदत्र च 'गुणध्वानिप्रचित्ताना मित्यादीन्
क्रमेण श्लोकान् पठति तत्रानाम्नु यत्र क्रमेण गेडु, तेन क्रमेण मया व्याख्यातम् ।
व्याख्यानप्रकाशान् मरुपा नस्ति इति मया म नानुदित इति दिरु ॥ २० ॥

आचार्यस्यट्टपया इत्यन्वितेन यन् पेति भगवता त्रनयाधकेन ॥
तद्विज्ञानमस्ति पुत्रोत्तमारत्र श्रीविठ्ठलेशचरणाम्नुतादासदास ॥ १ ॥
नि श्रीगतात्तत्र नान् त्रानुत्तम त्रिन्या निनेधलक्षणं नमस्त्रिभुवि ।

१ इत्या रूपं १६१ अत्र तत्र मनः त्रिं तदुक्ताय पुत्र ता माधिवमिति साधनं
मरुत त्रिं उच्यते तत्र या मधमिति । २ तत्रतमपणाम्नु योचनं तदादि । ३ व्याख्याने प्रकारद्वयम् ।
भगवदुपयोगं शान्ता गत्या तु पुत्रोत्तमः । तत्रार्थं त्रिन्या ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीश्यामलात्मजश्रीब्रजराजकृतविवरणसमेतम् ।

ब्रजश्रीहृद्यगिरिपु रोमालियमुनातटे । तद्बाहुलतिकावृन्दे श्रीङ्गकृष्णो विराजते ॥ १ ॥
गोपीशरतिमार्गोज्ज्वलित्वाचार्यसंस्कृतः । मयि श्रीगोपिकाधीशनिरोधोऽस्तु महाफलः ॥ २ ॥
स्वाचार्यचरणाम्बोजकृपया तन्निरूपितः । स्वीयसौकर्यधोधाय निरोधः क्रियते स्फुटः ॥ ३ ॥
श्रीविद्वलेशपादाब्जकृपासमुद्रप्रिभिः । निरोधकल्पवृक्षो मे सिञ्चितः फलितोभवत् ॥ ४ ॥

श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयेषु कृपया निरोधफलदित्सया निरोधस्वरूपं विवृण्वन्ति ।
तस्य फलात्मकानुशयनरूपत्वात्तत्र च प्रथमं प्राकट्यमपेक्ष्यत इति यथा प्राकट्यपूर्वकः
सिद्धो भवेत्तथा निरूपयन्ति । यद्येति पूर्वं येन प्रकारेण ब्रजे निरोधार्थं प्रभुराविर्भूतः
स मयि नास्तीति तदभावजदैन्येन तत्प्राप्त्यर्थं तथा प्रार्थनीयो यथा स भावो भवतीत्याहुः
यच्च दुःखमिति ।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।

गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥

यद्दुःखं यशोदाया नन्दादीनां गोपिकानां गोकुले भगवदाविर्भावात्पूर्वमभूत्
तद्दुःखं मम क्वचित्सादिति सम्बन्धः । भगवदाविर्भावाज्ज्ञायते यत्सर्वेषां तत्रत्यानां तादृशं
दुःखमभूयेन भगवदाविर्भावोऽजनि । अन्यथा भगवान्निःसाधनः दुःखाभावेन प्रकटो
भवेत् । चकारत्रयेण तत्सम्बन्धिनामपि तादृशदुःखमभूदिति भावो ज्ञाप्यते । अन्यथा
संसर्गतोपि दोषः स्यात् । कश्चिदिति स्वस्य दैन्याधिक्यार्थमयोग्यत्वज्ञापनाय । गोकुल
इति पदात्सर्वथा तत्रत्यानां निर्दोषत्वं ज्ञापितम् । यत्सत्रानभिज्ञतेति न चातुर्यकापत्या-
दिना दुःखमभूत्, किन्तु साहजिकमेव ॥ १ ॥

एतद्दुःखानन्तरमावि भगवदाविर्भावजं सुखं तत्रत्यानामिव भवेदिति प्रार्थनीयं
दैन्येनेवेत्याशयेनाहुः गोकुल इति ।

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां ब्रजवासिनाम् ।

यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

गोपिकानां गोकुले इन्द्रियकृते, तु पुनः सर्वेषां ब्रजवासिनां भगवदाविर्भावे जाते

यत्सुखं समभूत्तत्सुखं भगवान् किं मे विधास्यति । अत्रायं भावः । गोपिकानामिन्द्रियकुले
'आत्मानं भूषयाश्चकु'रिति न्यायेन जात आनन्दो भगवान् पद्भुणैश्वर्ययुक्तः सर्वं कृत्वा
सर्वदानसमर्थस्तादृक्स्वरूपं सम्पाद्य तथा दानं करिष्यतीति समग्रो मनोरथः । तस्य
भावस्यात्यन्तं दुर्लभत्वात्कमेण भविष्यतीति भावः । तु पुनः सर्वेषामेव प्रजवासिनां भगवदा-
विर्भावो जाते य आनन्दो जातः, येन वृद्धा घालाश्च उल्लसितहृदयाः नृत्यं छतवन्तस्तादृशं
मे भगवान् विधास्यति ॥ २ ॥

ततो भगवन्नित्यस्थित्यात्मकानन्दसुखप्रार्थनामाहुः उद्धवेति ।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।

वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि कश्चित् ॥ ३ ॥

उद्धवागमने जाते वृन्दावने प्रजस्त्रीषु गोकुले नन्दादिषु यथा सुमहानुत्सवो जात-
स्तथा मे मनसि कश्चिद्भगवान्करिष्यतीति सतापमनोरथः । सुमहानिति पदेन पूर्वोत्सवादि-
गिष्टत्वं ज्ञाप्यते । तथा हि, उद्धवागमनात्पूर्वं मथुरास्थानां ततो भगवानत्रायत इति
तत्रत्या न भगवदीया इति ज्ञानं भगवतो प्रजनित्यस्थित्यज्ञानेन भवेत्तत्र च श्रीमद्गुद्धवैरत्र
नित्यस्थितिर्दृष्टेति तथैव ज्ञानं भविष्यतीति मनस्युत्सवः पूर्वस्माद्विलक्षणो जातस्तथाचार्यः
श्रीभागवतविद्युतौ प्रपञ्चितम् । तादृश उत्सवो मम मनसि कश्चित्सादिति भावः । यद्वा,
गोकुले वृन्दावने वा उद्धवस्यागमने जाते सति तत्रत्यभक्तदर्शनेन तद्भावप्राप्त्यर्थं तत्ररण-
रजःसम्बन्धयोग्यजन्मप्रार्थनात्मक उत्सवो जातस्तथा मम मनसि सादिति भावः । यद्वा,
उद्धवो भगवता सर्वात्मभावार्यमत्र प्रेषितस्तेनात्रत्यभक्तानामाधिक्यं स्वस च नित्यस्थिति-
ज्ञापिता, तेन तस्यागमने जाते सति य उत्सवो वृन्दावने गोकुले वा जातस्तथेति भावः ।
यतो सर्वात्मभावस्तथैव भवत्येतदेव निरोधस्थानं, तेन तथा दानेच्छा येषु तत्रैव प्रेष्यन्त
इत्युत्सवो भवति तदानार्थं वा तथा मे गदुपरि भगवन्मनसि तासां वा सादिति भावः ॥३॥
नन्वेतावान्मनोरथो भावनयैव कथं सिध्येदित्याशङ्क्य श्रीमदाचार्यकृपयैव सेत्स्यतीति
विश्वासपूर्वकं भावनीयं, तेन भविष्यत्येवेत्याहुः महनामिति ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति ।

तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानसुखाय हि ॥ ४ ॥

महतां कृपया भगवान्यावत् दययिष्यति दयां करोति तावदानन्दसन्दोहः
कृपारूपः कीर्त्यमानसुखाय पूर्वोक्ताय स भावो भवतीत्यर्थः । यद्वा, भगवान्यावत् महतां
कृपां करोति तावत्कृपया जीवस्य सतापदैन्यदर्शनेन दयां करिष्यति तदा आनन्दसन्दोहः
कीर्त्यमानसुखाय सादिति भावः । भगवान् कीर्त्यमानसुखाय यावन्महतां कृपया दययि-
ष्यति तावद्वा स्यात् । जयमर्थः । यावत् भगवान् दयां करिष्यति तावत् महतां कृपया
पूर्वमेव दयातः कीर्त्यमानसुखाय आनन्दसन्दोहः सादिति भावः ॥ ४ ॥

ननु श्रीमदुद्धवागमनजातोत्सवस्य विप्रयोगस्फूर्त्या दुःखमम्भावनरूपत्वात् सुखस्य महत्कृपया जातेपि तस्मिन् कथं निर्वाह इत्याशङ्गाहुर्महतामिति ।

महतां कृपया यद्वत्कीर्तनं सुखदं सदा ।

न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरुक्षयत् ॥ ५ ॥

महता कृपया सदा कीर्तनं सुखदं भवतीति शेषः । अयं भावः । सदा तस्मिन्नपि समये कीर्तनं तेषामेव कृपया सुखदम्, प्राणनाथाया जीवनार्थं भवतीति भावः । यद्वन्महत्त्वमित्यर्थः । ननु विप्रयोगे गुणानां जीवनत्वं नानुभवसिद्धमित्याशङ्गास्यालौकिकत्वात्तथा भवति । लौकिकानां न तथात्वमित्याहुः न तथेति । तु पुनः लौकिकानां न तथा सुखं भवतीत्यर्थः । तत्र निदर्शनमाहुः स्निग्धभोजनरुक्षयदिति । स्निग्धभोजकस्य रुक्षयत्, रुक्षभोजनं यथा न सुखं जनयति तथेत्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु ज्ञानस्य दुःखनिवारकत्वं श्रूयते, न गुणगानसेत्याशङ्गाहुः गुणगानं इति ।

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।

यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

गोविन्दस्य गुणगाने यथा सुखावाप्तिः प्रजायते तथा शुकादीनामात्मनि नैव जायते, अन्यतः कुतः स्यादित्यर्थः । शुकस्य चेद्गुणगानेन सुखं स्यात्तदा स्वानुभूतं स्वयमेवावश्यं । कथयेन्न तु स्वामिन्य एव गानं कुर्वन्तीति वदेत् । यद्वा, गुणगाने कृते गोविन्दस्य भगवतोपि यथा सुखावाप्तिः प्रजायते तथा शुकादीनामात्मनि नैव भवतीत्यर्थः । अथवा भगवानिव तेषु तद्दुःखदुःखिता भवेयुः । भगवतस्तथात्वं 'मणिधर' इति श्लोकादिषु निरूप्यते । यद्वा, गोविन्दस्य गुणगाने या सुखावाप्तिः पुष्टिस्थाना भवति, सा शुकादीनां भगवद्गुणगानानन्दसुखानामपि नेत्यर्थः । अयमर्थः । गोविन्दपदेन ब्रजवधूनामिन्द्रियस्य ये गुणास्तद्गुणगानेनैवासा तथा भवति । शुकादीनां सर्वावतारचरित्रमिश्रगुणगानात्तथात्वं न भवतीति भावः । अत एव निरोधचरित्रकथनप्रस्तावे प्रथमाध्याये सूतोक्तीं तदन्तःस्थितो भगवानेवोत्तरं प्रयच्छतीति 'सभगवानथ विष्णुरात'मित्यस्मिन्पद्ये निरूपितम् ॥ ६ ॥

गुणगानमात्रेणैव कथं भगवान्निरोधात्मके कृपां कुर्यादित्याशङ्क्य तत्स्वरूपमाहुः क्लिश्यमानानिति ।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।

तदा सर्वसदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं वरि ॥ ७ ॥

जनान् क्लिश्यमानान् दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत्तदा हृदिस्थं सर्वसदानन्दं वहिर्निर्गतं कुर्यादिति सम्बन्धः । अत्रायं भावः । गुणगानस्य विप्रयोगतपे जीवनेऋन्मभावत्वात् तापाप्यर्थं भगवद्विच्छाकाह्वया तापसहने गुणगाने कृते सति जनान् लौकिकदेहयुक्तान्, यतोऽलौकिकदेहे तापस्त्वानन्दरूप एव भवति, तान् क्लिश्यमानान् दृष्ट्वा, यदेति तस्य

दुर्लभत्वात् कृपायुक्तो भवेत्तदा हृदिस्यं स्वहृदिस्यं सर्वसदानन्दमाधिदेविकशक्तिरूपं
बहिर्निर्गतं कुर्यादित्यर्थः । गुणगानकर्तृभावात्मकस्वरूपं तद्बृदिस्यं बहिः प्रकटं कुर्यादिति
वा ॥ ७ ॥

ननु भगवतः सर्वभेवानन्दरूपमिति गुणा अप्यानन्दरूपाः, तेन गुणगानस्याप्यानन्द-
रूपत्वात्कृपया भावात्मकानन्दस्य बहिःप्रकटकरणरूपस्य को विशेष इत्याशङ्काहुः
सर्वानन्दमयस्यापीति ।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः ज्ञावयते जनान् ॥ ८ ॥

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभ इत्यर्थः । सर्वानन्दमयशब्देन भगवतो गुणा-
दयोपि भगवद्द्रष्टा जीवेषु स्वरूपप्रतिपादकपूर्वकरसदातार इति ज्ञाप्यते । एतज्ज्ञापनायैव
मयद्रप्रयोगः । मयद्र प्राचुर्ये । तेन सर्वमेव भगवदीयमानन्दप्रचुरमित्यर्थः । अत एव
गुणगानेन रमणं फलप्रकरणान्तर्गतद्वितीयाध्याये निरूपितम् । अपिशब्देन बहिःस्वरूप-
प्राकट्यात्मककृपानन्दस्य कथनविशेषो ज्ञाप्यते । स च कुमारिकाप्रतायावान्तरफलपरमफल-
रूप इति भावः । तासां च गुणगानानन्तरं परमफलप्राप्तिस्तथैव सर्वत्र नितोधाधिकारिणा-
मित्याशयः । कृपानन्दस्य दुर्लभत्वोक्त्याऽनुग्रहैकलम्बत्वं ज्ञाप्यते । नन्वनुग्रहेतरासाध्यत्वे
गुणानामपि तथात्वं स्यादित्याशङ्काहुः हृद्गत इति । हृद्गतः स्वगुणान्कृत्वा पूर्णो भूत्वा
जनान् ज्ञावयते ममान् कुरुते । रासान्धाविति शेषः । कृपयैव पूर्वमष्टादशाध्यायोक्त्यायैव
वेशुद्वारा हृद्गतो भवति, ततस्तथैव तद्दर्शनेन स्वयं तत्तापयुक्तो भवति, एतदेव पूर्णत्वम् ।
अत एव द्वात्रिंशाध्यायेऽस्मद्भावप्राणनाथे'द्वात्रिंशेऽन्तर्गोपिकाना'मित्यारभ्य 'तेनैव पूर्णानन्द
इतीर्यत' इत्यन्तं पूर्णत्वं निरूपितं पूर्वतदभावज्ञापकम् । यद्वा, स्वगुणान् तद्दर्शनेन तापका
नृत्वा विप्रयोगदलेनापूर्णत्वात्स्वरूपस्य द्वितीयं दलं प्रकटीकृत्य पूर्णः सन् रसैः ज्ञावयत इति
भावः । स्वगुणोद्भूततापानां स्वस्य तेषां दुःखदरीकरणं युक्तमेवेति भावः । भगवद्गुणानां
रसात्मकानां स्वरूपतापोद्बोधकता तु 'पूर्णाः पुलिन्य' इत्यादिषु स्फुटमेव निरूपिता । तेन
गुणगानस्य तत्साधकत्वमिति भावः । गुणानां च भगवद्रूपत्वादनुग्रहेतरकोटिसम्भावना
न कर्तव्या ॥ ८ ॥

यस्माद्गुणानां तत्साधकत्वं तस्माद्गुणानां स्वरूपज्ञानपूर्वकं कर्तव्यमित्याहुः तस्मा-

दिति । तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।

सदानन्दपरैर्मयाः सच्चिदानन्दता स्वतः ॥ ९ ॥

यतो गुणास्तत्साधकास्तस्मात्सर्वं परित्यज्य सर्वदा सर्वकालनिरुद्धैस्तद्भावापन्नैर्गुणाः
मेवा इत्यर्थः । सदानन्दत्वेन परिज्ञेया इति भावः । अयं भावः । 'सन्त्यज्य सर्वविषया'निति

तत्सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सद्देति शेषः । 'स्वसखीम्योन्ववर्णय'न्नितिवत्तैः सह गुणा गेया इति भावः । गुणान्विशिनष्टि स्वरूपज्ञानार्थम्, सदानन्देन कृष्णेन परिज्ञेया इति भावः । अयमर्थः । गुणगानगुणाः प्रभुणैव ज्ञेया येन तान् श्रुत्वा स्वयं तद्वशो भूत्वा स्वरूपरसदानं करोति । ननु गुणेषु सदानन्दत्वाभावादेतज्ज्ञाने कथं तत्र तत्त्वं स्यादित्याशङ्क्याहुः सच्चिदानन्देति । स्वतस्तेषु सच्चिदानन्दता सिद्धेत्यर्थः । यतस्तेषु स्वतःसच्चिदानन्दता, अतस्तया ज्ञात्वा गेया इति भावः ॥ ९ ॥

ननु निरुद्धानां गुणगानं युक्तमिति सिद्धं, फलासाधकानां साधनदशायां कथं गुणगानं स्यादित्याशङ्क्य स्वानुभवात्मकपूर्वस्वोक्तनिरोधस्वरूपमाहुः अहमिति ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवर्ती गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते ॥ १० ॥

अहं रोधेन निरुद्धः, निरोधपदवर्ती गत इत्यर्थः । अत्रायं भावः । भगवता येषु जीवेषु कृपया निरोधो विचार्यते, स च निरुद्धभक्तसंगेनैव सिद्धो भवति, नान्यथेति निरुद्धाना-
ज्ञापयति भुवि प्राकट्यार्थं, तत्संगेन जातो यस्तीव्रतापः सः रोधपदवाच्यो भवति । श्रीमदा-
चार्योणामपि देवजीवभक्तिनिरोधार्थं प्राकट्यात्प्रभवाज्ञाद्वयाकरणात्तत्सङ्गजनिततापस्य रोधत्व-
मिति भावः । एवं च सत्युक्तरीत्या तेषां रोधेनानुरोधेन भगवता निरुद्धः निरोधपदवर्ती पुरः
प्रकटरूपेणैव गत इति भावः । निरोधफलस्य विप्रयोगतापानन्तरभावित्वादाचार्योणां
च लीलामध्यपातिस्वरूपस्य विप्रयोगासम्भवाद्भगवता जीवेषु कृपया तद्दर्शनार्थं तथा
प्राकट्यार्थमाज्ञप्तं, श्रीमदाचार्यैरपि तद्दर्शनार्थं स्वानुभव एव प्रदर्श्यते । यथा अहं रोधेन
रुद्धस्तथाभूवम् । तथा लौकिके निरुद्धानां रोधार्थं निरोधं कथयामीत्याहुः निरुद्धानां
त्विति । लौकिक इति शेषः । यद्वा, निवेदनेनैतत्स्वरूपेणैव निरोधयोग्यता भवती-
त्याशयेनाहुः निरुद्धानामिति । निरुद्धानां खनिवेदितानां रोधाय भगवत्कृतलौकिका-
सक्त्यभावाय निरोधं वर्णयामीति भावः । ते तवेत्यर्थः । त इलोकवचनेनैतच्छ्रोतुर्दुर्लभत्वं
ज्ञापितम् ॥ १० ॥

एवं प्रतिज्ञाय निरुद्धस्वरूपमेवाहुः हरिणा च इति ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ॥ ११ ॥

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते भवसागरे मग्ना भवन्तीत्यर्थः । अत्रायं भावः । अकारणं
सर्वदुःखहर्यो तत्साधनमविचार्य दुःखहरणशीलेन ये विशेषेण निर्मुक्ताः भावात्मकस्वरूपो-
द्धोदरहिताः कृताः, येन च सागरे संसारसागरे मग्ना दुःखमेव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । ये तु अत्र
अस्मिन्नेव जन्मानि भावात्मकस्वरूपेण निरुद्धास्ते अहर्निशं मोदमायान्ति, सन्तोषं प्राप्नु-
वन्तीत्यर्थः । अहर्निशपदेन भावात्मकतया गोपस्त्रीवद्गोपवच मोदं प्राप्नुवन्तीति व्यज्यते ।
अहनि भ्रजपरविलासिनीवत्, रात्रौ गोपवत् ॥ ११ ॥

ननु तासां तेषां च विप्रयोगहेतुं गुणगानदशासमयः (स) तस्य कथं मोदरूपतेत्या-
शङ्काहुः गुणेऽप्यिति ।

गुणेऽप्यविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ।
संसारविरहहेतौ न स्यातां हरिवत्सुखम् ॥ १२ ॥

मुरवैरिणः गुणेषु आविष्टचित्तानां सर्वदा संसारविरहहेतौ न स्यातामिति सम्बन्धः ।
अत्रायं भावः । मुरस्य जलदोषात्मकत्वात्सागरस्थितस्य वैरित्वोक्त्या रससागरदोषनिवारकत्वं
व्यज्यते । तस्य गुणेऽप्यनन्दमयेषु विरहसामयिकोत्कटतापनिवारकजीवनहेतुभूतेऽप्यविष्ट-
चित्तानां तौ न स्यातामिति भावः । चित्ते ह्यावेशोक्त्या न्यावेशाभावो धोष्यते । अत एव
सर्वदेत्युक्तम् । भगवत्सेवार्थव्यावृत्तावपि तत्परत्वार्थम् । यद्योक्तं जीवोत्कटतापनिवर्तका-
चार्यैर्भक्तिवर्धिन्यां 'ध्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदे' त्यादिना । एवं गुणाविष्टचि-
त्तानां भगवति संसारस्यादन्ताममतात्मकस्य विरहाभाव इति यावत्, विप्रयोगजः हेतुश्च
तावुभावपि न स्याताम् । अयमर्थः । भगवत्यहन्ताममतासहितनित्यसंयोग एव भवेत्, सुखं
भवेदिति शेषः । तत्र निदर्शनमाहुः हरिवत् । हरिवत्तौ न स्यातां, सुखं भवेत् । अत्रायं
भावः । भगवतो जीवेष्वहन्ताममताभावो कदापि यथा न भवति स्वकीयत्वात्तेषां तदि-
प्रयोगजहेतुषु तथा । 'भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मने'ति भगवतैवोक्तत्वादभावः ।
निवेदानानन्तरं भगवत्स्वरूपात्मकतैव सिध्यति । एवं सति भगवानिव तौ न स्यातां, सुखं
च स्यादेवेति भावः ॥ १३ ॥

भगवत् एवं करणे दयालुतां हेतुत्वेनाहुः तदेति ।

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा कूरता मता ।

बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १४ ॥

यदा पूर्वोक्तप्रकारेण सुखं स्यात्तदा भगवति दयालुत्वं भवेत् । अन्यथा मर्यादा-
दिप्रवेशेन कूरता मता सम्मता, पुष्टिस्थानामिति शेषः । भगवता एवं करणेभिमाना-
दिबाधशङ्का मर्यादाद्यतिक्रमात्कृतबाधो वा भवेदित्याशङ्क्य नेत्याहुः । बाधशङ्कापीति ।
अत्र अस्मिन्मार्गे बाधशङ्कापि नास्ति । अपिशब्देन तच्छब्दैव नास्ति कुतः पुनर्बाध इति
भावो व्यज्यते । भगवदध्यासस्य दृढत्वाद्देहाध्यासाभावात् बाधशङ्केत्याहुः तदिति ।
तस्य भगवतोऽध्यासोऽपि सिध्यतीति भावः । अपिशब्देन भगवतोऽप्येतदध्यासो रसरीत्या
सिध्यतीति बोध्यते ॥ १४ ॥

ननु भगवतो दयालुत्वे सुखोत्पादकता भवतु, परमस्य लौकिकत्वाद्भगवतो-
लौकिकत्वात्कथमेतस्य लौकिकनिरुद्धा निरोधसिद्धिरित्याशङ्काहुः संसारेति ।

संसारवेशाद्दुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।

कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥ १२ ॥

संसारवेशेन दुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै निश्चयेन तानि ईशाय योजयेदिति सम्बन्धः । अत्रायमर्थः । संसारवेशेन भगवद्विनियोगप्रतिबन्धः स्यात्, तेन तदावेशो दुष्ट इति तदभावावार्थमिन्द्रियाणां निश्चयेन यथा हितं भवति, तानि भगवदर्थं योजयेत्, तेन तथात्वं भवेत् । नन्वेतत्सामग्र्याः पूर्वं लौकिको दोषो निरूपित इत्याशङ्क्य तस्य दोषस्य वस्तुस्वरूपज्ञाने सुरुपतेति वस्तुस्वरूपमाहुः । यतो वस्तुनि सर्वाणि भूयः कृष्णस्य । अतो समर्पिते लौकिकत्वं नाशङ्कनीयमिति भावः । 'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते' 'क्रीडामण्डमिदं विश्व'मित्यादिषु तथैव निरूपितम् । किञ्च, स भूमा समर्थो भवति लौकिकनिवारणपूर्वकमलौकिकत्व(सम्पादकत्व)सम्पादकः, स्वयं च लौकिकरसभोगार्थं स्वस्वरूपमर्थोदोहहनेनापि स्वमक्तवश्यता स्थित्या तद्भावावुसारेण तस्य रसादानार्थं रमणं करिष्यतीतिभावः । यद्वा, संसारवेशदुष्टानामिन्द्रियाणां सम्बन्धीनि सर्ववस्तूनि भावात्मकानि वै निश्चयेन कृष्णस्य हिताय रसभोगार्थं योजयेत् । भूय इति विशेषणेन स्वस्यापि रसभोगः सिध्यतीति ज्ञाप्यते । क्रीडशाय हिताय ईशाय आधिदैविकायेत्यर्थः ॥ १४ ॥

ननु संसाराविद्यचिच्छदुष्टानां कथं तत्र विरागेण भगवत्यनुरागपूर्वकं समर्पणं स्यादित्याशङ्क्याहुः भगवद्धर्मसामर्थ्यादिति ।

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः ।

गुणैर्हरिसुखस्पर्शाच्च दुःखं याति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विषये विरागः स्थिरः स्यादित्यर्थः । भगवद्धर्मोणामेतादृशमेव सामर्थ्यं येन तद्धर्मप्रवेशमात्रेणैव लौकिके विषये विरागः स्यात्, तदनन्तरं गुणैः भगवदीयैर्वर्णितैरलौकिकस्वरूपेण हरिसुखं हरेः सुखस्य स्पर्शं प्राप्नोति । कर्हिचिद्भगवदिच्छया परीक्षाद्यर्थकृतमपि दुःखं न यातीत्यर्थः । यद्वा, भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विषये भगवदीये विशिष्टो रागः स्थिरः स्यात् । किञ्च, गुणैः हरिसुखस्पर्शं याति । अयं भावः । गुणगानेनालौकिकत्वे सम्पन्ने हरेरपि सुखरूपः स्पर्शो यस्य तादृग्भावं प्राप्नोतीत्यर्थः । किञ्च, हृदयतो दुःखं विप्रयोगक्लेशानन्दानुभवात्मकं कर्हिचिदपि न गच्छतीति भावः ॥ १५ ॥

एवं निष्प्रत्यूहं तत्स्वरूपं निरूप्य तत्कर्तव्यप्रकारमाहुः एवमिति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गाद्दुत्कर्षं गुणवर्णने ।

अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण ज्ञानमार्गाद्दुत्कर्षो निरूपितस्तं गुणवर्णने ज्ञात्वा अमत्सरैर्मत्सरादिदोषरहितैर्ज्ञानादिषु अलुब्धैः स्वस्य रसभोगेच्छायां भगवदिच्छार्थं गुणाः सदा वर्णनीया इति भावः । सदेति पदेन क्षणमप्यन्यथा न श्लेषमिति ज्ञापितम् । यद्वा, गुणवर्णने य उत्कर्षस्तं ज्ञानमार्गात्सर्वं भगवदर्थमितिरूपाद्भगवदुपदिष्टगोपतुलयाद् (?) ज्ञात्वा सदा अमत्सरैः

सापत्न्यादिदोषरहितैरलुब्धैर्भगवतः स्वामृतग्रहणसमये मानादिदोषरहितैर्गुणा वर्णनीयास्त-
ज्ञावाप्त्यर्थं, व्रजविलासिनीवत्स्वसमानशीलेष्विति शेषः ॥ १६ ॥

एवं गुणवर्णनस्वावश्यकत्वं सोपपत्तिकमुपपाद्य तद्दर्शने क्लेशसहनात्मकं दूषणमुद्राव्य
परिहरन्ति हरिमूर्तिरिति ।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।

दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथाकृतिगती सदा ॥ १७ ॥

सदा हरिमूर्तिर्ध्येयेति सम्बन्धः । अकारणसर्वदुःखहरा दुःखहरणार्थमेव मूर्तिधारक-
स्तस्य ध्येयेति भावः । हीति युक्तश्चायमर्थः । स्वस्य तदर्थप्रयोजनात्सैव ध्येया । ननु
तद्ज्ञानमात्रेण कथं दुःखनिवृत्तिः सादत आहुः दर्शनमिति । ध्यानेन दर्शनं स्पर्शनं
च स्पष्टमेव भवतीत्यर्थः । ननु दर्शनं स्पर्शनं च योग्यरूपाभावे कथं सादित्यत आहुः
तथेति । ध्यानेन तथा आकृतिर्गतिश्च भवेताम् । सदेति नित्यमित्यर्थः । न स भावः
पुनरन्यथा भवेत् ॥ १७ ॥

नन्वेतत्सर्वं फलदशायां सम्भवति, न साधनदशायामित्याशङ्क्य साधकानां तत्सिद्ध्य-
र्थमुपागमाहुः श्रवणमिति ।

श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।

पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥

श्रवणं कीर्तनं तथात्वसम्पादकं स्पष्टमेव, तस्मात्कर्तव्यं, तत्करणेन तथात्वं सादि-
त्यर्थः । तथाभूतस्य दुःसंगवर्जनमाहुः । भगवदप्रियस्य त्यागे निदर्शनमाहुः पायुरिति ।
मलांशत्यागेन यथा पायुर्दृढते तथा बहिर्मुखपुत्रादित्यागेन शेषभागं तनौ स्वकीयत्वेन
नयेत् ॥ १८ ॥

ननु सर्वेषामात्मा भगवानेवास्ति, तस्मात्कथं लक्ष्म्याः, स्वान्तरङ्गत्वादपि त्यागो-
नुचित इत्याशङ्क्याहुः पश्येति ।

पस्य वा भगवत्कार्यं पदा स्पष्टं न दृश्यते ।

तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

यस्य भगवत्कार्यं स्पष्टं न भवति स न भगवदंशः किन्तु प्रकृत्यंश एव, आन्तरं तथा
भावे धाद्यमपि तथैव भवति, अन्यथा तु पापण्डित्यमेव । अत एव निवन्धेऽस्मत्प्राणेश्वरैः
'कृष्णसेवापर'मिति श्लोकविवरणे सेवापरगुरुरित्यादिना तथैव निरूपितम् । विकल्पेन
यस्यार्थं भगवान् स्वकार्यं रसरूपं स्पष्टं करोत्येवं न दृश्यत इति व्यज्यते । तदापि निरूपितो
यो हस्ताः वामहस्तस्तस्य विधिः कर्तव्यः । अयमर्थः । यथा मलांशत्यागानन्तरं वामहस्तस्य
शुद्धिं विधाय सर्वकार्योपयोगित्वं क्रियते तथा तस्य स्वात्मजत्वात्तत्र स्वांशभगवति निवेदनं
कृत्वा स्वांशं स्वस्मिन्नावेश्य तस्य त्यागो विधेयः । अस्मिन्नर्थे न सन्देह इत्यर्थः ॥ १९ ॥

एवं निरोधस्वरूपं निरूप्यान्वनिषेधपूर्वकमेतत्करणार्थमस्य सर्वाधिकत्वमुक्त्वोप-
संहरन्ति नात् इति ।

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।

नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

अतः परतरो मद्यो नास्ति, तेन मद्यादिषु विश्वासं विहायायमेव ग्रन्थो जाप्यः ।
एतदुक्तप्रकारेण श्रेयमित्यर्थः । अतः परतरोन्यः स्तवो न । तेनैतदुक्तप्रकारेणैव प्रभुः
स्तुत्य इत्यर्थः । अतः परतरा विद्यापि न । या विद्यैकोनविंशत्याये व्रतप्रस्तावे निरूपिता
सेयमेवेत्यर्थः । अतः परतरं तीर्थमपि न । तीर्थे प्रतिबन्धकपापनिवर्तकत्वमस्ति, न त्वाधि-
दैविकप्रतिबन्धनिवर्तकत्वम्, अस चाधिदैविकतन्निवर्तकत्वमस्तीति नातः परतरं तन्निवारक-
मन्यदिति भावः । तस्मात्प्रतिबन्धकापगमार्थमेतदेव स्तोत्रं सेव्यमिति भावः ॥ २० ॥

इति श्रीगोपिकाधीशवल्लभाचार्यसूचितः ।

निरोधो विवृतस्तेन सदा तुष्यन्तु ते मयि ॥ १ ॥

निरोधसंशयोऽनेन प्रकारेण सदा बुधैः ।

छेत्तव्य इति हि ज्ञात्वा तत्कृपातो विवेचितः ॥ २ ॥

इति श्रीश्यामलात्मजश्रीव्रजराजविरचितं निरोधलक्षण-
विवरणं सम्पूर्णम् ॥

परिशिष्टम् ।

‘निरोधलक्षणकी टीका प्रथम श्रीहरिगयजुने कीनीधी पत्र २२’

अथ विचार्यते, को निरोध ? किं तस्य कारणम् ? कथं वा पञ्चव्यभिचि । प्रपञ्चविरमृतिपूर्विका आमन्त्रिनिरोध इति । न चामन्त्रिमात्रं निरोध इति वाच्यम् । विषयामर्शो व्यभिचारात् । न च तत्र प्रपञ्चविरमृति, किञ्चु तदभिनियेश एव । न चासक्तिविषयान्तरितप्रपञ्चविरमृतेर्विषयसाधारण्येनानिव्या-
 प्यतिरिचि वाच्यम् । प्रपञ्चशक्तस्य तत्सामान्याभिप्रायत्वात् । न च लौकिकामन्त्रिविषयो न प्रपञ्च । न च प्रपञ्चमात्राभ्यां आसनेर्निर्विषयत्वापात्त इति वाच्यम् । प्रपञ्चानीतस्य तद्विषयत्वात् । न च तद्विषयस्य यदनीतान्ने प्रापञ्चिकतीतामन्त्रविरमृतरमिति वाच्यम् । योगजधर्मप्रत्यासत्या अनीन्द्रियाधेत्वेव भक्त्या प्रपञ्चानीतस्य विषयव्योपपत्त । ननु प्रपञ्चत्वात् एव कुतो न निरोधविरोधमिति चेत् । न । तस्य ज्ञान-
 मार्गीयमोक्षमाधनत्वात् । ‘भक्तानां गृहमेव विशिष्यत इत्युक्तत्वात् । तस्माद्विरमृतिमात्रमेवाद्य मृग्यमिति । त च निरोधो द्विविधः । भागवतोऽप्यथ । तत्र भागवतो भगवत् प्रपञ्चविरमृतिपूर्वक भक्तविषयकाम
 किरिचि । ‘निरोधोऽस्यानुदायनमात्मन सह ज्ञानिनि’रिति पञ्चनात् । अथेति पश्चात् अन्नामर्शेन निर्देशात् । ‘निरोधोऽस्यानुदायन प्रपञ्चं श्रीरुण हरे’रित्याचार्यचर्योनिर्गुणवाद्य । लीलारूपेषु मर्गादिषु परिगणितत्वात् । नन्वत्र लक्षणमिदमनुपपन्नम्, भक्तानां प्रापञ्चिकत्वेन भगवत्तन्निर्विषयकासर्का प्रपञ्चविरमृताभावादिनि
 योत्, उच्यते । प्रापञ्चिकत्वं केन प्रकारेण ? न तावत् प्रत्यक्षम्, अस्मदादिप्रत्यक्षागोचरत्वात्तनुभवात् । भक्तविरोधप्रत्यक्षत्वं तस्याप्रापञ्चिकत्वात्तनुभवात् । अत एव तेषां च योधवत् भगवान् भक्तानामर्शेन प्रति
 ‘दिश्य ददाति ते चञ्चु रित्युक्तवान् । ‘यद्वि पश्यति मुनयो गुणापाये समाहिता इति श्रीभातवत्-
 वाक्यात् । नाप्यनुमिति, अनुकूलतायां भावात् । न च दृश्यत्वादेरनुकूलतायां व्यभिचि वाच्यम्, दृश्यत्वस्य
 ‘मन्त्रिद निर्गुणं सृष्टम्,’ ‘त भजन् निर्गुणो भवेत्,’ ‘मुक्तोऽप्यप्यभयपदेदान्,’ ‘मुक्ता अपि लीलाविप्रद
 कृत्वा भजन्त’ इत्यादिवाच्यैरनुकूल एवेति नानुपपन्न किञ्चि । ननु अस्तु भक्तानां तथात्वम्, तथापि
 भगवतोऽन्ततत्तत्तत्सत्त्वेन प्रपञ्चविरमृता कथमुपपद्यत इति चेत्, इत्थम् । भगवतोऽन्ततत्तत्सत्त्वेन
 यदा यदर्थं यां शक्तिभाविर्भावयति, सा तदा तत्कार्यान्मुक्ता भवति । एवञ्च सति ‘धिया पुष्टे’ति
 वाक्ये मुक्त्यशक्तिप्रायपाठाद्विद्याया अपि सत्त्वेन तदाविर्भावनादख्यमनुपपन्नम् । न च विरोधाद्
 शक्ये सर्वशक्त्यमनुपपन्नमिति वाच्यम् । विरुद्धविषयमाधारत्वस्य ‘तदेजति तत्रेजतीत्यादियुतिसिद्ध
 त्वात् । एतच्च यथा तथा सविभ्रमसत्त्वामिभिनिर्हन्ति विद्वन्मनुने । न च ‘बन्धोऽप्यविद्यायाऽनादि’
 रिति वाक्याद्विद्याभयत्वे तथा बन्धसम्भव इति वाच्यम् । तस्य मुक्त्यभावात्तन्निर्विषयविद्यातन्निर्विषय
 त्वात् । ‘विद्यादिवे मम तन् विद्वदुद्धव दारीरिणाम्, यन्धमोक्षकरी भाव मायया मे विनिमित्त’ इति
 वाक्यात् । तदेव धीमदाचार्यैर्निर्हन्ति निबन्धे, ‘विद्यादिवे हरे दानी माययैव विनिमित्ते, ते जीयस्यैव
 वाक्येन तु विषय चाप्यनीशते नि । तं च प्रथु भक्तिमार्गं एव भाविर्भावयतीति ‘मदन्व्यते न जानन्ति
 नाह तेभ्यो मनागपी’ति वचनाद्भवतीत्येते । अत एव निरूपित केनचित् भगवत्स्वरूपतापातिशेन ‘समुत्पन्न’
 इत्यादि, तदेतत् सर्वमाचार्यैर्वेधान्तक रूपनिर्विषयिभ्रम’ इत्यत्र निरूपितमिति सहदयेनात् एव
 विभावनीयम् । अथ किं तस्य कारणमिति चिन्तते । न तावत्तौक इव वासनया जयत इति वक्तु
 शक्यम् । तस्या अनुभवजन्यत्वात् । भगवत्तस्य साम्बाल्कारात् प्राप्य लौकिकविषयविषयीन्द्रियापिषयत्वेन
 अनुभवत् । साक्षात्कारे तु दिव्यदृष्टिवानेन तथात्वसम्भवात् । ‘दिश्य ददाति ते चञ्चु’रिति वाक्यात्,
 ‘कश्चित् पीर’ इति श्रुतेश्च । नापि भक्ति, सा च द्विविधा, मर्गादापुष्टिभेदेन, तत्र न तावदाया, तस्या

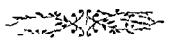
'भक्त्या त्वनन्याया,' 'विदाते तदनन्तरम्' 'ज्ञानयोगश्च मक्षिष्ठो नैगुण्यो भक्तिलक्षण,' इत्यादिवाक्यै
 पुण्योत्तममायुष्यफलरूपेण निरोधजनकत्वान् । 'ननु भक्त्या सजातये त्यागिवाक्यैर्मयादाभक्ते उष्टिभ
 तिफलत्वात्, सा च निरोध इति कथं न निरोधजनकत्वमिति चेत्, उच्यते, तस्या अनुग्रहसहकारित्वेन
 परम्परासाधनत्वान् । अन्यथा 'नोपामितमहत्तमा' इति वाक्य विरुध्येत । महदुपासनस्य मयादा
 भक्तिरूपत्वात्, न द्वितीया । तस्याभदभिन्नत्वात्, न हि स्वमेव स्व प्रति साधन भवति । तदि किमा
 कम्मिकत्वमेवेति चेत्, न, तादृशविशेषानुग्रहस्य कारणत्वात्, तादृशस्य गुणगानसहकृत च विशेषश्च तथा
 फलदानेऽप्येति संक्षेप । वस्तुतस्तु न गुणगानादेरपि साधनत्व, नि साधनत्वभगान्, तथापि योगक्षेम
 साधारणसाध्यत्वमादाय तथोक्तम् । अथ कथं निरोधस्य फलत्वमिति । सुखदुःखाभावान्यतरभावात् ।
 प्रयुतामके स्वविषयाप्राप्त्या दुःखसहकृतत्वाच्चेति । उच्यते । निरोधो हि प्रपञ्चविस्मृतिरहित
 नासक्ति, सा च स्वविषयविषयकविविधजननोरथजनको भाव, तस्य च रसरूपत्वेन सुखरूपत्वात् ।
 'रस हि सुवाय लब्ध्वा आनन्दीभवती'ति श्रुते । प्रपञ्चविस्मृतिरूपत्वेन प्रापञ्चिकदुःखाभावरूपत्वात् ।
 किञ्च, फल हि पुरुषार्थं, तस्य च तेन स्ववृत्तितयेऽध्यमाणत्वम् । तथा च आसक्तिमध्यपतितदुःखस्य
 आकाङ्क्षणीयत्वेन तथात्वम् । 'विषयं सन्तु ता दृश'दिति वाक्यात् । अन्यथा इयेनादावपि
 तजन्मनरकस्य तदुभयरूपत्वाभावेन फलत्व न स्यात् । 'भूयान् मे नरकं शत्रुर्विपचतामि'ति धिया
 इयेनकरणात् । सुखसाधन तदिति चेत्, तदा प्रकृतेऽपि दीयता दृष्टि । न च सुखभ्रमात् प्रवृत्तिरिति
 वाच्यम् । नरके सुखभ्रमायोगात् । तस्मात् पुरुषार्थ एव फलम् । वस्तुतस्तु दुःखमेव न, किन्तु
 परमात्मद एव । अत एव धीशुक्ते सर्वांस्ते 'रमिरे' इत्युक्तम् । अत एव धीमदाचार्ये 'रतो निरोधो महाफल'
 इत्यभिहितम् । एव सति भक्तिमार्गं निरोधस्यैव फलत्वात् ससाधनतश्चिरूपणं कुर्वन्त श्रीमदाचार्या तस्य
 दुर्लभत्वज्ञापनाय प्राधान्यरूपेण निरूपयन्ति 'यच्च दुःख'मिति । निरोधो हि प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक
 भगवदासक्ति । सा च स्वविषयदर्शनाभ्यां सुखदुःखान्तिका । यदिति पदात् दुःख च लोकविलक्षण
 स्वरूपात्मकत्वात् कोटिकोठानन्दरूप गुणसर्वलीलानुभावक भगवदाविर्भावश्च, अतो निरोधस्य
 प्रथमांशो दुःख प्रपञ्चविस्मृतेर्भगवदर्थदुःखजन्यत्वात् । अतो मूलभूतत्वात्तन्प्राप्त्यैव फलत्वाद्भ्य
 हितत्वेन प्रथमांश दुःख प्रापयन्ति 'यच्च दुःख'मिति । यच्च दुःख यशोदाया नन्दादीनां चकारान्धेर्षां
 गोकुले अस्ति तदुक्त एव मम ऋचिदपि स्यादिति सम्बन्ध । नन्वेतन्मयं निरोधस्य फलत्वे, तदेव तु न,
 सुखयाऽत्रैरस्यैव तगारवमग्भवादिति चेत् । न, अनाकलनात् । 'मानसी सा परा मता' 'चेतःप्रकाश
 सेवे'त्यादिभि सिद्धान्तमुक्त्वात्पामाचार्यैर्निरोधपदार्थस्यैव फलरूपत्वात्वेनोक्तत्वात्, अतो न काचि-
 द्दकेति भाव । मातृचरणदुःखस्य स्त्रीत्वभावतोऽधिकत्वात् प्रथमेति । ननु पूर्वैर्ज्ञेयैर्भगवदानन्दमिति
 प्राप्ता किं हिष्टा एवेति चेत् । अत्राय भाव । भगवति मधुरा प्रति प्रस्थिते, तत आरभ्य मातृचरणादी
 नां स्वरूपात्मकविप्रयोगदातेन ते हिष्टा एव, परं स महारसो विलक्षणानन्द । चरुवेपमेव
 पर्यवमितिर्दैवमानन्दानुभव, अतस्त्वन्नोरथ कुर्वन्ति 'स्वान्मम ऋचि'दिति ॥ १ ॥ एव यशोदादिदुःख ए
 प्रापयन्ति । अतिसुखं गोपिकादुःखं प्रापयन्ति 'गोपिकानां वि ति । नुदात्तं पूर्वस्यादुःखत्वात्प्रदशकं ।
 गोपिकानां वजसीमन्तिनीनां यत् धीभागवतादीं निरतिशयत्वेन प्रसिद्धं स्वरूपात्मकं तत् ऋचिदपि
 देहेन्द्रियप्राप्येण स्वादिति मनोरथ । यशोदानन्दादीनामेतान्मुखस्य स्वस्य शान्तीभावप्रतिविग्रहेण
 अयोग्यतया अप्रापनीयत्वाद् गोपिकादीनामेव गुणानां प्रापयन्ति 'गोकुले गोपिकानां चेति ।
 गोकुले भगवतो टीलाभिर्षेणुनादादिरूपाभिगापिजानां, चकाराप्रोपानां सर्वेषां व्रजवासिनां चापि
 यन्मुखमनुभूयमानटीलापयसम्पदाकमभूत्, तत् किं मे विधासति । अन्यत्र तथाकरणे सामर्थ्या
 भावमात्रात्प्राद् 'भगवा निनि । स हि सर्वं कर्तुं समर्थं । अतोऽन्यत्रापि तथा करिष्येयेत्यर्थ ॥ १ ॥
 एव दुःख प्रापयिष्यां टीलाभिर्षेणुसुखं तदपि प्रापयिष्या आत्मन्तिकविप्रयोगदानानन्तरं यन्मुख
 तदपि प्रापयन्ति, उद्वेगागमन इति । उद्वेगवत्यागमने जाते यथा गोपिकानां मनसि भगवत्कारुण्य

दांनोत्सवो जातस्तथा मे मनसि बन्दिदपि न्यादिति सम्बन्धः । वृन्दावने भोकुले वेति । घानन्दः
 समुच्चयार्थः । यत्र तद्गुणानेव गायन्त्यो प्रजसतीमन्तिभ्यः समूय स्थितास्य वृन्दावने, तासां
 नन्दादीनाञ्च भोकुले च उरस्यः स इति तथेति 'गच्छोदय प्रजे' 'प्राप्तो मन्दप्रज'मित्यादिसामान्योत्तया-
 वधीयते । नन्भवः कश्चित् पूर्वेतन एव, तं विलोक्यगतमित्यादिनोकः प्राथमीय इति चेत्, तत्राहुः
 सुमहानिति । पूर्वस्तु महान् मुरत्यादिभ्यः, अयं तु अत्याहुं तरकालीनत्वात् सुतरानेय महान्, सुविभि-
 ताः कोयमपीच्यदर्शन इत्यादिभोकः ॥३॥ पूर्वमलौकिकसामर्थ्यरूपो गुण्यो निरोधः स्वैव सद्धिक्कारित्वेन
 स्वविषयत्वैव प्रार्थितः । अन्येषां तु भगवान् महापुरुरूपया स्वाधिकारागुसारेण सागुज्यं वैकुण्ठादिषु
 संबोधयित्वादेहं या दास्यतीत्यभिप्रायेण तावत्परमन्तं स्थितिप्रकारमाहुः महतामिति । यावत् भगवान्
 क्लेशगुणां दयां करिष्यति तावत् कीर्त्यमानः कीर्तनविषयीक्रियमाण एव मुखाद्यैत्यर्थः । 'महस्ते विष्णो
 सुमति भजामहे', 'विना महत्पादरजोभिषेकम्', 'किरातहूणाञ्च', 'देवर्षिने प्रियतमः', 'स्वल्पादपीतेन
 महद्भूतेन', 'सद्गुणप्रहो भवा'मित्यादिवाच्यैर्भगवतो दयायां च नान्यत्कारणमिति पशुमाहुः महतां
 रूपेण । एतेन भक्तिमार्गस्य त एव निर्वाहका इत्युक्तं भवति । ननु कीर्त्यमानेपि भगवति क्लेशपर्यन्तं
 प्रमेण कर्मादिरिव दुःखमेवेत्याशङ्क्याहुः त्वानन्दसन्दोह इति । भगवत्स्वाध्यायेन तद्गुणानामपि
 तदभिन्नतया स्वरूपसमानक्षोभमेत्वात् साधनइत्यायामपि तत्कीर्तनेनानन्द एव भवतीत्यर्थः । अत एव
 भगवत्समवत्कारणसः परीक्षितेव तदर्थकमेव 'धोत्रमनोमिरामा'दिति विशेषणमुक्तवान् । हि तुको
 यमर्थः । आनन्दे कीर्त्यमाने सुखस्य पुनरत्वात् ॥४॥ ननु कीर्तनं हि सुखसाधनम्, तत्र महतां रूपेण
 नामहः, यथाकथञ्चिदपि कृतं तामुखसाधनमिति प्रभेतेत्याहुः महतां रूपेण । यथा महतां रूपेण
 अलौकिकानां भगवत्सम्बन्धिनां सदा कालपरिच्छेदेन कीर्तनं तापनिवारकं भगवतः प्रादुर्भावकं
 निरोधजनकं, तथा लौकिकानां लोकतत्त्वविधिनां महापुरुषद्वारा भगवत्स्वरणगतानां कीर्तनं न तस्यै-
 त्थ्यः । तत्र दृष्टान्तमाहुः शिग्रधभोजनरूक्षयदिति । शिग्रधस्य पदार्थस्य भोजने रूक्षं । तुशब्दे
 मिश्रप्रकारप्रयोजननाय । शिग्रधस्य पदार्थस्य भोजने रूक्षस्य प्रीतिरहितप्रतिषेधस्यः । यथा कस्यचिद्भ-
 रावमिभूतस्य शिग्रधं वस्तु न रोषते तस्य यथा तत्रसानमिश्रसस्यस्य प्रतिदिनं क्षीयमाणस्य न तस्योजनं
 पुष्टिकलम्, तथा प्रकृतेपि महापुरुरूपगाभावरूपदोषयुक्तानां तादृशकीर्तने रूक्षानां लौकिकानां कीर्त-
 नस्य न पुष्टिकलत्वमिति भावः । यद्वा, शिग्रधं भोजनं यस्य स च रूक्षः रूक्षमोक्ष न तयोरेव तद-
 र्थः । तथा च यथा शिग्रधरूक्षभोजनयोश्चरत्सर्वं तयाप्रापीत्यर्थः ॥५॥ ननु 'तरति शोकमात्मवि'दिति ।
 शुभा ज्ञानेनैव दुःखनिवृत्त्या सुखप्राप्तेर्ज्ञानावस्थयेव स्वयं, किं गुणगानेनेति चेत्, तत्राहुः गुणगान इति ।
 यथा गोविन्दस्य गोमोक्षलपतेर्गुणानां गाने स्तुतिबुद्ध्या कथने शुकादीनां पूर्णज्ञानवत्तामपि सुखं तथा
 तेषामेव आत्मनि स्वात्मविषये ब्रह्मात्मैक्यज्ञानेन ज्ञापमानं यत्र न तथेत्यर्थः । अत एव इत्याहस्वैतर-
 पुराणेनिहासकथनेस्वपरितोषः, परितोषश्च श्रीभागवतकथनेनेति दिष्टः । अत एव 'लोकेश लोकागुणान्
 पश्यैश्च द्विवाधित्वात्से चरणात्पत्रम्, परस्परं त्वद्गुणवादरीतुपीयूषनिर्घोषितदेवर्षाम्' । 'अथ इ वाच तव
 मरिमाश्रुत, यदनुचरित, तव कथाश्रुत, भवणाहसंनत्, येन्त्यतो भागवताः' । तत्र अन्यतः अन्येषां
 अन्यतः विषयादिभ्यो वा अन्यत्र देहादीं कुत इत्यर्थः । सावैतिमतिकलसित् । 'ज्ञाने प्रयासमुद-
 पास्य, निवृत्तार्थं, नैपातिदुःसहा' इत्यादि वाच्यैः श्रीभागवते तथैव निरूपणाच्च । ननु तरति शोकमा-
 त्मवि, तमेव विदित्वातिशुश्रुमेतीत्यादिश्रुतेः का गतिरिति चेत्, अत्र यदामः, तस्मान्नमनस्किमुक्त-
 स्येति वाक्यादपिमतो ज्ञानानपेक्षणाश्चानिनस्तु नैककर्मवगीत्यादिवाच्यैर्भगवत्पेक्षणात्तद्विषयेनैकक-
 मागं एव समीचीनः । शुत्यादिषु ज्ञानकलौकित्यु दुःखानावपदैवसायैव, परमानन्दावाहित्तु भ-
 वयैव । वस्तुतस्तु दुःखभावेनैवेतदपीन एव । अनर्थावज्ञानमिति वाक्यात् । अत एवाचार्यैरानन्दम-
 याधिकरणे 'पूर्वं सतीत्यारभ्य न्यायित्वेन परणे भगवत्भावात् सहकारितोयत्तासम्भवा पुरुषोत्तमावाशि-
 भवतीति निर्णीयत इत्यभिप्रायः ॥ ६ ॥ ननु गुणगाने कृतेपि किं भवतीत्याहस्य तत्र प्रकृत्यर्थं
 परिचायकं फलमाहुः क्रिद्यमानानिति । गुणगानेन तत्स्वरूपस्यैवा तस्यास्यैव क्रिद्यमानान्

उपपत्तो जनान् दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत् तदा स्वर्ध सर्वात्मक सदानन्द पर ब्रह्म हृदिष्य
परमव्योम्नि प्रादुर्भूत बहि प्रकट भवतीत्यर्थ । अत एव ब्रजसीमन्तिनीना गुणगानेन हृदि प्रादुर्भूय
तन्मनस्का हत्यादिना तथाभावसम्पत्तौ कृपया भगवान् प्रादुर्भूत इत्युच्यते । तदेवोक्तमाचार्ये 'नहि
साधनसम्पत्त्या हरिस्तुष्यति कस्यचित्, भक्ताना दैन्यमेवैक हरितोपणसाधन'मिति । यद्वा, सदानन्दस्य
भगवतो हृदिष्य भूमिप्रायादिक यहिर्निर्गत भवतीत्यर्थ । अत्रायमभिसन्धि । 'रुद्रु सुस्वर राज'त्रि-
त्यादिना तादृशभावे यदा कृपायुक्तो जातस्तदा भगवतोभिप्राय प्रभुणैव मया परोक्ष भजता, न पारयेह
निरवधसयुजामित्यादिनाविभ्रंषित इति तथेत्यर्थ ॥ ७ ॥ ननु किमिति कृपापेक्षया गुणगानेन क्लेश
सम्पादनीय, ज्ञाननिष्ठया ब्रह्मानन्द एव सम्पाद्यतामिति चेत्, तत्राहु 'सर्पांनन्दमयस्यापीति ।
एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानीति श्रुते सर्वत्र स्थितो य आनन्द स भगवति प्रासुर्येण वतेत इति तदा-
भितस्य मानुषानन्दमारम्भ ब्रह्मानन्दो न कस्यापि दुर्लभत्वेन, 'सर्वं मन्त्राक्रियोगेने ति वाक्यात्, तथापि
कृपानन्द कृपास्वो य आनन्द स भगवद्वर्माणो स्वरूपसमानयोगक्षेमत्वात् कृपया वा यो भजनानन्दास्य
स तु सुतरां दुर्लभ एव । ब्रह्मानन्दस्यापि दुर्लभत्वात् । सम्भवति साधनमिह विधिदिति चेत् ? गुणगान-
मेवेति गृहण । अत एवोक्तमाचार्ये 'लौकिकेक्षीषु सतिष्ठ तद्द्वारा पुरये भवेत् । स्वानन्दस्यापनार्य हि
योग्यतापि निरूपिता । अतो हि भजनानन्द खीषु सम्यग् विधायत' इति । एतदर्थस्तु प्रभुचरणै-
रेव विवृत । 'भजनानन्दस्य स्वरूपारम्भत्वेन रसरूपत्वात् तस्य च स्वशास्त्रसिद्धस्यैव तथात्वात्
भगवदतिरिक्तलोके विवाह्यवतीषु सम्यक्सिद्धो भवति । तत् एतत्कथाश्रवणेन तद्भावोदये पुरुषेपि स
रसो भवेत्, नान्यथेति खीष्वेव तद्भानमित्यर्थ इति । तत्रैव द्वितीयकारिकार्थनिरूपणे यद्वा, बलदेवे
स्वधर्मान् निरूपयता भगवता 'गोप्योन्तरेण शुनयोरपि परसृष्टा भी रिति वाक्ये श्रियोपि सृष्टानिरूपणेन
तस्या अपि दुर्लभो यो रस त प्राप्य गोप्यो धन्या इति वज्रखीष्वेव स्वानन्दानुभवयोग्यता निरूपिता,
मान्येषु मान्याषु सेत्यर्थ । तथा च तत्रैवैतदधिकारित्वात् सयंति भाव इत्येतत्सर्वं हृदिहृत्कृत्योक्त कृपानन्द सुदु-
र्लभ इति । 'नाय मुखाय ' 'नेम विरञ्ज ' 'एता पर' 'केमा क्षिय, नाय श्रिय ' 'आत्तागदो' इत्यादि-
वाक्यै भीमागवतेपि तस्य तथात्वनिरूपणाच्च । कृपानन्दस्य दुर्लभत्वबोधक तत्कार्यमाहु 'ह्रत' इति ।
ह्रत ह्रव्यमपि स्वगुणान् ध्रुवा पूर्णं गुणगानेन प्रतिक्षण कर्षमान. जनान् श्रावयते रसस्तिग्वी
निमज्जयतीत्यर्थ । अत एव 'बर्हापीडे'ति पद्ये स्वामिनीना सुपाद्द्वारा भावात्मक. प्रभुरन्त प्रविष्टो
'ब्रह्मणवता'मित्यादिमिहार्थितगुणश्रवणेन पूर्णं श्रीहामयतामेव सम्पादितवान् । अत एवोक्त
भीमादाचार्यैर्गुणगानेति 'अन्त प्रविष्टो भगवान् मुखादुत्स्य कर्णयो, पुन प्रवेदयते सम्यक् तदा भवति
सुस्थिर'इति । एतद्विवरणे यथार्थलैग्वैवास्मानिरुक्त इति सर्वमनवधम् ॥ ८ ॥ एव सोपपत्तिक
गुणगान तात्पर्यरूपम् निरूप्य कतव्यत्वेन तदुपसहरन्ति 'तस्या'दिति । यस्यास्कर्म्मज्ञानोपासनादि-
मार्गो भक्तिमार्गो निरतिशयितनिजविषय 'नैष्कर्म्यमपि पूजादिना ब्रह्मलोक'मित्यादिवाक्यात्
तस्यादेतो सर्वं कर्मज्ञानोपासनादिक परित्यज्य तवासन त्यक्त्वा निरुद्धैर्भगवता स्वीयत्वेन कृतेरत एव
किञ्चिद्विस्तृतमप्येकस्यै साधनानि विदधद्गुणा एव सर्वदा सर्वेहदातारस्त्यक्तव्यत्वेन ज्ञेया इत्यर्थ ।
ननु वेदमार्गानुसारेणेति वाच्यत्वं तन्मार्गस्य व्याख्यातुमिर्बहुविधात्वात् केवल स्वगुणान् गायेदिति
राष्ट्रायामाहु 'सदानन्दपदैरिति । सदानन्द. आनन्दमय पर परमात्मा परमकाहापन्नो न तु
पुष्पादि येषां तादृशोऽस्यः । विधया विदोपणमेतत् । अनेन ब्रह्मवादे स्थित्या गुणगान कर्तव्यमित्युक्त
भवति । तत् सेव्य एव गुणेष्वो जीवस्य सच्चिदानन्दता गुणत्रयाविभोचन अक्षररूपतया पुरुषोत्तमा-
त्मिर्भावयोग्यता भवतीत्यर्थः । अत इति पाठे गुणगाने क्रियमाणे स्वत एव धरमुखाभाष्यास्तथावत्, न तु
तन्मै प्रचक्ष्णन्तरापेक्षेति तथेत्यर्थ ॥ ९ ॥ एव गुणगानकर्तव्यतामपि निरोधकज्ञानील्यैव तसिद्धि-
रिति स्वस्त स्वीयार्थमेव निरोधयितुं कर्तव्यमिति ब्रह्मन्त तस्य चकार्यविचारिताज्ञानाय दृष्टान्त निरूपय-
न्तस्तत्र स्वानुभव प्रमाणमस्ति, ब्रह्मनिर्दिष्ट इति । ब्रह्म निरोधेन स्वरूप एतदि आहृणोति तादृशेन गुणेन

तद्येत्यर्थः । अयमर्थः । गुणाविष्टचित्तानां सर्वत्र संसारेण अहन्ताममत्तारूपेण अमिलयितप्रतिबन्धना-
धाभ्यां च क्लेश यत्र सत्साराभावेन भगवत्यपि तदभावेन भवति सोऽपि तद्येत्यर्थः । भगवद्विषयकसंज्ञा
रस्य सत्तामन्यपेक्षणीयत्वात् । अत एव 'कुर्वन्ति गोवत्सपद' मित्यत्रत्यस्य गोवत्सपदमात्रकरणोक्त्या
अहमेतहासोऽयं मम स्वामीत्येतावान् सत्सार स्थापितो भवतीति निरूपितमाचार्यैः । स च क्लेश
'क्लेशोधिकतरस्तेषां' मित्यादिना भगवता गीतायामेव वर्णितः ॥ १३ ॥ ननु गुणाविष्टचित्तवैष्यनिष्ट
निवृत्तिरेव किमित्याशयायामाहुः 'हरिष सुख'मिति । हरे सर्वेदुःखदुर्भंगवतो यथा सर्वदेव भक्तसाहि
त्येन सुख पूर्णानन्दत्वाद्भगवत्सत्तया गुणाविष्टचित्तत्वेऽन्तस्त्वादिभिर्भावान्भगवत्साहित्येन तथैव सुखमित्यर्थः ।
'सदा सत्सगयुक्तानामवस्थैव यदा भवेत् । तदा द्यालुता दैन्यदर्शनात् हरेर्भवे' इत्याशयेनाहुः तदा
भवेद् द्यालुत्वमिति । अन्यथेति । एव भावाभावे भगवतोऽपि क्रूरता अवकृपालुता अनपेक्षकत्वेन
मत्तास्माक सम्मतेत्यर्थः । अत एव नैवात्मान इति श्लोके भगवत आत्मान प्रभोर्निजलाभपूर्णस्य अति
द्वन्द्वनोपकृतोऽपराप्रहीतु करुणया किङ्करनिवेदितानुग्राहकत्वमुच्यते श्रीभागवते । सा च पूर्वोक्तभावे
नैव भवतीति सर्वमनवद्यम् । ननु कालकर्मस्वभावादिभिर्बुद्धिनाशवैयर्थ्योद्देश्यादिदोषसम्भवे कथं गुण
गाननिर्वाह इति चेत्, तत्राहुः यथाशङ्कापि नास्त्यथेति । अत्र गुणगाने कालादिबाधशङ्कैव न, यतो
भगवतैवोक्त श्रीभागवते 'न कर्हिचिन्मत्परा शान्तरूपे न ह्युच्यन्ति नो निमिषो लुटि हेति'रिति । किञ्च ।
नात्र भगवतापि बाध कर्तुं शक्य, तत्र के वराका कालादय इत्यथ । अत एवोक्तमाचार्यैः 'हरिश्च न
शास्त्रोक्ति कर्तुं बाधा कुतोपर' इति । ननु सर्वकृतिसमर्थस्य भगवत कथमेतद्बाधबाधकृत्यसमर्थत्व
मिति चेत् सत्यम्, परन्तु सर्वस्य वशीति श्रुत्या सर्वोपदेशस्य भगवतो भवत्ववश्यतेन सर्वसमर्थस्य भक्त
भावबाधासमर्थत्वमिति भावः । एवमनिष्टनिवृत्तिमुक्त्वा इष्टभाषिमाहुः तदध्यासोऽपि सिध्यतीति ।
गुणगानेन तस्य भगवत अध्यास सर्वत्रावभास सौष्यवान्तरकलतया सम्यक् सिद्धिविषयो भवतीत्यर्थः ।
अध्यासपद घटादियु तदवभासस्य भावप्राप्तयुक्तत्वेन वस्तुत आसक्तिभ्रमबोधनाय । अन्यथा घटादे
पुरयोत्तमामिश्रत्व स्यात्, नहि घटादि साक्षात्तदमिश्र, किन्तु परम्परया । तस्याक्षरात्मतया तद्गूरा
त्थात्वात्, अन्यथा तापद्वर्मेतिष्ठत्येव तेष्वन्यमिदध्यात् । ननुच्यन्त एव प्रज्ञधर्मा सविदानन्दादय
स्तेष्विति चेत्, अक्षरगतानामेव तेषां तद्वृत्ततया व्यपदिश्यमानत्वात् । अन्यथा बर्हापीडत्वादयोऽपि व्यप
दिश्येरन् । १ च इष्टापत्तिः । तदसाधारणधर्माणामन्यत्र कथनस्यानुचितत्वात् । किञ्च, सर्वेषां धर्माणां
साधारणत्वे तद्गूरासाधारणधर्माभावे लक्षणाभावादनिरूप्यत्व प्रीवसामत्वमभजनीयत्व च स्यात् ।
तस्यादभेदस्याक्षरसमानाधिकरणत्वेन तद्वर्मेव्यपदेश एव, न पुरयोत्तमधर्मगन्धोषीति सुखस्य । नन्वे
श्रयादयो व्यपदिष्टा एव, किं न ते पुरयोत्तमधर्मा इति चेत्, सत्यम्, तदर्मा एव, परत्वक्षरस्य चरण
रूपत्वेन तदमिश्रतया तेषां तत्र सद्भावात् । यतो व्यासादिष्वपि तद्विच्छया तद्भाव, युक्त भर्ग स्वैरिति
वाचयात् । एव सति 'उत्तम पुरपत्त्वस्य' 'भेदव्यपदेशाच्चै'त्यादिसृष्टिसूयमीमांसया अक्षरभेद
पुरयोत्तमभेद इति भेदभेदवाशोऽस्माकमिति दिक् ॥ १४ ॥ ननु धैर्यास्यस्य गुणगानाद्भवेन तदभावे
अह्नीनत्वेन न सत्सत्त्वमित्याशङ्क्य तद्व्यनेनेव भवतीति साधनसत्पादकरूपमुत्कर्षमाहुः भगवद-
र्मसाधर्म्यादिति । भगवद्वर्मा गुणगत सत्सामर्थ्यैः इत्युक्तपरेऽत्र विषये भगवद्वर्मादिक विषये विरागो
रागान्नाव स्थिर, अन्यापरिभाषणो भवतीत्यर्थः । 'सा अर्धानस्य विद्वद्भावा विरक्तिमन्यत्र
करोति पुत' इति वाचयात् । यद्वा, भगवद्वर्मा भगवद्गीतादय, सत्सामर्थ्यादव तास्वभावादेव विरक्तो
भवतीत्यर्थः । अत एवोक्तमित्य भूतगुणो हरिरिति ॥ १५ ॥ एव सोपपत्तिक गुणगानकर्मव्यताममि
धाय तदुपसहरामि एव ज्ञातयेति । एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण ज्ञानमार्गात् गुणयर्षणेन वक्तव्यं ज्ञात्वा
सर्वोपेशां परित्यज्य सदा कालाव्यवधानेन गुणा एव वर्णनीया । अत्र बाधकत्वं त्यागाद्यंमाहुः ।
अप्रत्यक्षैरेतन्नुपधैरिति । भासवदेवो भवोरत्यन्तबाधकत्वात् त्याज्यायम्, निर्गत्साराणां सत्तामिति वा-
चयात् ॥ १६ ॥ ननु गुणगान रागगतानादिबन्धीकृतचित्ततया कार्य इत्याशयः सापेक्षैर्गुणगानस्य

पूर्वोक्तमुल्लवतिरोधाधिभाररूपत्वात् तदनुगमा भगवात्स्वरूपत्वात्ततोभेद साधनमाहुः हरिमुर्तिः
 सदा भवेत्येति । एष हृते तदेककारणस्य अम्यादाववपूरणततोत्पत्त्यर्थः । ति साधनस्य प्रवेष्टारभेय
 रक्षाभे भगवात्सामिर्भवेतीति ज्ञापयितुं हरिरिति । मनु योम इव हरिपत्तमूर्तिरपासनावाप्तियं सम्पादित-
 प्यन्त्वियाविदोपयुक्तमूर्तिर्ना ज्ञात इव शेषधाममूर्तेष्वप्यमिहापि अभिष्यतीत्याहुः । हरिमुर्ति-
 रिति । अतःसाधिरूपास्वरूपस्यैव ध्याताम्, न तत्प्रयथागूतशेषत्वं । । देवेति विध्यभेकश्लेषप्रत्ययेन भाव
 उपकल्प सौचित्यात् । मनु ध्यातापूर्वकमुज्ज्वलमानमात्रेण वि भवतीत्याहुः । सद्ब्रह्मव्यापिचारमादादपि तत्र भगवन्मूर्ते प्रादुर्भावात् भगवतो वृद्धौ रूपज्ञान रूपदृष्टमथाहित भवति ।
 तथा वृत्तिः षटाक्षशेषणारिख्या, सतिः विलासताय, वृत्तात्तयै ध्यातापूर्वकतादृशमुज्ज्वलमानेन तिरोधा-
 त्प्रयत्नरूपे स्पष्टमथाहित अनुभूत भवतीत्यर्थः । तिरोधोवयोगिराधमात्तराण्याहुः, अथवा धीर्तन-
 मिति । अथवा धीभाग्यताये, धीर्तन, एतद्व्यवसि रूपदृष्टम्, सद्ब्रह्मविषयमदृष्ट्या कर्तव्यम् । अन्यथा
 अथवा धीर्तने अस्मत्भावताद्विपरितभायो स्याताम्, तथा च भगभेः स्वादिति भाव । धीवृत्तापेक्षं
 धीर्तन, तद्विरपेक्ष साममिति तयोर्विषयः । विश्वं पुत्रे वृष्णप्रिये वृष्णस्य त्रियः वृष्णः प्रियो वा नस्य
 तथाभूते इतिः कार्यत्वमेव । पुत्रे वृष्णप्रिय इति प्रत्ययस्यैवैव इतिः कार्यो, न पुत्रत्वेनेति
 भावः सूच्यते । अतः परं साधनसमुदायवत्त्वं निरूपयन्तः शरीरपरिवर्तनक्षण प्रतिबन्धविराकरणमाहुः
 यादुरिति । सपरिकरेण मुज्ज्वलानेन प्रकटे भगवति तत्परणमवत्सद्गमभवाद्ः स्वद्विपरः प्रविष्टान् शरीरग-
 तमर्लांश शोषणयोग्य शोषकित्वा तद्योग्य स्वयेनेति शिष्यत्वं तान् शोषभाग शोष भवशिष्टो यमस्पर्देपु-
 त्तमव्ययी भागः त नयेत् प्रादुर्भावात् । तथा सति अभिषेय सतिरे अलौकिकस्वरागपथा पुढयोत्तमान्स्वा-
 नुभवधोष्यता भवतीत्यर्थः । एतेनैतद्वितरित्ताधर्मेव प्रतिबन्धो न निर्वर्त इत्युक्तम् । एतत्तत्साध्यापि
 दु संगतिना भावनागतसम्भवाहुपायमाहुः यत्नेति । यत्स पुत्रादेर्भगवत्कार्यं सेवादिरूप स्पष्ट प्रकटं
 प्रातिवृत्त्येन न दृश्यते शिक्षायामपि, तदा सति सामर्थ्यं तस्य विदोषेण अरणादिकमदृष्ट्यापि निग्रहः
 कर्तव्य इत्यर्थः । अन्यथा सति सामर्थ्ये तदनिग्रहे 'अप्रतिविज्जममुमत भवती ति ध्यायेन तद्वर्तनी पुत्रे
 वृष्णप्रिये इतिरित्यनेन तिरोधापरोदित्यत् आहुः इति निब्रूयः । सति सामर्थ्ये निग्रह एव कर्तव्य इति
 भाव । इदमुक्त भवति । वृष्णप्रिये इतिरवष्टप्रभुकार्यकरणे औदार्यस्य प्रातिवृत्त्ये सति सम्भवे
 त्यागस्य सेयाप्रतिवृत्तता निग्रहः, अतस्मात् तु त्याग कृत्वा आत्मरभित्तमार्गं यत्नेन हरि ॥ १० ॥
 ॥ १८ ॥ १९ ॥ अत परं साधारणरूप निरूपयन्त साधनान्तराणामप्योपपत्तं वदन्तः न ।



लालुभट्टकृत 'निर्णयार्णवा'न्तर्गतैतद्ग्रन्थसंशयनिरासः ।

संसारवेशादुद्धानामिन्द्रियाणां हिताय वै । कृष्णस्य सर्ववस्तुनि भूय ईशस्य योजये'दिति । कृष्णस्य सर्ववस्तुनि कृष्णसंबन्धिरूपरसादीनि विषयरूपाणि इन्द्रियाणां हिताय योजयेत् । भगवद्भूपादौ चक्षुरादीनां विनियोगः कार्यो, न त्वन्यत्रेति फलितोऽर्थः । ननु जीवानां नागादेशास्थानां भगवद्भूपादिर्दौर्लभ्यात्कथं विनियोगः स्यादित्याशङ्काद्भूय इति । व्यापकस्येत्यर्थः । ननु व्यापकस्येति तिरोहित्वादीर्लभ्यं दुर्निवारमित्याशङ्काद्भूय 'ईशस्ये'ति । सर्वत्र सर्वरूपेण सर्वकरणसमर्थस्येत्यर्थः । एष सति सत्त्वादिरूपेण प्रकटल साक्षात्भगवत्त्वात्तत्र चक्षुरादिविनियोगस्य शौक्यमिति कृतापेक्षा सिद्धेवेति सामर्थ्यसूचकमीशपदम् ।

अत्रैव—हरिमूर्तिं सदा ध्येयेत्यादि । ध्येयेति । अनेनाऽन्तःकरणस्य भगवत्पुण्ययोग उक्तः । दर्शनं स्पर्शनमिति चक्षुस्त्वचो । सदा कृतिगती इति करपादयो । श्रवणं कीर्तनं स्पर्शमिति श्रोत्रवाचो । पुत्रे कृष्णप्रिये रतिरिति । कृष्णः प्रियो वस्य कृष्णस्य प्रिय इति वा विप्रहेण भगवत्पुत्र इत्यर्थः । कृष्णः प्रिये पुत्रे इत्यत्र 'निमित्ताकर्मयोगः' इति सूत्रेण सप्तमी । रतिरिति कर्मपदम् । अप्याहृतेन कर्तव्येति पदेन कर्मणोऽभिधानादभिहिते रतिरूपे कर्मणि प्रथमा । प्रथमान्तेन कर्मवाचकरतिपदेन योगात्पुत्रे कृष्णप्रिये इत्यत्र निमित्तसप्तमी । तथाच कृष्णप्रियपुत्रार्थं रति कर्तव्येत्यर्थो भवति । अनेन व्यवायेन्द्रियस्य परम्परया भगवत्सेवोपयोगो निरूपितः । भगवत्पुत्रः पुत्र उच्यते इति बुद्ध्या भोगः कार्यो, न त्वन्यथेति भावः । पुत्रपदेन स्वभाषोपामेव ऋतावेव भोगः कार्यो, न स्वाच्छन्द्येनेत्यनुशातम् । पाप्योरिति । तद्वारा भलात्वात्पापो देहः शुद्धो भगवत्सेवायामुपयोदयत इति पापो परम्परयोपयोगो ज्ञेयः । यस्य धेति । अन्तःकरणवह्निकरणानां मध्ये यस्य चक्षुरादेर्गदा यस्मिन् समये भगवत्कार्यविनियोगो न दृश्यते, तदा, तस्मिन् समये तस्य विनिग्रहः कर्तव्यो, न तु भगवदितरपदार्थं विनियोग इत्यर्थः । केचिदत्र 'यस्य वा भगवत्कार्यं मित्यनेन व्यववायेन्द्रियनाशस्य निग्रह उक्तः इत्याहुः । तत्र । यस्य यदा तस्य तदेत्युक्तयोर्वैतच्छन्द्योर्वैयर्थ्यापत्तेः । अतः साक्षात्परम्परया वा यथायकथञ्चिदपि भगवद्विनियोगः साक्षदेन्द्रियाणि विनियोजयितव्यान्व्यथा तु सर्वस्यैन्द्रियगणस्य निग्रहः कार्यः इत्येवाचार्यवर्षाणामाशयो, न तु केवलं व्यववायेन्द्रियमन्वनिग्रहे तात्पर्यमिति ज्ञातव्यम् ।

ननु तिरोधलक्षणग्रन्थे 'यद्यं तु खं यशोदाया' इत्यादिना श्रीमदाचार्यवर्षेभगवद्विरहात्रिगामयिकदुःखादि स्वयं गान्धितमेवावता तिरोधस्य विं लक्षणं सिद्धमिति चेत् । शृणुत । भगवद्विरहे तु सह दुःखं भगवत्संयोगे परमात्मादभेदादि कार्यं तिरोधजन्यमेव । यतो निरद्वानामेव भगवद्विरहे दुःखं भूयते । संयोगे महादानान्दुःखं । 'गोपीनां परमानन्दः आसीत्तत्रोविन्दुर्दाने । क्षणं युगसान्निध्यं यामां येन विनाऽभव'दिति वाक्यात् । एष सति तास्मान्दुःखादेतिरोधकार्यत्वात्कार्यलक्षणमत्र मुखमाध्यमिलाहृत्य । भगवद्विरहात्सामयिकपरमदुःखकारणत्वं तिरोधात्वं भगवत्संयोगात्सामयिकपरमानन्दसंयत्कार्यं तिरोधात्वंमित्यादिलक्षणानि तिरोधस्य सिध्यन्ति । तिरोधस्य निवन्धमुबोधिर्बहुधा निरूपितस्य परस्परविद्वत्तया प्रतीयमानलक्षणस्य सम्यगतिरोधप्रकारो मया सुबोधिनीयोजनार्थां विवृत इति विशेषविज्ञानार्थां ततोऽप्येवम् ।

धपद्वाच्य । स च प्रपञ्चप्रतियोगिव । एव च सुबोधिन्युक्तया टिप्पणीव्युत्पादितया पूर्वोत्तरस्कन्धा-
 सङ्ख्या नवमदशमार्थसङ्गतिविचारे भक्तानां प्रपञ्चप्रलयो निरोध इत्यायाति । अत एव द्वितीयस्कन्ध-
 सुबोधिन्यां 'भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोध' इत्यु-
 द्देव सुबोधिन्याम् । अतो 'निरोधो भक्तानां प्र-
 ञ्चस्येति निग्रय' इत्यभाणि । तथा च भक्तानां प्रपञ्चस्य प्रलयनिरोधान नित्यलीलौपयिकवेदव्यवहारको
 जाळ्यात्मकप्रपञ्चभावोत्पत्ति इति यावत् । तदुक्तं सुबोधिन्या 'अतो निरोधो भक्तानां प्रपञ्चस्येति निग्रय'
 इति । सूतोक्तलक्षणेन निरोधस्थाने सस्था पठिता, सस्था च 'नैमित्तिक प्राकृतिको नित्य भास्यन्तिको
 लय । 'सस्येति क्वचिन्मोक्षश्रुतद्वय स्वभावत' इत्यनेन प्रलयरूपा ध्यायता । अतो निरोध-
 शब्देन प्रलय उच्यते, 'निरोधोऽस्यानुशयन'मित्यस्य सुबोधिन्यामपि शक्ती शाययित्वा तन्नोकार्यं
 भगवत शयनमिति ध्यायतातम् । तत्रापि शक्तिशयनानन्तर शयनकथनेन प्रलय उक्त । अतो भक्त-
 प्रपञ्चसम्पादिका शक्ती स्वरूपे तिरोहिता कृत्वा तिष्ठति, ततो भक्तान् प्रति प्रपञ्चनिरोधमिति, अतो
 भक्तानां प्रपञ्चनिवृत्तिरिति सिध्यति । एतदभिसन्धायेकमत्र 'एष सर्वगतो विष्णु प्रकटश्चेत् तद्विरोध',
 तावत् लीयते सर्वमिति कृष्णसमुद्यम' इति । इदमत्र श्रेयम् । स्वच्छन्दलीलाभिर्भगवत्तिरोधे भक्तानां
 देहादितकलप्रपञ्चे स्वानन्द प्रवेशयन् तिरोहितानन्दप्रभाविर्भावयति, ततो भगवदानन्दानुभवो
 ग्यालौकिकदेहवप्राप्ती जाळ्यादिरूपपूर्वप्रपञ्चभावो लीयते, अयमेव प्रलयपदार्थः । अतो भक्तानां
 प्रपञ्चप्रलयो निरोध इति फलति स्म । तथा च प्रपञ्चे शक्तिभिर्भगवत्क्रीडन भक्तानां प्रपञ्चविस्तृति-
 र्विका भगवदासक्तिर्भक्तानां प्रपञ्चाभावश्चेति त्रय निरोधपद्वाच्यम् । तत्र भगवत्क्रीडन करण, भगव
 दासक्तिर्गोचर, भक्तानां प्रपञ्चाभाव फलमिति त्रितयरूपो निरोध स्कन्धां । एवमप्येदं सिद्धम् ।
 भगवाननेकशक्तिभिः करणरूपनिरोधात्मिकां क्रीडां कुर्वन् प्रपञ्चविस्तृतिपूर्वकासक्तिरूपनिरोधात्मक
 व्यापारेण प्रपञ्चाभावरूपप्रलयात्मकनिरोध सेवकानां स्पर्शयतीति त्रिष्वपि निरोधपदव्यवहार सुबोधि-
 नीतिव्यव्याधिपूपलभ्यत इति सर्वमदुष्टम् । किञ्च, 'लौकिकेषु तु भावेषु पत्रैव हृदयेषान् । निवर्तते तदे-
 चात्र बह्वेदोदमय यमे'ति कारिकाया फलात्मको निरोध उक्तः । तथाहि, लौकिकेषु भावेषु पदार्थेषु
 पत्र पत्र भगवान् प्रविशति, सत्र सत्र विद्वानन्दयोस्तिरोभूतयोरविर्भावोत्पत्तेय पूर्वस्थितस्वरूप तिरो
 हितानन्दक निवर्तते, ब्रह्मात्मक भवति, प्रकटसच्चिदानन्दक भवतीति यावत्, तत्र इदानीं, बह्वेदि-
 त्यादि । बह्विधेषु दारुणां बह्विरूपता तद्वित्यर्थः । एव भक्तानां प्रपञ्चप्रलयो बोध्यः । अन्यथा,
 शक्तिशयनानन्तरशयनशब्दे अनुशयनशब्दे गोप्योर्षोपि विपक्षित, तदनुसारेण स्कन्धपरम्ये स्कन्धा
 र्थरूप भगवत्तद भक्तस्य श्चिमीदाचार्यचरणलीलाक्षीरामिषतामिन लक्ष्मीसहस्रलीलाभि सेव्यमान
 कलानिधिमिथुक्तया रहस्यलीलायां निरोधपद्वाच्यत्व सूचितम् । तदनुसारेण प्रमुक्तौटिप्पण्यां 'अनु-
 शय्यते अनेने तिकरणमुत्पत्ति प्रदस्यं निगुणभावकरण येन स निरोध इत्युक्तया स्वकीयेषु स्वविषयक-
 भावोत्पादन यथा लीलाया कियते, सा निरोधपद्वाच्येत्युक्तवर्तिगुणलीलाया स्कन्धांशता प्रतिपादितेति
 विद्वद्विर्भावनीयम् । एवञ्च, धीपुकोक्तिमुबोधिनीटिप्पणीषु सर्वत्रानिरोध इत्येक पदानावच्छयानां
 शानुमेवति स्म । तथा सर्वत्र सिद्धम् । देहादी विद्वानन्दयोः प्राकट्येन जाळ्यादिप्रपञ्चभावप्रलय एव
 चोक्तो निरोध सिद्धः । तस्मिन् शक्ति प्रपञ्चे विद्यमानानामपि भक्तानां कृष्णानन्दानुभवयोग्यदेहत्व
 तिष्ठति । इत्येव भगुनाहते 'प्रमासु तव शक्तिं तनुनवचमेतावते' इत्यनेन प्रार्थित, ततो नित्यलीला-
 प्रवेशः स मुक्तिपद्वाच्यः, निरोधलीलायां भक्तानां साधारणमापागुनरहितेषु लीलास्वभक्तनिया
 मकान्तारप्रमापागुनप्रपञ्चैव लौकिकतादृश्यव्यवहारः पुराजादी, तेषां अन्तरङ्गयोगमापागुननिवृत्ती
 निष्पत्तीत्यापदेशरूपा मुक्ति, अतो मुक्तिर्लीलायां मुक्तिर्गुणव्यतिरिक्ते । 'मुक्तिर्हीनास्वप्नारूप' इति
 शब्दयान् । भगुनव्यवहारान्तरान्तरम् ।

सेवाफलम्

सविबरणम्

षतुवंशटीकाभिस्समलंकृतम्

- | | |
|------------------------|--------------------------|
| १. श्रीकल्याणारायणाम् | ८. श्रीलालूभट्टानाम् |
| २. अचा श्रीगोपेशानाम् | ९. श्रीअपगोपालभट्टानाम् |
| ३. श्रीदेवकीनन्दनानाम् | १०. श्रीलक्ष्मणभट्टानाम् |
| ४. श्रीहरिरायणाम् | ११. श्रीगोकुलनाथानाम् |
| ५. श्रीवल्लभानाम् | १२. केवाञ्चित् |
| ६. श्रीपुरुषोत्तमानाम् | १३. केवाञ्चित् |
| ७. श्रीज्ञानरक्षानाम् | १४. श्रीप्रजभूषणानाम् |

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-वंशावतंस-गोस्वामिभ्री-१००८
श्रीगोविन्दराय-महाराजश्रीत्वैतः-प्रकाशितम्

प्रकाशक :

गोस्वामिथी १००८ श्रीगोविन्दरायजी महाराज
गोविन्दनिकेतन, भाटिया बाजार,
पोरबन्दर, गुजरात, ३६०५७५, भारत.

साधारणसंस्करण २००० प्रति

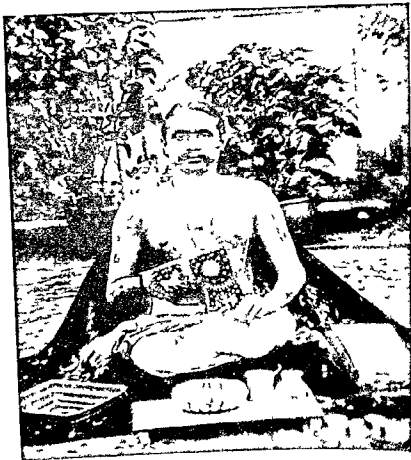
राजसंस्करण १००० प्रति

श्रीवत्सभानन्द : ५०३

ग्रन्थपरिचयलेखक : गोस्वामी इयाम मनोहर

मुद्रक :

स्टूडियो बहार, २३-ए, सेन्द्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी, बम्बई, ४०० ००७.



गोस्वामिश्री १००८ श्रीजीवनलालजी महाराज



गोस्वामिथ्री १००८ श्रीरणछोडलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

फल और उसके विवरण की रचना श्रीमहाप्रभुने आगरामे विष्णुदास छीपाके लिए कंबदन्तीके अनुसार इसका रचनाकाल वि. स. १५८२ माना जाता है. वातमि एक उल्लेख यो मिलता है :

आगरेके पासके गाममे एक छीपाके घरमें प्रकटे. सो बडे भये, बीत वर्षके, तब ते. सो पिता घरत्र छाप देय विष्णुदास आगरेमे जाई बेच लावें. सो ऐसे करत एक आचार्यजी आगरे पघारे. सो विष्णुदास सुन्दर छोटके धान ले आगरे गये तब श्रीआचार्यजीने कृष्णदासमे कही—'यह छीपाके पास छोट आछी है सो तू ले. जो मागे सो दे.' तब कृष्णदासने विष्णुदासतो कही—'यह छोटके धान सगरे हमको दे. याके दाम है सो तू ले.' तो विष्णुदासने चोगुनी मोल कहायो. सो कृष्णदासने सगरे रुपया गिन दिये. और कहे—'और आछे धान होई सो ले आऊ !'

तब विष्णुदास चक्रत होई रहे जो ए तो बड़े महापुरुष अलौकिक जीव हैं ! जो मोल न कियो, सगरे धान लिये, ताके दाम दिये ! सो इनको छोट देनी उचित नहीं है. इनको पैसा मेरे घर आवेयो तो सगरो घर बेरागी होई जायेयो ! तब विष्णुदासने कही—'ये सगरे अपने रुपया लेऊ. मेरे छोटके धान फेरि देऊ' तब कृष्णदासने कही—'तू बडो मूरख बीसत है ! ते मोल कहायो सो दाम दिये अब यह धान कबहू फिरि नाही. तेरे टोटा होई तो और हू रुपया ले. चोगुने तो दाम लिये !'

तब विष्णुदासने कही—'तुम महापुरुष हो जाते तिहारो द्रव्य घरमे आये सगरो घर बेरागी होईयो याते मैं तुमको नाही बंचत. जो धान न देहू तो यह रुपया हू राखो. और धान हू राखो. परन्तु रुपया तिहारो मोको पचे नाही' तब कृष्णदासने कही—'यह धानकी श्रीआचार्यजीने श्रीमूलसो सराहना करिके कहे—'लेऊ.' सो तू कोटीन उपाय करे तो यह धान फिरि नाही और श्रीआचार्यजी बिना सेवक ओरको कछु लेत नाही...' तब विष्णुदासने कही—'श्रीआचार्यजी कहा है ?'

उपनिषद्में ठीक ही तो कहा है कि परमात्मा न तो प्रवचनसे मिलता है, न मेधामे और न बहुश्रुततासे ही ! परमात्मा कहा है ? किसे मिलता है ? उत्तर: परमात्मा जिसे खोज रहा हो वही परमात्माको खोज पाता है ! परमात्मा जिससे मिलना चाहता है वही परमात्मामे मिल पाता है—'यमेवंप वृणुते तेन लभ्य.' (कठ. १-२-२३).

भारतवर्षकी तीन-तीन परिक्रमाओंमें श्रीमहाप्रभु इन्हो विष्णुदासको तो खोज रहे थे तभी तो विष्णुदास भी पूछ सके— “श्रीआचार्यजी कहा हैं ?”

निरोधलक्षण ग्रन्थमें कहा गया है कि भक्तोंके बीच भगवान्का इस भूतलपर प्रकट होना करणनिरोध है प्रपञ्चको भूल कर भक्तोंका भगवान्में आसक्त हो जाना व्यापार-निरोध है इस प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासकिके व्यापारद्वारा भक्तके देह-इन्द्रिय-अन्त करण-प्राण आत्मा सभीसे सर्वत्र-सर्वदा भगवान्के स्वरूप या लीला का निरन्तर अनुभव होना (मानसी सेवा) फलनिरोध है तदनुसार विष्णुदासकी छोटपर श्रीमहाप्रभुका रीझना करण-निरोध था विष्णुदासका— “श्रीआचार्यजी कहा हैं ?” पूछना व्यापारनिरोध था और सेवाके बिना ही विष्णुदासको इस ‘सेवाफल’ का दान फलनिरोध था । “यमेवंप वृणुते तेन लभ्य सस्यैव आत्मा विवृणुते तनु स्वाम्।”

जीवात्माका वरण करणनिरोध है और परमात्माद्वारा निजरूपका विवरण फलनिरोध है

वार्तामें आता है कि “तब श्रीआचार्यजी श्रीयमुनाजीके तीर पधारी विष्णुदासको न्हाई नाम सुनाये ब्रह्मसम्बन्ध कराये विष्णुदासने विनती करी— ‘महाराज ! मैं मूरख हो सो ऐसी कृपा करो जो श्रीभागवत आदि आपके ग्रन्थनमें कछु ज्ञान होई, आपके मारगको सिद्धान्त जान्यो जाई’ तब श्रीआचार्यजी ‘सेवाफल’ ग्रन्थ करी विष्णुदासको सुनाये सो सुनिके विष्णुदासने विनती करी—‘महाराज ! ‘सेवाफल’ ग्रन्थके सुनते सगरे शास्त्रपुराणको ज्ञान भयो परन्तु ‘सेवाफल’ ग्रन्थको अभिप्राय समुझिवैमे नाहो आयो तब श्रीआचार्यजी कहें— ‘ग्रन्थ’ ‘सेवाफल’ ऐसो ही कठिन है भली करी ते पूछयो !’ पाछे आप ‘सेवाफल’ की टीका करिके सुनाये तब सगरे मारगको सिद्धान्त विष्णुदासके हृदयारूढ भयो सो मगन होई गये सो विष्णुदास घोरो सो कपडा छापें सो आगरे बचि आवें आमे देहनिर्बाह होई और सगरे दिन-रात मानसी सेवा श्रीआचार्यजीके ग्रन्थ श्रीसुबोधनीजीके भावमें मगन रहें।”

यह मानसी सेवा परासेवा है, यह सिद्धान्तमुक्तावलीमें कहा गया था मानसी सेवाकी सिद्धि तनु वित्तज्ञा सेवा करनेसे होती है, यह भी वही कहा गया था इस पुष्टिभक्तिरूपा सेवाके अधिकारी पुष्टिजीव ही होते हैं, सभी नहीं, यह पुष्टिप्रवाहमर्यादामें निरूपित किया गया है सिद्धान्तरहस्यमें पुष्टिजीवको पुष्टिभक्तिरूपा सेवामें दीक्षित करनेके लिए आत्म-समर्पणका प्रकार समझाया गया है इससे भोगासक्ति पुष्टि-भक्तिमें बाधा पहुचानेमें असमर्थ बन जाती है नवरत्नमें सेवाको उद्वेगरहित बनानेके लिए चिन्तात्यागकी बात समझायी गयी है अन्त करणप्रबोध विवेकवैराग्य तथा कृष्णाश्रय द्वारा इसी पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवामें विघ्नरूप उद्वेग एवम् प्रतिबन्धों से बचनेके उपाय दिसलामे गये हैं चतुस्त्रोकीमें इस सेवाका पुष्टिमार्गीय धर्माध्ययनमोक्षवी पुरवार्धचतुष्टयीम क्या रथान है यह दिसलामा गया है

भक्तिवर्धनीमें इस सेवाके बीजभावसे लेकर व्यसनदशातक होते विकासकी रूपरेखा खींची गयी है. सेवाके अनवसरमें वित्तके भगवत्प्रवण बने रहनेमें कोई व्यवधान न आये एतत्पर्य जलभेद-पञ्चपद्यानिमें भगवत्कृपाके ध्वन-कीर्तनका स्वरूप समझाया गया है. यह सेवा न निमर्ता हो तो भोगासक्तिपर काबू पानेके लिए गृहत्याग कब देना चाहिये. यह गृहत्याग व्यसनदशा सिद्ध होनेपर ही करना चाहिये अन्यथा नहीं. संन्यासनिर्णयमें यह सावधानी बरतनेकी सलाह दी गयी है. निरोपलक्षणमें इस सेवाके मानसी सेवाके रूपमें विकासके सहायक कारणोंको परिभाषित किया गया है. अब सेवाफलमें उक्त तनु-वित्तजा सेवाका फलित रूप फलनिरोध अर्थात् अलौकिक-सामर्थ्यके रूपमें दिखलाया जा रहा है. यह परमात्माके भूमारूपमें सकल वृत्तियोंका योजन है. इसे 'सर्वात्मभाव' भी कहते हैं.

समग्र षोडशग्रन्थोंकी एकवाक्यता या आधारशिलाके जैसी केन्द्रीय धारणा, पुष्टिप्रवाह-मर्यादा ग्रन्थके—“भगवद्रूपसेवार्थं तत्पुष्टिः नान्यथा भवेत्,” वचनमें श्रीमहाप्रभुने स्पष्ट कर दी है. अतएव षोडशग्रन्थके उपसंहाररूप सेवाफलमें पुष्टिमागीय फलसे भिन्न किसी फलका निरूपण स्वीकारनेपर; अथवा पुष्टिभागमें भी सेवासे भिन्न किसी कर्तव्य या अवस्था को पुस्तार्थ या फलरूप माननेपर, उपक्रम-उपसंहार आदि तात्पर्यनिर्धारक अंगोंमें परस्पर विसंवाद उपस्थित हो जायेगा. अतएव इस ग्रन्थके उपसंहारमें श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं—“कुसृष्टिरत्र वा काश्चिदुत्पद्येत स वै भ्रमः”.

इस ग्रन्थमें सेवाफलके रूपमें वर्णित 'अलौकिक सामर्थ्य,' 'सायुज्य' तथा 'वेङ्कण्ठादिषु सेवोपयोगिदेह' की अनेक व्याख्यायें विभिन्न टीकाकारोंद्वारा दी गयी हैं.

यथा :

१) ये तीनों फल पुष्टिसंगके तीन अवान्तर वर्ग पुष्टिपुष्टि मर्यादापुष्टि तथा प्रवाह-पुष्टि की त्रिविध कक्षाके जीवके फल हैं

२) तनुवत्वरूप अलौकिकसामर्थ्य भगवद्विरहकी फलात्मिका अनुभूति है. सायुज्य भगवत्संयोगकी फलात्मिका अनुभूति है. नवतनुत्वस्वरूप सेवोपयोगिदेह उभयसाधारण अधिकारकोटीका फल है.

३) अलौकिक सामर्थ्य पुष्टिभक्तिका फल है; तथा सायुज्य और सेवोपयोगिदेह मर्यादाभक्तिके फल हैं.

४) अलौकिकसामर्थ्य सायुज्य और सेवोपयोगिदेह क्रमशः उत्तम मध्यम तथा साधारण कोटीके फल हैं.

५) संयोगानुभूतिरूप सायुज्य परम फल है. वियोगानुभूतिरूप अलौकिकसामर्थ्य तथा सेवोपयोगिदेह अधिकारतिष्ठिरूप अवान्तर फल हैं.

६) अलौकिक सामर्थ्य और सायुज्य पुष्टिभक्तिके फल हैं तथा सेवोपयोगिदेह मर्यादाभक्तिका फल है.

७) अलौकिकसामर्थ्य अति-अन्तरंग सेवाका फल है अन्तरंग सेवाके द्विविध सायुज्यरूप फल होते हैं केवल आत्मना अनुभूयमान सायुज्य और अलौकिक-देह-इन्द्रिय-अन्त करण-आत्मना अनुभूयमान सायुज्य. सेवोपयोगिदेह बहिरंग सेवाका फल है

८) सर्वेन्द्रियोकी भगवत्परता अलौकिकसामर्थ्य है. देहनाशक विगाढभावसे अन्यस्फूर्ति-रहित आन्तर संयोग सायुज्य है मानसी सेवाकी सिद्धि होनेपर, वैकुण्ठादि भगवद्ग्रामोमे जैसे देह होते हैं वैसे, सेवोपयोगिदेहकी सिद्धि तृतीय फल है

भगवान्‌के द्वारा प्रदत्त भावोंके अनुसार भगवदनुभूतिके अनेक प्रकारोंमें भक्तोंकी फल-रूपता प्रतीत होती है. अतः सभी व्याख्याकार अपनी-अपनी फलरुचिके अनुसार फलकी व्याख्या करते रहते हैं. इनमें यदि मतभेद दिखलायी पडता है तो वह भी अपनी-अपनी फल-रुचिकी मस्तीका मधुर मतभेद है अतः मतभेद भी फलात्मक है !

ग्रन्थके तात्पर्यका जहा तक प्रश्न है तो वह भागवत (३।५।३२-४०) के नौ श्लोकोंकी सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने स्पष्ट किया है. वहा भी सेवाफलकी तरह भक्तिके तीन फल दिखलाये गये हैं जीवन्मुक्ति सायुज्य और वैकुण्ठलोकप्राप्ति अतः अलौकिकसामर्थ्य और जीवन्मुक्ति को एकरूप मानना चाहिये, तथा वैकुण्ठादिपु सेवोपयोगिदेह और वैकुण्ठलोक-प्राप्ति को एकरूप मानना चाहिये, उभयत्र सायुज्य तो समान है ही. इस एकरूपताको निर्धारित करनेके बाद सुबोधिनीमें जो विस्तृत विवरण फलत्रयका दिया है तदनुसार सेवाफल ग्रन्थमें निदिष्ट फलत्रयका भी स्वरूपनिर्धारण सुकर हो जाता है

अलौकिकसामर्थ्य प्रकट होता है, इस भूतलपर भगवत्सेवा करते हुवे, सकल इन्द्रियोसे भगवदनुभूतिके रूपमें, यही गुष्टिमागीय जीवन्मुक्ति है इसे 'फलनिरोध', 'सर्वात्मभाव', 'व्यसनोत्तर-कृतार्थता', 'तनुवत्त्व' या 'मानसीसेवा' कुछ भी कहो, एक ही अवस्थाके विभिन्न पहलुओंका निरूपण है स्थूल दृष्टिसे शब्दार्थ भिन्न भिन्न है पर पदार्थ सर्वत्र एक ही है

भागवतके दशम स्कन्धका षण्ण-विषय निरोध है. एकादश स्कन्धका षण्ण-विषय मुक्ति है द्वादश स्कन्धका षण्ण-विषय आश्रय-ब्रह्मभावपति है इस स्कन्धत्रयीके विषयक्रम तथा श्रीमहाप्रभुके—' एवं भेदत्रय निरूपित सायुज्य वैकुण्ठ जीवन्मुक्तिश्चेति" (सुबो ३।२५।४०) वचन की एगवाच्यताको दृष्टिगत करनेपर यहा सेवाफलग्रन्थमें वर्णित फलत्रयका रूप स्पष्ट-तया निर्धारित हो जाता है अलौकिकसामर्थ्य फलनिरोध है, इस भूतलपर घटित होनेवाली भक्तोंकी जीवन्मुक्तिकी तरह, जो दशम स्कन्धके भक्तोंके जैसी भगवदनुभूतिका एक अलौकिक प्रकार है सायुज्य परमात्मामे लय है, विदेहमुक्तिकी तरह, जो एकादश स्कन्धका षण्ण-विषय है. वैकुण्ठादिपु-सेवोपयोगिदेह आश्रय-ब्रह्मभावपति है, वैकुण्ठादि दिव्य भगवद्ग्रामोमे दिव्य देह प्राप्त करके पुनः भगवद्भजनके सुअवतारकी प्राप्ति है, जो भागवतके द्वादश स्कन्धका षण्ण-विषय है

इस तरह तीनोंकी एगवाच्यता निर्धारित हो जानेपर निरापलक्षण ग्रन्थके बाद सेवाफल

ग्रन्थकी क्रमसंगति भी स्पष्ट हो जाती है। निरोधकी साधनावस्थाया निरूपण निरोधलक्षणमें अभिलपित है तथा निरोधकी फलावस्थाका निरूपण यहा सेवाफलमें, जैसे सेवाकी साधनावस्था सिद्धान्तमुक्तावली तथा सिद्धान्तरहस्य में विवक्षित है और सेवाकी फलावस्था यहा सेवाफलमें।

विभिन्न व्याख्याकारोंके इस फलविचारके बारेमें इतने जादा मतभेदका कारण एक मधुर कलह है। पुष्टिभक्तिमें भगवान्की सयोगानुभूति परमफल है कि विरहानुभूति। इस प्रश्नका उत्तर देते समय विभिन्न व्याख्याकार अपनी-अपनी भाववृत्तिके विवद उलझ जाते हैं। अतः सेवाफल ग्रन्थके अध्ययनसे पूर्व एतद्विषयक श्रीमहाप्रभु-श्रीप्रभुचरणके मन्तव्योंका अध्ययन उपकारक होगा।

तैत्तिरीयोपनिषद्में ब्रह्मको 'आनन्दमय' (२।५) कहा गया है और 'आनन्द' (३।६) भी। इसी तरह यही (२।७में) ब्रह्मको 'रस' भी कहा गया है—“रसो वै सः.” ब्रह्मसूत्रके—“आनन्दमयोम्यासात्” सूत्रमें दो बातें निर्धारित की गयी हैं। एक तो 'आनन्द' पदके साथ 'मय (ट्)' प्रत्यय प्रचुरताके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है अतः 'आनन्दमय' का अर्थ होता है: प्रचुर आनन्दरूप। दूसरे 'आनन्दमय' शब्द परमात्माका वाचक है। इन सारी बातोंको लक्ष्यगत करनेपर दो प्रश्न उठते हैं :

१) क्या 'आनन्द' और 'आनन्दमय' शब्द पर्यायवाची होनेपर भी अर्थछायाके भेदके कारण ब्रह्मके किन्ही दो रूपोंका निरूपण करते हैं या नहीं ?

२) यदि करते हों तो “रसो वै सः” बचन द्वारा ब्रह्मके किस रूपको, क्या आनन्दरूपको अथवा आनन्दमयरूपको, 'रस' कहा जा रहा है ?

निश्चयेन कहा जा सकता कि श्रुतिके भार परमात्माकी रसलपतापर अधिक है क्योंकि स्पष्टतया वही कहा गया है—“रसो वै स रस होवाय लब्ध्वा आनन्दी भवती.”

इस विषयमें श्रीहरिरामचरणकी धारणा है कि परमात्माके वहिःप्रकट साकृति रूपको 'आनन्दमय' कहना चाहिये और भक्तके हृदयमें प्रकट होती परमात्माके प्रति स्नेहानुभूति या प्रीति की 'आनन्द' कहना चाहिये।

रसशास्त्रमें रति अर्थात् प्रीति को 'रस' एवम् 'स्वाधिभाव' कहा जाता है। जिस व्यक्तिके बारेमें रति या प्रीति होती है उस व्यक्तिके रसशास्त्रमें 'आलम्बनविभाव' कहा जाता है। रसशास्त्रका प्रमुख विवेच्य विषय हमारे प्रपुत्र मनोभाव, उनके विषय, उद्दीपक, अनुभावक एवम् अगभूत अस्थायी मनोभावों के स्वरूपोंका निश्चरण है। अतः रस अर्थात् स्थायी मनोभाव को रसशास्त्रमें धर्मो माना जाता है; और इन प्रीति मय क्रीष उत्साह निर्वेद जैसे मनोभावोंके विषय उद्दीपक आदि अन्य सभी अंगोंको धर्म माना जाता है।

तदनुसार श्रीहरिरामचरणकी धारणा है कि वहिःप्रकट परमात्माका रूप, क्योंकि भक्तके स्नेहमय स्थायी भावका ही आलम्बनविभागके रूपमें हृदयके बाह्य प्राकट्य है अतः, उसे

धर्मसहित धर्मी मानना चाहिये. इसके विपरीत भक्तके हृदयमें प्रकट स्थायीभाव, जिसकी स्पष्ट अनुभूति विरहदशामें ही सम्भव है, उसे केवलधर्मी मानना चाहिए. "एतावान्पर विशेषो यद् बहिः प्रकट रूपं रसधर्मसहितम् 'आनन्दमय' शब्देनोच्यते, धर्मिमात्रं केवल भाव रूपम् 'आनन्द' शब्देन इति" (प्रभुप्रादुर्भावविचार). अतः केवल धर्मीको उपनिषद्में 'रस' कहा गया है. श्रीहरिरायचरणके अनुसार 'आनन्द' और 'रस' पर्यायवाची शब्द हैं, और 'आनन्दमय' का अर्थ होता है: रसधर्म-आलम्बनविभावसहित स्थायिभाव. 'आनन्दमय' और 'रस' पर्यायवाची नहीं है.

अणुभाष्यमें परन्तु भाष्यकार किञ्चित् भिन्न प्रकार दिखलाते हैं— "अग्रे 'रसो वै सः' इति वक्ष्यमाणत्वात् तस्य च स्थायिभावात्कत्वात् तरयैव आनन्दमयत्वान्च" (अणुभा. ३।३।१५). यहाँ 'आनन्दमय' और 'रस' को पर्यायवाची माना गया है.

ब्रह्मको आनन्दरूप माना गया है— "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्". ब्रह्म अपरिच्छिन्न-अनन्त-पूर्ण आनन्द है, पर भक्तके हृदयमें जब उस परमात्माके लिए प्रीति प्रकट होती है तो उसके अनुभवका सुख, ब्रह्मको केवल तत्वानुभूतिसे कही अधिक पूर्णतर-प्रचुर होनेके कारण, 'आनन्दमय' कहलाता है अतः भाष्यकारके मनमें 'रस' का पर्यायवाची शब्द 'आनन्दमय' है तैत्तिरीयोपनिषद् (२।५) में अतएव विज्ञानमयकोशके भीतर आनन्दमयकी उपस्थिति दिखलायी गयी है इस आनन्दमयकी आत्मा आनन्द है यह— "आनन्द आत्मा" (वही) कह कर-दिखलाया गया है

ऐसी स्थितिमें आनन्दको धर्मी मानना चाहिये कि आनन्दमयको ? यदि आनन्दको धर्मी मानते हैं तो आनन्दमय धर्म बनेगा और यदि आनन्दको धर्म मानते हैं तो आनन्दमयको धर्मी मानना पड़ेगा

हमने देखा कि रसशास्त्र प्रेमको धर्मी मानता है और प्रियतम आदिको धर्म क्योंकि रसशास्त्र भावविवेचना है और प्रेम एक भाव है. अतः अपने पारिभाषिक अर्थमें प्रियतम रसशास्त्रके लिए धर्म बन जाता है क्योंकि प्रियतमके स्वरूप गुणधर्म या विभिन्न प्रकारों का विवेचन, रसशास्त्रको, प्रेमके जनक और प्रेमके आलम्बन-विषय के रूपमें अगोचर है—स्वतन्त्र-तया नहीं. भागवतमें भगवान्से भिन्न किसी लौकिक चरित्रके रसात्मक वर्णनका कोई स्थान नहीं है. ऐसे ही ब्रह्मके शुष्क तास्विक विवेचनार्थ भी भागवत प्रस्तुत नहीं है भागवत भगवान्के रसात्मक रूप एवम् लीला के वर्णनार्थ प्रवृत्त हुये हैं अतएव कभी रसशास्त्रीय परिभाषाओंके सहारे भगवान्के स्वरूप एवम् लीला का वर्णन होता है तो कभी ब्रह्मशास्त्रीय परिभाषाओंके सहारे भी. कभी भक्तोंकी भक्तिके अगके रूपमें भगवान्का वर्णन होता है, तो कभी भगवल्लीलाके अगके रूपमें भक्त और उनको भगवद्भक्ति का वर्णन होता है कभी अतएव भक्तिको धर्मी मान कर सदर्गभूत भगवान्का धर्मके रूपमें वर्णन होता है (यह रसशास्त्रीय विवेचनशैली है) और कभी भगवान्को धर्मी मान कर उनकी लीलाके अगभूत भक्ति और भक्तों का

धर्मरूपेण निरूपण होता है (यह ब्रह्मात्मस्त्रीय विवेचनशील है)। इनमेंसे किसी एषत्तर परि-
भाषाके अनुसार विवेचनका हठाग्रह सरल तो हो सकता है पर सर्वांगीण नहीं।

अतएव भागवतानुसारी भगवान्के रसात्मक रूपके निरूपणमें दोनों वर्णनशैलियोंका
यथायथ उपयोग अभीष्ट होता है, भक्तोंके प्रियतम भगवान्को बभी 'धर्मी' कहा जाता है
और उनके स्वरूप गुण एवम् लीला के आकर्षणके कारण प्रकट होती प्रीतिको 'धर्म'।

सुबोधिनी (१११९।१६) में श्रीमद्भाग्यमुने यह समझाया है: "स्नेह एक विलक्षण पदार्थ
है, स्नेहके आधार और विषय दोनों ही भगवान् ही होते हैं जितना-जितना कोई भगवान्के
निकट पहुँचता जाता है, उतना उतने भगवान्के ज्ञान ऐश्वर्य आदि गुणोंका सप्रमण भासित
होने लगता है, जैसे अग्निके निकट स्थित वस्तुओंमें उष्णतासन्तान होती है। इसी तरह
जितनी जितनी निकटता भगवान्के साथ हमारी बढ़ती जाती है, उतनी-उतनी मात्रामें भग-
वद्धर्म प्रीति भी हमारे भीतर बढ़ती चली जाती है"। प्रीति भगवान्का आत्मरतिरूप धर्म
है, पर भगवान्के निकट होनेपर वह हमारे भीतर भी प्रकट होने लगता है अतएव श्लोका-
प्रभु कहते हैं—“प्रीतिस्तु भगवद्धर्म” (सुभा २।२।७)। यह ब्रह्मात्मस्त्रीय विवेचनशील है।

प्रेम, प्रियतमके कारण, प्रेमीके हृदयमें प्रकट होता है प्रेमके अति गाढ होनेपर, प्रियतम-
को अनुपस्थितिमें भी आगकितप्रमन्यायमें, उस प्रेमके कारण प्रियतम भी बभी प्रकट हो
सकता है प्रियतममें प्रकट होनेके रूपमें प्रेम धर्म तथा प्रियतम धर्मी माना जाता है, पर प्रगाढ़
अवस्थामें प्रेमके कारण प्रियतमके प्रकट होनेपर, प्रेम धर्मी और प्रियतम धर्म बग जाता है।
अतः प्रेम और प्रियतम का भेद बड़ा लचीला है—“विरहभावे तु ज्ञानादितर्कतिरोधानेन
अधिमरसानुभवो न भविष्यतीति स्वयमेव (आत्मस्वनविभाव एव) तदनुभवात्मको भवतीति
ज्ञापनाय विज्ञानरूपश्चमुच्यते तदनुभवविषय आनन्दमय इति तत्स्वरूपमुच्यते।
तत्र निदपधिप्रीतिरेव मुख्या नान्यदिति ज्ञापनाय प्रियस्य प्रधानागत्यमुच्यते। स्वाधिभाव-
स्वैकस्वत्वादायमत्वमुच्यते। यत ततएव (स्वाधिभावादेव) विभावादि विविध-
भाषोत्पत्ति” (अनुभा. १।१।११) प्रेम ही जब प्रगाढ़ बन कर प्रियतमके रूपमें बाहर
प्रकट हो जाता है तो वह प्रकट रूपको 'आनन्दमय' कहा जाता है और अन्त स्थित प्रेमको
'आनन्द', अन्धधा प्रियतम भगवान् आनन्द है और भगवत्प्रेम आनन्दमय।

अनुभाष्य (२।३।१०) में यह कहा गया है कि जैसे तन्मूर्तिमें आत्मान-वितान बने जानेपर
जो पद प्रकट होता है वह तन्मूर्तिमें भिन्न नहीं होता, इसी तरह आत्मस्वन विभाव (स्वयम्
भगवान्) उदीपन विभाव (वेगुनाद आदि) अनुभाव (भ्रूणगादि) तथा सञ्चारिताव- (मान-
देग्मादि) के परस्पर आत्मानवितानमें त्रिस स्वाधिभाव (भगवत्प्रीति) का प्रारंभ होता है
यह स्वयम् भगवान्में भिन्न नहीं होता, अत आनन्द और आनन्दमय का भेद वस्तुगत न
होकर विवक्षान्त होता है

अवतारकालमें भगवान् अपनी लीलाओंके द्वारा भक्तोंके हृदयमें अनेक प्रकारके स्नेह प्रकट करते हैं। ऐसे स्नेही भवन जब भगवद्बिरहमें भगवान्के गुणगानमें तल्लीन हो जाते हैं तब हृदयस्थित स्नेह भगवद्बिषयक विविध मनोरथोंके साधनेमें ढलकर स्वयम् भगवान् एवम् उनकी लीलाओं का रूप धारण कर लेता है। अवतारकालमें इसी तरह सेव्य-स्वरूप सेवानतिके हृदयमें स्नेह प्रकट करते हैं। यह स्नेह भगवत्कथाके श्रवण-कीर्तन-कालमें भक्तके हृदयमें भगवत्स्वरूपानुभूतिवा रूप भी धारण कर लेता है।

तामस-प्रमेय-प्रकरणकी सुबोधिनीमें अतएव भगवान्का स्वरूप 'नटवरवपु'के रूपमें वर्णित हुआ है :

“रसानुभूतिके दो प्रकार सम्भव हैं प्रथम प्रकार होता है जहा प्रेम (स्थायिभाव-धर्म) और प्रियतम (आलम्बनविभाव-धर्म) दोनोंकी अनुभूति हो द्वितीय प्रकार होता है : प्रियतम (आलम्बनविभाव-धर्म) अनुपस्थित हो, पर प्रेम (स्थायिभाव-धर्म) की अनुभूति हो रही हो नाट्यमें, द्वितीय प्रकारसे, केवल रति या प्रेम की ही वास्तविक अनुभूति होती है। प्रियतम-आलम्बनविभावके रूपका तो केवल नाट्य ही होता है, साक्षात् उपस्थिति नहीं। सयोगमें आलम्बनविभाव और स्थायिभाव दोनों ही उपस्थित रहते हैं। नेत्रोंके समझ बाहर आलम्बनविभावरूप भगवान् उपस्थित होते हैं और हृदयके भीतर स्थायिभावरूप भगवद्ब्रति भी अवस्थित होनी है सयोग-लीलामें अतएव 'वर' की तरह प्रत्यग्रभोग माना जाता है; और त्रिप्रयोगलीलामें गड स्नेहवश 'आसक्तिभ्रम'की तरह अनुभूत होती भगवदुपस्थिति 'नट' की तरह केवल नाट्य मात्र है अत नटवत् और वरवत् लीला करनेवाले भगवान्के स्वरूपका 'नटवर-पु' कहा जाता है क्योंकि भृगाररसके अनुसार प्रत्यग्र-साक्षात् सम्भोग जैसे वर-पतिका कार्य है, वैसे ही नाट्यमें सम्भोगका नाट्य नट-अभिनेताका कार्य होता है भगवान् एककालावच्छेदेन उभयविधकार्य सम्पन्न करत है बाह्यमें प्रकट होकर रसानुभव प्रदान करनेका, तथा हृदयमें तीव्र आसविनयन प्रकट होती अनुभूतिमें रसाभिनय करनेका भी

ज्ञानियोद्वारा उपासनार्थ कल्पित रूप हृदयमें अनुभवमुख प्रदान कर सकता है पर भक्तोंके लिए तो उनके द्वारा भाविन रूपको धारण कर भगवान् वाहर भी प्रकट होते हैं सभी इन्द्रियाते अनुभूत होनेका मुख भक्तकी प्रदान करते हैं इस वहि प्रकट भावित रूपकी मायिक कल्पित, या देहदेहिभावध्यायसे परमात्माके वास्तविक स्वरूपको आवृत्त करनेवाला कोई भिन्न रूप नहीं माना जा सकता है यह भावित-बद्धि प्रकट रूप उतना ही पारमायिक होता है जितने कि स्वयम् परमात्मा” (मुवा १०।१२।५)।

इस प्रसंगमें रसशास्त्रीय रीतिके अनुसार निरूपण किया गया है अतएव भगवद्ब्रतिवा गुलनामं भगवान्को धर्मक रूपमें वर्णित किया गया है फिरभी लक्ष्यमें रखने लायक बात यहा यह है कि वृन्दावनमें प्रत्यग्रभोगके रूपमें, तथा व्रजकी गोपिकाओंके हृदयमें वृन्दावन

की आन्तर लीलानुभूतिके दानद्वारा, रूप एवम् लीला वा नाटक करते हुये, अपना उभयविध (नटवत् और वरवत्) रूप भगवान्ने एककालायच्छेदेन प्रकट किया है भगवान् स्वयम्बो वहि प्रकट न करे तो शानियो और भक्तोके सुखमे कोई तारतम्य नही रह जाता है. प्रत्युत भक्तोके लिए बेबल हृदयमे भगवान्का अनुभूत होना तो एक दुःखकी वान बन जाती है ! (हृद्येव प्राकटये तु मनोमात्रगोग्यत्वम्. वहि प्राकटये सर्वेन्द्रियभोग्यत्वम्. एव सति चक्षुराद्यविषयत्वे प्रियपदार्थस्थ मनोमात्रविषयत्व दुःखदमित्यनुभवसिद्धमतो भवताप्ये तथेति ननु स भगवान् एव तथा आत्मभिन्नवपुषो मर्ता इत्यर्थः. सुबो टिप्प. १०११८१५).

यदि आनन्दको स्थायिभावात्मक आत्मस्यानीय धर्मी माना जाये तो यहि प्रकट आनन्दमय स्वरूप अर्थात् आत्मन्वनविभावरूप वपु उस स्थायिभावसे भिन्न नही होता. इसी तरह यदि आनन्दको आत्मन्वनविभावरूप धर्म माना जाये तो भी प्रत्यप्रभोक्ता 'वर' के रूपसे केवल-रसरूप आनन्दमय धर्मी 'नट' रूप भगवान् भिन्न नही होते.

"यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्" (४११११) ब्रह्मसूत्रके भाष्यमे यह कहा गया है कि "जिन भक्तोको आन्तर भगवदनुभूति होती है या जिन भक्तोको वाल भगवदनुभूति होती है उनके भाव या अनुभूयमान भगवत्स्वरूप मे किसी भी प्रकारका तारतम्य नही होता." आन्तर-सयोगमे भक्तहृदयस्थित भाव भगवदाकार ग्रहण कर लेता है, तथा बाह्यसयोगमे भगवान् भक्तके हृदयमे भावाकार ग्रहण करते चले जाते हैं दोनो ही तरह समानता है.

पुरुषोत्तमकी अनुभूतिस पूर्व अनिवार्य सर्वात्मभाव, अतएव, वियोगकी तरह भक्त-भगवत्के सयोगमे भी स्वीकारा गया है. वेणुगीतकी मुबोधिनीमे सकल इन्द्रियोके भगवान्मे विनियोगको सर्वात्मभाव कहा गया है वाणीसे भगवान्के साथ सलाप, मनोसे दर्शन, वाहुओसे भगवान्का आलिंगन, हाथोसे सेवा, त्वचासे स्पर्श, रगनामे अधरामृतपान, कानोसे वेणुक्जनका श्रवण, नासिकासे भगवद्गन्धका आघ्राण, चरणसे भगवान्के निकट गमन, अन्त करणसे भगवत्स्वरूपकी भावना, पायूपस्थेन्द्रियोसे रोमोद्गत और भोग को वेणुगीतमे इन्द्रियवानोका परमफल माना गया है सकल इन्द्रियोके भगवान्मे ऐसे विनियोगकी तुलनामे मुक्ति तो भक्तोकी अपनी सर्वविध सम्पूर्ण निष्फलता ही प्रतीत होती है जैसे किसी नयन-वानकी सदा-सर्वदाके लिए अ-शकूपमे घबेल देना या उसे नयनोसे घञ्चित कर देना दोनोमे कोई विशेष अन्तर नहीं होता है जागतिक विषयोमे अनुरागके नष्ट होनेपर तथा तार्वात्मभाबसे सम्पन्न होनेपर भक्तको सकल इन्द्रियो द्वारा भगवत्स्वरूपानन्दकी अनुभूति मिलती है—“वाचकाना परित्यागे साधकाना न तद् भवेत्” (वेणुगीत सुबो कारिका)

इन कारिकाओमे सयोगकालीन सर्वात्मभावका वर्णन है श्रीप्रभुचरण उल्लिखित 'वाचक' का अर्थ प्रापञ्चिक विषयोमे अनुराग, तथा 'साधक' का अर्थ सर्वात्मभावपूर्वक भजन करते हैं सर्वभाव गिद्ध होनेपर ही भक्त सामुज्यमुक्ति (भगवान्मे लीन होने)से बच सकता है अर्थात् प्रस्तुत सेवाफल विवरणमे विवक्षित प्रपगफल 'अलाञ्छिक सामध्य' के सिद्ध होनेपर भक्त, द्वितीयफल 'सामुज्य'से बच सकता है

तृतीयस्कन्ध-सुबोधिनीके एतद्विषयक विचारोंसे एकवाक्यता करनेपर सायुज्य वाद पुन नूतन अलौकिक देहकी प्राप्तिका भी एक प्रकार मान्य किया गया है अत अलौकिक सामर्थ्यके बाद सीधे सेवोपयोगिदेहकी प्राप्ति, अथवा सायुज्योपरान्त सेवोपयोगिदेहकी प्राप्ति, अथवा सायुज्य ही केवल, यो फलानुभूतिके अनेक प्रकार सम्भव हैं परन्तु यह निश्चित है कि इन्द्रियवानोंका मुख्य फल तो सर्वात्मभाव या अलौकिकसामर्थ्य ही है. अन्यथा तृतीयस्कन्धके—“हृतात्मनो हृतप्राणाश्च भवितरनिच्छतो गतिमर्थो प्रयुक्ते” वचनमें निरूपित गौणफलरूप सायुज्य मिलता है. इन्द्रियादिसे रहित होकर भगवान्के दर्शन-स्पर्शन-श्रवणादिके सुखसे वञ्चित होना इन्द्रियवान् भक्तोंके लिए एक विडम्बना है।

भ्रमरगीतके “सर्वात्मभावोधिष्ठो भवतीनामघोक्षजे” (१०।४४।२७) वचनमें विप्रयोग-कालीन सर्वात्मभावका वर्णन है और वैष्णुगीतमें सयोगकालीन.

यहा यह अवघेप है कि रसशास्त्रीय दृष्टिसे करुणविप्रयोग और शृंगारविप्रयोग में, एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यही है कि जहा पुनर्मिलन निश्चित हो, वहा विप्रयोग शृंगाररसात्मक माना जाता है, पर जहा पुनर्मिलन असम्भव हो अथवा जन्मान्तरमें सम्भव होती ऐसा विप्रयोग शृंगाररस न रहकर करुणरस बन जाता है “पुनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तर पुनरलम्बे विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुणविप्रलम्भाश्च ” (साहित्यदर्पण ३।२०९) “शोकस्थायितया भिक्षो विप्रलम्भादय रस, विप्रलम्बे रति. स्थायी पुन सम्भोगहेतुक ” (सा द ३।२२६)

परमफल सयोगको मानना चाहिये कि विप्रयोगको, इस विवादमें अतिवादी दृष्टिकोण अपनाने पर, या तो अधूरे शृंगारको महत्ता माननी पडती है या शृंगारविप्रयोग और करुण-विप्रयोग के मौलिक भेदकी उपेक्षा हो जाती है क्योंकि रसशास्त्रमें यह माना गया है कि विप्रयोगके बिना केवल मयोगानुभूतिमें वह चमत्कृति नहीं आती है. अतएव पूर्वरागोत्तर मानोत्तर और प्रवामोत्तर सयोगमें विशेष चमत्कृतिका हेतु पूर्वराग, मान या प्रवास जनित विप्रयागको ही माना गण है—‘न बिना विप्रलम्बेन सम्भोग पुष्टिमश्नुते कषायिते हि वञ्चादी भूयान् रागो विवर्धते’

श्रीमहाप्रभु भी अतएव जैसा—“वाह्याभावे तु आन्तरस्य व्यर्थता” का विधान करते हैं वंस ही—“आन्तर तु पर फलम्” भी स्वीकारते ही हैं श्रीप्रभुचरणने भी अतएव स्पष्ट शब्दीम इतका सुलासा—“म रसस्तु सयोगविप्रयोगाम्यामेव पूर्णो भवत्यनुभूतो नैकतरेण’ (अणु ४।२।१) कह कर दिया है

केवल विप्रयोग अथवा केवल सयोग को परमफल मानना भगवान्के ‘नटवरवपु’ रूपकी अम्कीकृति है विप्रयोगम भक्तके हृदयमें भगवान्को आन्तर अनुभूति होनी है नटवत्; और मयागमें मक्तके नेत्र आदि इन्द्रियोद्वारा भगवान्को बाहर अनुभूति होती है, वरवत्. श्रीमहा-प्रभु किन्तु केवल नटवत् या केवल वरवत् रूपको फल न मानकर ‘नटवर वपु’ के रूपमें भगवान्का—‘इदमेवेन्द्रियवता फलम्’ स्वीकारते हैं

लौकिक शृंगारमें विप्रयोगकालीन आन्तर संयोगकी अनुभूतियों आसक्तिवशा पैदा होतीं नेवल भ्रान्ति ही माना गया है क्योंकि नायक अथवा नायिका की अनुपस्थितिमें उनकी अनुभूति वास्तविक नहीं हो सकती है किसी भी देश अथवा काल में परन्तु सर्वव्यापी सनातन परमात्माका अनुपस्थित होना अकल्पनीय बात है. अनुभूत होते ही या नहीं पर, हृदयमें और हृदयके बाहर, सर्वत्र-सर्वदा भगवान् तो विद्यमान हैं ही. अतः भगवदनुभूतिपर भ्रान्तिकी परिभाषा लागू ही नहीं हो पाती है ।

भक्तिके घटक तत्त्व दो माने गये हैं एक माहात्म्यज्ञान और दूसरा सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेह. यह माहात्म्य भगवान्का ही हो सकता है कि वे बाहर अप्रकट होनेपर भी भक्तके हृदयमें भावात्मना प्रविष्ट होकर भक्तिको करुणरस होनेसे बचा लेते हैं. इसी तरह सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेहमें भी यह सामर्थ्य स्वीकारना पड़ता है कि उसके वशीभूत होकर भगवान्को भक्तके मनोरथोंमें अनुरूप बाहर प्रकट होना पड़ता है

इस विषयमें श्रीप्रभुचरणकी यह उक्ति मननीय है कि— "भगवद्विरहस्य सर्वसाधारण-त्वेपि स्यादिभावात्मकरतरुभगवत्प्रादुर्भावो यस्य हृदि भवति तस्यैव तदप्राप्तिजः तापः तदनन्तरं नियमतः तत्प्राप्तिरच भवति" (अणु. ४।२।११).

भक्तिवर्धनीय भक्तिकी चार अवस्था स्वीकारी गयी हैं .

- (१) बीजभाष
- (२) प्रेम
- (३) आसक्ति
- (४) व्यसन

"भावीरकुरित" कारिका और उसके व्याख्यानमें, अवतारकालीन सुदृढ़ सर्वतोधिक भगवद्वनि, जो बिना किसी प्रकारके माहात्म्यज्ञानके ही प्रजभक्तोंमें प्रकट हो गयी थी, की चारके वज्रय सात अवस्थाओंका वर्णन श्रीप्रभुचरण तथा श्रीहरिरायजी ने किया है : (१) भाव (२) प्रेम (३) प्रणय (४) स्नेह (५) राग (६) अनुराग (७) व्यसन—

भावीरकुरित महीमृगदुःसामावल्पमासिञ्चितम्
 प्रेम्णा कन्दलित मनोरथमयै शाखापतै सन्भुतम्
 कील्यै पल्लवित मुदा कुसुमितं प्रत्यानया पुष्पितम्
 लीलाभि फलित भजे प्रजवनीशृंगारकल्पदुम् ॥

(श्रीमत्प्रभुचरण)

भाव प्रेमप्रणय स्नेहो रागानुरागव्यसनानि ।

अंकुरकन्दलशाखापल्लवकलिकाप्रसूनफलानीति ॥

(श्रीहरिरायचरण)

यह रसशास्त्र और भगवत्शास्त्र के समन्वयपर अवलम्बित भक्तिशास्त्रीय विवेचन है. अन्यथा केवल रसशास्त्रके अनुसार रतिको दस अवस्थायें स्वीकारी गयी हैं : (१) शशूराय

(२) मन सग (३) सकल्प (४) जागर (५) तनुता (६) विषयद्वेष (७) लज्जात्याग
(८) उन्माद (९) मूर्छा (१०) मरण इन्हें भक्तिवर्धनीमें वर्णित चार अवस्थाओमें
घाट कर देखना हो तो इस तरह देखा जा सकता है :

- (१) बीजभाव—(क) चक्षुराग (ख) मन सग (ग) सकल्प
(२) प्रेम—(क) जागर (ख) तनुता
(३) आसक्ति—(क) विषयद्वेष (ख) लज्जात्याग
(४) व्यसन—(क) उन्माद (ख) मूर्छा (ग) मरण

यहा अवघेय यह है कि व्यसनदशामें उन्माद एवम् मूर्छा तक तो बाह्य या आन्तर सयो-
गकी अनुभूति सम्भव है अतएव इन्हें निरोधलीलाके अन्तर्भूत माना जा सकता है क्योंकि
निरोध जब भगवत्स्वरूप एवम् भगवद्गुण उभयकृत होता है तो वह स्वयम् फलात्मक होनेसे
अगीरूप माना जाता है अन्यथा केवल भगवद्गुणकृत निरोध एकादश द्वादशस्कन्धमें वर्ण्य
मुक्तिलीला और आश्रयभावापत्ति की लीलाका अंग होनेसे 'साधनकृत्स्नता' रूप माना गया
है. मुक्ति या आश्रय लीलाके अग्ररूप निरोधवाली व्यसनदशामें स्नेहकी दसवी अवस्था मरण
सम्भव हो जाती है भक्त इस भीतिक देहको छोड़कर या तो भगवान्में लीन हो जाता है या
फिर नूतन अभीतिक सच्चिदानन्दात्मक दिव्य देह व्यापिकुण्ड-नित्यलीलामें प्राप्त कर लेता
है—'ब्राह्मेण ब्रह्मसम्बन्धिना ब्रह्मणा भगवत्तं स्वभोगानुरूपतया सम्पादितेन सत्यज्ञाना-
नन्दात्मकेन शरीरेण पूर्वोक्तान् अस्तुते' (अथु ४।४।५).

इस दिव्य देहान्तरसे लम्ब पुन सयोगकी भगवच्छास्त्रीय दृष्टिसे बड़ी महत्ता है,
मुक्तिके रूपमें रसशास्त्रीय दृष्टिसे किन्तु देहान्तरलम्ब सयोग श्रृंगाररसकी भयदासे वहिर्भूत
या विपरीत है अतएव भक्तिशास्त्रमें एमें सयोगकी कलरूपता गौण मानी गयी है—'भग-
वानेव हि फल स यथाविभवेद् भुवि' (पु प्र म) वचनमें भूनलपर ही आविर्भूत भगवान्को
पुष्टिफल मानकर अतएव भक्तको मुक्ति या आश्रय लीलाकी ओर हठात् ले जानेवाली
भक्तिका वर्णन स्वयम् भगवान्ने इन शब्दोंमें किया है—'अनिच्छतो गतिमण्वी प्रयुक्ते'
भ्रमरगीतपर टिप्पणीमें श्रीप्रभुचरण ऐसी भगवल्लीलाका—'अस्मदधिकारविरुद्धा
कहते हैं

सदापमें (१) अलौकिकसामर्थ्य सर्वात्मभावरूप होनेके कारण सयोग या वियोग दोनों अव-
स्थाओंमें फलनिरोधरूप है इस तनुनवत्त्व' या 'मानसी सवा' भी कहा जा सकता है पुष्टि-
भक्तोके लिए यह जीवन्मुक्तिके जैसी अनुभूति है (२) सायुज्य विदेहमुक्ति है पुरुषोत्तममें
लीन हो जाना (३) वैकुण्ठ आदि स्तानोंमें सेवोपयोगी देहकी प्राप्ति नवतनुत्व है इसे 'ब्रह्म-
भावापत्ति' या 'आश्रयभावापत्ति' भी कहा जाता है

समष्ट पादशास्त्रमें प्रस्तुत सवाकउ ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने स्वयकृत विवरणक वाचजुद
अति क्लिष्ट और सूत्रात्मक भाषामें लिखा गया ग्रन्थ है छन्दशास्त्री दृष्टिमें वैसे तो इस
ग्रन्थमें साठ सान वारिकायें हैं पर वाचनार्थवापना दृष्टिसे वाक्यविमर्श करनेपर इसमें पद-

रह सूत्रात्मक वाक्य दृष्टिगोचर होते हैं। पाणिनीयूत्रोकी तरह बहुधा इनमें भी—“सूत्रेष्वदृष्ट पद सूत्रान्तराद्युपतन्तीय सर्वत्र” नियम लागू होता दिखलायी देता है। तदनुसार उन्हें पृथक् पृथक् करने देलनेका प्रयास अब हम करना है। इसमें दो तीन तत्त्व मार्गदर्शक मानने पड़ेंगे उदाहरणतया पूर्ववाक्यके किसी अंशसे उत्तरवाक्य पूर्ण होता हो तो उसे पूर्ण कर लना चाहिये सेवाकलविवरणमें स्वयम् श्रीमहाप्रभुने जिस अस्पष्ट वाक्यका जो अर्थ दिया हो उसे चोष्ठकमें रखकर उस अर्थको स्फुट या पूर्ण कर लेना चाहिये कभी साक्षात् पदोकी आनीष्टा-पूर्तिके लिए चोष्ठकमें सम्बन्धपटव सवनामादिपदोका विन्यास भी किया जा सकता है। तदनुसार प्रथम वाक्य तो एवदम स्पष्ट हो मिल जाता है।

१) यादृशी सेवना प्रोक्ता तद्विद्वो फलमुच्यते

सिद्धान्तमुक्तायलोने—“वृत्तणसया सदा वार्पा मानसी सा परा मता, चेतस्तत्प्रवण सेवा तद्विद्वेषे तनुवितजा’ वचनम्, चतुश्लोकीने— “सर्वदासर्वभावेन भजनीयो द्रजाधिप स्वस्यायमेव धर्मो हि नाभ्य वत्रापि वदाचन” वचनम्, तथा भवितव्यधनीने—“बीजदादर्प-प्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधमत अध्याप्यो भजेऽवृत्तं पूजया श्रवणादिभि” वचनम् सेवाका जो स्वरूप समझाया गया उसमें मन्त्र हापर सेवाकी फलरूपताका स्वरूप महा समझाया जा रहा है।

२) अलीकिकरय दाने हि चाद्य. सिध्येन्मतोरथ

आद्य ग्रन्थ यमुनापटवके सातवद्वारामें धारित— ममास्तु तव सन्निधौ तनुवत्स्वमेतायता न दुर्लभामा रतिर्भूररिपो मुकुन्दप्रिये । प्रायनाम व्यक्त हृये मनोरथकी सिद्धि, जब भगवान् अलीकिकरसामर्थ्यका दान करते हैं तभी सम्भव है अन्यथा अलीकिकसामर्थ्यके दानके अभावमें भगवत्सेवापरायण भवत या तो पुरुषोत्तममें लीन हो जाता है, या फिर वैकुण्ठ आदि भगवत्सामर्थ्यमें, भौतिक देहक छूट जानेके बाद अलीकिक दिव्य सेवोपयोगिदेह प्राप्त कर लेता है।

३) अत्र (सेवाया) फल (अलीकिकसामर्थ्य) वा, अधिकारी (सायुज्य सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु) वा (भवतु) काल नियामक न (भवति)

पुष्टिप्रवाहमर्पादा प्रथममें यह कहा गया था कि पुष्टिजीवोको उतका फल भगवत्स्वरूपसे ही मिलता है— कथिन तु फल पुष्टी वही यह भी कहा गया था कि ‘भगवानेव हि फल स यथाविभवेद् भुवि, गुणस्वरूपभेदेन तथा सेवा फल भजेत अर्थात् यथाधिकार हृदयमें भगवद्-गुणोका अथवा नयनोके समक्ष साक्षात् भगवत्स्वरूपा हस्त भूतलपर प्रकट होता पुष्टिजीवोकी फलानुभूति है भगवान् ही जब फल ही, और वे यदि काल-कर्म-कर्ता मन्त्र द्रव्य देश स्वभाव आदि हेतुओं अथवा साधनों के अधीन न हों तो पुष्टिमार्गीय फलात्मिका सेवा अथवा अधिकारात्मिका सेवा का नियामक काल कत हो पायेगा ?

अलीकिकसामर्थ्य या तमुत्कव्य के साथ भगवत्सेवा सम्पन्न हो पाती हो तो वह सेवाकी फलरूपता है अन्यथा वह न होनेपर सेवाके कारण पुरुषोत्तमम् सायुज्य या वैकुण्ठ आदि

भगवद्दामोमे सेवोपयोगी नूतन दिव्य देह प्राप्त होता है, भगवत्सेवा करनेवाले भक्तके भौतिक देहके छूटनेके बाद. अत. ऐसी भगवत्सेवा फलरूपान होकर अधिकाररूपान मानी जाती है. फल हो या अधिकार, पुष्टिभक्तिमे भगवान् ही नियामक है, काल-कर्म-स्वभावादि नहीं.

४) (सेवाया) बाधकं तु उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्, भगवतः अकतंव्य चेद्.

काल-कर्म-स्वभाव यद्यपि फल या अधिकार मे नियामक नहीं है, फिर भी, फलदान या अधिकारसम्पादन की भगवदिच्छाके न होनेपर भगवत्सेवामे उद्वेग प्रतिबन्ध अथवा भोग बाधक बन सकते है

जैसे फल तीन माने गये है, सेवामे, ऐसे ही विघ्न भी तीन ही माने गये है. इनमे उद्वेग के अनेक रूप नवरत्न एवम् विवेकधर्मश्रय मे दितलाये गये है. वहा आश्रयभावकी दृढताके लिए अष्टाक्षरका उच्चारण तथा लोलाभावना की बात समझायी गयी है अतएव उद्वेग और उससे बचनेके उपायके बारेमे अब पुनः यहा किसी निरूपणकी आवश्यकता नहीं है अत इस सेवाफलके विवरणमे प्रतिबन्ध एवम् भोग रूप विघ्नोका विचार होगा.

प्रतिबन्ध दो प्रकारके होते है एक साधारण और दूसरा भगवत्कृत. साधारण प्रतिबन्धोका निवारण लोकचातुरीसे करना चाहिये.

श्रीप्रभुचरणने अपने आत्मजोको लिले एक पत्रमे ऐसी लोकचातुरीका उपदेश दिया है "अन्यच्च यवनादयो ठाकुरद्वारे आगच्छन्ति यथापूर्वं भाषणमिलनप्रसादादिक कार्यम् यद्यपि हार्दं न भवति, बाह्यतोपि कार्यम्" ऐसी लोकचातुरीका प्रयोजन निविघ्न भगवत्सेवाका निर्वाह ही होना चाहिये. आत्मसम्मानको खोकर सरकारी अफसरोंकी चापलूसीका नहीं. अतएव इसी पत्रमें सावधान भी किया गया है—"सावधानं सहरस्परस्नेहं अवहिदुष्टिसेवक-परं स्वयम् "

भगवत्कृत प्रतिबन्धवा निराकरण जोयके सामर्थ्यके बाहर होता है अत उसका विचार वादमे किया जायेगा इसी तरह द्विविध भोगका विचार भी आगे किया जायेगा

५) भगवतः सर्वथा अकतंव्य चेद् (भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध तदा) गति न हि (भगवान् फल न दास्यतीति मन्तव्य, तदा अन्यसेवापि व्यर्था, तदा) यथा वा तत्त्वनिर्धार (आमुरोय जीय इति) विवेक (तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तव्यमिति, अन्यथा) बाधकानां (नयाणा माधन -) परित्याग (कर्तव्य इति) साधन मत्तम् .

पुष्टिमार्गीय जीव देवी होनेके कारण कभी प्रवाहमार्गीय या आमुरी सृष्टिका हो नहीं सकता फिर भी यह सम्भव है कि उसके देह इन्द्रिय-प्रण-अन्तःकरणमे किसी समय या किसी जन्ममे आमुरभावोका आदेश हो जाये अतएव पुष्टिप्रवाहमार्गीया ग्रन्थमे—"आसवती भगवत्सेवैव साप दापयति क्वचित्" के द्वारा पुष्टिजीवोमे आमुरावेदाने कारणरूपमे भगवदिच्छाको मान्य किया गया है मुबोपिनी (३।२५।३२) मे-"ये वा देव्या सम्पदि जाता सेवामपि (इन्द्रियाणि) देवरूपाणि भवन्ति आमुराभ्यपि भवन्ति" कहा गया है. वही यह भी कहा गया है कि " भक्तिदेवैरेव भवति नामुरे " अत त्रिस जन्ममें पुष्टिभक्तके देहइन्द्रियादिमें देवी

गुणोका आवेश प्रबल नहीं होता, उस जन्ममें पुष्टिप्रभु उस जोवरो फलारिक्ता सेवा लेना नहीं चाहते हैं, ऐसा समझ लेना चाहिये ऐसी स्थितिमें अन्य कोई रह नहीं जावा, जिसका आश्रय या भजन से भगवत्सेवामें पैदा होनेवाले विघ्न दूर हो पायें, या अन्य कोई उपाय शक्य बन पाये अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं—'तदा अन्यसेवायि स्थितिः'

भगवन्मार्गमें भगवदिच्छाके दिना कोई विघ्न आ नहीं सकते और भगवदिच्छाका कारण आये हूयें विघ्नाकी कोई दूर नहीं कर सकता है नवरत्नभ अतएव कहा गया है कि "अज्ञानादथवा ज्ञानात्तृतात्मनिवेदन ये कृष्णसात्तृताप्रणौ सेवा का परिदेवना।" अतः पुष्टिजीवको जब प्रभु मसारासक्तिमें फसाये रखना चाहते हैं तो अन्यायय या अन्यभजन से कुछ भी प्राप्त हो नहीं पायेगा।

तत्त्वदीपनिबन्धके शास्त्रार्थप्रकारणम् 'कृष्णपदेन बहिर्भजनमेव मुख्यमिति निरूपितं 'यो वेद निहित गुहायाम्' इति तु ज्ञानमार्गं" (कारिका १३) कहा गया है, भगवत्तायें प्रकरणम् भी भगवदवतारकालीन भजनका विबल्य ज्ञान माना गया है—'पुरुषाणा तथा स्त्रीणा रात्रौ च दिवसे तथा ज्ञान भक्तिश्च सतत चक्रवत् परिवर्तते" (१०।१११-११३) भक्तिवर्धनी(४) में भी 'व्यायुतोषि द्वेरी चित्त श्रवणादौ न्यतेःसदा" कहा है इसी तरह 'सेवाया या कथाया वा " कारिकायें 'सेवा और कथा' को उत्तमरूप माना गया है, तथा 'सेवा या कथा' को गौणरूप माना गया है अणुभाष्य (४।१।८) में—'एव बहिः प्राकट्यमुत्सवा आन्तर तदाह भावनीस्कटघटज्ञाया व्यभिचारिभावात्मनसततस्मृतिरूपध्यानदक्षि हृदि प्रकट सन्नामीना भवतीत्यर्थ' कहा गया है

इन सभी उद्धरणोंपर लक्ष्यपात करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्वात्मक वर्णित 'ज्ञानमार्गं मयादिपार्गीय ज्ञानवाला नहीं है, किन्तु पुष्टिभार्गीय ज्ञानका लेकर ही यहा 'ज्ञानमार्गं' शब्द प्रयुक्त हुआ है पुष्टिभार्गीय भगवत्सेवा भक्ति है तथा भगवद्गुणगान या भगवत्कथा ज्ञान है भगवद्गुणानुवाच्यो प्रणालीस हृदयम सतत भगवद्भयान या भगवत्स्मृति को बनाये रखना 'ज्ञान' कहलाता है निरोधलक्षणमें— गूणव्याविष्टचित्ताना सवदा गुरवैरिण ससारविरहकलेशो न स्यात्तौ हरिवरमुत्तम' कहा गया है अतः भगवान्के गुणानुवाचने 'गोत्राभावा' सिद्ध होता है यह पुष्टिभार्गीय विवेक है

जिनसे यह कथात्मिका भक्ति भी न शिभती है उनके लिय विवेकधैर्याश्रय तथा कृष्णाश्रय में प्रपत्तिमार्गका निरूपण किया गया है— अलीकमन सिद्धौ सवदा शरण हरि, एव चित्त सदा भाव्य वाचा च परिकीर्तयेत् (चित्रे १३) इसी तरह अजामिलादिदीपाणा नासावोनुभवे स्थित ज्ञापिताखिलमाहात्म्य कृष्ण एव गतिर्मम विवेकधैर्यभक्तया दिरहितस्य विशेषतः पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम (कृष्णा ७ और ९) कहा गया है

पूर्वभक्तिसे दो अग मान गये हैं एक बाह्य अग माहात्म्यज्ञान और दूसरा आन्तर अग सुदृढ सर्वताधिक स्नेह अथ मुदृढ भवतीधिक स्नेहके बिना सेवा कथाका निवहि शक्य नहीं होता फिरभी माहात्म्यज्ञानपर अवलम्बित शरणगति—आश्रय—प्रपत्तिरूप उपाय शक्य है ता

उसे अपनाना चाहिये. अतएव माहात्म्यज्ञानमूलक होनेके कारण प्रपत्तिमार्गको भी पुष्टि-मार्गमे ज्ञान माना जाता है.

प्रतिबन्ध जो भगवत्कृत प्रतीत न होने ही पर हमें पुष्टिमन्त्रोचित विवेक या धर्म से वञ्चित करते हो तो, उनसे बचनेके अनेक उपाय नवरत्न तथा विवेकधर्मश्रय में दिखलाये गये हैं. यथा—पार्यनात्याग, अभिमानत्याग, हठत्याग, अनाग्रह, महिष्णुता, असामर्थ्यभावना, भगवत्श्रीकाभावना, मनवाणीसे सतत शरणभावना, अन्यायप्रत्याग, दृढ विश्वास तथा प्राप्त मुस-दु लको ममताद्वेष-रहित स्वीकृति आदि.

उद्वेगके हेतुओं, साधारणप्रतिबन्धके हेतुओं तथा लौकिक भोगके हेतुओं का त्याग करनेपर सेवाका निबिघ्न निर्वाह सुकर बन जाता है. उद्वेग और उसके विभिन्न हेतुओं के निवारणका उपाय नवरत्न ग्रन्थमे समझाया गया. साधारण प्रतिबन्ध तथा उसके हेतुओंके निवारणका उपाय विवेकधर्मश्रय ग्रन्थमें समझाया गया है. अब लौकिक क्षुद्र भोग और अलौकिक महान् भोग का प्रमेद तथा अन्य भी तत्सम्बन्धी विवेचन आगे किया जायेगा.

६) भोगे अथि वाधकानां परित्याग एक साधनं मतम्.

भोग दो तरहके सम्भव है: एक लौकिक भोग और दूसरा अलौकिक भोग लौकिक भोग ख्याज्य होता है भगवान्को असमर्पित-अनिवेदित वस्तुओंका उपभोग भगवत्सेवामें बाधक बनता है. यह सिद्धान्तरहस्य (कारि ४) में—“अन्वधा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन, असमर्पित-वस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत्” कह कर समझाया गया है. अत असमर्पित-अनिवेदित वस्तुओंका उपभोग बाधक है और उनका परित्याग हमारे लिये एक साधनके रूपमें बतल्य है.

७) तथा भोगे परं निष्प्रत्यहं साधनम् अथि मतं (यत.) महान् (अलौकिकस्तु) भोग (फलाना मध्ये) प्रथमे सत्वा विद्यते (प्रविशति).

सिद्धान्तरहस्य ग्रन्थम जैसे असमर्पितके त्यागकी बात समझायी है, वसी तरह समर्पितके उपभोगकी आवश्यकता भी दिखलायी गयी है—“निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति...मेव-काना यथा लोके व्यवहार प्रसिद्धयति तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वथा ब्रह्मता तत.” भगवान्को समर्पित भगवत्प्रसादरूप स्पर्क गन्ध वस्त्र अलंकार अन्न गृह तथा परिवारिक जन, सासारिक मोहके नहीं, किन्तु भगवद्भावके वर्धक होने हैं ब्रह्मका समर्पित सभी कुछ ब्रह्मात्मक हो जाता है जैसे गदी नालीका जल गगामें मिल कर गगजल बन जाता है अणुभाष्य (३।३।३९) में अतएव कहा गया है—“सर्वनिवेदनपूर्वक गृहेषु भगवत्सेवां कुर्वता तदुपयोगित्वेन तेन्यएव मुक्तिं भवतीत्यर्थं एतादृशानां गृहा भगवद्गृहा एव आदिपदेन स्त्रीपुत्रपशुवाद्य सप्रहपन्ते एतेन ज्ञानादिमार्गादुत्कृप उक्तो भवति वाधकानामपि साधकत्वात्” अन्यमार्गमे भोगक साधन अन्नवस्त्रगृहपरिवार आदि बाधक माने जाते हैं, पुष्टिमार्गमे भगवत्सेवाके अग बन जानेपर, इन्हें साधक माना जाता है क्योंकि वे लौकिक आसक्तिको बढ़ानेके बजाय धर्म धर्म हम अलौकिकसामर्थ्य अर्थात् सर्वेन्द्रियोंको भगवत्परताकी ओर ही ले जानेवाले बनते हैं. निरीक्षलक्षण ग्रन्थम इमे—“ससारावेशुदृष्टानामिन्द्रियाणां हिताय च कृष्णस्य

सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्' वहा हैं.

भगवद्विभेदित वस्तुका भगवत्समादके रूपमें उपभोग, सेवाके प्रथम फल अलौकिक-सामर्थ्यको प्राप्ति करनेकी दिशामें अपसर होना है. अतः वह अलौकिक भोग होनेसे निष्प्रत्यूह-निर्दुष्ट है, महान् है.

८) सविद्य अल्पी (भोग) बलात् घातक. स्यात्.

"यो वै भूमा तदमृतम् अथ यदल्प सन्मत्यम्" (छान्द ब ७।२४।१) इस श्रुतिमें मर्त्यत्वेन निन्दित अल्पभोगका परिहार भगवत्समापितके उपभोगसे शक्य बन जाता है. अतएव छान्दोग्योपनिषद्के इसी प्रकरणमें— "आहारशुद्धी सत्वशुद्धि सत्वशुद्धीः धृवा स्मृति. स्मृतिलम्भे सर्वघ्नन्वीना विमोक्ष (७।२६।२) वचनद्वारा आहारशुद्धिके उपलक्षणसे प्रत्येक भोगकी शुद्धिकी आवश्यकता दिखलायी गयी है, मर्त्य—अल्प—क्षुद्र लौकिक भोग कभी शोकमोहसे रहित नहीं होता है. अतः अनेकविध शोकमोहरूप विघ्नोत्ते युक्त अन्य भोग स्वयम् मर्त्य होनेपर भी शारक होता है. भगवत्सेवोचित भावना बलवान् घातक होता है अतः लौकिक भोग त्याग्य है

९) बलाद् एतौ (प्रतिबन्धकी) सदा मती

भक्तिवधिनी (६) में कहा ही गया है कि "तादृशस्यापि सतत गेहस्थान विनाशकम्" अतः लौकिक भोग और भगवत्कृत प्रतिबन्ध भगवत्सेवामें बहुत बलवान् प्रतिबन्धक सदा होते हैं इनमें लौकिक भोगका त्याग ती शक्य है पर भगवत्कृत प्रतिबन्धका निवारण शक्य नहीं है यह अब आगे कहा जायेगा

१०) द्वितीये (भगवत्कृत-प्रतिबन्धे जानस्थित्यभावेच) ससारनिश्चयात् चिन्ता सर्वथा त्याज्या

सर्वनिर्णय-प्रकरण (कारिका २४७) में यह दिखलाया गया है कि किन-किन स्थितियोंमें भगवत्सेवा छोड़ देनी चाहिये यथा—

क) आसुरविश्वके कारण हमारी इन्द्रियोंकी भगवत्सेवामें स्वतः प्रवृत्ति सम्भव न लगती हो तो हठपूर्वक उन्हें भगवत्सेवामें लगानपर विशेष उत्पन्न हो जाता है ऐसी स्थितिमें सेवा छोड़ देनी चाहिये.

ख) अतिबाधनय या शारीरिक व्याधिया के कारण किसी व्यक्तिमें भगवत्सेवामें अपेक्षित शक्ति न रहे जाती हो तो सेवा छोड़ देनी चाहिये

ग) पारिवारिक सामाजिक या राजनैतिक दृष्टिसे जिनके अधीन होनेके कारण हम विवशतया भगवत्सेवा न कर पाते हैं तो वह भी एक प्रतिबन्ध गोत्राग सम्भव है

घ) सेवा करते रहनेपर भी निरन्तर चित्तमें अन्यव्यस्तय या व्यग्रता बनी ही रहनी हो तो भगवत्सेवोचित भावना हृदयमें कदापि प्रकट नहीं हो पाती

ङ) अन्य पारिवारिक जन भगवत्सेवामें अपेक्षित भावनामें रहित हो, या भगवत्सेवामें प्रति-बन्धक हो, पर वे हमारे द्वारा की जाती भगवत्सेवामें लौकिक हनुआने वद सहयोग देनेको बाधित होते हैं तो, उन्हें वह सेवा पीछाजन्क प्रतीत होगी ऐसी परपीडाजनक भगवत्सेवा

नहीं करनी चाहिये.

श्रीमहाप्रभु स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा करते हैं कि इन स्थितियोंमें सेवा छोड़ देनी चाहिये. सेवा छोड़ देनेपर उसका अनुकूल्य भगवत्कृपा माना गया है कथानुष्ठान पुष्टिमार्गमें भवितकी ज्ञानगार्गसे जुड़ी हुई सीमाकी तरह है परन्तु यहां इस सीमाके भीतर भी रहना जो शक्य न हो तो माहात्म्यज्ञानमूलक प्रपत्तिमार्गमें अवस्थित होना चाहिये. एतदर्थं विवेक धैर्य और आश्रय को अपनानेकी बात समझायी गयी है. पर जब वह भी शक्य न हो तो समझ लेना चाहिये कि इस जन्ममें प्रभु हमें ससारावेशसे छुटकारा देना नहीं चाहते हैं

विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थमें अतएव—“अशक्ये वा मुद्राक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः” वहकर तथा नवरत्न ग्रन्थमें—“चित्तोद्देशे विधाया वि हरि यद्यत् करिष्यति तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्ता द्रुत त्यजेत्, तस्मात्सर्वस्मिन् नित्य श्रीकृष्ण शरणं मम वदद्भिरेव सततं स्वयमित्येव मे मति” (८-९) के उपदेशके अनुसार चिन्ताका त्याग कर शरणभावना करनी चाहिये

११) नाष्टे (आद्यफलाभावे) तु (भगवत आधिदैविकसेवा-) दातृता नास्ति

सेवा निरन्तर करते रहनेपर भी अलौकिकसामर्थ्यके प्रकट होनेके कोई चिन्ह दिखलायी न पडते हो तो सेवाकी न्यूनता नहीं मान लेनी चाहिये किन्तु भगवान्की आधिदैविकी सेवामें मुलदानकी इच्छा नहीं है, ऐसे समझना चाहिये आधिदैविकसेवा-सुखकी पात्रता भगवान्की दातृतापर अवलम्बित है यह तो कहा ही गया है कि पुष्टिमार्गीय फल या अधिकार की प्राप्ति भगवान्के देनेपर ही होती है, साधनाभिमानमें नहीं.

१२) तृतीये (भोगाभाव-सिद्धाभावे) तु गृह बाधकम्

स्वगृहमें निरन्तर सेवा करते रहनेपर भी भोगाभाव यदि सिद्ध न होता हो तो गार्हस्थ्य-गृहका ही बाधक समझना चाहिये अतएव भक्तिवर्धनी और मन्थासनिर्णय ग्रन्थोंमें, तैसी स्थितिमें, कथाश्रवण परिचर्या या गृहत्याग के अनुकूलको अपनानेकी बात समझायी गयी है

१३) द्वये (भगवतो दातृता) अवश्या सेवा भाव्या अन्यसर्वे मनोभ्रम, तदीयैरपि तत् (दातृताभावन) कार्यं (यतो भगवान्) पुष्टो नैव विलम्बयेत्

नवरत्न ग्रन्थमें कहा गया था कि आत्मनिवेदन करनेवाले पुष्टिभक्तको कभी चिन्ता नहीं करनी चाहिये क्योंकि पुष्टिप्रभु भगवान्, किसी एकाद् जन्ममें लौकिक स्थिति जैसी स्थिति पुष्टिजीवको करते भी हा, परन्तु गति कभी लौकिक या प्रावाहिकी नहीं करगे अतः भवितके भलीभांति निर्वाह न होनेकी स्थितिमें अन्य पुष्टिमार्गीय भगवदीयोंके साथ बैठकर अपने आत्मनिवेदनका स्मरण-भावना करना चाहिये “भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकी च गति, निवेदन तु स्मर्तव्य सर्वथा तादृशी जने सर्वेश्वरश्च सर्वोत्तमा निजेच्छात करिष्यति” (१-२)

होता बही है जो भगवदिच्छा होती है मिलता बही है जा भगवान् हमें देना चाहते हैं भगवान्की फलदानेच्छा किसी कबपकी बात नहीं है वह ‘अवश्या’ है. उसपर किसीका जोर नहीं चरता है भगवान् परन्तु दयालु भी है वे केवल सर्वेश्वर ही नहीं अपितु सर्वोत्तमा भी

है. अतः जिस जीवका पुष्टिभारमें वरण भगवान्ने कर लिया हो उसे पुष्टिभक्तिके दातमें अधिक विलम्ब नहीं करेंगे. इस तरह भगवान्के पुष्टिफलदाता होनेकी भावना सदा करनी चाहिये.

साथ ही साथ निरोधलक्षण ग्रन्थमें यह भी कहा गया था कि "महतां कृपया पावद् भगवान् दययिष्यति, सायदानन्दसन्दोह कीर्त्यमानः सुखाय हि" अतः जिनसे सेवा आदि न निभ पाती हो ऐसे दयनीय पुष्टिजीवके प्रति अन्य भगवदीयोंका भी यह कर्तव्य है कि वे भगवान्के ऐसे गुणो एवम् चरित्रो का कीर्तन करें कि जिससे साधारण पुष्टिजीवके हृदय और बुद्धि में भगवान्के पुष्टिफलदाता होनेकी आस्था एवम् धारणा दृढ हो जाये. यह जिससे सेवा-वचामय आदर्श जीवन निभ पाता हो ऐसे पुष्टिजीवका दूसरे, जिससे नहीं निभ पाता, उसके प्रति कर्तव्य है. बालबोध ग्रन्थके उपदेशद्वारा श्रीमहाप्रभुअतएव भगवत्सेवाय अममयं जीवोमें तदीयता और तदाश्रय के भावोको उद्बोधित करना चाहते हैं.

जलभेद और पशुपद्यानि ग्रन्थमें अतएव वक्ता एवम् श्रोता की उत्तम-मध्यम-निम्न वक्षायें समझायी गयी हैं उनके मलीभाति जात हो जानेपर जिस पुष्टिजीवसे सेवादिभवा भक्ति नहीं निभ पाती वह भी कथा-श्रवण-नीतंन-स्मरण आदिकी प्रक्रियाके द्वारा अपने पुष्टि-भाषोके पोषणमें सक्षम हो पाता है

१४) गुणक्षोभे अपि एतद्वेष दृष्टव्यम् इति मे मति

भक्तिवर्धनी ग्रन्थमें यह लिखलाया ही गया है कि स्वगृहमें भगवत्सेवाकामय जीवन-यापन सभी पुष्टिजीवके लिए शक्य नहीं होता. इससे अनुकरूपण गृहत्यागके लिये आवश्यक भक्तिका व्यसनद्वारा विकास भी अतएव बहुत दुर्लभ बात है गृहत्यागका विकल्प किसी भगवदीयकी मत्सगतिमें रहकर भगवत्परिचर्या करना और भगवत्कृपाके श्रवण-कीर्तनमें मन्मिलित होना दिखलाया गया है परन्तु जिस भगवदीयका रुसग हम करना चाहते हो उसमें मानव-स्वभाव-गुलम दोषदर्शन होनेपर भक्तिभावमें बाधा पड़नेकी आशंका उठी थी इनके परिहारायें एकान्तवासके ओचित्यका भी वही विचार किया गया था एकान्तवासके वजाय भगवदीयकी सगतिमें 'अदूरे-विप्रचर्ये' की नीति बरतनेका गुहाव दिया गया था. क्योंकि अपरिपक्व सिद्धांतबोधकी स्थितिमें एकान्तवास बरनेपर कभी अपनिष्ठान्तोके स्वाध्यायकी सम्भावना रहती है

स्वमार्गीय सिद्धान्त अत स्वमार्गीय वक्ताके मुखसे सुननेका भाग्रह रखना चाहिये " भक्त्याचारोपदेशार्थनानावाचयतिरूपक " श्रीमहाप्रभुके ग्रन्थोंका ही स्वाध्याय करना चाहिये नारे गुणक्षोभ इससे शान्त हो जायगे, ऐसा श्रीमहाप्रभुका आश्वासन है

१५) अत्र कुतुष्टि वा काचिदुत्पद्येत स धं भ्रमः

पौड्याग्रन्थके उपक्रमरूप यमुनाष्टकमें - "मनास्तु तव सप्रियो तनुनवरम् " कह कर भगवत्सेवायें अपेक्षित देहकी नूतनताकी प्राप्तिनाके द्वारा भगवत्सेवाकी महत्ता दिखलायी गयी है पांड्याग्रन्थके उपसंहाररूप सेवाफल ग्रन्थका नामाभिधान 'भक्तिफल' 'कथाफल' 'स्वागतक'

‘निरोधफल’ या ‘प्रपत्तिफल’ न कह कर ‘सेवाफल’ करना; तथा अलौकिकसामर्थ्यके रूपमें सेवाका फल पुनः सेवाकी ही मानना भी, पुष्टिमागमें सेवाकी महत्ताका ही प्रमाण है।

मिदान्तमुक्तावली, पुष्टिप्रवाहमर्यादा, सिद्धान्तरहस्य, ‘भक्तिवर्धनी तथा निरोध-लक्षण ग्रन्थोमे शब्दसा; तथा अन्य प्रथोमे तात्पर्यंसा: सेवाके महत्त्वके पुनःपुनः उल्लेख द्वारा जो अभ्यास किया गया है, उसके आधारपर भी पुष्टिमागमें सेवाकी असाधारण महत्ता सिद्ध होती है।

चतुरल्लोकीमें—“सर्वंदा सर्वभावेन भजनीयो भजाधिप. स्वस्यायमेव धर्मो हि नाप्य. क्वापि कदाचन” द्वारा की गयी कृष्णसेवाकी प्रशंसा, तथा निरोधलक्षणमें की गयी—“नात. परतरौ मन्त्र. नात. परतर स्तव. नात. परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम्” वचन द्वारा अन्य उपायोकी निन्दा, द्वारा अर्थवादने विचारसे भी भगवत्सेवाकी महत्ता सिद्ध होती है।

श्रीमहाप्रभुके अन्य ग्रन्थोंमें भी यथा निवन्ध भाष्य या मुबोपिनी में सेवाका उल्लेख मिलता है, परन्तु भगवत्सेवाका सागोपाग-सपरिकर स्वरूप जैसा यहा वर्णित हुआ है, वह अन्यत्र सुलभ नहीं है. सेवाका अन्तरगरूप भाव-भावना है. सेवाके वहिरगरूपमें आत्मसमर्पण, तनुवित्ता सेवा, गृहस्थित वस्तु एवम् परिजनो का भगवत्सेवामें विनियोग; तथा अन्य भी नवधा भक्त्यगभूत श्रवण-कीर्तनादि उपाय माने गये हैं. इन सारी बातोंका जैसा स्पष्ट एवम् सुसंगत विचार, अपूर्वतया यहा षोडशग्रन्थोमे हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है

पुष्टिमागमें भगवत्सेवा द्वारा किसी फलकी कामना नहीं जाती है क्योंकि सेवाका फल सेवा ही होती है. अतएव विवरणमें—“सेवाया. फलत्रयम्” न कह कर ‘सेवाया फलत्रयम्’ कहा गया है- अत तीनों ही फलवस्था षोडशग्रन्थोमे मुख्यतया प्रतिपाद्य सेवाके अन्तर्भूत ही हैं. इस फलसकीर्तनसे भी षोडशग्रन्थोका तात्पर्यं भगवत्सेवोपदेशम ही पर्यवसित होता है

अन्तिम तात्पर्यनिर्धारक लिंग उपपत्ति माना गया है अन्य प्रमाणोसे किसी एक बातका खण्डित होना सम्भव नहीं है, इस तरहका निरूपण करना ‘उपपत्ति’ कहलाता है. अतएव श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि इन सोलह ग्रन्थोमे मुख्यतया प्रतिपाद्य भगवत्सेवाके स्वरूपकी अन्यान्य साधनोकी तुलनामे गौण बनानेवालेको पुष्टिकी सुन्दर सुष्टिमें कुसुष्टिरूप ही सम-जाना चाहिये—“कुसुष्टिरत्र वा काचिदुत्सृजेत स वै भ्रम.” ऐसे ही भ्रमोंके निवारणार्थ अन्त करणप्रबोध लिखा गया है

इस तरह उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अर्थवाद, अपूर्वता, फल और उपपत्ति रूप छोड़ो तात्पर्यनिर्धारक लिंगोके द्वारा यह नि सन्दिग्धतया सिद्ध होता है कि पुष्टिजीवोके लिये स्वगृहम श्रीकृष्णके पुष्टिस्वरूपकी सेवा, व्रजभक्तोंके भावोंका भावनात्मक अनुसरण करते हुवे, निजतन-मन-धनका भगवान्मे विनियोग; तथा उसने अनुवसरमे एतद्भाववधिकी भगवत्सेवाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन करना प्रथम एवम् चरम कर्तव्य है यहा बहा भेटकनेवाले चित्तकी सभी वृत्तियोका निरोध भगवत्सेवा और भगवत्कथा म होना चाहिये क्योंकि ‘ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमापान्त्यहनिदाम् ।’ का नियम भुव और अकाट्य है

सेवाफल ग्रन्थका प्रस्तुत सस्करण वि. म १९७३ म प्रकाशित सस्करणका ऑफसेट प्रॉसिस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है उस प्रथम सस्करणमें प्रकाशित न हो पानेके कारण सेवाफलकी जो तीन टीकायें जलमेदके साथ प्रकाशित हुई थी, उन टीकाआको हमने यथास्थान यहाँ निविष्ट कर दिया है इसके अलावा सेवाफलकी मूल कारिका तथा विवरण वहाँ पृथक्-पृथक् छपे थे, उन्हे यथामति हमने उपर नीचे योजित किया है

प्रथम सस्करणमे श्रीपुरोधोत्तमजीके वाद जिस "तदनुसारिणा" की टीका मुद्रित हुई थी, नामनिर्देशरहित, उस टीकाके लेखकका नाम हम कोटायात्राम मिल गया श्रीमन्मथुरापीठ मन्दिरके हस्तलिखित ग्रन्थगारकी रजिस्टर सख्या (२१०/३) की हस्तलिखित प्रतिमें इस टीकाक 'श्रीमथुरानाथात्मज द्वाराकेजयुत सेवाफल विवृति प्रकाश' नामका उल्लेख उपलब्ध होता है काकरोलीवाले महाराजश्रीके पास इन श्रीद्वारकेशजीके पुत्रके हस्ताक्षरोम लिखित एक प्रति विद्यमान है एसा ग्रन्थपरिचय-लेखकको लिखे एक पत्रमें गोस्वामी श्रीब्रजेशकुमार (काकरोली) सूचित करते हैं श्रीवल्लभवशास्यसे इन श्रीमथुरानाथात्मजश्री द्वारकेशजीका उल्लेख या मिलना है (प्रथम / २ गृह जन्म वि. स १८५२) इसके अलावा काकरोली— विद्याविभागमें स्थित श्रीब्रजभूषणजी (द्वितीय) की विद्वन्मण्डन टीकाका मंगलाचरण तथा यहा १४ वें त्रमम मुद्रित सेवाफलविवृतिप्रकाश टीकाका मंगलाचरण समान होनेसे, यह टीका श्रीब्रजभूषणजी विरचित है, एसा गोस्वामी श्रीब्रजेशकुमार महाराजश्रीका अनुमान है

सेवाफल और सुबोधिनी की एकवाक्यताके प्रदर्शक (सुबो ३।२५।३२-४०) अशको हम नूतनतया यहा पाठकोके सुविषायं प्रकाशित कर रहे हैं

प्रथम सस्करणके सम्पादक श्रीमूलचन्द्र तुलसीदास तलीवाला तथा श्रीधीरजलाल प्रज-दास सांभलिया थे प्रकाशनार्थ आधिक सहयोग गोस्वामी श्री १००८ श्रीजीवनलालश्री महाराज (पोरबन्दर) ने दिया था इन सभी महामुभावोका इस पुन प्रकाशनके अवसरपर हम हार्दिक श्रुतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं श्रीकृष्णार्पणमस्तु

Editors' Note.

Sevaphala is the last and the most important of the famous Sixteen small Sacred Books of Shri Vallabhacharya. It clearly states the three sorts of realisations, according to one's 'adhikara,' viz, (1) spiritual power, which, going beyond the world, obtains a vision of God, and enjoys indescribable bliss with Him, or (2) Sayujya with Purushottama or the last (3) a body fit for service of God in Vaikuntha, Gokula etc. A detailed description of all these, and also of hindrances in their way will be found in the Sanskrit introduction and the commentaries.

It gives us very much pleasure to note that we have been able to collect all the rare commentaries yet known on this important work,—we hope the last one is of Shri Vrajanathaji, and to publish them all together. Moreover, we have secured several copies of many commentaries, and it gives us great satisfaction to find that our printed texts have become much better than the oldest manuscripts in our possession, on account of comparisons with and necessary corrections from other manuscripts of the same texts. Elsewhere we have noted various extra passages which we found in some Mss, after the text was printed, we have noted only those readings which gave quite different meanings and we have refrained from adding unnecessary 'other' readings.

We sincerely thank all who have kindly supplied us with these extremely rare Mss. The first among these is Pandit Gattulalaji's Library from which we got a large collection and we are highly obliged to Sheth Tribhuvandas Varjivandas and Mr Kashidas Dalal who allowed us the use of the same. Next Dr S K Belvalkar M A., Ph D favoured us with a loan of several Mss, including the extremely rare one of Jayagopal Bhatta from the Govt collection in the Deccan College. Shri Vallabhalaji and his Shastri Madhavji also supplied us with several Mss. Mr Utravial Sanalchand also gave us one rare commentary and Mr Tansukhram Survaram also gave us some Mss. Mr Lalubhai Chhaganlal gave us the use of his block of the photograph of Shrimad acharyaji. To all these, we offer our heartfelt thanks. H H Shri Jivanlalaji Maharaja of Porebunder has put us under a deep debt of gratitude by supplying us with the necessary zeal and funds, without which this work could not have been published. We are also indebted to the manager of the N S Press for printing this work within eight weeks. With feelings of joy, we offer this fruit of our labour of love, at the Lotus Feet of Lord Krishna.

BOMBAY

19th December 1916 }

M T Telvala
D V Sankalia

ग्रन्थसङ्ग्रहपरिचयः ।

१ श्रीमदाचार्यकृत सेवाफल तद्विवरण यथावत्प्राप्तटीकास्ता सर्वा इष्टा मुद्रितमस्ति । तत्र विद्यमाना पाठभेदा श्लोकमभेदाद्यास्तामित्यैव दर्शिता ।

२ श्रीकल्याणरायकृतसेवाफलटीकाया पुस्तकद्वयमस्माभिरपलब्धम् । प्रथम भा मा वे भ प गङ्गालहलालिखितसमग्रस्यम् । तत्र प्रथम प्राचीनम्, प्राय शुद्धम् । द्वितीय 'दक्षनकोलेज' हस्तलिखित समग्रस्य प्रायोशुद्ध तथापि पाठादिसोपनार्थं कविम् कविद्वयन्तमुपयोगि ।

३ चाखाश्रीगोपेशटीकाया पुस्तकत्रय प्राप्तम् । तत्र पुस्तकद्वय प गङ्गालसमग्रस्यम् । अन्यद् 'दक्षनकोलेजस्यसमग्रस्यम् । इदं पुस्तकत्रयमपि प्राय शुद्ध प्राचीन च । एतटीकाया मुद्रणानन्तरमेकमन्यव्याचीन पुस्तक प्राप्तम्, तत्र विद्यमाना पाठभेदा परिशिष्टे दर्शिता ।

४ श्रीदेवकीनन्दनकृतटीकाया पुस्तकत्रय प गङ्गालसमग्रस्यम् । तत्रैक प्राचीनमन्यद्वय नूतनम् । तद् प्राचीनपुस्तकमवलम्ब्य यावच्छक्य तावत्पर्यन्तं सशोध्य मुद्रितमस्माभि ।

५ श्रीहरिरायकृतटीकाया पुस्तकत्रय मिलितम् । इदं शुद्ध प्राचीन च । एक केनचित्कटेन चासुदेवेन स्वपठनार्थं लिखितमस्ति । इदं पुस्तकत्रय प गङ्गालसमग्रस्यम् ।

६ श्रीवल्लभकृतटीकाया एक पुस्तक मिलित प गङ्गालसमग्रस्यम् । इदं प्राय शुद्ध प्राचीन च । एतदपि यावच्छक्य सशोध्य मुद्रितमस्माभि । एतद्वयमुद्रणानन्तरमस्या अन्यपुस्तक मिलितम् । तत्र सेवाफलविवरणानुसारेण श्लोकप्रममात्राप सैव टीका पुनर्लिखितेति प्रतिभाति । तत्र विद्यमाना उपयोगिपाठभेदा परिशिष्टे दर्शिता ।

७ श्रीपुरोचनकृतटीकाया पुस्तकत्रयमुपलब्धम् । तत्र पुस्तकद्वय प गङ्गालसमग्रस्यम् । तृतीय दक्षनकोलेजसमग्रस्यम् । एतत्पुस्तक शुद्ध शुद्ध पूर्व लिखित श्रीपुरोचनै । परन्तु तत्सेवाफल टीका श्रीपुरोचनै सविस्तर पुनर्लिखितेति प गङ्गालसमग्रस्यादर्शद्वयदर्शनेनाकृष्टतया निश्चीयते । प गङ्गालसमग्रस्यादर्शद्वय समवलम्ब्य एतद्विवरण मुद्रितमस्माभि । एतन्मुद्रणानन्तरमेकमति शुद्ध प्राचीन पुस्तकमेतद्विवरणस्य मिलितम् । तत्रलोपयोगिपाठभेदा परिशिष्टे दर्शिता ।

८ एतत्पुस्तक प गङ्गालसमग्रस्यम् । अस्य कर्तृनाम न विद्यते । यथादृष्टमेव मुद्रितमस्माभि । इदं श्रीपुरोचनविषयानुसंगिविवरणम् ।

९ लाडलभकृतटिप्पण्या पुस्तकद्वयमुपलब्धमस्माभि । एक दक्षनकोलेजसमग्रस्यम्, द्वितीय प गङ्गालसमग्रस्यम् । प्रथम प्राचीन प्राय शुद्धम्, द्वितीयमपि तथैव परन्तु नूतनमिति प्रतिभाति ।

१० जयगोपालभट्टकृतटीकाया एकमेव पुस्तक दक्षनकोलेजसमग्रहातुपलब्धम् । अस्मिन्पुस्तके ३३ तम पर तु न मिलति । इदं पुस्तक ग्रन्थशृंगो मूलमेवेति प्रतिभाति । तत्र एकवार विवरण समाप्य परमतस्त्रयत्रयाय २० पत्राणि पश्चादनेन लिखितानि । किं तस्य मतं तत्तु पूर्वं तेन स्वटीकायामेव दर्शितम् ।

११ लक्ष्मणभट्टकृतटीकाया एक पुस्तक श्रीगोकुलेशचरणपरामानुराशि त्रसवलाल साकलचन्द्र इत्यनेन दत्तम् । इदं पुस्तक ग्रन्थकृता स्वयमेव लिखितमिति प्रातभाति ।

१२ अस्य विवरणस्य कर्तृनाम न विद्यते । अस्य पुस्तकमेक गङ्गालसमग्रस्यम् । प्राय शुद्धम् । परन्तु कवित्तरिचयम् । यथादृष्टमेव मुद्रितमस्माभि ।

अस्मिन्पुस्तकस्यैव प गृह्णात्सत्याया 'कार्योपपन्न काशीदास नारायणदास दलाल पकीळ, हार्कोर्ट, मुख्यप्रदी श्रेष्ठ त्रिभुवनदास' इत्येषां महत्युपकृतिः । 'दा० बेलवलकर' इत्येतेषां महत्युपकृतिः पुस्तकप्रदानतोऽभूत् । अस्मिन्प्रोत्सवलाहस्यैव तथैवोपकृतिः । चतुर्थपत्रमपीडापीडन-गोस्वामिधीयलभलाहानां माधवशास्त्रिणश्च इहालिखितशुद्धपुस्तकप्रदानतो महत्युपकृतिः, परन्तु शुद्धानन्तर तत्पुस्तकानां प्राप्तवाहुपयोगिपाठ तत्र विद्यमाना परिशिष्टे निवेदिता ।

विवरणकृतां परिचयः ।

१ तत्रादौ श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटित सेवाफल द्वादशटीकायुत समुद्रयते । तत्र प्रथम सेवाफल-विवरण तु श्रीमदाचार्यकृतिरेव । स्वोपाननुगृहीतुकामे श्रीमदाचार्यचरणैस्त्व प्रकटीकृतमिति ।

२. द्वितीय मुद्रित विवरण श्रीमत्कल्याणरायाणात् । इमे श्रीकल्याणराया श्रीमदाचार्यधीयल्ल-भापीश्वरद्वितीयकुमारश्रीमद्विह्वलेश्वरप्रभुचरणद्वितीयसुनुश्रीमत्रौविन्दरायाणा स्तव । मार्गशीर्षकृष्ण सप्तम्यां १६२५ वर्षे प्रादुर्भूता । श्रीमद्विरायाणा पितृचरणा अपि ते एव । तेषामनेकग्रन्था सूदमा अपि सिद्धान्तमर्मबोधका सरलाश्च सन्ति । निबन्धोपरि टिप्पणी तेषा प्राचीनतमा, अनुनापि ह्यल लिखितग्रन्थाकारेण विराजते । उत्सवनिर्णयका अपि केचिद्ग्रन्थास्तु भादुर्मासिता नवनगोपरीभवन्ति । षोडशग्रन्धोपरि तेषां व्याख्यानानि दृश्यन्त अन्यान्यपि ।

३ तृतीय व्याख्यान चाचाश्रीगोपेशानाम् । इमे श्रीगोपेशा श्रीमत्प्रभुचरणविह्वलेश्वरानां सप्तमपुत्रश्रीधनश्यामानां स्तव, चाचा वा चाचा वैतिप्रसिद्धा । षोडशग्रन्धोपरि बहवक्षेपा टीका विद्यमाना दृश्यन्ते । भाद्रपदकृष्णपञ्चम्यां १६५२ वर्षे प्रादुर्भूता ।

४ चतुर्थं व्याख्यान श्रीमद्देवकीनन्दनानाम् । के इमे देवकीनन्दनास्त्र नि सकतया तिष्ठेत्तु वयं वाहुम । तथापि श्रीदुर्योत्तमकृततद्विवरणोपन्यासांशायते यत् ते श्रीपुरुषोत्तमानां प्राञ्च । श्रीमद्विह्वलेश्वरप्रभुचरणपञ्चमपुत्रश्रीरघुनाथाना स्तव श्रीदेवकीनन्दना मार्गशीर्षकृष्णसप्तम्यां १६२५ वर्षे प्रादुर्भूता । कदाचित् त एव एते, परन्तु तत्पुत्रश्रीरघुनाथकृततलोत्रे तत्कृतग्रन्थानां प्राय रसाधिष्ठाकाव्यवालबोधप्रकाशादिसर्वेषामपि नामानि गृहीतानि, तत्रास्य व्याख्यानस्य नामादशै नास्तेन्द्रे । श्रीदेवकीनन्दनानां पीत्रा अपि श्रीदेवकीनन्दना बभूवु । तेषि १६८५ आष्विनशुक्लपूर्णि मायां प्रादुर्भूता । तेषि श्रीपुरुषोत्तमाना प्राञ्च । कदाचित् तेषस्य प्रणेता एव ।

५ पञ्चम व्याख्यान श्रीमद्विरचनचरणानाम् । श्रीहरिराया इति प्रसिद्धा हि ते । तेषां प्रादुर्भा वस्तु भाद्रपदकृष्णपञ्चम्यां १६४७ वर्षे । एषां प्रहसम्बन्धसरकारस्तु श्रीविह्वलेश्वरानां चतुर्थलाहै श्रीवल्लभे श्रीनोकुलनाथेतिप्रसिद्धैस्तै कृत । श्रीहरिरायाणामसत्प्रायाता सूदमग्रन्था दृश्यन्ते । श्रीमद्विरचनचरणस्वरूपे तु शुद्धपुष्टिमार्गीय फलसमक रसासक विप्रयोगसमक साक्षादेव्य मूर्तिमत् प्रादुर्भूतमनुभूयते । तेषा व्याख्यानानि सर्वाण्यपि भक्त्यनुगुणानि । सि साधनजीवाननुगृहीतुमेव तेषां प्राकल्पमिति प्रतिभाति । अत एवात्र मुद्रित तेषां सेवाफलव्याख्यान भक्त्यनुगुण सरल भक्ति निष्ठजनानुग्रहाय विराजते ।

६ षष्ठ श्रीविह्वलेश्वरानां सुनुना श्रीवल्लभानाम् । काकाश्रीवल्लभजीतिप्रसिद्धा हि ते श्रावण कृष्णचतुर्दश्या १७०२ वर्षे श्रीमत्प्रभुचरणश्रेष्ठपुत्रश्रीनिरायात् पुररपणनया तृतीयसप्तम्या विभूयन्त प्रोद्भूता । श्रीसुषोभिनीलेखकारा भव्येते एव । षोडशग्रन्धोपरि तेषां ग्रन्थानि व्याख्यानानि दृश्यन्ते । निरोधलक्षणविहितिलेखामस'तविधे चतते । इमे श्रीवल्लभा श्रीदेवकीन-न्दननन्दना, १६७२ माघ

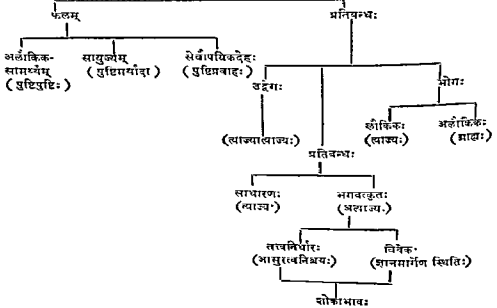
सेवाफलतात्पर्यम् ।

— १०८ —

श्रीकृष्णं वरमुन्दरं मधुरिमाभूति तदास्वप्रभून् । सेवायां मकरन्दपानमधुर्षां लोकोत्तरां तत्सुतां ॥
मया तान्निखिलान् निगूढहृदयान् सेवारत्नास्वादकान् । प्यारपानानि विलोच्य तानि निशुति तन्दोहरूपां यते

निःसाधनजनोद्धारप्रकटिततनुभिः श्रीमदाचार्यवर्यैर्निजजनाः स्वल्पेनैव प्रयासेन सर्व-
सिद्धान्तं जानीशुरिति कृपया षोडशग्रन्थाः प्रकटीकृताः । यद्यपि तं तमधिकारिणमुद्दिश्य
आचार्यैरेते ग्रन्थाः प्रणीतास्तथाप्याचार्याणां यावन्त्य उक्तयस्तासां न्यायरूपत्वात् तत्ता-
त्पर्यं सर्वथा सर्वदा त्रिकालावाध्यमपरिच्छिन्नमिति तु निर्विवादं तद्वन्धाध्येतृणाम् । यथा
नवरत्नो देवश्रीगोविन्दमुद्दिश्य प्रकटीकृतस्तथैव सेवाफलं श्रीविष्णुदासमुद्दिश्य प्रकटितम् ।
षोडशग्रन्थेषु सेवाफलग्रन्थस्त्वन्ते वर्तते । अस्य ग्रन्थस्य निगूढार्थत्वात् सकलपुरुषार्थ-
पर्यवसानप्रतिपादकत्वात् स्वयमेवाचार्यास्तं विवृण्वन्तः । विवरणसहित एव सेवाफलग्रन्थो
महानुभावैस्सैस्सैर्गोस्वामिभिर्भेद्वैश्च यथाशक्ति यथामति विवृतः । तत्र मिलितानां द्वादशविवर-
णानां संग्रहोत्र कृतः । यद्यप्येतासां टीकानां विषयोयं ग्रन्थस्तथाप्यस्य गूढार्थत्वं तु नैवापैति ।
आदौ तावद्यथा घालघोघोस्वामिभिः पूर्वं पुष्टिभक्तिमुधायां प्रस्तरेण स्पष्टीकृतस्तथैव-
ममपि ग्रन्थं प्रस्तरेण स्पष्टीकरिष्यामः, एतेनास्य ग्रन्थस्याशयो विशेषतः सुगमो भविष्यतीति ।

सेवा



सेवा—नृणामात्यन्तिकनिःश्रेयससिद्धयर्थं श्रीमदाचार्यैः पूजामार्गाङ्गिभ्यः सेवामार्गः
 रोहप्रधानः प्रवर्तितः । अस्मिन् मार्गे रोहस्य प्राधान्यं न विधेः । सेवाशब्दार्थः श्रीमदा-
 चार्यैः सर्वनिर्णयेषु दर्शितः । 'भक्तिशब्दस्य पाल्यर्थः सेवा प्रत्ययार्थः प्रेमेति' । अनर्थभूला-
 हन्ताममताया नाशं विना चित्तस्य प्रवर्णं भगवति न भवतीत्येतदर्थं प्रथमं तनुजचित्तज-
 सेवोपदिश्यते श्रीमदाचार्यैः । अहन्तारूपस्य देहस्य ममत्तारूपस्य चित्तस्य विनियोगो
 यदा भगवति सर्वशेन भवति तदा तादृश्यहन्ताममताया विपरिणामो भवति, चित्तस्य
 सर्वतः सम्बन्धे निवृत्ते तस्य भगवति स्थितिर्भवति । भगवदीयस्य तदाहन्ताममतापि
 भगवदीया भवति । सा तु न बाधिका, प्रत्युत परमफलसाधिका । देहचित्तस्य भगवति
 विनियोगः साक्षाच्छ्रीमद्गोपीजनवल्लभोपदिष्टप्रकारेण महाप्रतिज्ञारूपसर्वस्वसमर्पणद्वारा
 श्रीमदाचार्यैः स्वशरणगतजीवानां कृतः । तदैव ते जीवा भगवदीया भूत्वा ज्ञाननिष्ठजीवानां
 परमकष्टेनासाध्यं जीवन्युक्तिमक्षावयोधरूपमवान्तरफलमनायासेन प्राप्तवन्तः । एतादृक्
 प्रकारेण चित्तप्रवर्णद्वारा यदा भगवदीयस्य सेवा मानसी आर्षिदैविकी भवति, तदा सा
 स्वतःफलरूपा भवति । तादृशां विरलभक्तानां तु सेवां विना न किमप्यपेक्षितम् । एत-
 देवोक्तं श्रीभागवते 'मधुद्विदसेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गु'रिति । ईदृशी स्वतःफलरूपा
 सेवा केवलभगवदनुग्रहैकलभ्या । अतोस्मिन् ग्रन्थे यत्फलमुच्यते तत्पुष्टिमार्गीयसेवाया एव,
 न केवलमर्थादामार्गीयाया वा केवलप्रवाहमार्गीयाया वा । अत्र श्रीहरिराया वा श्रीमदाचार्यैः
 केवलाया मानस्या एव फलमुच्यते इति विचार्य तस्याः फलत्रयमुक्तवन्तः । श्रीपुरुषोत्तमाः
 तनुजचित्तजसहितमानसीसेवायाः फलमुच्यते इति विचार्य तस्याः फलमुक्तवन्तः ।
 केचित्पुष्टिपुष्टिपुष्टिमर्वादापुष्टिप्रवाहसेवायाः क्रमेण फलत्रयमुक्तमार्गीयैरिति वदन्ति । सर्वैरपि
 सिद्धान्तमुक्तावलीप्रोक्ता सेवोपन्यस्यते । श्रीमदाचार्याणां वाचा निगूढार्थत्वात् विचरण-
 कारणां भिन्नभिन्नाधिकारवत्त्वात् यादृशोधिकारस्तादृशी स्फूर्तिरिति सर्वेषां मतानामाचार्या-
 शयानिरुद्धत्वात् सर्वेषामनिरोधस्तु सिद्ध एव । अयं सेवामार्गस्तु केवलप्रेमप्रधानः,
 नैवान क्रियाया वा ज्ञानस्य प्राधान्यम् । भगवद्भाववता सर्वेषामत्राधिकारः । एतादृशी-
 पुष्टिमार्गीयसेवायाः फलत्रयमुच्यते, उत्तममध्यमसाधारणभेदक्रमेण । तत्रोत्तमायाः फलम-
 लौकिकसामर्थ्यं पुष्टिपुष्टे' । सायुज्य मध्यमायाः पुष्टिमर्वादायाः । सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठा-
 दिषु साधारणायाः पुष्टिप्रवाहायाः । जयगोपालभट्टास्तु एतत्क्रमं नैवागीकुर्यन्ति । तेषां
 मते तु सायुज्यमेव परम फलम्, अलौकिकसामर्थ्यादि गौण फलम् । लक्ष्मणभट्टास्तु
 अत्यन्तरगान्तरगच्छिरगानां सेवानां क्रमेण फलं दर्शयन्ति ।

अलौकिकसामर्थ्यम्;—भगवता सहगामादिसामर्थ्यं मुल्यानामिति श्रीकृत्याण-
 राया । अलौकिकभजनानन्दानुभवे स्वरूपयोर्यतेति श्रीगोपेश । श्रीमद्भक्त्योक्तरीत्या इतर-
 प्रमाणामोचरमितरसाधनाप्राप्य सर्वत्रयसामर्थ्यकलम्यभजनानन्दानुभवलक्षणमिति श्रीदेवकी-

द्वयसप्तम्यां प्रादुर्भूता इति केपाक्षिगत उज्जामनगरस्थधीमदनमोहनलालमन्दिरस्थधीमुबोधिनी-
 छेतेतिधीतो निरद्वयैषयास्ताक प्राङ्गम् । भाषासाग्नेयापि निधीयते यत् धीमुबोधिनीलेखकत्रि-
 रैषेय टीका लिखितेति । तेषापरुस्य तेषां धीमुबोधिनीयुसारिण्याप्यन तदेव शाययति । एतेन
 गीतातपस्वीपिकाकारा धीवल्लभा धीमुबोधिनीलेखकृत्तश्च धीवल्लभा उमे भिन्ना, यदि गीता
 तपस्वीपिकाकारा धीवल्लभा धीदेवपीनन्दननन्दना एव स्युरिति । पञ्चमगृहे द्वौ धीवल्लभौ
 प्रादुर्भूतौ । तयोरेक धीदेवपीनन्दननन्दन १६७३ मार्गशीर्षगुरुसप्तम्यां प्रादुर्भूत । अन्यश्च
 धीविठ्ठलरायसुतः १७२९ कार्तिककृष्णद्वादश्यां प्रादुर्भूतः । स तु धीपुष्टपोत्तमदवांवीन इति
 न स लेखकृत् । जामनगरस्थधीमदनमोहनलालमन्दिरस्थधीमुबोधिनीलेतेतिधीतो शायते यदिसे
 धीवल्लभा काकाश्रीवल्लभजीतिप्रसिद्धा धीविठ्ठलेशसूनव । तत्र धीपुरपोत्तमात् प्राङ्कालीन
 धीविठ्ठलेशसूनव कोपि धीवल्लभ पञ्चमगृहे प्रादुरभूत् । तस्मात् धीरघुनापचदयस्य कथापि
 धीवल्लभस्य लेखकत्वेन नैव समीचीनम् ।

७ सप्तम धीमदपुरुषोत्तमानाम् । धीमदाधार्यत पुरुषगणनया सप्तमीं सत्तयां विशुषयन्तो
 भाद्रपदगुरुदशम्यामेकादश्यां वा १७२४ वर्षे प्रोज्जता । तेषा विषयन शास्त्रीयमाचार्योत्तमत्वरु-
 रपत्तिति प्रतिभाति । विदोपतक्षेपां परिप्रविज्ञासुमि पुष्टिभक्तिसुपेतिनासिकपत्रिकाया पञ्चमवर्षस्य
 गृहीयाको दृष्टव्य । यावत्प्राप्य बाह्यमान्तर वा तेषां परिप्रादिक्रमस्सामिल्लैव तिथेशितमिति नात्र
 पुनरनुयते ।

८ अष्टम व्याख्यान केपाक्षिद्रोस्वामिनाम् । इदं व्याख्यान धीपुरुषोत्तमानुसारिष्ठोक्तान्वय
 मनुसरति ।

९ नवम व्याख्यान लालुभट्टानाम् । केचिदाचार्यज्ञातिजनान्मैलगदेशीया विद्वांसो ब्राह्मणा
 धीमद्विठ्ठलेश्वरप्रभुचरणौकुले समानीता । तै सह धीमत्प्रभुचरणे कन्यादानव्यवहारो रक्षित ।
 एनादशरोपु ब्राह्मणेषु द्वौ भातरी गोविन्दकृष्णभट्टौ बभूवतु ययामंतिनी श्रीरुविमणौ धीमत्प्रभुचरणे
 स्वपक्षिवेन स्वीकृता । आत्रेयापल्लवविश्वनाथस्य पुत्री हि एतौ । विश्वनाथभट्टवश्येपु कश्चिन्मप्रुष्टन
 भट्टो बभूव । तस्य मधुसूदनभट्टस्य सूनव एते लालुभट्टोपनामवालकृष्णदीक्षिता । संप्राप्तसवार्ई
 जयसिंहस्थाभिता । सवार्ई जयसिंहस्तु सवत् १६८८ वर्षे प्रादुर्भूत, १७२६ वर्षे पञ्चत्वं गत ।
 नयोस्मिन्समये लालुभट्टा विधमाना आसन् । प्राय धीमद्रोस्वामिना दुहितृत्तो वश्या भट्टा इत्युच्यन्ते ।
 लालुभट्टा अपि तथैव । गास्वामिधीनिरिपारिणा सिप्या । तेषामनेकप्रथा दृष्टान्त्रिखिता दृश्यन्ते ।
 तथा लेखनशैली तु सरला पतते । तस्मात्कव्यमस्मिन् व्याख्यानेपि प्रकटीभवति । अयुमाप्यनिगुडार्थ
 प्रकाशिकाधीमुबाधिनीयोजनानिबन्धयोजनासेवाकौमुदीनिर्णयणवप्रमयरत्नागवयोदशप्रन्थनियरणादयो
 बहवो ग्रन्थालया प्रकाशकत्वेन मनोक्षते ।

१० दशम व्याख्यान मठपताजयगोपालभट्टानाम् । एते चिन्तामणिदीक्षितस्य सूत्रव । ते
 धीमत्प्रभुचरणधीविठ्ठलेश्वरद्वितीयकुमारधीगोविन्दरायज्येष्ठपुत्रधीकल्याणरायाणा सिप्या । स्वकृत
 तैत्तिरीयभाष्ये बहिमुत्सुगुणवसे च स्वपरिचयमेव वारयन्ति । प्रणमामि हरिं धीमद्वत्तभाचार्यरुपिणम्,
 धीविठ्ठलेश्वराप्याश्च प्रभून् स्वाभीष्टसिद्धये । धीमद्रोकुलनारायन् धीमन्कल्याणरायगुरुचरणान् ।
 नामनिवेदनदान् प्रणमामि सहसुहृद् प्रभ्या । तैलगवज्वचिन्तामणितनयो मठपतिचविलयात् ।
 जयगोपाल उपानयनात्प वितनात् तैत्तिरीयाणाम् ॥ धीमद्वत्तभाविठ्ठलेश्वरहरिं धीगोकुलेश्वरप्रभून् । नत्वा
 भक्तिपथप्रचारचतुरान् श्रीकल्याणरायान् गुरुन् । तातप्राष्टपदानुज्ञातयुगल भूतावा च सर्वोदत कुर्वे
 प्रणमह बहिमुत्सुगुणवनाग्निपेणवा । तैलगभरणधीन्वि तामनिदाक्षितगजानेन । जयगोपाल

कृता कृतिरेवा चन्द्रतार्कं जयतात् ।' भट्टेषु इमे लालुभट्टानामपि प्राञ्चः । अद्यापिपर्यन्तमज्ञातपूर्वा हि ते । पं. गङ्गालालेखेऽपि तेषां न किमपि विद्यते । परन्तु एतेषां वैदुष्यं तु निर्विवादम् । बहयोपि कृतयस्त्रेयामुपलभ्यन्ते । तैत्तिरीयभाष्ययदिर्गुल्लसुखसर्वसयित्त्वमंगलकृतकृष्णकर्णाभृतटीकाशुद्धपुष्टि-
मार्गाप्यसेवाद्यः प्रबन्धास्त्रेषां नयनगोचरीभयमिति । सरस्वतिकृतसंगीतसुप्रदीकायाः पत्रद्वयं सनमुस्तरा-
मैयुजरातीपत्रदीपावलयके संवत् १९७० वर्षे मुद्रितम् । भक्तिवर्धिन्या स्वकृतटीकाया उपन्यासोस्मि-
न्नेव सेवाफलम्यालयाने सैः कियते । सुषट्कोपनिषद्भाष्यमपि सैः कृतमिति सम्भाव्यते इति वदन्-
तैत्तिरीयभाष्याज्ज्ञायते । सेवाफलम्यालयानमपि तेषामतिरसिकं वर्तते । एतैरस्य व्याख्यानस्यान्तिम-
पथाणि स्वकृतविवरणमेकवारं समाप्य पुन श्रीहरिरायादिमतखण्डनाय पञ्चाङ्कितानि । तेषां परमत-
खण्डनं नास्माकं सन्तोषप्रदम् । एतदमे स्पष्टीकरिष्यते ।

११. एकादशं प्यारवानं मटेऽलङ्कणमहानाम् । इमे लङ्कणमहा- मटेऽधीनाथमहत्पुत्रगोपी-
नाथमहत्सूत्रव । इमे तु सर्वेषां अज्ञातपूर्वा । वद्यपि ग्रन्थान्ते तेषां धाम न विद्यते तथापि तत्पुस्तकोपरि
'धीनाथमहत्स्य पुत्रधीगोपीनाथमहत्स्य पुत्रलङ्कणमहत्स्य' इति दृश्यते । एतेषामन्येषु ग्रन्था. प. गङ्-
गालालम्लिशितसंग्रहे दृश्यन्ते । तथापि ग्रन्थान्ते इतिधी समाना ।

१२ अथ विवरणस्य कर्तृनाम न विद्यते । अत एवास्माभिरन्ते मुद्रितम् । जयगोपालकृततदुपन्या-
सादिने केपि प्राचीना इति निश्चीयते । प्रसिद्धानु सेवाफलटीकासु धीमजनाथकृता टीका नास्माभिरप-
लब्धा । जामनगरे श्रीमद्भक्तमोहनलालमन्दिरस्थपुस्तकसंग्रहे तस्या पुनत्रप्रय विद्यते, परन्तु तन्म-
न्दिराधिष्ठान्धीमनिरुद्धाना कृपाऽभावात् सा टीका नास्माकं मिलिता । तेषु पत्रद्वयमपि प्रेषित परन्तु-
चरद्वयायापि तेषामवकाशो न मिलित इति प्रायुत्तराभावाद्बुद्धीयते ।

अस्मिन्मुद्रणे त एव पाठा रक्षिता ये केपुषिदपि आदर्शपुस्तकेषु विद्यन्ते । कुत्राप्यादर्शपुस्तकेऽनु-
पलभ्यमान पाठस्तु, यत्रापि आदर्शे विद्यमान पाठोऽस्माकमसमीचीनो भात, तथापि नैव निवेशित .
यतन्येव करणे ऋचिन्महाननयो भवति । केनचित् कुत्राप्यादर्शपुस्तकेऽविद्यमान सावग्रहपाठनिवेशने-
नाशुद्ध कल्पित. पाठो निवेशित, टीकाकारान् प्रति महानश्यायस्य कृत । प्रार्थयामहे च साप्रदायिक-
ग्रन्थमुद्रणकर्तार प्राचीनादर्शे विद्यमानानेष पाठान् मुद्रणे रक्षन्तु, न तु स्वमन कल्पितान्, यतो
य पाठोऽस्माकमशुद्ध प्रतिभाति स अन्येषामलन्तवरीचीनो यातीति ।

अन्य यावन्प्राच्यटीकासमेतमेवावलम्ब्यस्य मुद्रणव्ययो गोस्वामिचर्यधीनीबनलाले महर्षे इत
इति तेषामुपकृति वय सविनय स्मराम, प्रार्थयामहे चान्येषु गोस्वामिन धीमन्तो विष्णवाश्च पुनाननु-
बुधुंसि । एतेषा गोस्वामिचर्याणां कृपयैव सेवाफल द्वादशविवरणयुत मुद्रित साप्रदायिकाणां सुगम
भविष्यतीति ।

मार्गशीर्षकृष्णनवमी,
धाम, प्रभुचरणशब्दोत्सव

}

मूलचन्द्र तेलीवाला ।
धैर्यलाल सांकलीया ।

नन्दनाः । भगवतः कोटिसूर्याभिरूपस्यात्यन्तिकफलदित्सायां सर्वलीलाविशिष्टस्य प्रभो-
हृदयप्रवेशे तदनुभवसामर्थ्यमिति श्रीहरिधनचरणाः । सर्वाभोग्यसुधेतिश्रीवल्लभाः । पर-
प्राप्तिविवरणश्रुत्युक्तभगवत्स्वरूपानुभवे 'प्रदीपवदावेश' इतिसूत्रोक्तरीतिकभगवदावेशजा
योग्यता यया रसात्मकस्य भगवतः पूर्णस्वरूपानन्दानुभव इति श्रीपुरुषोत्तमाः । तदनु-
सारिणश्चानुक्तत्वात् तथैव । साक्षात् श्रीवृन्दावनादौ श्रीकृष्णस्वरूपदर्शनस्पर्शनादिकृति-
क्षमत्वमितिलात्प्रमत्ताः । कस्यचिदेतत्सङ्घाते कस्यचिदेतदेहपातोत्तरं वृन्दावनादिष्वलौकिक-
सङ्घातेन प्रियतमभगवत्सङ्गम इति जयगोपालमत्ताः । भगवत् इवालौकिकमेव ज्ञान-
क्रियाभ्यां सामर्थ्यं जगद्भ्यापारवर्जमिति लक्ष्मणमत्ताः । साक्षाद्भगवत्सम्बन्धरूपम्, हीन-
जीवस्योत्तमभगवता सह साम्येन रती रसोद्बोधश्चेतिविवृतिटिप्पणीकाराः ।

इदं त्ववधेयम् । अत्र सर्वेषां टीकाकाराणां मतानि प्रायो भिन्नानीत्यतोनीयते
यद्वाचार्यैर्न किमपीदमित्यतया विवक्ष्यते । जयगोपालमत्तं विना सर्वेपि टीकाकारा
अलौकिकसामर्थ्यमुत्तमफलत्वेन मन्यन्ते । नैवेदं फलं जीवकृतिसाध्यम्, परन्तु केवल-
भगवदनुग्रहैकसाध्यम् । ब्रह्मानन्दात् समुद्भूत्येदं फलं भगवता वृतेषु विशेषकृपया दीयते ।
कीदृशं तद्दानं तन्नित्येत्तु नैव शक्यते, भगवदिच्छाधीनत्वात् तस्य । एतत्फलं तु गोपवधू-
सदृशस्वतन्त्रप्रेमालम्बकोत्कटभक्त्या परमसंतुष्टेन भगवता विशेषानुग्रहख्यापनाय क्वचिद्
दीयते । कोटिब्रह्माण्डादीनामखिलनियामकः सन्नप्यत्र खेच्छया भक्तमनोरघपूरणाय
भगवान् तद्वदयो भवति । अखिलं जगत् खेच्छया लीलया नर्तयन्नपि परमाद्रीर्द्रो भूत्वा
भक्तमनोरयानुसारेण तद्वशः सन् स्वयं नृत्यति भगवान् । सर्वज्ञो भूत्वापि यशोदायाः
सन्निधौ महामुग्धवत् तिष्ठति । भक्तमम्बरीपं स्वयं रक्षन्नपि भक्तापराधक्षमाकरणाय
स्वस्याशक्तिं कथयन् दुर्घाससं प्रति भक्तवश्यतां प्रकटयति । अखिलं विश्वं स्वमायया
घन्धयन्नपि श्रीमन्मातृचरणानां भक्त्यतिशयेन खेहातिशयेन तद्वशः सन् स्वयं श्रीमद्यशोदया

१ ननु किमर्थं भगवानेतावद्वृत्त्वा घन्धनरूपो जात इति चेत् तत्राह एवमिति । एवमपकारिणि
लोके स्वकीयवमात्राभिमानेनापि एतावतीमभूत्पूर्वा कृपां करोतीति स्वस्य भक्तवश्यता प्रदर्शिता । प्रदर्शन-
स्यापि प्रयोजनमाह इतिनेति । स हि सर्वदुःखहर्ता तत्प्रतिष्यर्षतसम्बन्धेन दुःखहर्तृर्येतिप्रतीमान् सत्सार-
रिक्त्य स्यादिति सम्बन्धार्थकृपालोत्तं प्रदर्शयति । कृपा च सर्वधर्मधर्मिन्यो बलिष्ठेति वक्तुं भक्तवश्यता-
वाप्येर्नबोधा । ननु भक्त्या चेद्धर्मधर्मिणागुपमदं कियते तदा स्वरूपस्य प्रच्युतत्वात् फलाभावात् प्रदर्शन-
मपि न्यर्थं स्यादित्याशङ्क्याह स्वयंज्ञेनापीति । स हि स्वया एव, न केनाप्युपमदं । धर्मेण फलाभावात्पर-
मुत्तमम् । एतत्स्वरूपमाह इत्यनेनेति । नन्वेवं कृते अन्यो महान् मन्त्रादिर्न गत्यते, ततो माहात्म्यस्य
न्यूनभावात् तथा फलव्यमित्याशङ्क्याह यत्सेदं धेधरं वद्य इति । तत्तदभिधाद्वेदवतासहितं सर्वं यस्य
जगत् करो । अतो नाग्यभावन केनपिदपि कर्तुं शक्यमिति भावः । नेम त्रिभिः चो न भवो न धीरभ्यंगधयथा
प्रपादं वेभिरे गोपी वत्तत्राप विमुक्तिदात् । एव तमनोरगे तिष्ठे- ।

दासा षडो भवति । ईदृशं किञ्चित्प्रकारकं सामर्थ्यं यत्र भक्त्यतिशयेन प्रेमातिशयेन भगवान् भक्तवश्यः सन् तत्कामान् पूरयति तत्र प्रकटीभवति । इदमेवोत्तमं फलं श्रीमदाचार्याणामभिप्रेतमिति नान संशयः । श्रीमद्रोकुलनाथानां श्रीमत्पुरुषोत्तमानामप्ययमेवाभिप्रायः । 'सोश्नुते' श्रुतिरपि भक्तस्य निविधरसभोगचतुरेण रसेश्वरेण भगवता सह भोगं निरूपयन्ती भक्तस्य प्राधान्य भगवतो गौणत्वं स्पष्टमेव कथयति । प्राप्तं फलं यावत्स्पर्शन्तं स्वाधीनं न भवति तावत्स्पर्शन्तं तस्य फलत्वमपि न प्रकटीभवति । रसशास्त्रेषु रसाधिक्ये पुंभावः प्रतिपाद्यते । अर्थाद्भगवतो गौणत्वं भक्तस्य प्राधान्यं यत्र भवति तत्रैवालीकिकसामर्थ्यं प्रकटीभवति । स्वस्य स्वातन्त्र्यं पालयन् भक्ताधीनो भूत्वा तन्मनोरथान् पूरयन् स्वस्य निरुद्धधर्माश्रयत्वं महामाहात्म्यं च प्रकटीकुर्यन् भगवान् श्रीकृष्ण एव परमफलरूपोऽलीकिकसामर्थ्यरूपः श्रीमदाचार्याणां हृदयशेषे नित्यं रमते स्म । बहिरपि श्रीमदाचार्याणां सन्निधौ अखिललीलाविशिष्टो भगवान् कृष्णो रममाणः प्रकटतया भक्तवश्यतां प्रदर्शयन् निरन्तरं स्वदण्डवियोगो भवति । एतादृशं भगवतः परम फल वाञ्छानसामोचर सत् शब्दैः कथं प्रतिपादयितुं शक्यते । अनुभवैक्येयत्वात् तस्य । अत एवाचार्यैः तादृशनिगूढत्वप्रदर्शनाय 'अलीकिकसामर्थ्य'-मिति परमनिगूढशब्दप्रयोगः कृत इति प्रतिभाति । अत्रापि सर्वेषां टीकाकाराणाम-निरोधस्तु अनुक्तसिद्ध एव । सर्वेषां भिन्नाधिकार्यत्वात् भगवतः स्वतन्त्रेच्छत्वाच्च कीदृशं दानं भगवान् करिष्यति तत्र ज्ञातुं शक्यम् इति । श्रीपुरुषोत्तमचरणैस्तु अनिरोधप्रकारो-तिसुन्दरतया प्रतिपादितः, अतस्त्वं आस्माभिरत्रानूद्यते । एतत्सर्वं भगवतो नानाविध-प्रवेशहेतुकत्वाद्भगवदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वादुपपन्नमिति ।

सायुज्यम्;—सह युनक्तीति सयुक्, सयुजो मानः सायुज्यम्, सहभावः गोपाना-मिनेति श्रीकृत्याणरायाः । भक्त्या मामभिजानातीत्युक्तो भगवत्स्वरूपे लय इति श्रीगोपेश-श्रीदेवकीनन्दनश्रीपुरुषोत्तमाः लालभद्राश्च । निवृत्तिटिप्पणीकारा अपि तथैव । संयोगानु-भवसामर्थ्यम्, भगवता सह सततस्थितिरैव सार्वदिकसयोगरसानुभव इति श्रीहरिधन-चरणाः । सोश्नुत इति श्रुत्युक्तमहाभगेन भगवता सह भोग इति श्रीरहभाः । शुद्धपट्टिमार्गि-भेदगम्यन्धघटित केवलेन हि भावेनेत्यादिवाच्यैरत्युत्तमकृपया ब्रह्मभावाज्ञानवैराग्यनिरपेक्ष-प्रेमासक्तिन्यसनरूपकेनलभान्ननिभगवत्सहभावनिगिष्टमार्गकालिकमर्कामभोगरूपमिति जयगोपालभट्टः । उभयविधमपि सायुज्यमितिलक्ष्मणभट्टः । तथा चान द्विविध सायु-ज्यम् । रूढार्थकं यौगिकार्थकं च । तत्रार्थं ज्ञानमिश्रितानामेकत्वरूपम्, अभेदरूप-भेदात्यन्ताभावरूपमात्मनैक्यम् । शुद्धभक्तानामपरम्, भेदतत्त्वदत्तसत्त्वित्तत्त्वदानन्दानु-भवात् । पूर्वं देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि विहायेह स्वात्मनैव केवलेन तदानन्दानुभवः,

अपरत्र सदैव तैरिति सार्थकतैपाम्, अन्यत्र नेति । अद्यापि पूर्ववदविरोधस्तु सिद्ध एव ।
 व्याख्यानस्य प्रकारद्वयम् । एक शास्त्रीयम्, अपर भक्तिमार्गीयम् । श्रीहरिरायादयो
 भक्तिसरणीमनुसृत्य यौगिकार्थक सायुज्यमङ्गीकुर्वन्ति । श्रीपुरुषोत्तमादयः शास्त्रीयसरणी-
 मनुसरन्तो रूढार्थक सायुज्यमङ्गीकुर्वन्ति, तथापि यौगिकार्थसायुज्यग्रहणे नैव तेषां
 प्रद्वेष, प्रत्युत सम्मतिरपि वर्तते, यत तैरपि निबन्धे 'आदिमूर्ति. कृष्ण एव सेव्य.
 सायुज्यकाम्यये'त्यत्र तथैव सायुज्यशब्दो यौगिकार्थे व्याख्यात । श्रीपुरुषोत्तमरीत्या
 विचार्यमाणे इदं सायुज्य पुष्टिमर्यादाया फल भवति । श्रीहरिरायरीत्या विचारिते तु
 इदमपि फल मानसा शुद्धपुष्टेरेवेति भेद । अत्रेदमपि ध्येयम्, शास्त्रीरित्या जीवस्य
 प्राप्यफलस्य विचार्यमाणे सायुज्यपर्यन्तं शुद्धिरारोहति, तदतीते अलौकिकसामर्थ्ये तु न ।
 अत एवाचार्या प्रायः सर्वत्र फल निरूपयन्त सायुज्यशब्दं प्रयुञ्जन्ति । स्वस्मिन् लयं
 कारयित्वा अनुग्रहविशेषेण पृथगाविर्भावयित्वा यदा फलं दातुं प्रभुरिच्छति, तदा भक्तस्य
 तदनुभवोपि नैव स्वरूपेण, परन्तु भगवत्कृततत्त्वप्रवेशहेतुकं, प्रभुरेव तस्यानुभवात्मा तदैव
 भवति । तस्यामवस्थाया यत्र सर्वोपि व्यवहारो भगवदीय एव, आत्मत एव इदं सर्वम्,
 तत्र द्वैतद्वैतयोः प्रश्नो नैवोत्तिष्ठति । तथापि भेदेनानुभव विना भक्तिसस्यानुभवो सम्मा-
 न्यतो न भवतीति विचार्य श्रीगोकुलनाथश्रीहरिरायादिभिर्द्वैतविशिष्टाद्वैतपक्षं क्वचिदुप-
 न्यस्त । वास्तव श्रीमदाचार्यप्रतिपादितं शुद्धाद्वैतमेवाखण्डितं तेषां मते भवति ।
 तथापि तत्पक्षमनुसृत्य तैः सायुज्यशब्दस्तथैव यौगिकार्थे व्याख्यात । अतो न कुत्रापि
 विरोधः । अत्र जयगोपालमहास्तु श्रीहरिरायवत् सायुज्यशब्दं यौगिकार्थकमङ्गीकुर्वन्त-
 सायुज्यमेव परमफलमलौकिकसामर्थ्यादि गौणफलमिति मन्यन्ते, तत्रैवास्माकं मन-
 सायाति । विप्रयोगस्य परमफलत्वं सयोगस्य मध्यमफलत्वं यन्श्रीहरिचरणैः प्रोक्तं तदपि
 परमाग्रहेण खण्डयन्ति । परन्तु तत्रापि दृष्टिभेदत एव विचारवैषम्यं भासते । श्रीहरि-
 रायादयः विप्रयोगमेव परमफलत्वेन मन्यन्ते, सयोगादयस्तेषां मते व्यभिचारिभावाः,
 विप्रयोगस्तु स्थायिभावः । श्रीमत्पुरुषचरणाः सयोग परमफलत्वेन मन्यन्ते, तत्र सयोग-
 स्थायिभावः, विप्रयोगादयः व्यभिचारिभावाः । आचार्यास्तु 'आन्तरं तु महाफल'मित्यत्र
 विप्रयोगस्य महाफलत्वं दर्शयन्ति । अत्र निरोधस्तु नैवाणुरपि । आचार्याणां
 विप्रयोगरूपत्वात् श्रीमत्पुरुषचरणानां सयोगरूपत्वादुभयरूपेण प्रभु फलरूपेण उभय-
 द्वारा प्रकटीभवन् स्वीयानां मनोरथान् पूरयिष्यन् निजा सुधा वर्षयिष्यति कथं वेति
 न ज्ञातुं शक्यते । अतः सर्वत्र प्रतिक्षणनूतनत्वात् रमणीयमेव । किञ्च, रसरूपं प्रभुरेव
 परमं फलम् । रसस्योभयदलनिष्ठित्वात् सयोगरूपेण विप्रयोगरूपेण वा फलत्वं तस्य
 नैव व्यभिचरति । यम् निष्ठा विप्रयोगे भवति स तं प्रधानीकृत्य सयोगं मध्यमफलत्वेन
 मन्यते, यथा श्रीहरिरायादयः । यम् निष्ठा सयोगे भवति स तं प्रधानीकृत्य विप्रयोग

मध्यमफलत्वेन मन्यते, यथा जयगोपालादयः । श्रीमदाचार्यास्तु भयदलविशिष्टमपि प्रभुस्वरूपं परमफलरूपं भवन्तानां निप्रयोगस्य कचित्प्राधान्यं दर्शयन्ति, कश्चित्प्रयोगस्य । उभयस्य परमफलत्वे तु नैव सन्देहः, तथापि यादृशं भगवता दानं तादृशी रुचिरत्पद्यते । अतो भगवतो रसरूपत्वात् तस्य च भावनिभानुभावैः पुष्टत्वात्, स्वपूर्णप्राकट्यकरणायैवात्र विविधमतप्रदर्शनं भगवता स्ववृत्तभगवन्दीयद्वारा कृतमिति प्रतिभातीति सर्वं समञ्जसम् ।

सेवोपयिकदेहो वैकुण्ठादिषु,—सेवायाः क्रियमाणायामेवानुग्रहविशेषाभावात् साक्षात् सेवानुपयोगे अन्यैः तादृशसाक्षाद्रमानुभवकर्तृभिः क्रियमाणायाम् सेवाया उपसमीपे योगसम्बन्धतद्बन्धुश्यादिशरीरप्राप्तिरिति श्रीहरिधनचरणा । देहेन्द्रियासुहीनपुरुषस्त्रीपशुपक्षिवृक्षाद्याकृतिः सस्थानविशेष इति श्रीपुरुषोत्तमचरणा । व्यापिवैकुण्ठादौ पार्षदादिदेहप्राप्तिरिति लाल्भट्टा । 'गोकुलचनवैकुण्ठमिति कृष्णोपनिषदुक्ते प्रपञ्चातीतभगवन्निवासस्थानं व्यापिवैकुण्ठान्तर्गतं बृहद्भनन्दीश्वरचोच्यते । आदिपदेन श्रीवृन्दावनश्रीमद्गोवर्धनादि च । तत्र सायुज्यफलादानेधिकारसेवोपयिकदेहरूपो वायवा भवतीत्यर्थः । वैकुण्ठान्तरस्य शुद्धपुष्टिमार्गायिफलरूपभगवन्नोक्तत्वाभावाद् गोकुलस्यैव तादृशभगवन्नोक्तत्वाद् वैकुण्ठपदेन श्रीगोकुलम्, आदिपदेन वृन्दावनादिकं चामिप्रेतमिति जयगोपालभट्टा । अप्राकृतभूतभोतिकृतृणलतौपधिवृक्षपशुपक्ष्यादिदेहैः अधिकारात्मा, तत्र सेवोपयोगी बोध्यः, वैकुण्ठपदेन मुख्येऽमुख्ये च । आदिपदेन स्वर्गादिषु निष्णो स्थानेष्वपि तथेतिलक्ष्मणभट्टा । अलौकिकदेहवयोगुणादिकमिति विवृतिरिति पिप्पीकारा । रमाप्रार्थितवैकुण्ठक्षीरोदश्वेतद्वीपेषु भगवत्सेवायोर्यदेहप्राप्तिरिति श्रीगोपेशः । तथैव श्रीदेवकीनन्दना । आदिपदेन श्रीमधुरावृन्दावनादिकं प्राञ्जमिति श्रीवल्लभा । आदिपदेन मूलोक्ते उद्धवादीनामिव गन्वादीनामिवेति वा सेवोपयोगिदेहप्राप्तिरिति श्रीकल्याणराया । अत्रेदं ज्ञेयम् । श्रीगोपेशः श्रीदेवकीनन्दना क्रमेण मर्यादाभक्तेः प्रावाहिकभक्तेः फलवदन्ति, अन्ये तु पुष्टिभक्तेः साधारणभक्तेर्वा फलवदन्तीति दृष्टिभेदतस्तास्तम्यम् ।

उद्वेगः—सेवायाः क्रियमाणायामन्यत्र गमनेच्छादिरिति श्रीकल्याणराया । मनसः सेवायाः क्रियमाणायामुत्कृष्टो वेगः, सर्वथा तनास्थिरता चादिर्गुण्यमिति श्रीहरिधनचरणा । मनसोऽन्यपरतेश्रीः लभः । उच्चैर्भयं चलनं वा, सेवायाः क्रियमाणायाम् दुष्टादिभ्यो मनसो भयपापादिना बुद्धेशान्चल्यमिति द्विप्रकारकमुद्वेगः श्रीपुरुषोत्तमा आहुः । भगवत्सेवासगमे चित्तक्लेशप्रदशान्चल्यविशेष इतिलाल्भट्टा । अन्ये तु विशेषं न कथनाहुः । अयमुद्वेगः सेनायाः प्रतिबन्धरूपत्वात् त्याज्यः । आचार्याः प्रथममुद्वेगादित्रयसंसाधनत्याज्यत्वेनोक्तत्वात् तस्याज्यत्वात्त्याज्यत्वनिर्भागं च कृत्वा पक्षाह्वयो साधारणप्रतिबन्धलौकिकभोगयो त्याज्यत्वं निरूपितवन्तो न उद्वेगस्यापि, अत उद्वेगस्य कश्चिद्विन्न एव प्रकारोऽभिमत इति निचार्यः श्रीपुरुषोत्तमान्तम्या अनुक्ते कारणं दर्शयन्त उद्वेगस्तामुकाशेन अत्याज्यत्वमपि सूचयन्ति ।

प्रतिबन्धः—सेवासमये लौकिकवैदिककार्यान्तरासक्तिरन्यकृतान्तरायादिश्वेतिश्री-
कल्याणरायाः श्रीहरिरायाश्च । वेदनिन्दा म्लेच्छवलिष्ठवर्द्धिर्मुखजनितोपद्रवश्चेतिश्रीगोपेशः ।
कायस्थान्यपरतेतिश्रीवल्लभाः । तत्प्रतिकूलो निग्रह इतिश्रीपुरुषोत्तमाः । सेवायां रुची
सत्यामपि तत्समये लौकिकवैदिककायिकादिकार्यासक्तिरूप इतिश्रीपुरुषोत्तमास्तदनुसारि-
णश्च । प्रतिबन्धकं तूदासीनं दुःखसुखे प्रयच्छतीतिलात्मद्वयः । अयं प्रतिबन्धो द्विविधः ।
साधारणो भगवत्कृतश्च । साधारणो बुद्ध्या त्याज्यः । भगवत्कृतस्तु न । भगवत्कृत-
प्रतिबन्धे तत्त्वनिर्धारिविवेकौ साधनरूपौ, तेन फलं शोकाभावः, न मुक्तिः । विशेषस्तु
स्पष्टः, टीकासु दर्शितत्वादत्रानुपयोगित्वाद् विस्तरभयाच्च नानूयते । तत्त्वनिर्धाररूप
आसुरत्वनिश्चयः, भगवान् फलं न दास्यतीति विवेकश्च स्पष्टतया टीकाकारैरनूदितौ ।

भोगः—लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधः । लौकिकस्त्याज्यः । लौकिकभोगस्तु गृह-
त्यागं विना न सिध्यतीत्यतो 'भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग' इत्याचार्यै-
रुक्तम् । अलौकिकभोगस्तु ग्राह्यः । भगवन्निवेदितानां भोगोऽलौकिकभोगः । अलौकिक-
सामर्थ्यमिति प्रायः सर्वे वदन्ति, श्रीवल्लभास्तु प्रथमफलं सेवोपयोगिदेह इति वदन्ति ।
भगवत्स्मरणसहितकृतभोगस्तु नैव धाधकः ।

एवं सेवायाः फलं धाधकं चोक्त्वा आचार्याः स्वोक्तेः सर्वदा भावनगुण-
दिशन्ति । यद्यपीयं भावना न स्वकृतिसाध्या तथापि कर्तव्येति तथैव सर्वैरनूयते ।
गुणक्षोभेपि तद्भावनमेव कर्तव्यम्, अन्यत् सर्वं मनोभ्रमः । गुणक्षोभशब्दस्तु टीका-
कारैर्द्विधा सामान्यतो व्याख्यातः । केचिदश्रुपुलकादिक्षोभ इति वदन्ति, अन्ये तु
सत्त्वरजस्तमसां क्षोभ इति वदन्ति । उभयथापि भगवच्छरणभावनमेवाचार्याणां स्पष्टम-
भिमतमिति तु नैव सन्देहः । तदीयैरपि तदेव कर्तव्यम्, फलाविलम्बाय, यतोधुना
जीवानां पुष्टिमर्यादायामेवाङ्गीकारः । यथाहुः श्रीहरिधनचरणाः 'साम्प्रतं तु पुष्टिमर्या-
दायामेवाधुनिकानामङ्गीकाराद्भजनसिद्धिविलम्बसद्भावेन तावत्पर्यन्तं प्रोषितभर्तृकाया इव
फलप्रतिबन्धभावनं सर्वदा कार्यमिति । अत्राचार्यैरुक्तं 'अवश्येयं सदा भाव्या सर्व-
मन्यन्मनोभ्रमः' इति वाक्यं पुष्टिमार्गीयस्याधुनिकस्य कीदृशं कर्तव्यमिति स्पष्टतया ज्ञाप-
यति । सर्वप्रमाणातीतो वाच्यनसागोचरः सर्वैतद्यत्तद्यो भगवान् केनचित्साधनेन प्राप्यते
इति तु नैव वक्तुं शक्यम् । अत एव भगवत्प्रापकत्वेन किञ्चित्साधनं भगवद्भक्तिरिक्तं पुष्टिमार्गं
वर्तते इत्यपि तु वक्तुं नैव शक्यम् । साम्प्रतं वेदमार्गस्य प्रायः उत्सन्नत्वात् सोपि भक्ति-
मार्गस्य पुष्टिमार्गस्याङ्गत्वेनानैव प्रविशति । अतः पुष्टिस्थितो भगवान् मर्यादास्थितसाध-
नैर्नैव प्राप्नुं शक्यते, अत एवोभयथा पुष्टिमार्गस्य निःसाधनत्वं स्पष्टं प्रतीयते । तथापीदं
निचारीयम् । श्रीहरिरायश्रीपुरुषोत्तमादिभिरधुनानवतामद्भ्या प्रचलतीति प्राप्तायते,
मात्रत जीवानां पुष्टिमार्गीयाणामङ्गीकारोपि पुष्टिमर्यादायामिव भवतीत्यपि तैरेवोच्यते ।

तेन यद्यपि जीवैर्भगवत्प्रेरणं विना किमपि कर्तुं स्वबलेन नैव शक्यते, तथापि भगवत्प्रेरणया भगवद्बलेन यच्छक्यं भवति तदवश्यं कर्तव्यम्, स्वनिर्वाहाय प्रोषित-भर्तृकावत् । यद्यपि एतत्फलरूप भावनं भगवत्कर्तृकमेव तथापि एतदेव भगवच्छरण-भावनं कर्तव्यं न तु तूष्णीं स्थेयम् । पुष्टिमार्गस्य भगवद्रूपनाद्भगवतो निरुद्धधर्माश्रयवत्त्वात् तस्मापि तथात्वादसिन् मार्गं भासमानो निरोधोपि त्रिगैवाभास इवालंकाररूप एव । साधन-फलरूपो भगवानेव । तथाहुः श्रीमत्प्रभुचरणा निघन्वे 'भक्तिमार्गं तु भगवान् स्वत एव यदा भक्तेषु सर्वं सम्पादयति स्वीयत्वेन, तदा भक्तः स्वाङ्गीकार सर्वात्मना ज्ञात्वा स्तुत्या-दिषु स्वाधिकारं जानाति ततः स्तौति । अथवा सर्वात्मना स्वाङ्गीकारज्ञानेनान्तरानन्दे पूर्णं बहिरपि सर्वेन्द्रियेषु प्राकृत्यसमये वाचि स निर्गच्छन् स्तुतिरूपो भवती'ति । यावन्ति साधनानि तानि न भगवत्प्रापकाणि, तेषां स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वात् । विशेषस्तु स्वलसकोच्चाद् गुजरानुवादे प्रतिपादयिष्यत इति ।

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

मार्गशीर्षकृष्णनवमा,
श्रीमत्प्रभुचरणप्रान्त्योत्सव

}

मूलचन्द्र तेलीवाला ।
धैर्यलाल सांरुलीया ।

३८ तमे पृष्ठे प्रकाशितसेवाफलविवृतिव्याख्यानागते अधोलिखितो-
शोर्द्धक उपलभ्यते श्रीमन्मथुराधीशप्रन्थागारे (२१०/३) क्रमाकित
सन्दर्भसूच्याम् -

"भगवद्विच्छाभावनभावनं तु श्रीगोपीजनवल्लभो अस्मत्प्रभु पुष्पावगीश्रुतात्मना
स्वयमेवोद्देशादिकं निवार्य यथाधिकारमतद्ग्रन्थाक्ताफलं दास्यति इति मिद्धम् ।

श्रीवल्लभप्रभोर्नामोच्चारणात्प्राप्तबुद्धिना ।
विचारिता मयाप्येषा पूर्वटीकानुसारत ॥

इति श्रीगोस्वामिमथुरानाथात्मजद्वारिकेशन वृत्त. सेवाफलविवृतिप्रकाश. समाप्त
॥ श्रीगोपीजनवल्लभार्पणम् ॥

मिति कार्तिक सुदि ४ सवत्सर १९३५ ।
पुस्तक मथुरादास को लिखन कियो हरिदास ।
मन्दिर श्रीमथुरेश का दडोतिसिला पास ॥

॥ सेवाफलं सविवरणम् ॥

पाशुशो सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।
अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥१॥
फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

सेवाना फलत्रयम् अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्य सेवोपयोगिदेहो^१ वंकुण्डादिषु.

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात् बाधकम् ॥२॥
अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्नैहि ।
यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥३॥
बाधकानां परित्यागो भोगेऽप्येकं तथा परम् ।
निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते तदा ॥४॥

सेवाया प्रतिबन्धकत्रयम् उद्वेगः प्रतिबन्धो भोगो वा. त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः भोगो द्विविधः लौकिकोऽलौकिकश्च. तत्र लौकिकस्त्याज्य एव. अलौकिकस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशति. प्रतिबन्धोऽपि द्विविधः साधारणो भगवत्कृतश्च. तत्र आद्यो बुद्ध्या त्याज्यः. भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धः तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम्. तदा अन्यसेवापि व्यर्था. तदा आसुरोऽपि जीव इति 'निर्धारः'. तदा ज्ञान-मार्गेण स्यात्तव्यं शोकाभावायेति 'विवेकः'.

ननु साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकाशायामाह—

सविघ्नोऽल्पो घातकः स्याद् बलादेतो तदा मती ।

'सविघ्नो अल्पो घातकः स्याद्' इति सविघ्नत्वाद् अल्पत्वाद् भोगस्त्याज्यः—
'एतौ' प्रतिबन्धकौ.

द्वितीये सर्वेषां चिन्ता रथाश्या सत्सारनिश्चयात् ॥५॥

द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्ध ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावाद्यभात् द्वितीय' इति
नत्वाद्ये बाधता नास्ति

आद्यफलाभाये भगवतो दातृत्व नास्ति तदा सेवा नाधिर्दंविफो इत्युक्तं भवति
तृतीये बाधकं गृह्यते ।

भोगाभावस्तदेव सिध्यति यदा गृहपरित्याग

अवश्येयं सदा भावया सर्वमन्यन्मनोभ्रम ॥६॥

तदीयरेपि तत कार्यं पुष्टी नैव विलम्बयेत् ।

गुणसोभेपि दुष्टस्यमेतववेति मे मति ॥७॥

कुसुष्टिरज वा वाचिदुत्पद्येत स वै भ्रम ।

॥ इति श्रीमद्बल्लभाचार्यवरणप्रकटितं सविवरणं सवाफलं ॥

॥ समाप्तम् ॥



॥ सुबोधिन्येकवाक्यतया सेवाफलस्वरूपनिर्णयः ॥

सुबोधिन्यां सेवनास्वरूपम्:

एकगनस गुरुपस्य सर्वेन्द्रियाणा सत्त्वमूर्तो भगवति या स्वाभाविकी वृत्ति सा भक्ति इति. ये देव्या सपदि जाता तेषामपि देवरूपाणि (इन्द्रियाणि) भवन्ति आमुराण्यपि भवन्ति एवस्मिन्नेव गोलके उभयमपि तिष्ठति यानि पुनर्निपिद्धे लौकिके च रज्यन्ते तानि कलाद् विहिते प्रवर्तमानान्यपि न परितुष्टानि भवन्ति इत्यासुराणि तत्र भक्ति देवरेव भवति नासुरे किञ्च तान्यपि कर्मयोगज्ञानादिवहुरूपे वैदिके कर्मणि प्रवर्तमानानि पूर्ववासनायाऽभ्यासात् भवन्ति तेषामपि यदि फलावस्था भवति तदा सत्त्व एव शुद्धसत्त्वरूपे भगवत्स्वरूपे प्रवर्तमानानि स्वभावतो भवन्ति वस्तुतस्तु गुणातीते भगवति स्वाभाविकी वृत्तिरिति भगवन्ज्ञान्तरम्, "मस्तिष्ठ निर्गुण स्मृतम्" इत्यादिवाक्ये सर्वा भगवत सामग्री निर्गुणा मनोपि द्विविध देवा-सुरविभदन तत्रामुर मकल्पविवल्पात्मक नानाभावापन्न मननात्मकमेव .. मनसा तु द्वितीयेन न भाग्यमेव तयामति इन्द्रियाणा पूर्वीकता वृत्ति न स्यात्. अत एव-स्वभावापन्न मनो यस्य तस्यैव भक्ति . अन्यथा तु यथाकथञ्चिन् क्रियमाणा भगवति खण्डशो वृत्तिरक्षयत्वात् बहुभिर्जन्मनि पुष्टि गता अग्निमज्जमनि भक्तिरूपा वृत्ति जनयिष्यति इति न काप्यनुपपत्ति वृत्ति तत्रिच्छता नतु ग्रहणमात्रम् फलरूपे जन्मनि सा अनिमित्ता भवति स्वतन्त्रा, भगवन्निमित्ता वा, भगवत सकाशात् फलानि निमित्तानि. या अनिमित्ता सा भक्ति भवतीत्युत्तरेण सम्बन्ध, किञ्च सा चेद् भागवती भवति, साधाद् भगवत् विषयीकरोति भगवद्भाव वा पङ्गुरूपता-मापद्यत मुक्तेस्तापुजयादपि इय भक्ति गरिष्ठा (सुबो. १।२५।३२-३३)

सुबोधिन्याम् अलौकिकतामर्प्यस्वरूपम्:

सादृशभक्तानां शान्तिनामिवाग्निमहृत्पमाह प्रकारद्वयेन. तत्र प्रथममाह त्रिभिर्नेका-स्मतामित्यादिभिः. जीवता साधनावस्था पत्नरूपा तथा परा सामुग्य च तृतीय स्यादती नोत्क्रान्तिप्रापण तत्र प्रथम भक्तानां साधनावस्थामाह-

मेकात्मता मे स्पृहयन्ति केचित्
मत्पावसेवाभिरता मदीहा ।
यन्योग्यतो भागवता प्रसज्य
समाजयन्ते मम पीरषानि ॥

इय फलरूपा भक्तिज्ञातिर्या. ते भक्ता यावज्जीवन्ति च तावत्फलरूपां भक्तिं कुर्वन्तीत्यर्थं. फलरूपता तदैव भवति यदा भजनाद्रसोऽभिष्यस्तो भवती तस्या अभि-
 व्यक्ते निदर्शनं भगवत एकात्मता सायुज्यरूप फलं न स्पृहयन्ति प्रार्थना तु दूरे
 ते भक्तेषु विरला प्रसङ्गाभिरुच्यन्ते केचिदिति दुर्लभा तेषां कायवाद्भमनोवृत्ति-
 स्वभावत एव भगवति भवतीत्याह मत्पादेत्यादिना मम पादसेवामागेव अभिरति-
 मंनोवृत्तियेषाम्. सर्वतो गत्वा भगवत्कार्यं कर्तव्यमिति पद्भ्यां सेवेत्यर्थं अन्यत्
 सुखं गमनानन्तरसाध्यम्. इय मनोवृत्तिरिति रूपिता. कायिकीमाह मदीहा इति.
 मत्सम्बन्धिन्त्येव ईहा चेष्टा येषाम्. तेषां वाचनिकीमाह अन्योग्यत इति ----

तेषां फलावस्थामाह-

परयन्ति ते मे हृषिरावतस-
 प्रसन्नवज्जाराणलोचनानि ।
 रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
 साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ॥

ते मे रूपाणि परयन्ति निरन्तरं भगवत्साक्षात्कारो भवति. यथा मित्रंस्सह िडन्ति
 प्रथमतः परयन्ति भगवतो रूपाणि वर्णयति कचिराण्यवतस्रानि कर्णाभरणानि येषाम्
 अननवृन्दावतादी भगवत्साक्षात्कारो भवतीत्युक्तम्. प्रसन्नानि वक्त्राणि अरुणानि लोच-
 नानि येषामिति -- रूपाणीति परमोपासकानामेकं रूपं कदाचित् साक्षात्कृतं भवति
 तेषां तु वदन्ति. तानि च दिव्यानि लौकिकबुद्ध्या न गृहीतानि. अलौकिकभाव वा प्रकट-
 यन्ति. सांप्रत्येव प्रकटनीति तथा सति नातिप्रसक्तिं तेषामन्यदोषव्यावृत्त्यर्थं
 निदर्शनान्तरमाह वरप्रदानीति न ह्यन्यत्र वरं दातुं शक्यते. प्रसन्नरूपादेतेषां
 वलक्षण्यमाह साकं वाचमिति. जीवन्त एवैत एतस्मिन्नेव लोके भगवता सह स्पृहणीया
 वाचं वदन्ति. यथा मित्रंस्सह दृष्ट्यालापां क्रियन्ते (सुबो ३।२५।३४-३५)

सुबोधिण्या सायुज्यस्वरूपम्:

तत्संज्ञा सायुज्यमाह-

सैवंशनीया-वर्षेष्टार-
 विलासहासासातं वामसुक्ते ।
 हृतात्मनो हृतप्रणारं च भक्ति.
 अनिबद्धतो गतिमर्षो प्रयुक्ते ॥

तै पूर्वोक्तरूपं अनुभवसमय एव आनन्दजनकं दर्शनीया अवयवा येषाम् उदारो विलास, हासपूर्वकमीक्षित वाम मनीहर सूक्त वाक्य च येषाम्, तै हृतान्त करणात् वशीकृतैन्द्रियाणा च सा पूर्वोक्ता भक्ति, तामनिच्छतोप्यग्नी गति सायुज्य प्रापयति भक्तस्य चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धयर्थं चतुरूपत्व च साध्यते तत्र, दर्शनीया अवयवा वामपूरवा, उदारो विलास अयंजनक, हासपूर्वकमीक्षित धर्मजनकम्, वामसूक्तानि मोक्षजनकानि. कामो हि विषयमौन्दर्येण अन्तःशक्त्या च सिध्यति. अतो दर्शनीयेति विशेषण बहिरलौकिकसौन्दर्यार्थम् विलासो हि अयंस्य नानाप्रकारकत्वाय, उदारत्वं तस्य सर्वोपकारकत्वाय, भगवतो हि लीला सर्वेषा सर्वपुष्पायंदाधिनीति भगवत्त्वम् हासो देहादौ अध्यासजनक अन्यथा निरन्तर धर्मो न सिध्येत् हासपूर्वक च ज्ञान धर्मजनकमेव सूक्त हितकारी अविद्यानाशकम् वाम परमानन्ददायकमिति सूक्त्या हि गतिरेकरूपानन्दस्वरूपा, रूपाणि च अनन्तानन्दरूपाणि, अतएवानिच्छा, अतएवान्त करणैन्द्रियाणा च तैराकर्षण सर्वेन्द्रियसुखरूपत्वात् स भगवान् स्वगृह गच्छन् तानपि नयति, ते तु इन्द्रियाणि मनश्च नयन्ति, भक्तिस्तु फलावश्यमाविनी कालादिनामप्यगम्यम् अतिसूक्ष्ममेव भगवदात्मक फल प्रयच्छति (सुबो. ३।२५।१६)

सुबोधिन्यां वैकुण्ठादिषु सेवोपयोगिवेहृत्स्वरूपम् :

एव सायुज्यरूप फलमुक्त्वा सानोक्त्वादिरूप फलमाह—

अथो विभूति मम मायाविनस्ता—
 मेश्वर्यमष्टांगमनुप्रविष्टाम् ।
 धिय भागवतीं वाऽऽस्पृहयन्ति भद्रां
 परस्य ते मेऽऽनुवते नु लोके ॥

अथो इति. सा चद् भक्तिर्मध्यमा भवत्, ततोय भिन्नप्रक्रम. अथो मम मायाविनो विभक्ति पुत्रधनादिरूपा स्वर्गादिरूपा च. न तत्र भोग्यमस्तीति मायाविन इत्युक्तम्, तवस्यापि विषयस्य भगवदीयाना भगवदधीनत्वाय घृष्टी तामित्यलौकिकी सर्वलोकसिद्धा वा एश्वर्यमणिमादि, अष्टागानि यस्वेति सर्वेश्वर्यप्राप्ति. भगवद्भजनमनु भगवन्तमनु प्रविष्टा धिय सर्वामेव सम्पत्ति मोक्षपर्यन्ताम्, भागवती च भगवत्सहसम्पत्ति च वत्पनादर, सर्वमेव वा अ स्पृहयन्ति, भद्रा मोक्षसम्पत्तिमपि मध्यमा भक्ति पत्तमशय प्रयच्छति इति, यद्यन्वत् तेषा भोगो न रोचत तदा वैकुण्ठ एव तथ्यो भोग प्रयच्छतीत्याह परस्य मे तेऽऽनुवते नु लोके इति, परस्य कालादशराच, लोके ध्यापिवंकुण्ठे, सर्वमेश्वर्यादिकमनुवते (सुबो ३।२५।१७)

सुबोधिन्यां फलाधिकारयोः कालानियम्यत्वरूपम् :

ननु लोचाना कालभयस्य विद्यमानत्वात् 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति'
इति स्वस्थानत्यागात् किं बंकुण्ठलोके विषयानुभावेन इत्याशययाह-

न कश्चिन्मत्परा शान्तरूपे
नश्यन्ति नो मेऽनिमियो लेडि हेति ।
येषामह प्रिय आत्मा मुतरश्च
सखा पुत्र सुहृदो देवमिष्टम् ॥

शान्त रूप यस्येति सर्वदोषविर्जिते बंकुण्ठे वा अहमेव परो येषा ते न
नश्यन्ति, क्षीणपुण्या नश्यन्ति पतन्ति वा न वा हेति कालश्च तान् भक्षयति
तत्र हेतु - कालस्य यत्र विषयस्तत्र प्रवर्तते. तस्याष्टौ विषया - विषया, देह, पुत्रा,
मित्राणि, गुरव, सम्बन्धिनः, इष्टदेवता कामश्चेति तस्मिन् लोके नृते सन्ति
किन्न्तेतेषा वार्यमहमेव करोमि अतएव तेषामहमेवाष्टविध. नहि कालो मा
विषयी करोति तेषा मदस्य कोपि नास्ति दहादि. प्रियो हि विषयो भवति.
बंकुण्ठस्तु मद्रूप इति तत्राहमेव विषय सारूप्यस्य च प्राप्तत्वात् देहोप्यहमेव.
देहेन विषयेषु भुज्यमानेषु प्रकृति सूयत इति सुता भवन्ति. तत्र विषयभोगेनापि
अहमेव भवामि. पुत्रस्नेहस्तत्रत्यं मय्यथ क्रियत तत्र बाह्योपि सखा अहमेव,
तत्तत्यानां पुरुषाणा मद्रूपत्वात् एत चत्वार एहिका पारलौकिकाश्चत्वार
गुरुरपदेष्टा बंकुण्ठं त्वहमेव. गुरोरुपदेशानन्तर ये तत्र हितार्थं यतन्ते ते वाग्यवा
सुहृद, सुहृत्कार्यं तु तत्रत्यैरेव क्रियत इति देव देवता, पूज्य, फलदाने स प्रयोजक.
फन च इष्टम् अत तेषा नाशाभाव उचित एव (सुबो ३।२५।३८)

सुबोधिन्या फलनिष्कर्ष.

एव भद्रत्रय निरूपित सायुज्य बंकुण्ठं जीवनमुक्तिश्चरति
(सुबो. ३।२५।३९-४०)

॥ इति श्रीमद्बल्लभाचार्यचरण-विरचित - सुबोधिन्यकवाक्यतया सेवाफल-
स्वरूप-निर्णय ॥

॥ समाप्त ॥

धीहृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीकल्याणरायविरचितसेवाफलोक्तिविवृत्तिसमेतम् ।

श्रीमदाचार्यमार्गेण सेव्यमानोऽस्मदीश्वरः ।
निवारयतु नैस्तापान् सुखसन्दोहसिद्धये ॥ १ ॥

श्रीमद्ब्रह्माचार्यमार्गोक्तप्रकारेण सेव्यमानो भगवानितोषिकं किञ्चित् फलं
दास्यति मुक्तिमेव वेति सन्दिग्धचेतसां समाधानार्थं श्रीमद्ब्रह्माचार्याः सेवासिद्धौ फलं
निरूपयन्ति यादृशी सेवनेति ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

भक्तिमार्गे सेवा मया यादृशी प्रकर्षणोक्ता 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'ति तत्सिद्धौ सत्यां
यत् फलं भवति तदुच्यते ।

अस्य ग्रन्थस्य गूढार्थत्वादिवरणमपि श्रीमदाचार्याः कृतवन्तः ।

सेव्यमानो भगवान् प्रसादानुसारेणोत्तममध्यमसाधारणप्रकारेण फलं प्रयच्छतीति
त्रैविध्यादिवरणे सेवायां फलध्रयमित्युक्तम् ।

तत्रोत्तमं फलमाहुः अलौकिकसामर्थ्यमिति । भगवता सह गानादौ सामर्थ्यं,
गुल्यानामिव । मध्यमं फलमाहुः सायुज्यमिति । सह युनक्त्येति सयुक्तं, सयुजो भावः
सायुज्यं सहभावः, गोपानामिव । साधारणं फलमाहुः सेवोपयोगी देहो वैकुण्ठा-
दिष्विति । आदिपदार्थभ्रूलोके उद्भवादीनामिव ।

सेवासिद्धौ मत्सां यदि भगवानलौकिकं देहादिकं सम्पादयति तदा फलविषयको
मनोरथोऽपि सिध्यतीत्याहुः अलौकिकस्येति ।

अलौकिकस्य दाने हि चायः सिध्यन्मनोरथः ॥ १ ॥

अलौकिकस्य योग्यस्य शरीरादेर्दाने सति अधिकारसम्पत्तौ सत्यां पूर्वोक्तं फलं
प्राप्नोतीत्यर्थः । हीति सुक्तश्रायमर्थः । एतत् फलं साधनानां साधनासाध्यत्वात् । चोप्यर्थः ।

१ मत्सापानिति पाठः । २ सेवाफलसिद्धिमिति पाठः । ३ भूलोकेषु गवादीनामिवेति पाठः ।

चाल्प इतिपाठे साधारणहीनमध्यमयोः कथञ्चित्सिद्धावपि भगवदानं विनोत्तमं फलं न सिध्यतीत्यर्थः ॥ १ ॥

कालकर्मवशाददं कदाचिद्भवेदित्याशङ्क्याहुः फलं वेति ।

फलं वा ह्यधिकारो वा न फालोत्र नियामकः ।

भजनानन्दलक्षणफले तदधिकारयोः कालो नियामको दाता प्रतिबन्धको वा न भवतीत्यर्थः ।

सेवासिद्धौ व्यवस्थया फलमुक्त्वा सेवासाधनदशायां बाधकान्याहुः उद्वेग इति ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

सेवायां क्रियमाणायामन्वत्र गमनेच्छादिउद्वेगः । सेवासमये लौकिकवैदिककार्यान्तरासक्तिः अन्यकृतान्तरायादिश्च प्रतिबन्धः । भोगो विषयाणाम् ।

एते त्रयः प्रत्येकं बाधकाः । तेनैतेषां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । भोगो द्विविधः । लौकिकोऽलौकिकश्च । लौकिको लोकसिद्धः । यथा लोकाः स्वार्थ-मुच्चावचान् पदार्थानानीय भोगं कुर्वन्ति स लौकिको बुद्ध्या त्याज्यः । एतेन श्रुतिस्मृतिपुराणादिसिद्धो भोगो व्यावर्तितः । अलौकिको भगवदत्तः अम्बरीषादेरिव । स तु साधारणमध्यमोत्तमफलेषु प्रथमफले प्रविशति, यथा सेवोपयोगिदेहं दत्त्वा सेवां कारयित्वा प्रसादत्वेन दत्तानां भोगं कारयति भगवान् स अलौकिकभोगो न त्याज्यः । प्रतिबन्धोपि द्विविधः । साधारणो भगवत्कृतश्च । तत्र साधारणः पूर्वमुक्तः । स बुद्ध्या त्याज्यः । यस्य यत्साधनस्य च प्रतीकारो न सम्भवति स भगवत्कृतः । स यदा भवति तदा भगवान् फलं न दास्यतीति ज्ञातव्यम् ॥ २ ॥

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

अकर्तव्यं भगवतः । अस्य श्लोकस्य विवरणं भगवत्कृतश्चेदित्यारभ्य विवेक इत्यन्तम् । तदान्यसेवापि व्यर्थेति । महादेवनारदादीनां भक्तिदातृत्वश्रवणान्महादेवादिसेवया सेवातत्फलसिद्धिर्भविष्यतीत्याशया कृता महादेवादिसेवापि व्यर्था, नैतत्फलसाधिवेत्यर्थः । तदेति । तदा आसुरः आसुरावेशवान् आसुरभाववान् वायं जीव इति निर्धारो निश्चय इत्यर्थः । जीवस्यासुरत्वे सेवायां प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । तदा कथं ममैवं भवतीति शोकाभावाय भगवानीश्वरः स्वेच्छया सर्वं ददाति मम प्रायेण मुक्तिमेव दास्यतीति ज्ञात्वा ज्ञानमार्गेण श्रवणमनननिदिध्यासनानि कुर्वता श्रेयमित्यर्थः । यथा तत्त्वनिर्धारो भवति तथायं विवेको वा साधने इत्यर्थः । अत्राप्य भावः । दुःसंसाद् वाहिर्मुख्ये भक्तापराधे वा भगवान् प्रतिबन्ध करोति तदा अन्यसेवया स्वतो वा मुख्यं फलं न भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

ननु साधारणो लौकिको भोगः किमर्थं त्याज्यः, भोगेनैव सेवा कर्तव्येत्याशंक्याहुः
सविमोल्पो घातक इति ।

सविमोल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ४ ॥

बाधकानां परित्यागो भोगेष्वेकं तथा परम् ।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ५ ॥

सविघ्नत्वात् सर्वथा न सिध्यति । जायमानोऽप्यल्पसुखजनको भवति, भावघातकोपि भवति, अतस्त्याज्यः । ननु सावधानतया स्थितेर्न भोगप्रतिबन्धकयोर्षाधकत्वमित्यत आहुः सावधानेपि भोगप्रतिबन्धौ वस्तुसामर्थ्यादेव प्रतिबन्धकौ सम्प्रतावित्यर्थः । बाधकानामिति श्लोक एवं योजनीयः । बाधकानां परित्यागः कर्तव्यः । भोगेष्वेकं पर्युत्कृष्टमेकं भोगं निहाय तथा परित्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । यतो निःप्रत्यूहं यथा स्यात्तथा महान् भोगः प्रथमे प्रविशति । पूर्वं व्याख्यातमेतत् । ज्ञानस्थितीति । ज्ञानमार्गेण शिखावपि प्रतिबन्धे या चिन्ता तैदभावार्थमित्यर्थः । अत्रत्यं भावः । पूर्वं ज्ञानमार्गेण स्यात् व्यमित्युक्तम् । अयुना श्रीकृष्णप्रसादाभावान्मुक्तिरपि न भवतीति स्वस संसारनिश्चयात् फलार्थं चिन्ता न कर्तव्येत्यर्थः । ननु पूर्वकृतसेवायाः सत्त्वात् फलं कथं न भवेदित्याशंक्याहुः आद्येति । आद्येन भगवता भगवत्कृतप्रतिबन्धेन फलाभावे कायवाङ्मनोभिस्तत्परतया कृतत्वाभावात् सा सेवा नाधिदैविकी, कायवाङ्मनोभिस्तत्परतया कृतत्वेपि भक्तपराधादिना भगवांश्चेत्तां न मन्येत तदा सा सेवा नाधिदैविकी भवति, भगवद्गामिनी न भवति । आधिदैविक्या एवैतत्फलसाधकत्वान् । भोगेति । गृहपरित्यागः गृहासक्तिपरित्याग इत्यर्थः । द्वितीय इति । द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिबन्धस्तस्मिन् सति फलं कथं स्यादिति चिन्ता संसारनिश्चयान् सर्वथा त्याज्येत्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥

ननु प्रतिबन्धसाधारणभोगयोः सत्त्वेपि साधनकरणे फलं स्यादित्याशंक्याहुः न त्वाद्ये इति ।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वत्रन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

आद्ये भगवत्कृतप्रतिबन्धे भगवतो दातृता नास्ति । तृतीये साधारणभोगे गृहासक्तिर्वाधिकेत्यर्थः । अवश्येयमिति । इयं रीतिस्त्वस्या, कर्तुमशक्यापि फलार्थं सदा कर्तव्यत्वेन भाव्या । अन्यत् सर्वसाधन मनोभ्रमः स्वान्तर्भ्रान्तिरित्यर्थः ॥ ६ ॥

ननु भगवदीयानां स्वत एवैतत्फलं भविष्यति किमर्थं पूर्वोक्तं कर्तव्यमित्याशंक्याहुः न तदीयैरिति ।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

भगवदीयैरपि पूर्वोक्तसाधनं कार्यम् । मर्यादायामंगीकारात् । ननु मक्तिमार्गप्रवेश-
मात्रेण क्वचित् फलं दृश्यत इत्यत आहुः पुष्टाविति । पुष्टधंगीकारे तु भगवान् विलम्बं
नैव कुर्यात्, तेन शीघ्रं फलसिद्धिरित्यर्थः ।

रजस्तमोभ्यां मनसः क्षोभेपि एतदेव साधनं कर्तव्यत्वेन द्रष्टव्यमित्याहुः गुण-
क्षोभेपीति ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

मम निश्चय एतावानेवेत्याहुः मे मतिरिति ॥ ७ ॥

ननु साधनानां बहूनां सत्त्वात् किमिति एतदेव साधनमित्यत आहुः कुसृष्टिरत्रेति ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७ ॥

अत्रास्मिन्फले कुसृष्टिः कुत्सितानां साधनानां वा सृष्टिः कल्पना उत्पन्ना स्यात्
सा भ्रम एव इत्यर्थः ॥ ७ ॥

सेवाफलोक्तिविवृतेः स्वाचार्याणां ययामति ।

कृता कल्याणरायेण विवृतिः स्वसुखाय च ॥ १ ॥

इति श्रीबह्मभचरणैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता सेवाफलोक्ति-
विवृतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

सेवाफलम् ।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवृतिटिप्पणीसमेतम् ।

स्वमार्गोक्ततनुवित्तजायाः सेवाया मानसीसेवाफलमिति सिद्धान्तमुक्तावत्यां श्रीमदाचार्यचरणोक्तेर्निबन्धे तु मक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यत इत्युक्तेः सन्दिहानान् सानुपदिशन्ति ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

यादृशी यत्प्रकारिका सेवना सेवा प्रोक्ता स्वग्रन्थेषु पुष्टिपुष्टिपुष्टिमर्यादामर्यादाभेदैर्मया विविच्योक्ता तत्सिद्धौ तेषां स्वफलजननस्वरूपयोग्यतायां सत्त्वां तद्व्यकारकं फलमुच्यत इत्यर्थः ।

तत्र प्रथम भगवदर्थं निरुपधिसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते यन्मुख्यं फलं भवति तदाहुः ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिद्ध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

अलौकिकस्य स्वरूपानन्दस्य, दाने वितरणे, हि निश्चिते सति, तथा च भगवत्शिकीर्षिते सतीत्याशयः । आद्यः स्वरूपानन्दानुभवात् प्रथममुत्पन्नो मनोरथः 'यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले गोपिकानां तु' इत्यादिना निरूपितस्वरूपो लिप्साविशेषः सिद्ध्येत् तद्विषयकः सादित्यर्थः । इत्यथ प्रेमोत्पत्त्या सिद्ध्येत् तद्विषयकः सादित्यर्थः । चेति मनोरथश्च सात् सिद्धश्च सादित्याशयः । इत्यथ प्रेमोत्पत्त्यनन्तरं भगवतः स्वरूपानन्ददित्सायां फलरूपस्वविषयसहितस्य मनोरथस्योत्पत्तिः । दित्साया अभावे तु तदनुत्पत्तौ पूर्वोक्तप्रेमान्तसेवायाः पुरुषोत्तमसायुज्यं फलं भवतीति ध्येयम् । वक्ष्यन्ति चेममर्थं न त्वाद्ये दातृता नास्तीत्यनेन ॥ १ ॥

एवं पुष्टिपुष्टिमजनस्य फलमुक्त्वा पुष्टिमर्यादामर्यादाभजनयोः फलमाहुः ।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

फलं पुष्टिपुरुषोत्तमसायुज्यं पुष्टिमर्यादाभजनफलमित्यर्थः । चेत्यनादरे । अधिकारो

रमाप्रार्थितवैकुण्ठक्षीरोदश्वेतद्वीपेषु भगवत्सेवायोग्यदेहप्राप्ति मर्यादाभजनफलमित्यर्थः ।
नेति । अत्र फलत्रये कालो न प्रतिबन्धक इत्यर्थः ।

विभृतां सेवायां फलत्रयमलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोपयिकदेहो
वैकुण्ठादिप्रित्यनेन नियामक इत्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । अलौकिकसामर्थ्यं
मलौकिकभजनानन्दातुभवे स्वरूपयोग्यतेत्यर्थः ।

मूले सेवाया प्रतिबन्धकान्यपराण्याद् ।

उद्वेग प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

उद्वेगः श्रवणे क्रीतने भगवद्दर्शनसेवाया च जराव्याधिजनितापाटयेन स्वतो
प्रवर्तमानानामिन्द्रियाणां प्रसङ्ग प्रवर्तनाद्विक्षेप इत्यर्थः । प्रतिबन्धो वेदनिन्दा म्लेच्छन
लिष्टबहिर्मुखजनितोपद्रवश्च, साधारणो भगवत्कृतो बाहिर्मुख्यरूपश्चेति द्विविधो
पीत्यर्थः । भोगो रूपरसगन्धशब्दस्पर्शानां लौकिकविषयाणामत्यासक्त्या सेवनमित्यर्थः ।
त्विति । एतन्नय तु प्रतिबन्धक भवेदेव । कालस्तु न स्यादित्यर्थः ।

विभृतां सेवाया प्रतिबन्धकत्रयं उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वेत्नेन
बाधकमित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः ॥ २ ॥

मूले प्रतीकारमाहु बाधकानामिति ।

बाधकानां परित्यागो भोगेऽप्येक तथा परम् ।

निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे चिदन्ते सदा ॥ ३ ॥

बाधकानामुद्वेगसाधारणप्रतिबन्धलौकिकभोगसाधनानां परित्यागः कर्तव्य
इत्यर्थः । तत्र उद्वेगसाधनं प्रसङ्गेन्द्रिययोजनम् । वेदनिन्दाया म्लेच्छकृतोपद्रवस्य
चलिष्टबहिर्मुखकृतोपद्रवस्य च जननात् साधारणप्रतिबन्धसाधनं स्वस्मिन् भक्तत्वस्फूर्ति
निवधनो हठगर्वविशेषः । लौकिकभोगसाधनं रूपरसगन्धस्पर्शशब्दा । तथा च
तत्साधनत्रयं लजेदित्यर्थः । लौकिकालौकिकसाधनयोलौकिकभोगसाधनस्य त्याग
कर्तव्यो न त्वलौकिकभोगसाधनस्येत्याहुः भोग इति । भोगे यत्साधनद्वयं तत्रैकं
तथा तादृशं लौकिकभोगरूपं प्रतिबन्धजननात् त्यक्तव्यमित्यर्थः । परं द्वितीयं साधनं पूर्वोक्तप्रे
मान्तसेवारूपं निष्प्रत्यूहं निर्गतं प्रत्यूहं प्रतिरूपो भोगो यस्मात्तथा । एवञ्च त्यागहेतो
प्रतिबन्धस्याजननात् त्यक्तव्यमित्यर्थः । ननु भोगं प्रतिबन्ध इत्युक्तम् । तथा च तज्जननात्
कथं न त्यक्तव्यमत आहुः महानिति । पूर्वोक्तप्रेमान्तसेवावलक्षणं साधनं कारयित्वा
भगवता दत्तो ह्यखनिशेषसुखविशेषानुभवत्क्षणो 'यच्च दुःखं' मित्यादिना निरूपितस्य मनो
रयस्य विषयताभापनो भोगो महान् खेष्टतम एवेत्यर्थः । कथमिष्टतमत्वमत आहुः प्रथम

इति । प्रथमे उत्तमफले विशते प्रविष्टो भवति । तथा च फलरूपः । अत एव न प्रतिबन्धरूप इति । तत्साधनं न त्यक्तव्यमिति भावः । रसिकानुभवाद्देयमान्तरं तु महाफलमिति श्रीमदाचार्यचरणोक्तिरत्रानुसन्धेयेति दिक् । भोगोपीत्यपिशब्दात् प्रतिबन्धेयेकमेव त्यक्तव्यम् । द्वितीयस्य तु भगवत्कृतत्वेन तत्यागस्य शशविषाणायमाणत्वादिति ध्येयम् ।

विवृतौ अयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । भोगो द्विविधः । साधारणो भगवत्कृतश्च । तत्राद्यो बुद्ध्या त्याज्यः । अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशतीत्यनेन विशत इत्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । अयाणां साधनेति साधनपरित्यागान्मूलोच्छेदो भवेदतः पुनरुद्गमो न सादित्याशयः । तथा च यत्रैतन्नितयस्य त्याग उच्यते तत्र साधनसहितस्य त्यागो ज्ञेय इत्यभिप्रायः । त्याज्य एवेति । लौकिकभोगस्तु असन्दिग्धं त्याज्य एव, परन्तु अलौकिको न त्याज्य इत्याशयः । तत्राद्य इति । साधनसहितस्त्याज्यः । तथा च साधारणप्रतिबन्धसाधनस्य गर्वविशेषस्य बुद्ध्या त्यागात् ससाधनस्यापि तस्य त्याग इत्यर्थः ॥ ३ ॥

मूले भगवत्कृतप्रतिबन्धे यत् कर्तव्यं तदाहुः ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि ।

हि निश्चयेन सर्वथा सर्वप्रकारैर्भगवतः सर्वसमर्थस्यापि चेद्कर्तव्यं फलदानं न चिकीर्षितं चेदित्यर्थः । ननु भगवदीयकुलोत्पन्नस्य पित्रादिशिक्षया बाल्ये कृतभगवत्सेवाकस्यानवरतमसञ्छान्नाभ्यासादाविर्भूतवाहिर्मुख्यस्यापि 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठिता'दितिवचनात् सेवामेव निर्बन्धेन हठेन कुर्वतः किं स्यादत आहुः गतिर्न हीति । प्रतिबन्धस्य जागरूकत्वाद्यावत्फलाभाव इत्यर्थः ।

विवृतौ भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम्, तदान्यसेवापि व्यर्थं त्यन्तेन 'नही'त्यन्तो ग्रन्थो व्याख्यातः । तथाचोक्तं निबन्धे 'सर्वथा चेद्भिरकृपा न भविष्यति यस्य हि । तस्य सर्वमशक्यं स्यान्मार्गोस्मिन्सुतरामपी'ति मूलमुक्त्वा स्वयमेव व्याचक्षिरे 'परमं न सर्वेषां मुख्यफलाधिकारः, किन्तु येषु भगवत्कृपा । कृपापरिज्ञानं च मार्गस्य निश्चीयत' इत्यनेन । इत्यन्तैतन्मार्गोरुचिरेव भगवत्कृतप्रतिबन्धः । इदमेव वाहिर्मुख्यमिति विभावनीयम् । 'बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदति'ति श्रीमदाचार्यचरणोक्तेरेव ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्ननीपति एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमयो निनीपती'ति श्रुतेश्च भगवानेवासञ्छान्प्रवर्तनेनासुरावेशं सम्पाद्य वाहिर्मुख्यरूपं प्रतिबन्धं करोतीत्यप्यनवरतं निरन्तरमनुसन्धेयम् ।

तदान्येति । यदा चाहिर्मुख्यमाविर्भूतं तदा कृता तु व्यर्थव । किन्त्वन्या धात्वे कृता सागि
व्यर्था निःफलेत्यर्थः ।

मूले अतः परं तेन किं विधेयमत आहुः ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ४ ॥

यथा यत्प्रकारको वा विकल्पेन तत्त्वनिर्धारस्तज्जीवनिष्ठस्यासुरत्वस्य निश्चयः ।
तथा च आवेशासुरत्वनैसर्गिकासुरत्वयोर्यादृशासुरत्वप्रकारको निश्चयस्तस्मिन् सति विवेको
ज्ञानं साधनं शोकानुत्पत्तौ कारणं मतं सर्वप्रमाणसम्मतमित्यर्थः । वेति विकल्पवाचकमव्ययं
देहलीदीपन्यायेनोभयत्रान्वेति । तथा च तत्त्वनिर्धारोपि वैकल्पिकः, साधनमपि वैकल्पिक-
मेव । इत्यत्रावेशासुरत्वप्रकारको यदि निश्चयः तदा संसृतिरेवेतिभावः । वक्ष्यन्ति चेममर्थं
द्वितीये सर्वधेयत्वेन ।

विवृतौ तदा आसुरोऽयं जीव इतिनिर्धारः । तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तद्व्यं
शोकाभावापेतिविवेक इत्यनेन मतमित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । तदेति । यदा
पाहिर्मुख्यमाविर्भूतं तदैवेत्यर्थः । विवेकः साधनमिति व्याचक्षते । तदा ज्ञानेनेति । यथावे-
शासुरत्वनिर्धारस्तदा ज्ञानमार्गेण ज्ञानजनकोपायेन स्यात्तद्व्यं वर्तितव्यम् । शोका-
भावाय शोकानुत्पत्त्या इति । अस्मिन्नर्थे विवेकः साधनं भवतीत्यर्थः । तथा च सत्य-
लोकस्थितिरक्षरानन्दो वा नास्य फलमिति भावः । यद्यप्येवंविधदुर्भगः स्वमार्गवहिर्मुखो-
न्धतमः प्रैविशतां, का क्षतिः ? तथापि स्वमार्गीयमगवद्भक्तरेतोऽजन्तुरयमिति तदुद्भवदयार्द्र-
हृदयाः श्रीमदाचार्यचरणास्तादृशेषुपदिशन्तीति ध्येयम् ॥ ४ ॥

मूले लौकिकभोगस्य साधारणप्रतिबन्धस्य च त्यागे प्रयोजकं रूपमाहुः ।

सविभ्रोल्लपो घातकः स्याद्भलादेतौ सदा मतौ ।

सविभ्र आधिन्याधिलक्षणप्रेत्यूहसहितः । अल्प आशुतरविनाशीत्यर्थः ।
साधारण इति । साधारणो वेदनिन्दादिः । साधारणप्रतिबन्धस्य तदाहुः घातेति ।
घातकः घातजनकः । यत्नात् सामर्थ्यात् । स्यात् भवेत् । तथा च साधारण-
प्रतिबन्धो बलवद्घातकः सादित्यर्थः । तथा हि वेदनिन्दात्वस्य बलात् हीनेषु
जन्मरूपं घातं करोति । स्लेच्छवहिर्मुखकृतोपद्रवादस्य सर्वस्वहानिं शरीरघातं
च बलादेव कुर्वते । अतो हेतोः साधारणप्रतिबन्धोल्लत्वात् सविभ्रत्वाच्च भोगः सदा
निन्तरमेतौ प्रतिबन्धकौ मतौ साधनसहितौ त्याज्यत्वेन सम्मताविति भावः ।

विवृतौ साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायाभारह सवि-
भ्रोल्लपो घातकः न्यादिति । सविभ्रत्वाद्ल्पत्वाद्भोगस्त्याज्यः । ९ ॥

सदा प्रतिबन्धफाविलनेन भताविलन्तग्रन्थो व्यस्त्यातः । साधारण इति । साधारणो वेदनिन्दादिः साधारणप्रतिबन्धः भोगो लौकिकरूपरसादिसेवनं कथं कुतो हेतोरित्यर्थः । सविघ्नत्वादिति । द्वाम्यामाभ्यां हेतुभ्यां भोगस्त्याज्यः । शिष्टाद् घातकत्वरूपाद्धेतोः साधारणः प्रतिबन्धस्त्याज्य इत्याशयः । ननु सविघ्नत्वमल्पत्वं च भोगापकर्षजनकम्, न तु सेवायाः । तथा साधारणप्रतिबन्धनिष्ठं घातकत्वं चतुर्थ्यस्यापकारजनकम्, न तु विशिष्यं सेवाया एवेति किमनयोः त्यागप्रयोजकं रूपमित्याशंकायामाहुः पृताविति । प्रतिबन्धकत्वमेव त्यागप्रयोजकम् । सविघ्नत्वादिकथनं तु भोगसाधारणप्रतिबन्धस्यदोषोद्घाटनार्थम् । तथा च सेवाप्रतिबन्धकत्वाच्च त्याज्यावेव । निसर्गदुष्टत्वादपि त्याज्यावित्याशयोनुसन्धेयः ।

आवेशासुरस्य विवेकसाधनमिति प्रागुक्तमिदानीं नैसर्गिकासुरस्य का गतिरित्याकांक्षायामाहुः ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

अस्योत्पत्तिकाल एव भगवताऽसुरत्वसम्पादनाच्चैसर्गिकासुरः । तथा च भगवान् तस्मिन् तदानीमेव स्वमार्गात् सर्वप्रामाणिकमार्गेण्यथ बाहिर्मुख्यलक्षणप्रतिबन्धं कृतवान् । इत्थञ्च वेदनिन्दादिसाधारणप्रतिबन्धाद् द्वितीये भगवत्कृते एवंविधप्रतिबन्धे निर्धारिते सतीत्यर्थः । चिन्ता जन्ममरणदुःखनिवृत्तिर्मम केन प्रकारेण स्यादिति विचारः सर्वथा सर्वप्रकारेण प्रमाणैर्युक्तिभिश्चेति यावत् । सा त्याज्या न कर्तव्या । तत्र हेतुः । संसारनिश्चयात् । संसृतेरपश्यंभावस्य निश्चितत्वादित्यर्थः । तथा च 'देवी सम्पद्धिमोक्षाय' 'निषन्धायासुरी भता' इत्यादिप्रमाणैस्तस्मादपरिहार्येण न त्वं शोचितुमर्हसीत्यादिप्रामाणिकयुक्तिभिश्चाधेः समाधिः सम्पादनीय इति भावः ।

विघ्नतो ज्ञानस्वित्यन्वाये चिन्ताऽभाचार्यमाह द्वितीय इति । द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इत्यनेन निश्चयादित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । ज्ञानेति । 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुरा' इति भगवद्वचनात् सहजासुराणां ज्ञानमार्गेण स्थितिर्न भवतीत्याशयः ॥ ५ ॥

मूढे 'अलौकिकस्य दाने ही'त्यनेन भगवतः स्वरूपानन्ददित्सायां मनोरथः सफलमेवेदित्युक्तम् । यदि स न सिध्येत् तदा का गतिरित्याकांक्षायामाहुः ।

न त्वाये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

नाये त्वित्यन्वयः । तथा चायाभावे त्वित्यर्थः । इत्थञ्च तत्फलमनोरथाभावे तु भगवतो भजनानन्ददित्सा नास्तीति भावः ।

विवृतौ आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्तीति तदा सेवा नाधिदैविकीत्युक्तं भवतीत्यनेन नास्तीत्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । न त्व्याद्य इति मूलमाद्यफलाभाव इत्यनेन व्याख्याय दातृता नास्तीति मूलं व्याचक्षते भगवतो दातृत्वं नास्तीति । फलितार्थमाहुः तदेति । यदा फलसहितस्य मनोरथ-स्थाभावस्तदाधिदैविकीसेवाभजनानन्दो न भवेदिति । अयमर्थो न त्व्याद्ये दातृता नास्तीति मूलेन कथितोस्तीत्यर्थः । इत्यथ प्रेमान्तसेवया पुरुषोत्तमसायुज्यं भवतीति भावः ।

मूले याचकानां परित्यागइत्यनेन तत्साधनलागपूर्वकस्तत्प्रतिबन्धकतत्वात् उक्तः । तत्र लौकिकभोगसाधनीभूतरूपरसगन्धस्पर्शशब्दानां त्यागे प्रतिबन्धकमाहुः तृतीये याचकं गृहम् । भोगस्य तृतीयप्रतिबन्धकत्वात् तत्साधनमपि तृतीयं साधनं तत्परित्या-गोपि तृतीयः परित्यागः । तथा च तस्मिन् गृहं प्रतिबन्धकमित्यर्थः । इत्यथ रूपादित्यागो गृहत्यागाधीन इति भावः ।

विवृतौ भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग इत्यनेन गृह-मित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । भोगेति । भोगाभावः ससाधनभोगपरित्याग इत्यर्थः ।

मूले पुष्टिपुष्टिपुष्टिमर्यादाभजनानां फलं प्रतिबन्धकं तत्प्रतीकारं षोडश्या व्याख्याय चेदानीं सर्वानुपदिशन्ति ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ।

अवश्या स्वस्य वश्या न । तथा च स्वकृत्वसाध्या भगवदनुग्रहैकसम्पाद्येति यावत् । इयं श्रीमदाचार्याणां हृदि अनवरतमुत्पद्यमानत्वात् साक्षात्कृतस्वरूपा भावनारूपा मानसी सेवा, सदा निरन्तरं, भाव्या सम्पादनीयेत्यर्थः । तथा च स्वरूपानन्दसाधनी-भूतभावविशेषसिद्ध्यर्थमनवरत भावना कर्तव्येत्याशयः । इदमेव मनसः प्रधानं कार्यमित्याहुः सर्वमिति । मनसा यदन्वत् किञ्चित् प्रमारूपमपि कार्यं जन्यते तत् सर्वमपि भजना-नन्दापर्यवसायित्वाद् भ्रम एवेत्यर्थः ॥ ६ ॥

तर्हि चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः किं सम्पादनीयमित्याकांक्षायामाहुः ।

तदीयैरपि तत्कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

मनसोऽनुचरैश्चक्षुरादिभिरिन्द्रियैस्तत्कार्यं मनःकार्यमेव सम्पादनीयम् । तथा च श्रीमदाचार्यमार्गपक्षपातादविरतं सेव्यस्वरूपेष्वाविर्गूतस्य संकल्पप्रतिभातस्य वा भगवतो दर्शनसेवादिना स्वस्वव्यापारेण मनःकार्यरूपा भावनारूपा मानसी सेवा सम्पादनीयेति-भावः । इत्यथ चक्षुरादिसर्वेन्द्रियैरपि स्वस्वव्यापारो भगवति सम्पादनीयो, 'भगवता सह संलग्न' इत्याशुक्तप्रकारेणेति ध्येयम् । ननु कियच्चिरमेवंकृतिरतआहुः पुष्टाविति ।

पुष्टिर्भावः तस्मिन् सिद्धे सति स्वरूपानन्दः सत्वरमेव भवेन्न तु विलम्बं कुर्यादित्यर्थः ।
तथा च भावोत्तिपर्यन्तमेवंकृतिरितिभावः ।

पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय इतिन्यायात् कदाचित् कमपि प्रतिबन्धकमाशङ्क्य
तत्प्रतीकारमाहुः ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

गुणाः प्राकृतसत्वरजस्तमांसि, तत्कृतक्षोभो मार्गान्तररुचिः, लौकिकविषयलोभैत-
न्मार्गारुचय इत्यर्थः । एतदेवास्मदुक्त 'भवश्येयं सदे'तिपद्यमेव द्रष्टव्यम् । तथा चैतत्पद्योक्त-
साधनेनैव सर्वप्रतिबन्धनिवृत्तिरितिभावः । ननु सत्सु प्राकृतगुणेषु निरन्तरक्रियमाणायामपि
भावनायां भावो नोत्पत्स्यत इति चेत् ? सत्यम् । यावत्कालं मनस्याविर्भूय भगवानन्तःकर-
णसम्यद्धो न भवति तावदविद्याया विद्यमानत्वाद् गुणा अपि सन्ति । तथा चानिश्चमेवं-
कृतौ कृपालुर्भगवानाविर्भूयान्तःकरणसम्वद्धः सन् अविद्यामेव नाशयेत्, तदा सुतरां
गुणनाशः, ततो निरन्तराया भावोत्तिरितिध्येयम् ॥ ७ ॥

सोक्तप्रमेये निःसन्दिहानेनैव श्रेयमिति खानुपदिशन्ति ।

कुसुष्टिर्न वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ।

कुसुष्टिः दूषणाभासः, अत्रास्मदुक्तौ, चेतनादरे, वस्तुतस्तु नोत्पत्स्यत एवे-
त्याशयः । काचिद्दुःसंगेन भगवदस्मरणनिबन्धनक्षणिकासुरभावेन वा काचिदुत्पद्येत
जायेत चेद्, वै निश्चयेन, स तु भ्रम एव भ्रान्तिरेवेत्यर्थः । तथाचोत्तरक्षणोत्पत्स्यमान-
विशेषदर्शननाशत्वाद्किञ्चित्करेतिभावः ॥ ७॥ ॥

इति श्रीविष्टिलेश्वरात्मजश्रीचन्द्रयामतनयश्रीगोपेशगोस्वामिविरचिता
सेवाफलविष्टितिटिप्पणी सम्पूर्णा ॥

धीलुष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीदेवकीनन्दनविरचितविवृतिटिप्पणीसमेतम् ।

करुणाचार्यचरणवरणं शरणं मम । यत्पथे सुकथे सेवाफलं कृष्णः प्रयच्छति ॥ १ ॥

ननु स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाणसेवायाः फलान्तरकथनं कथमुपपद्यत इति चेत् । इत्यम् । यावज्जीवं तथा क्रियमाणसेवया देहावसाने जीवस्य या गतिर्भवति सात्र फलपदेनोच्यते । तच्च फलमाधुनिकभजनानुस्यूतसर्वात्मभावप्राप्यविशिष्टभजनानन्दात्मकमेवेति न तस्य सेवातिरिक्तत्वमायाति येन फलान्तरत्वमुच्येत । 'यं यं चापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवर'मिति भगवद्बचनादन्ते या मतिः सा गतिरिति न्यायाच्च सेवाफलं सेवेवेति नोक्तविरोधः शंकनीयः । तत्र कीदृशं किमिति जिज्ञासायामाचार्याः किञ्चित् स्वमतसिद्धं तत् सार्धैः सप्तभिः श्लोकैर्निरूप्य सुगमत्वाय स्वयमेव विवृण्वन्ति ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

यादृशी सेवनेति । प्रोक्तेति । मयेत्यध्याहार्यम् । तेन स्वसिद्धान्ते यादृशी सेवना मया प्रोक्ता, तादृशी सेवना विवरणे वक्ष्यमाणफलप्राप्तिका भवति, न तु प्रमाणा-न्तरसिद्धा, मतान्तरसिद्धा वा तथा । अन्यथा तत्र तत्र कचिदुक्ता प्रसिद्धा भवेत् । अत्र तु साक्षादाचार्योक्तत्वाद्गुणभवसाक्षिकत्वाच्च न काचिदसंभावेनेति ज्ञाप्यते । सापि याव-जीवमविच्छेदेन कृता, स्वफलदानं तु कियत्कालं कृत्वा, परित्यक्तापीत्याहुः तत्सिद्धा-विति । सिद्धिरत्र यावज्जीवं निर्याहः । तदुक्तमाचार्यचरणैः 'सेवायां वा कथायां वे'ति । फलमिति । एकवचनं त्रितयाभिप्रायेणेत्याहुः सेवायां फलत्रयमिति । अत्रायं भावः । भक्तिमार्गेण पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदेन जीवेषु भगवदंगीकारः त्रिविधः । तेनाधिकारिभेदेन सेवा त्रिविधा, ततः फलमपि त्रिविधं क्रमेणोक्तम् । तत्रादौ पुष्टिसेवाफलमाहुः अलौकिक-सामर्थ्यमिति । अत्रायमाशयः । श्रीमदब्रजस्थोत्तरीत्या सर्वात्मभावैकलभ्यभजनानन्दा-नुभवलक्षणं फलमलौकिकमुच्यते । तस्येतरप्रमाणागोचरत्वमितरसाधनाप्राप्यत्वमलौकि-कत्वम् । तदनुभवयोग्यतालक्षणोधिकारश्च सामर्थ्यपदेनोक्तः । तस्यातिगोप्यत्वाय तयोक्तिः । द्वितीयफलं सायुज्यम् । तदत्र पुरुषोत्तमे वेदितव्यम्, न त्वक्षरे । अक्षर-सायुज्यं तु केवलमर्यादायां ज्ञानादिनापि भवतीति ततः पुष्टिर्भिशेषकथनावश्यकत्वात् । सायुज्यानन्तरमपि पुष्ट्या कदाचिदाद्यमलौकिकं फलमपि भगवान् प्रयच्छेदित्यपि ज्ञेयम् ।

अन्यथा पुष्टिसेवाफलं सायुज्यमात्रं न वदेयुः । भक्तौ तद्वासनाया अभावात् । 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति भगवन्नियमात्र । तेन पुष्टिमयीदायामादौ सायुज्यम्, मध्ये भजनानन्दानुभवः, अत्रे पुनः पूर्वसायुज्यमित्युक्तं भवति । अतो मध्यमफलत्वम् । तृतीयं फलं वैकुण्ठादिदेहः । आदिपदेन भूमावपि तथा भावनायां तादृशदेहप्राप्तिरुक्ता । तत्राप्युच्चनीचदेशभेदा पहुवचनेनोक्ताः । व्यापिवैकुण्ठस्य सायुज्यापेक्षया दुर्लभत्वेन साधारणफलत्वकथनस्यासुक्तत्वाद्भ्रममाप्रार्थित एव स इत्यवगम्यते । तत्र कदाचिन्नाद्यफलसंभावनेति साधारणफलत्वम् । अत एव वैष्णवमतानामेकादश्यादीनां फलत्वेन स्मृतिपुराणेषु स एवोच्यते ।

ननु सायुज्यवैकुण्ठयोः प्रमाणसिद्धत्वेन तदर्थं जीवप्रयत्नः संभवति, आद्यफलस्य तु लोकवेदातीतत्वेन प्रमाणाद्यगोचरत्वाच्च स्वकृतिसाध्यत्वम्, यत् पुनः तत्साधनं तस्यापि तथात्वम्, अतः कथमाद्यमनोरथः सिध्येदित्यत आहुः अलौकिकस्य दान इति ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥१॥ ॥

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोऽत्र नियामकः ।

अलौकिकमाद्यफलं तस्य दाने, अर्धाङ्गवता कृते सति तन्मनोरथः सिध्येत्, न त्वन्यथापीत्यर्थः । आद्य इति । सायुज्यवैकुण्ठमनोरथपेक्षया स आद्य इत्यर्थः । अल्प इति पाठे यद्यपि लीलामध्यपातिभक्तानुभवैक्येयफलसंबन्धिमनोरथो जीवस्य साधनतः स्वरूपतश्चाल्प एव । अप्यर्थे चकारः । तथा चाल्पोपि तथापि स्वतः प्रशुदानेन तत्सिद्धिः । सिध्येदिति प्रार्थने लिङ् । आचार्यप्रार्थनया प्रभुः संपादयेदेवेति भावः । आद्यफलस्य स्वरूपैकसाध्यत्वे प्रसिद्धिमाह द्विशब्दः । ननु भगवानपि तादृशाधिकाराभावे मनोरथं कथं पूरयेदित्यत आहुः न काल इति । अत्र फले इत्यधिकारे वा ॥ १॥ ॥

अग्रे प्रतिबन्धकत्रयोक्तिरिह साधनदशायामेव । तदुक्तं मूले वाधकानां परित्यागेति ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु वाधकम् ॥ २ ॥

वाधकानां परित्यागो भोगेऽप्येकं तथा परम् ।

निःप्रत्युहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ३ ॥

तद्विवरणं त्रयाणां सामन्यपरित्याग इति । साधने सति स्वरूपतः लक्ष्म-
शक्यत्वात् । भोगेऽप्येकमित्यादि विशते सदेत्यन्तविवरणं भोगो द्विविध
इत्यारम्य प्रविशतीत्यन्तेन । तदनुसारेण मूलमेवं योजनायम् । त्यजेदिति क्रियापद-
मध्याहार्यम् । यथा प्रतिबन्धद्वये एकस्याज्योपरो न, तथा भोगेऽपि एकं लौकिकं भोगं
त्यजेदपरमलौकिकं न । यतो निःप्रत्युहमनन्तरायभूतम् । तत्र हेतुः । महानिति । अलौ-
किकभोगः स्वरूपतो लौकिकत्वादल्पोपि फलतो महान्, अलौकिकत्वात् । अतो न
त्याज्य इति भावः । अलौकिकत्वे निमित्तमाहुः प्रथम इति । प्रथमे आधुनिकमजने सदा
निरन्तरं विशते, मजननिर्वाहकत्वेन तदंगतां प्राप्नोतीत्यर्थः । एतदेव विवरणे स्फुटीकृतम् ।

अलौकिकभोगस्तु फलानां सेवाफलांगमूतवस्तूनां मध्ये प्रथममङ्गं प्रतिबन्धा-
भावस्तत्र विशतीति न तत्यागः । तथा चोपपादितमेकादशस्कन्धे । 'कायेन वाचे'ति
श्लोकविवरणे ॥ ३ ॥

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ४ ॥

अकर्तव्यं भगवत इति श्लोकविवरणं भगवत्कृतश्चेत्यारम्य विवेक इत्य-
न्तेन । अयमर्थः । आसुरस्यापि देवाद्भगवदीयसंगे जाते सेवायां प्रवृत्तिर्भवति । तेन केन-
चित्प्रकारेणानिवार्यप्रतिबन्धे जाते स भगवत्कृत इति ज्ञातव्यम् । तेनाग्रे फलामावक्ष्य ।
तेनान्यकृतापि सेवा प्रतिबन्धात् पूर्वं कृता सापि व्यर्था । तस्यासुरत्वनिर्धारश्च । तदा
तद्वनितशोकाभावाय ज्ञानमार्गेण सर्वं तत्त्वं बुद्ध्वा स्थितिः विवेकः साधनम् । यद्यप्यासुर-
प्रसंगोत्र न वक्तव्यः, तथापि कश्चिदेव भगवदीयेष्वपि दृश्येत चेत्तदा तथा भावनीयम्, न तु
स्वीयस्य भगवानेवं करोतीति प्रभौ दोषारोपः कर्तव्य इति ज्ञापयितुं तदुक्तिरिति ज्ञायते ॥४॥

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद् घलादेतौ सदा मतौ ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

न त्याचे दातृता नास्ति तृतीये वाचकं गृहम् ।

सविघ्नोल्प इत्यस्य विवरणे सविघ्नत्वादल्पत्वादिति । साधारणभोगः
सविघ्नो विघ्नसहितः । तादृशोऽल्पः, स्वरूपतः फलतश्च । सोऽपि न लज्यते चेत्तदा
घातकः सेवाप्रतिबन्धकः स्यात् । अतः सर्वथा त्याज्यत्वाद्द्वलादाग्रहादपि एतौ
साधारणभोगप्रतिबन्धकौ मतौ, त्याज्याविति शेषः । तदुक्त विवरणे सदा प्रति-
बन्धकाविति । द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिबन्धः । तत्र ज्ञानमार्गेण
स्यात्तन्व्यमिति चिन्तानिवृत्तिसाधनं पूर्वमुक्तम् । तदसभवे साधनान्तरमाहुः द्वितीये
सर्वथेति श्लोकार्थेन । तदाभासो ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावार्थमाहेति ।
तत्प्रतीकोग्रे द्वितीय इति । विवरणमाद्यफलाभाव इत्यादि भवतीत्यन्तम् ।
आद्यफल जीवस्य दैवत्व, तदभावे भगवतो दातृता नास्ति, तदा आधि-
दैविकी फलसम्बन्धिनी सेवापि नेत्यर्थादुक्तं भवति । तत्सर्वं द्वितीयप्रतिबन्धे जाते
ज्ञात्वा सर्वथोक्तफलविपयिणी चिन्ता त्याज्या । तत्र साधारणो हेतुः । संसारनिश्चया-
दिति । 'तानह द्विपतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्' इति भगवदुक्तसंसारस्य निश्चया-
दन्यथा न भवतीति सर्वथेत्युक्तम् । न त्याज्य इति । आद्ये पूर्वाक्तसाधारणप्रतिबन्धे
दातृता भगवतो नास्तीति न, किन्तु वर्तते, अत तन्निवृत्तये चिन्ता कर्तव्या, न तु
द्वितीय इव सर्वथा त्याज्येति भावः । एवमाद्यद्वितीययोर्व्यनश्चामुन्त्वा तृतीयः साधारण-

भोगकृतः प्रतिबन्धस्तत्र कर्तव्यमाहुः । तृतीये बाधकं गृह्णमिति । अलौकिकभोगेन साधारणभोगपरित्याग आनुपंगिकः पूर्वमुक्तः । अन्यथा अलौकिकभोगो न स्यात् । उभयो रेकाधिकरणत्वाभावात् । यदि साधारणभोगं त्यक्तं न शक्ययात् तदा सेवाप्रतिबन्धकत्वेन तन्मूलभूतं गृहं त्यजेदित्याशयेन तद्विवरणं भोगाभावस्तदेत्यादि ।

ननु त्यागतः प्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रेण सेवाया असम्भवे तदधिकारिणां कथं तत्फल-
प्राप्तिः । तदभावे च द्वितीयतुल्यता स्यात् । जीवस्य देवत्वमपि व्यर्थं भवेत् । तस्मादत्र
त्यागोक्तितात्पर्यं किमिति न बुध्यत इति चेत्, इदमाभाति । सेवाधिकारिणां मध्ये येषां
गृहमनुकूलम्, तेषामन्यतः प्रतिबन्धः साधारणः, तेन तन्निवृत्तिः कर्तुं शक्या । ततः सेवया
तत्फलप्राप्तिः । भोगश्च तेषामप्रतिबन्धहेतुरलौकिकत्वादिति पूर्वमुक्तम् । येषां पुनः
गृहमेव प्रतिबन्धकम्, तेषां तत्परित्यागादेव लौकिकभोगनिवृत्तिः । त्यागोपि सन्ध्यासनिर्ण-
योक्तप्रकारेण भक्तिमार्गीयो ज्ञेयः, न तु कर्ममार्गीयो ज्ञानमार्गीयो वा । एवं सति तत्फल-
प्राप्तिरपि तेषामपीतिमन्ने तु नोक्तविरोधः शंकनीयः ॥ ५॥ ॥

अग्रिमश्लोकद्वयस्य विवरणाभावादेवं योजना ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७॥ ॥

इयमुक्तरीतिः । अवश्या स्वतो भावयितुमशक्यापि मदुक्तत्वात् सदा
भाव्या । अवश्यं भाव्येति वा । यत्र यथा दृश्येत तत्र तथा भाव्येत्यर्थः । ततः किमि-
त्यत आहुः सर्वमिति । उक्तरीतितोन्यत् सर्वं मनोभ्रम इति ज्ञायत इत्यर्थः ।
सर्वैः कथमेवं नांगीक्रियत इत्याशंक्याहुः तदीयैरिति । भ्रमसंघनिधिमिरासुरैस्त्वत् कार्यं
कर्तव्यमित्यर्थः । भक्तिमार्गीयैस्तु मदुक्तिभावनायां विलम्बो न कर्तव्य इत्याहुः पुष्टौ
नैवेति । कदाचिदासुरस्यापि सेवाप्रतिबन्धे जातेपि भगवद्गुणश्रवणादिना प्रेमलक्षणं
पुलकादि दृश्यते तत्र किं भावनीयमित्यत आहुः गुणक्षोभेपीति । क्षोभोत्पुलकादिः, स
तु गुणवस्तुस्वभावादासुरस्यापि भवतीति गुणमाहात्म्यमेव । अत एतत्पूर्वोक्तमेव तत्रापि
द्रष्टव्यं भावनीयमित्यर्थः । उक्तविश्वासाथमाहुः मे मतिरिति । मतिः सम्मतिः ।
भ्रमस्वरूपमाहुः कुसृष्टिरिति ॥ ७॥ ॥

ययामति कृता सेवाफलोक्तिविवृत्तौ मया । टिप्पणी पर्वणीवेन्दुः प्रकाशयतु सर्वतः ॥ १ ॥

यदत्रानुचितं किञ्चिदलेखि मतिमान्यतः । क्षम्यतां तत्रहृत्सायैः शिशौ धीर्तमिवेप्सितम् २

इतिश्रीदेवकीनन्दनकृता सेवाफलोक्तिविवृत्तिटिप्पणी समाप्ता ॥

श्रीरूप्याय नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीहरिरायकृतसेवाफलोक्तिविवृत्तिसमेतम् ।



श्रीकृष्णं कुलदैवतं तदनु च श्रीवल्लभाख्यान् निजान् ।

आचार्यानथ विद्वलेश्वरमहं नत्वा प्रभुं सर्वथा ॥

श्रीगोविन्दभतीवभावविवशं तातं स्वमर्यादया ।

ख्यातं मत्फलजातहेतुमधुना किञ्चिद्दाम्यक्षमः ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्याः स्वीयानां बहुलग्न्यावलोकनप्रयासमसहमानाः संक्षेपेणैव स्वमा-
गीयसेवाफलप्रतिग्रन्थसाधनानि निरूपयन्तः प्रथमं फलं निरूपयन्ति यादृशी सेवनेति ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

यादृशी यादृक्प्रकारिका स्वतःपुरुषार्थत्वेन कालापरिच्छेदेनावश्यकर्तव्यत्वेना-
करणे प्रत्यवायजनकत्वज्ञानेन क्रियमाणस्वसाधनभूततनुवित्तयुतसेवाद्रव्ययुतमानससेवना भा-
वरूपा सदानन्दसेवा मया प्रकर्षेण मुख्यतया फलरूपतया चोक्ता निरूपिता सिद्धान्त-
मुक्तावत्यां 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'ति । तस्याः सिद्धौ यावज्जीवनिर्वाहेण प्रपञ्चविस्तृतिसु-
ततदासक्त्या व्यसनरूपत्वसिद्धौ यत्फलं तदुत्पाद्यं फलत्वेनाभिमतम्, तदुच्यते
निरूपयत इत्यर्थः । तनु सेवायाः सर्वत्र ग्रन्थेषु फलरूपत्वोक्तेस्तत्फलोक्तिरनुपपन्नेत्याशं-
क्याहुर्विवरणे सेवायां फलत्रयमिति । सेवायामेव क्रियमाणायामेतत्रयं भवतीति ।
तदुत्तरमपि सेवासत्त्वेन तन्मध्यपतितया न तस्याः स्वतःपुरुषार्थत्वहानिरित्यर्थः । अत
एव सेवायामित्यत्र पशुमनादस्य सप्तमी विभक्तिरुक्ता । तत्रयमेवाहुः अलौकिसामर्थ्यं
सायुज्यं सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्विति । तथा लौकिकसामर्थ्यं हि भगवतः
कोटिसर्वाधिकरूपस्यात्यन्तिकफलदित्सायां सर्वलीलाविशिष्टस्य प्रभोर्हृदयप्रवेशे तदनुभव-
सामर्थ्यम् । तच्च न शरीरान्तरे सम्भवतीति तादृशसामर्थ्यवच्छरीरप्राप्तिर्मुग्या । सा च
प्रभुणैवापारकरूपेणैव सम्पाद्यत इति प्रभुसंपादितालौकिकशरीरनिष्ठस्वरूपानुभवक्षमसामर्थ्य-
मेव प्रमाणानुरोधप्रमेयसाध्यं मुख्यं फलमित्यर्थः । अत एवोक्तं प्रभुभिः श्रीयमुनां प्रति
प्रार्थयद्भिर्भमास्तु तव सन्निधौ तनु नवत्वमिति । नवत्वं च तादृक् सामर्थ्यमेव । अत एव
तनुनवत्वमेवोक्तं न तु नवतनुत्वमिति । तथा च यथा व्रजरथानां सर्वदा लीलासुखमनु-

भवतामन्ते तादृक् सामर्थ्यमेव सम्पादित येन स्वदत्तस्वरूपानुभवो निष्प्रत्यूह भवति नान्यावस्था । तथान्यत्रापि तदनुग्रहत परमानुरागेण तथा फलदित्साया पूर्वदेह स्ववियोगाग्निना शुद्ध विधाय तस्यैवालौकिकत्व सम्पाद्य तत्र तादृक् सामर्थ्यं प्रकटयती ललौकिकसामर्थ्यमेव मुख्य फलमितिभाव ।

प्रमाणानुरोधप्रमेयसाध्य मध्यम फलमाहु सायुज्यमिति । सह युनक्तीति सयुक् तस्य भावस्तत्त्वम् । भगवता सह सततस्थितिरिव सार्वदिकसयोगरसानुभव इति यावत् । तथा च लक्ष्मीवदन्तर्यहगोपिकावद्वा भक्तिमार्गीयेण प्रकारेण युगपदखिलपुण्यपापक्षयद्वारा पात्रभौतिकदेह निबर्त्तलौकिक दत्त्वा स्वस्मिन्नेव स्थितिं विधाय ततो निष्कास्य स्वलीलानुभव प्रशुकारितो मध्यम फलमिति भाव मध्यमत्व चास्य विप्रयोगरसानुभवमपेक्ष्य तदुत्कर्षस्य सहृदयानुभवसाक्षिकत्वात् ।

उभयसाधारणमधिकाररूप तृतीय फलमाहु सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्विति । सेवाया क्रियमाणायामेवानुग्रहविशेषाभावात् साक्षात् सेवानुपयोगे अन्यैः तादृशसाक्षाद्रसानुभवकर्तृभिः क्रियमाणायाम् सेवाया उप समीपे योग, तद्वत्पक्ष्यादिशरीरप्राप्तिस्तृतीय फलमित्यर्थ । तस्य चान्तरमणानुकूलत्वात् फलत्वम्, यहि साक्षात् सम्बन्धामावादाधिकाररूपत्वमित्यर्थ । अत एव 'प्रायो वनाग्ने'त्यत्र मुनीना पक्ष्यादिशरीरप्राप्त्या स्वाधिकारानुसारेण सेवा तद्रसानुभवयोन्यता चेति निरूपितम् ।

एव फलत्रय निरूप्य आद्यफलस्य दुर्लभत्व निरूपयन्त फलत्रैविध्ये हेतु च समर्थयन्तो दानमात्रसाध्यत्व प्रथमफलस्य निरूपयन्ति अलौकिकस्येति ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

अलौकिकस्य स्वविरहानुभवक्षमसामर्थ्यस्य दाने भगवता स्वाग्रहेण दुःखानुभवरूपतया तदनिच्छायामपि तथा सम्पादने, चकारात् तदेहेन्द्रियादिषु स्वस्वरूपस्थापने सति आद्यः प्रथमफलविषयक सत्स्काररूपसमर्पणसमयनक्रियमाणो मनोरथस्ताप हेतुशानन्दप्राप्तिरूप सिध्येदित्यर्थ । हीति युक्तोपमये । यतो लीलास्थितेष्वपि केषांश्चिदेव रासमण्डलमण्डनायमानानां तदानम् । अत एवान्तर्यहगतानां प्रतिबन्ध इत्यत केवलप्रभुदानैकसाध्यत्वमिति भावः ॥ १ ॥

अतः पर सायुज्यसेवोपयोगिदेहाप्तिरूपयो फलतदधिकाररूपमध्यमान्तरफलयो पूर्वफलवदनियतत्वाभावात् कदाचित् कालसाध्यत्व ज्ञानादीनामिवाशक्येत तदभावार्थमाहु फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोद्य नियामक ।

फलं सायुज्यम् । अधिकारः सेवोपयोगिदेहाप्ति । अत्रेतदुभयो फलयो

फालो न नियामकः सत्त्वादिरूपः फलदः कठिरूपः प्रतिबन्धको वा नेत्यर्थः । एतेन कालानियम्यत्वेनैतत्फलस्य नित्यत्वमपि सूचितम् । अत एव कपिलदेवैरपि 'नो निमिषो लेखि हेतिरि'ति निरूपितम् । अत्र वाशब्दद्वयमधिकारस्यापि फलरूपतया तत्समकक्षल-
योधनाय ।

एवं सोपपत्तिकं फलत्रयं विविच्य प्रतिबन्धकत्रयं विवेचयितुं निरूपयन्ति उद्वेग इत्यादि ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

मूले बाधकमित्येकवचनेन मिलितानामेव बाधकतेत्याशंक्याहुः विवरणे सेवायां प्रतिबन्धकत्रयमिति । उद्वेगो नाम मनसः सेवायां क्रियमाणायामुत्कृष्टो वेगः सर्वथा तत्रास्थिरता चाहिर्मुख्यमिति यावत् । स च सेवाया अनाधिदैविकीत्वसम्पादकतया प्रतिबन्धकः । तस्मिन् सति क्रियमाणसेवायाः केवलकार्यिकीत्वान्मानसीत्वाभावेन प्रतिबन्धेनानाधिदैविकीत्वात् । एवमुद्वेगं निरूप्य प्रतिबन्धभोगौ निरूपयन्तः प्रथमं प्रतिबन्धस्यानिवार्यत्वेन पाठक्रममनपेक्ष्यार्थक्रमेण भोगं निरूपयन्ति भोगो द्विविध इति । भोगे द्वैविध्यं लौकिकालौकिकभेदेनेति तदाहुः लौकिकोऽलौकिकश्चेति । तत्र लौकिको लौकिकपदार्थानां भगवत्सम्बन्धरहितानां स्वत आसक्त्या भोगः । अलौकिकस्तु प्रभुसम्बन्धी । स तु प्रतिबन्धक एव न भवति । तस्य फलानां मुख्यमध्यमसाधारणानां मध्ये प्रथमफलेऽलौकिकसामर्थ्येन प्रभुस्वरूपानुभवरूपसभोगे प्रवेशात् । यतः सर्वेन्द्रियैस्तत्सम्बन्धिपदार्थेष्वनुभूयमानेषु तत्र तत्र स्थितो रसात्मा प्रभुरेवानुभूयत इति भावः । एवं भोगं निरूप्य प्रतिबन्धं निरूपयन्ति प्रतिबन्धोपीति । साधारणः सर्वसाधारणः, सेवायां लौकिकवैदिककार्यान्तरव्यासक्तिः । भगवत्कृतप्रतिबन्धस्यासुरमात्रविषयत्वेनासाधारणत्वादनिवर्त्यत्वेनावक्तव्यत्वाच्च त्रय एव बाधका उद्वेगलौकिकंभोगसाधारणप्रतिबन्धा इत्यर्थः । ननु कथमेतेषां सिद्धानां त्याग इत्याशंक्याहुः अग्राणामिति । उद्वेगलौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धकानां त्रयाणां साधनं तज्जननेतुमृतं तस्य परित्यागः कर्तव्यः, हेतुच्छेदे पुरुषव्यापारात् । सिद्धस्य स्वरूपलाभे त्यागानर्हत्वात् । नहि केनापि स्वसामग्रीसम्पादितं सुखदुःखादि किञ्चिदपि स्वयन्नशतेनापि त्यक्तुं शक्यते । ननु साधारणप्रतिबन्धे सेवायां लौकिकवैदिककार्यापत्तिरूपे साधनस्य लोकवेदसिद्धतयाऽशक्यत्यागत्वात् कथं तत्याग इत्याशंक्य तदुपायमाहुः तत्राद्य इति । तत्र साधारणभगवत्कृतप्रतिबन्धयोराद्यः साधारणः बुद्ध्या उपायचातुर्येण स्याज्ज इत्यर्थः । बुद्धिस्तु सेवायां प्रतिबन्धत्वेन यदापतति लौकिकं वैदिकं तस्य पूर्वमेव सेवानवसरसमयमवेक्ष्य निर्धारो विधेयो यथा न सेवां प्रतिबन्धाति । तथा च पुत्रविवाहदेस्तथैव लप्तादि विधारणीयम्

१ फलेषु प्रथमफले अलौकिकसामर्थ्ये तत्रपेक्षस्य वक्तव्यत्वात् प्रवेशथालौकिकसामर्थ्येन प्रभुस्वरूपानुभवस्य स्वभोगरूपत्वादिति पाठान्तरम् । २ लाभेनेति तृतीयान्त- पाठः ।

यथा न सेवाप्रतिबन्धः । परोपकारादेस्तु धर्मस्य गौणधर्मत्वज्ञानेन त्यागः । कालान्तरे वा करणम् । एवमन्यत्रापि सर्वत्र हरिचरणरतिप्रतिबन्धविनञ्जनी बुद्धिरनुसन्धेया । यद्वा । कदाचिदावश्यकलौकिकवैदिककार्यापाते तत्प्रयत्नसम्भवेन त्यागः कथं शक्यत इत्यत आहुः बुद्ध्येति । शरीरादिना तत्कार्यकरणेपि तत्र बुद्धिर्न स्याप्येत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं साधारणप्रतिबन्धं निरूप्य भगवत्कृतप्रतिबन्धं निरूपयन्ति ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि ।

अकर्तव्यमिति मूले । विवृत्तौ भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध इति । भगवतः सर्वसमर्थस्यापि स्वतन्त्रेच्छतया यस्मिन्न किञ्चिदपि कृतिविषयः सर्वथा सर्वप्रकारेण प्रार्थनायामपि तदा गतिर्निस्तारो न सर्वथा फलाभाव इत्यर्थः । हीति युक्तोयमर्थः । सर्वमार्गफलदातुः प्रभोः प्रातिकूल्ये केनापि मार्गेण फलासिद्धेः । अत्रायमाशयः । भक्तिमार्गे विशिष्टेच्छायाः कारणत्वान्न सामान्येच्छारूपमूलेच्छया मर्यादया वा फलसिद्धिः प्रतिबन्धो वा । किन्तु स्वयमंगीकृत्य यस्मिन् जीवे प्रसुर्वदा यथेच्छति, तदा तत्र तथा करोतीति वस्तुस्थितिः । तथा च भक्तिमार्गे प्रशुत्स्य निरन्तरं सेवां कुर्वतोपि कदाचिद्दुःसंगादिनाऽतिपक्षपातिप्रमु-प्रियप्रदेषेण तद्गोद्रे प्रमोरतिकोपेन प्रार्थनयापि क्षमामम्भावनाहितेन तस्मिन् प्रभुः फलप्रतिबन्धं करोतीति स भगवत्कृतप्रतिबन्धः । तस्मिन् सति सर्वथा सर्वमार्गफलाभाव इत्यर्थः । ननु भगवत्कृतप्रतिबन्धेऽप्यन्येषां फलदातृणां सेवया फलान्तरं भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः तदान्यसेवेति । यदा 'फलमत उपपत्ते'रिति न्यायेन सर्वत्र फलदातुः प्रभोः प्रातिकूल्यं तदान्येषामपि तदधीनानां फलदातृत्वाभावात् तत्सेवापि फलासाधकत्वाद् व्यर्थेत्यर्थः । ननु सर्वथा फलाभाव आसुरेष्वेवेति कथं दैवस्य भगवत्कृतप्रतिबन्धे तथात्वमित्याहुः तदा-सुरोऽयमिति । जीवानां हि सृष्ट्यादावपि 'निबन्धायासुरी मते'ति वाक्येन भगवत्कृतप्रतिबन्धादेवासुरत्वम् । यच्च यदा प्रभुः कर्तुमिच्छति तदैव भवतीति तदा तस्मिन्नेव समयेऽप्यस्मिन्नेवप्रतिबन्धः स जीव आसुरः सेवाददिना दैवत्वेन प्रतीतोपि आसुर एवेति निर्धारो निश्चय इत्यर्थः । एतेनैतत्प्रतिबन्धस्वरूपविद्धिः सर्वथा दुःसंगादिषु साधधानैः श्लेयमित्युक्तं भवति ।

ननु तादृशस्य पश्चात्तापे शोकोत्पत्त्या पूर्वं भक्तिमार्गाय इति तदभावार्थं तत्त्वनिर्धारोपायमूतं विवेकरूपं साधनमाहुः यथा वेति ।

यथा या तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

याशब्दोनादरे । येनैव प्रकारेण । नात्राग्रहः । एतत्तत्त्वनिर्धारस्य शोकाभावमाश्रयत्वाच्चोपनिषज्ज्ञानमपेक्षितम्, किन्तु यथाकथञ्चित् सांख्ययोगेनान्येन वा भाषाप्रबन्धादिनोपायेन तत्त्वनिर्धारं विधाय शोकाभावार्थं विवेकः सम्पादनीय इत्यर्थः । विवेकस्तु

ममैतदेव प्रभुणा कृतं सर्वं ब्रह्मात्मकं कोहं किञ्च साधनं किं फलं को दाता को वा भोक्तेत्यादिरूपः । तमेव च तत्त्वनिर्धारोपायं विवृतौ विशदयन्ति ज्ञानमार्गणेति । ज्ञानमार्गेण ज्ञानसाधनोपायेन स्यात्तद्व्यमित्यर्थः । किञ्च ज्ञानस्थित्यापि न तन्मार्गीया मुक्तिः, किन्तु शोकाभाव एवेत्याशयेनाहुः शोकाभावायेति ॥ ३ ॥

अतः परं यदर्थमेपां निरूपणं बाधकानां तत्प्रयोजनमाहुः बाधकानामिति ।

बाधकानां परित्यागो भोगेष्वेकं तथा परम् ।

निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ४ ॥

बाधकानामुद्देश्यभोगप्रतिबन्धानां परित्यागः परितस्त्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । भोगस्य बाधकत्वेन त्याज्यत्वमुक्त्वाऽलौकिके तदभावमाहुः भोगेपीति । भोगेष्वेकमलौकिक-भोगरूपं फलप्रविष्टतया तथा तेनैव प्रकारेण, परं प्रतिबन्धयोः परं भगवत्कृतप्रति-बन्धलक्षणमशक्यत्यागत्वेन विहाय तथेत्यर्थः । ननु भोगयोरपि तुल्यतामाशङ्क्य तस्मिन्नलौ-किके वैलक्षण्यमाहुः निष्प्रत्यूहमिति । अलौकिकसामर्थ्यरूपे प्रथमफले भगवत्स्वरूपान-न्दानुभवरूपे भोगे क्रियमाणे प्रत्यूहोन्तरायः केनापि कालादिनापि न कर्तुं शक्यत इति निष्प्रत्यूहं स एव सिध्यति । लौकिके तु सर्वथा तदभाव इति महद्वैलक्षण्यमित्यर्थः । अत एवोक्तं प्रभुभिः सद्यसासनिर्णये 'हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं पाथां कुतोपर' इति । केञ्च महानिति । स्वरूपतः फलतः साधनतश्च महान् । विषयानन्दब्रह्मानन्दापेक्षया ज्ञानानन्दस्य महत्वादित्यर्थः । अत एव फलेष्वपि प्रथमफल एवालौकिकसामर्थ्यरूपे उत्कर्षेण प्रविशते प्रविशतीत्यर्थः । किञ्च सदेति । त्रैकालिकाबाधनिपयत्वादित्यर्थः ॥४॥

एवमलौकिकभोगे वैलक्षण्यं निरूप्य लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धावेकीकृत्य तद्व-र्त्मनिरूपणपुरःसरं वैलक्षण्यं निरूपयन्ति सविघ्नोल्पो घातकः स्यादिति ।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद्दलादेतौ सदा मतौ ।

लौकिको हि भोगः सविघ्नो विघ्नसहितः, कर्मकालादिभिस्तत्र विघ्नसम्भवात् । अल्पश्च । स्वरूपतः फलतः साधनतश्च परिच्छिन्नत्वादित्यर्थः । साधारणप्रतिबन्धो हि घातकः । सेवाकालोपरोधकतया तद्घातकः । एतौ भोगसाधारणप्रतिबन्धौ सविघ्नत्वाल्प-त्वघातकत्वादिभिर्धर्मैर्हेतुभूतैस्सागमप्यर्हत इत्याशयेनाहुर्विवृतौ ननु कथमित्यारभ्य घा-तकः स्यादित्यन्तम् । सविघ्नत्वादल्पत्वाम्भोगः प्रतिबन्धश्च घातकत्वाच्च त्याज्य इत्यर्थः ।

एवं लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धयोस्त्यागहेतुभूत धर्मशुक्त्वा भगवत्कृतप्रतिबन्धे त्यागासम्भवेन ज्ञानमार्गस्थित्यानधिकारिणो मन्दमतेः फलचिन्तया शोको भवतीति तदभावाय चिन्ता न कर्तव्येत्याहुः द्वितीय इति ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे सर्वथा सर्वप्रकारेणान्यतोपि फलसम्बन्धाभावाच्चिन्ता फलविपयिणी त्याज्येत्यर्थः । तत्र हेतुमाहुः संसारनिश्चयादिति । संसारोऽहन्ता-
ममतात्मा सर्वानर्थमूलं प्रवाहपथफलरूपः, तस्य निश्चयाद्भगवत्कृतप्रतिबन्धे संसार एव, न फलान्तरमितिनिश्चयादित्यर्थः ॥ ५ ॥

प्रतिबन्धविचारमतिविचार्यत्वेन विधायोद्देशरूपप्रथमप्रतिबन्धेन फलाभावे भगवतो दानृत्वाभावं हेतुत्वेन निरूपयन्ति नन्वाद्यइति मूले विवृतावाद्यफलेति ।

नन्वाद्ये दानृता नास्ति तृतीये चाधकं गृहम् ।

आद्येन प्रतिबन्धेन फलाभाव इत्यर्थः । नन्विति विरोधोक्तौ । आद्ये उद्देशरूपप्र-
तिबन्धे भगवतः सर्वसमर्थस्याप्यन्तःकरणैकसम्बन्धितया तद्विक्षेपरूपोद्देशे क्रियमाणे सेवाया
अमानसीत्वेन भगवत्सम्बन्धाभावादानाधिदैविकीत्वे तत्रयुक्तः प्रभोः फलदानृत्वाभाव
इत्यर्थः । अन्यथा सर्वदोषनिवारकस्य फलदानृत्वाभावो न घटेत् । एतदेव विवृतौ विशदयन्ति
तदा सेवेत्यादि । एवमुद्देशेगवाधकमुक्त्वा भोगवाधकं विवृण्वन्ति तृतीय इति ।
तृतीये लौकिकभोगे गृहमेव वाधकमित्यर्थः । अत्रायमाशयः । भोगो हि सर्वथा वाधकः,
भगवद्भैरवस्यसम्पादकत्वादिन्द्रियादीनां वैफल्यापादकत्वाच्च । स च यावद्ब्रह्मसितिः,
यत्नेनापि निवर्त्यमानो न निवर्तते । गृहस्य सर्वथा वाधकत्वात्तत्र स्थितावंशतोपि
भोगसम्भवाद्ब्रह्मपरित्यागः । कृष्णार्थप्रयोगेण तदासक्तिपरित्यागो वा भोगाभावाच्च
विधेय इत्यर्थः । एतदेव च विवृतौ विवृतं भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा
गृहपरित्याग इति । अत एवास्मदाचार्यैर्निबन्धे निरूपितं भगवद्भोचोत्तुवादरूपेण 'गृहं
सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तुं न शक्यते । कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णः संसारमोचक' इति ।

एवं फलत्रयं प्रतिबन्धत्रयं च निरूप्य निजान् प्रत्येतद्विचारमेवाहर्निशं कर्तव्यत्वेन
वक्तुमुगसंहरन्ति अवश्येयमिति ।

अवश्येयं सदा भाज्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

इयं फलत्रयी प्रतिबन्धत्रयी चावश्यया, न स्वशक्या । भक्तिमार्गे फलप्रतिबन्धप्राप्ति-
निवृत्त्योः केवलभगवदधीनत्वात् । तथापि सदा निरन्तरं भाज्या कर्तव्यत्वेन विचारणीया,
विचारे हि भावनायाः साधनत्वात् कदाचित् फलसिद्धिः, प्रतिबन्धतश्च सावधानतया स्थिति-
सिद्धिरित्यर्थः । ननु फलान्तरं प्रतिबन्धान्तरं वा भक्तिमार्गे किञ्चिद्भविष्यतीत्याशंक्याहुः सर्व-
मन्यदिति । एतत्फलत्रयं प्रतिबन्धत्रयं चापहायान्यत्सर्वं फलप्रतिबन्धादिकल्पनं मनो-
भ्रमः स्वान्तर्प्रान्तिरित्यर्थः । अत्रेदमुक्तं भवति । भक्तिमार्गे सेवाया उत्तममध्यमसाधारणाधि-
कारक्रमेण एतत्फलत्रयमेव, न मोक्षादिः । प्रतिबन्धकं चोद्देशादिकमेव, न पापादिकमिति ।

‘स्वपादमूलं भजत’ इति वान्मयात् । तथा चैतत्फलनिहिताशरेतत्प्रतिबन्धसावधानैरन्यतो निश्चिन्तैः सर्वैः सेवैव विधेयेति भावः ॥ ६ ॥

नन्वेतत्फलप्रतिबन्धकादिनिरूपणं तदाश्रितान्प्रति घटते तदीयदेहादेरामत्वात्, तदीयानां तु देहेन्द्रियादेः साक्षात्पुरुषोत्तमसमर्पितत्वेन फलरूपप्रभुसम्बन्धात् प्राप्तफल- तथा तान्प्रति फलप्रतिबन्धनिरूपणं व्यर्थमित्याशङ्क्य आहुः तदीयैरपीति ।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

तदीयैः कृतात्मसमर्पणैरपि तत्फलप्रतिबन्धकादिभावनं कार्यमवश्यकर्तव्यम् । पुष्टिमर्यादायामङ्गीकारेण फलविलम्बाद्भजनं कारयित्वाैव फलदानात् । अविलम्बस्तु केवल- पुष्टावेवेत्याहुः पुष्टौ नैव विलम्बयेदिति । पुष्टौ केवलपुष्टौ मर्यादाऽभावेन साक्षा- दङ्गीकाराच्च विलम्बः । साम्प्रतं तु पुष्टिमर्यादायामेवाधुनिकानामङ्गीकाराद्भजनसिद्धिविल- म्बसद्भावेन तावत्पर्यन्तं प्रोषितभर्तृका इव फलप्रतिबन्धभावनं सर्वदा कार्यमित्यर्थः ।

एतदेव निमित्तमन्यत्राप्यतिदिशन्ति गुणक्षोभेपीति ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

तदीयानां गुणक्षोभोपि विलम्बादेव निमित्ताद् देशान्तरस्थपतिकाया इव भवति । तत्राप्येतदेव फलप्रतिबन्धकादिभावनं साधनत्वेन द्रष्टव्यम् । एतद्विचारेण चित्तस्य प्रभु- परतया गुणक्षोभोपि न भविष्यतीत्यर्थः । ननु गुणक्षोभनिवर्तकानि साधनान्तराणि भविष्य- न्तीत्याशङ्क्याहुः मे मतिरिति । विचारे क्रियमाणेऽस्मन्मतेरत्रैव पर्यवसानान्नान्यत्साधन- मित्यर्थः ॥ ७ ॥

नन्वत्र काचित् कुसृष्टिरुत्पद्यते, तदीयत्वे नियमेन फलसम्भवात्, तदवैयर्थ्यापत्ति- मिया प्रतिबन्धासम्भवाच्च, तदीयत्वे ह्युभयाभावादेवं न निरूपणमुचितमित्याशङ्क्याहुः कुसृष्टिरिति ।

कुसृष्टिरत्र वा कान्चिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७ ॥

अत्रास्मिन्नर्थे वाशब्दोवधारणार्थः । अथैव या कुसृष्टिरुत्पद्यते सा सर्वथा दोषा- भावाद्धम एवेत्यर्थः । अनुपपत्तिपरिहारस्तु पुरैव प्रभोः स्वतन्त्रेच्छत्वनिरूपणेन कृत इति तत् एव विभावनीयमिति दिक् ॥ ७ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणान्जदासानुदासश्रीहरिरायधिरचिता
सेवाफलविद्युतिटिप्पणी सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीवल्लभविरचितटीकासमेतम् ।

याहशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

याहशी यत्प्रकारिका 'चेतस्तत्त्ववर्ण'मित्यारभ्य 'कृष्णमेव विचिन्तये'दित्यन्ते-
नोक्ता । तत्सिद्धाविति । तस्याः सेवायाः मानवीत्वरूपफलावस्थासिद्धौ फलमुच्यते
फलं निरूप्यत इत्यर्थः । कुत्रेत्याकांक्षायाभाहः टीकायां सेवायामिति । फलत्रयमिति ।
फलतावच्छेदकत्रयमित्यर्थः । यथा स्वर्गस्य फलत्वं तदवच्छेदकं चायुतपानादिकं तथा मान-
सेवायाः फलत्वं तदवच्छेदकं चेदं फलत्रयम् । सेवायां फलत्रयमित्यनेन पूर्वार्थाथ
उक्तः । उत्तरार्थाथमाहुः अलौकिकसामर्थ्यमिति । मूलेऽलौकिकस्यैवलौकिकस्य
सामर्थ्यस्य । अलौकिकसामर्थ्यं सर्वाभोग्यसुधा । तस्या दाने । आद्य इति ।
आद्यो मनोरथो 'भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य चेत्यादिभिरुक्तः पूर्वोक्तसुधा-
भोगरूपः सिध्येत् पूर्णो भवतीत्यर्थः । अनेन शृंगाररसस्य पूर्वदलानुभव उक्तः । चका-
रादलौकिकसामर्थ्येनैव तदुत्तरदलानुभवोपि भवति । स तु परितो गलनरूपवर्णनेनामि-
रमणात्मको ज्ञेयः । एतेन दीयमाना सुधा साधनं भुज्यमाना सुधैव तु फलमिति सूचि-
तम् । वैष्णवीते 'वर्णनायां मुखे समागच्छन्ती मुखमपि स्वभोगयोग्यं करोती'ति निरूपितम् ।
'वर्णयन्त्वोभिरेभिर' इत्युत्तरदलानुभवोपि सुधापूर्णैव निरूपितस्तत्सम्पत्तिसूचनाय हि-
शब्दः ॥ १ ॥

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

फलं वा ह्यधिकारो वेत्यसार्थमाहुः सायुज्यमित्यादिना । मूले फलं चेति ।
सायुज्यस्य सोश्रुतइत्यादिश्रुतौ फलत्वेनैव प्रसिद्ध्या फलपदं सायुज्यवाचकम् । तथा च
द्वितीयं फलं सायुज्यमित्यर्थः । तृतीयं फलमाहुः अधिकार इति । एतदर्थमाहुः टीकायां
सेवोपयोगिदेहो वैकृष्ण्टादिष्विति । अत्र आदिशब्देन श्रीमथुराश्रीवृन्दावनादिकं
श्राद्धम् । मूले न काल इति । अत्र सेवोपयोगिदेहे कालो न प्रेरकः । यथा लीलासृष्टिशा
आम्रवृक्षादयो न कालप्रेर्याः, किन्तु भगवदिच्छयैव पुष्प्यन्ति फलन्ति च, एवं जंगमा
अपि सेवोपयोगिनो देहाः भगवदिच्छयैव अवयवादिस्मृतिं लभन्ते ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु घाघ्नकम् ॥ २ ॥

उद्वेग इति । श्लोकार्थमाहुः सेवायामिति । उद्वेग इति । मनसोन्यपरता उद्वेगः । कायस्यान्यपरता प्रतिबन्धः । इन्द्रियाणामन्यपरता भोगः । इदं त्रयं बाधकम् । तनुवित्तजसेवायां फलजननसामर्थ्यस्य भक्तिरहस्यमजनस्य बाधजनकं विसामप्रतीहेतुः प्रतिबन्धकमिति मूलार्थः ॥ २ ॥

अकर्तव्यमित्यारभ्य विशते सदेत्यन्तस्वार्थमाहुर्विवरणे त्रयाणामित्यारभ्य चिवेक इत्यन्तेन । त्रयाणामिति । उद्वेगसाधारणप्रतिबन्धलौकिकभोगानामित्यर्थः । साधनेति । एतत्रयाणामेव बाधकत्वात् । ननु कथमेतन्नयस्यैव बाधकत्वं न तु पञ्चानामित्यतो व्यवस्थामाहुः भोग इत्यादिना । लौकिक इति । अनिवेदितपदार्थानां समर्पणं विना विपयासक्त्योपभोगो लौकिको भोगः । अलौकिक इति । निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्वत्प्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरलौकिको भोगः । तत्राद्य इति । आद्यो लोककृतः साधारणः । बुद्ध्या इति । विभावनयेत्यर्थः । फलानां मध्ये इति । यस्य फलप्रयमपि भवति तस्य सेवोपयोगिदेहरूपे प्रथमे फले प्रविशति सम्बद्धो भवतीत्यर्थः । एतद्भोगस्यैतत्फलसाधकत्वेन पूर्वं फलसम्बन्धः । तदुत्तरं च दासपर्मत्वेनैतत्करणादुत्तरं सम्बन्धः । इत्यत्र पूर्वोत्तरमपि फले व्याप्तो भवतीति प्रोपसर्गार्थः । अयं मूले सदेत्यव्ययार्थो ज्ञेयः । निःप्रत्य्यूहमिति हेतुमर्भम् । यतोयमदृष्टादिकृतविघ्नाभावाद्भिःप्रत्य्यूहं सिध्यत्यतो महानित्यर्थः । यद्यपि पाठक्रमेण सेवोपयोगिदेहस्य तृतीयफलत्वम्, तथाप्यनुक्रमानुरोधतः तस्य प्राथम्यमेव सिध्यति । किञ्चित्साधिकारत्वेन निरूपणादपि तथा । भगवत्कृतप्रतिबन्धश्चेदिति । श्रवणकीर्तनादिना हरिश्चेष्टदये निविशते तदा पूजा सर्वदा निर्वहति । तस्या अभ्यासे तस्यां भक्तिरहस्यभजनरूपं सामर्थ्यं सिध्यति । क्रियमाणेषु श्रवणकीर्तनादौ हरिश्चेष्ट निविशेत तदाभ्यासो न भवति । तेन जाता तनोरन्यपरता या स भगवत्कृतप्रतिबन्धः । तदा भगवत्कृतप्रतिबन्धे अन्यसेवा महापुरुषादिसेवा व्यर्था निःफलेत्यर्थः । अपिना भगवत्सेवापि तथेति ज्ञेयम् । क्रियमाणेषु श्रवणादौ चेन्न हरिनिवेशस्तदेत्यर्थः । पूर्वमेव ज्ञानादिमार्गप्रवृत्तौ तु नासुरत्वमिति बोध्यम् । नन्वासुरत्वे श्रवणादौ प्रवृत्तिरेव कथमित्यत आहुः । जीव इति । स जीव आसुरस्तस्यान्तःकरणं तु दैवमतः प्रवृत्तिरिति भावः । ननु तर्हि किमासुरेण कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः तदा ज्ञानमार्गणेति । अन्तःकरणस्य दैवत्वे इत्यर्थः । अन्तःकरणसासुरत्वे तु संसारनिश्चयाञ्छोकाभाववक्ष्यन्तीति ज्ञेयम् । शोकाभावसाधककंसोपदिष्टज्ञानमार्गणेत्यर्थः । चिवेक इति । आद्यो बुद्ध्या त्याज्यः द्वितीये त्वासुरज्ञानमार्गेण स्थेयमिति द्वयोः प्रतिबन्धयोर्विवेकः इत्यर्थः ।

भगवत्कृतश्चेदित्यारभ्य विवेक इत्यन्तेनाकर्तव्यमित्यस्य विवरणं ज्ञेयम् । इत्य-
श्लोक्तत्रयाणामेवात्र बाधकत्वम् । अलौकिकभोगस्य प्रथमे प्रवेशात् बाधकत्वम् । भगव-
त्कृतप्रतिबन्धेषु सामर्थ्यानुत्पाद एव न तु जातस्य बाधोत्सस्यापि न बाधकत्वम् ।
प्रतिबन्धकत्वं तु भवत्येव । प्रतिबन्धो विसामग्रीतद्देतुः, प्रतिबन्धक इत्यत्र विसामग्री-
पदस्य सामग्रीबाधात्यन्ताभावोभयवाचकत्वादिति बोध्यम् ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

बाधकानां परित्यागो भोगेष्वेकं तथापरम् ।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ४ ॥

मूले श्लोकद्वयोजना । भगवतः सर्वथा सेवायां सामर्थ्यं अकर्तव्यं चेत् तदा
गतिः फलं न हि न भवतीत्यर्थः । ननु तदा तस्य किं साधनं शोकाभावाप्येतत् आहुः
यथा वेति । येनात्मतत्त्वनिर्धारो भवति तादृशो विवेकः आत्मानात्मविवेकः शोकाभाव-
साधनं मतमित्यर्थः । 'तस्माद्भद्रे स्वतनयान् मया व्यापादितानपि मानु शोचे'त्यत्र तस्य
ज्ञानस्य शोकाभावहेतुत्वकथनान्मतमित्युक्तम् । भोगेष्वेकमिति । जाल्यभिप्रायेणैकवचनम् ।
अपरमिति । न परमपरम्, हीनम्, बाधकत्वात्याज्यामित्यर्थः । ननु कथं न द्वितीयो
बाधकस्तत्राहुः निःप्रत्यूहमिति । निर्विग्रहम् । हेतुगर्भमिदम् । यतो निर्विग्रहं यथा भवति
तथा सिध्यति, अदृष्टदेर्बाधकत्वाभावात् । अतो महान् । एतादृशो भोगः प्रथमे फले
सेवोपयोगिदेहे सदा विशते, पूर्वमुत्तरं च सम्बद्धं भवतीत्यर्थः । पाठकमं दृष्ट्वा अलौकिकसामर्थ्यं
प्राथम्यं मन्वानस्य ग्रमनिरासाय टीकायां फलानां मध्य इत्युक्तम् । यस्य फलत्रयमपि
भवति तस्य यत्प्रथमं फलं सेवोपयोगिदेहे इत्यर्थः ॥ ३ ॥ ४ ॥

सविभ्रोल्पे घातकः स्याद् चत्वादेनौ सदा मनी ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

सविन्न इत्यत्र टीकायां सविप्रत्यादिति । अत्रापि सविप्रपदं हेतुगर्भम् ।
तथाचायमर्थः । घातको लौकिकभोगः, यतः सविन्नः, अतोल्पः स्यादिति हेतोस्त्याज्य
इति । एताविति । साधारणभगवत्कृतौ चलाद्धेतोः सदा प्रतिबन्धकं मती । मनस
इन्द्रियाणां चान्यपरतारूपानुद्देशभोगौ सामर्थ्यबाधकौ । नन्वन्यपरतारूपविमौ तु
कारणमैव बाधकौ । तनुजसेवैवानभ्यस्ता भवत्यतो बलिष्ठत्वात् प्रतिबन्धनामकावेव
जातावित्यर्थः । ज्ञानस्थित्यभाव इति । पूर्वोक्तासुज्ञाने स्थित्यभावे । द्वितीय
इतीति । द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे जाले । मूले संसारनिश्चयादिति । अत्र संसारपदं
देहादिपरम्, तथा च 'विरोचनोक्तदेह एव महत्प्य' इत्यादिरूपनिश्चयादित्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु सेवोपयोगिदेहस्य कथमविकारत्वम्, अविकारत्वे वा कथं फलत्वमित्यत आहुः
नन्वाव्य इति ।

नन्याये दातृता नास्ति तृतीये धायकं गृहम् ।
अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

नन्विति कोमलाम्रणे । आद्ये सेवोपयोगिदेहरूपफले सति या भवति फलद्वय-
दातृता सा सेवोपयोगिदेहरूपाद्यफलमाये नास्तीत्याद्यफलसाधिकाररूपतेत्यर्थः । तथा
च यस्याद्यफलमेव फलं तं प्रत्याद्यस्य फलत्वमेव । यस्य च पुनरग्रेषु सायुज्यादिफलं
तं प्रति आद्यफलसाधिकारत्वमेवेति भावः । एतेन फलत्रये तारतम्यमपि सूचितमिति
बोध्यम् । टीकायां तदा सेवेति । आद्यफलमावेत्यर्थः । गृहे तृतीय इति । लौकिक-
भोगरूपप्रतिबन्धके सति धायकं गृहं सेवाप्रतिबन्धकं लौकिकभोगसङ्गकं भार्यादि त्याज्य-
मिति शेषः । अचश्येयमिति । इयं प्रतिबन्धकत्रयी फलत्रयी च सदा निरन्तरं भाव्या
विभावनीया । भावनया प्रतिबन्धककृतप्रतिबन्धनिवृत्तिर्भविष्यतीति भावः । सर्वमिति ।
ज्ञानादीनां साधनत्वं तत्साध्यमोक्षस्यैव फलत्वमिति मनोभ्रममात्रम् ॥ ६ ॥

ननु 'तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे' इत्यनेनात्मनिवेदिनां प्रति-
बन्धकभयाभावात् किं निवर्तनेत्यत आहुः तदीयैरपीति ।

तदीयैरपि तत्कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

भगवदीयैरपि पूर्वोक्तत्रयीद्वयविभावेन प्रतिबन्धनिवर्तनं कार्यमेव । तत्र हेतुमाहुः
पुष्टाविति । तथा सति पुष्टौ मर्यादांशत्यागे भगवान् विलम्बं न कुर्यादित्यर्थः । अन्यथा
तु यद्यपि निवेदनपदार्थो न नश्यति तथाप्यलौकिकदेहप्राप्तौ विलम्बो भवत्येवेति । ननु गुणै-
श्चित्तक्षोभे भावनाया असम्भवात् कथं तन्निवृत्तिरित्यत आहुः गुणक्षोभेपीति । सोप्येतेनैव
निवर्तिष्यत इति भावः । ननु गुणक्षोभनिवृत्त्यर्थं हंसावतरिण एकादशस्कन्धे प्रकारान्तर-
मुक्तमित्यत आहुः इति मे मतिरिति । मन्मत्तिसिद्धोयं प्रकारः । तथाच मर्यादापुष्टि-
भेदेन व्यवस्येति भावो द्रष्टव्यः ॥ ७ ॥

ननु स प्रकारो भगवदुक्तः, अयं च पौरुष इति कथं तुल्यफलत्वमित्यत आहुः कुसृष्टिरिति ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७॥ ॥

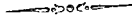
याशब्दोनादरे । ममापि वाक्पतित्वाद्य मद्भाष्ये पूर्वोक्ता अन्या वा काचित्
कुसृष्टिः किमुत्पद्येत ? नोत्पद्येतेत्यर्थः । यदि चेदुत्पद्येत तदा तस्य तादृशं ज्ञानं भ्रम एव ।
तद्बोधनार्थं नास्मत्प्रवृत्तिः, किन्तु 'सात्विका भगवद्भक्ता' इत्युक्तानां तादृशमेव बोधनार्-
थमेवास्मत्प्रवृत्तिरिति भावः ॥ ७॥ ॥

इतिश्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतसेवाफलविष्टितिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतसेवाफलविवृतिप्रकाशसमेतम् ।



प्रणम्य श्रीमदाचार्यचरणौ तत्कृपावलात् ।

सेवाफलोक्तिविवृतेर्विवृतिं वितनोत्ययम् ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः श्रुतिब्रह्मसूत्रगीताश्रीभागवततात्पर्यगोचरस्वसिद्धान्तस्य तदुचित्तजसेवात्मकस्य साधनस्य भगवत्प्रेमात्मकसेवामिद्धिपर्यन्ततां संक्षेपेण सिद्धान्त-मुक्तावल्यां बोधसौकर्यायै निरूप्य सेवाफलग्रन्थे तथैव तत्फलं निरूपयितुं प्रतिजानते यादृशीत्यादि ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

यादृशी यत्प्रकारिका सेवना सेवा, ष्यासश्नधो युजिनि युजन्तत्वाद्धारणा विनिगमनेत्यादिवत्स्त्रीत्वम्, प्रोक्ता सिद्धान्तमुक्तावल्यां व्युत्पादिता, तत्सिद्धौ तसा-स्तत्रोक्तमानमीसेवासाधकतायां सत्यां फलं यत् प्राप्यत्वेन विवक्षितं तदुच्यते इत्यर्थः । अस्य ग्रन्थस्य सक्षिप्तत्वेन दुरूहत्वात् स्वयमेव गृह्णन्तो व्याकुर्वन्ति सेवायां फल-त्रयमित्यादि । अत्र सेवामिति सत्यर्थया सप्तम्या साधनसाध्यरूपयोर्द्वयोरपि संपयो-सत्त्वा विवक्षितेति बोध्यते । तेन साधनरूपाया आवर्तने तन्निर्वाहः, साध्यरूपायाश्च निर-तरस्यैयं विवक्षितं भवतीति सूच्यते । फलत्रयमित्यनेन मूले यादृशीति सेवामिशो-पणेन यत्तदोर्नित्यमन्वयमाग्णात् फलेपि तादृशमिति प्रकारबोधकं विशेषणं स्मार्यते । तथा च तत्रोत्तममध्यमजघन्यभेदेन बाह्यमानसोरूपैर्विध्यम्य सिद्धत्वाद्वापि फलत्रय-मुच्यते इत्यर्थः । तर्हि किं तत्फलत्रयमित्यपेक्षायां टीकायां तत्स्वरूपं विभजन्ते अलौकिक-सामर्थ्यमित्यादि । तत्रालौकिकमामर्थ्यं नाम परप्राप्तिविवर्णश्रुत्युक्तभगवत्स्वरूपानुभवे 'प्रदीपप्रदाविश' इतिसुशोक्तरीतिकमगवदविशजा योग्यता यया रसात्मकस्य भगवतः पूर्ण-स्वरूपानन्दानुभवः । श्रीदेवकीनन्दना अप्येवमाहुः । श्रीहरिरायास्तु भगवद्विरहातुभव-सामर्थ्यमित्याहुः । श्रीकल्याणरायास्तु भगवता सह गानादिसामर्थ्यं मुख्यानामिवेत्याहुः । चचागोपीशास्त्रलौकिकभजनानन्दानुभवे स्वरूपयोग्यतेत्याहुः । एतत्सर्वं भगवतो नाना-विधप्रवेशहेतुकत्वाद्भगवदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वादुपपन्नम् ।

सायुज्यं 'भक्त्या माममिजानाती'त्युक्तो भगवत्स्वरूपे लयः । यथा अय्येवम्, श्रीदेवकीनन्दनाथ । श्रीहरिरायास्तु सह युनक्तीति सयुक् सयुजो भावः सायुज्यं संयोगानुभवसामर्थ्यमित्याहुः । श्रीकल्याणरायास्तु गोपानामिवेति विशेषगाहुः ।

सेवोपयोगिदेहोक्षरात्मको देहेन्द्रियासुहीनः पुरूपक्षीपशुपक्षिवृक्षाद्याकृतिः संस्थानविशेषः । तदेतत् फलत्रयं त्रिविधसेवायां यथायथं घोष्यमित्यर्थः ।

ननु 'यथाकृतु'रिति श्रुतौ तत्कृतुन्यायस्योक्तत्वात् संन्यासनिर्णये 'भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवे'दित्याचार्यैरपि तदंगीकारान्यायत एवात्रापि तादृशफलप्राप्तिसिद्धेर्विशेषतस्तत्कथनस्य किं प्रयोजनमित्याकांक्षायां तत्र हेतुं वदन्ति मूले अलौकिकस्य दाने हीत्यादिपादत्रयेण ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

फलं वा ह्यधिकारो वा,

अत्र हिहेतौ । चोवधारणे । यतो हेतोरलौकिकस्य सम्पधाविर्भावाधिकार-पोक्तरीतिकसाक्षरालम्कविग्रहस्य दान एव आद्य आदौ भव उत्तमफलविषये विद्यमानो मनोरथः निश्चयशब्दोक्तकामचारात्मकः सिध्येत् । अदाने तु फलं वा हि निश्चयेन अधिकारो वा सिध्येदित्यनुपज्यते । तथा च 'लोकवतु लीला कैवल्य'मिति न्यायेन भगवता अलौकिकस्य सम्पधाविर्भावसूत्रोक्तदेहस्य दाने एव तत्सम्बन्धिफललाभान्न तत्कृतु-न्यायमात्रेण पूर्वस्य सिद्धिरित्यतस्तन्निरूपणमित्यर्थः । षाड्वयमनादरे । तेन तत्कृतुन्यायेन कदाचित् तद्वयं भवतीति बोधितम् ।

नन्वधिकारस्य कार्यान्तरयोग्यतारूपत्वात् तस्य च साधनदशायामपि सत्त्वात् कथं फलत्वमित्यत आहुः ।

न कालोत्रनियामकः ॥ १ ॥ इति ।

अत्रेत्यधिकारे । तथा च कालनियम्यत्वाभावेनानावृत्त्या नित्यत्वादस्यापि फलत्वं निःप्रत्यहमित्यर्थः । एतन्नये एकं दानहेतुकमन्यद्वयमपि भगवदनुग्रहैकहेतुकम् । मर्यादा-मार्गे निर्गुणाक्षरविद्यया तादृशतत्प्राप्तेः सगुणया सन्मनोमयदहरादिविद्यया च 'जक्षन् श्रीडन् रममाण'इत्यादिनोक्तैश्वर्यपर्यन्तप्राप्तेरेव श्रावणात् ततोधिकस्य सेवोपयोगिदेहादे-स्तत्र केवलया भक्तिरहितमर्याद्या वक्तुमशक्यत्वात् । तथा तदुपगमे 'यमेवैष' इत्यादि-श्रुते'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इत्यादिस्मृतेश्च विरोधस्य दुष्परिहरत्वाच्च । अतस्तत्रयमत्रो-च्यत इति भावः । अत्राद्यस्य दानेन सिद्धौ 'रुद्रादीनां वचः श्रुत्वे'त्यादिकृष्णोपनिषन्मन्त्रा वृद्धद्वामनीयकथा 'संकल्पो विदितः साध्यः' इति कुमारिकाः प्रति भगवद्वाक्यं प्रमाण-त्वेन बोध्यम् । द्वितीये च 'नैकात्मतां म' इत्यारभ्य 'गतिमण्वी प्रयुक्त' इत्यन्तं कपिल-

त्युक्तरीत्या भगवदेकतातत्त्वं हि निश्चयेन । एतेन मुख्यफलभयनविषयकसन्देहनिवृत्तिरित्यर्थः । यथाचेति भिन्नं वाक्यम् । अत्रापि बाधकं भगवतः अकर्तव्यं चेदित्यन्वेति । तथा च यथा येन प्रकारेण सेवा, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तथा तेन प्रकारेण बाधकं भगवतोर्कर्तव्यं चेत्तदा, वा फले विकल्पः, सेवा मध्यमा चेन्मध्यमम्, जघन्या चेज्जघन्यं फलमित्येवं सन्देहनिवृत्तिरित्यर्थः । अथवा । ननु सेवा हि भक्तिमार्गीयं साधनम् । भक्तिमार्गीश्वानुग्रहैकलभ्यः पुष्टिप्रवाहमर्यादायां स्थापितः, निबन्धे च 'सर्वथा चेद्धरिक्त्वा न भविष्यति यस्य हि । तस्य सर्वमशक्यं हि मार्गोस्मिन् सुतरामपी'त्यनेन । एवं सत्यस्मिन् मार्गे प्रतिबन्ध एव कथं येन फलत्रैविध्यमित्यत आहुः तु बाधकमित्यारम्य यथावेत्यन्तन् । अत्र ग्रीणि वाक्यानि, तेषु त्रिष्वपि बाधकपदं चेत्पदं चान्वेति । तथा च बाधकं पूर्वोक्तं भगवतः अकर्तव्यं चेत्तदा प्रतिबन्धसामावाहतिर्मध्यमं फलं भवति । बाधकं सर्वथा चेत्तदा न हि निश्चयेन सेवाफलमेव न । बाधकं यथा तथा चेत्तदा वा विकल्पः । तथा चैवं भगवदिच्छातस्त्रैविध्यमित्यर्थः ।

तर्हि विकल्पे किं कार्यमित्यत आहुः ।

अतत्त्वनिर्धारोऽविवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

बाधकानां परित्याग, इति ।

अत्रोक्तवाक्यद्वयस्य त्रयस्य वाऽसन्दिग्धत्वात्तत्त्वनिर्धार इत्यादिकं व्याकुर्वन्ति । त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति । त्रयाणां पूर्वोक्तानां बाधकानां यत्साधनमतत्त्वनिर्धारविवेकरूपं तस्य परित्यागः सर्वथा त्यागः कर्तव्यः । तत्प्रतियोगिभूततत्त्वनिर्धारविवेकयोरभ्यासेन तयोः प्रागभावानिवृत्तिः सम्पादनीया, ध्वंसो वा । तथा च नवीनतदुत्पादकसाधनत्यागे यथा भोजनपरित्यागे पूर्वोर्जीर्णस्य निवृत्तिः भाविनश्चातुत्पत्तिस्तथा तत्त्वनिर्धारे जाते शुद्धिदोषरूपसोद्वेगस्य निवृत्त्या विवेके च जाते प्रतिबन्धभोगयोर्निवृत्त्या तयोर्निःशेषनाशः सम्पादनीय इत्यर्थः ।

ननु बाधकत्यागे कर्तव्ये भोगत्याग आगतः, तथाकृते शरीरस्थितेर्बलादेश्चासम्भवात् सेवाया एवासिद्धिः, प्रतिबन्धस्य चादृष्टजन्यत्वात् तत्यागस्याशक्यत्वमिति सेवासिद्धिरेव दुर्घटेत्याशंकायां तदर्थं विभागमाहुः भोगोपीत्यादि ।

भोगोप्येकं तथा परम् ।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ४ ॥

अपि समुभये । भोगे, अपि शब्दान् प्रतिबन्धे, एकं परित्याज्यमिति शेषः । तथेति चैधर्म्ये दृष्टान्तः । यथा भोगप्रतिबन्धयोरेकं परित्याज्यं तथा परं द्वितीयं निःप्रत्यूहं विभक्तव्यम् । भोगस्य निःप्रत्यूहत्वे हेतुर्भक्तान् भोगः प्रथमे विशते इति ।

प्रतिबन्धस्य तथात्वे हेतुः सदेति । तदेतत् सर्वं मन्दादेर्दुष्करं दुर्भेद्यं चेति तदर्थं गृह्यन्ते व्याकुर्वन्तः प्रतिभोगप्रकाशमादाय प्रथमतो भोगं विभजन्ते भोग इत्यादि । भोग उक्तरूपो द्विप्रकारकः । तयोर्मध्ये लोकासक्तिजन्मा सार्वदिकत्वेन बलवद्बाधकत्वादवश्य त्यक्तव्य एवेत्यर्थः । ततो न्यूनं प्रतिबन्धं विभजन्ते प्रतिबन्धोपीत्यादि । तस्य कादाचित्कत्वेन स्वल्पत्वात् पूर्वं तत्यागप्रकारमाहुः तत्रेत्यादि । तयोः प्रतिबन्धयोर्मध्ये आद्यः साधारणः बुद्ध्या उपायचातुर्येण त्याज्यः । यद्यपि तत्त्वनिर्धारविवेकौ पूर्वं प्रतिबन्धनिघातकत्वेन सूचितौ तथापि न तावन्मात्रेण निवृत्तिः, किन्तु बुद्धिरपि तत्सहकारित्वेनापेक्षिता । अतस्तया त्याज्य इत्यर्थः । ननु भवत्वेव तथाप्यलौकिकभोगाख्यागे किं वीजमित्याकांक्षायां तत्र वीजमाहुः अलौकिक इत्यादि । तुः शकानिरासे । अलौकिको भगवद्दत्तप्रसादत्वेन क्रियमाणो भोगः फलानां मध्ये प्रथमे आद्यमनोरथात्मके प्रवेशं प्राप्नोत्यतो निःप्रत्यूहत्वान्न त्याज्य इत्यर्थः । अयमेव हेतुर्मूले महानिति पदेनोक्तो बोध्यः । द्वितीयप्रतिबन्धस्य निःप्रत्यूहत्वे यो हेतुः सदा पदेनोक्तस्त व्युत्पादयन्ति भगवत्कृत इत्यादि । सेवाया स्वस्य रुचेः सामग्रीसम्पत्तेश्च सत्त्वेपि यदा पुनः पुनस्तद्विघटनेन तन्निर्वाहभावः सेवायामरुच्यादिर्वास भगवत्कृतप्रतिबन्धः । तत्रैव हि स्वस्थान्येषां च 'दैवमत्र विघातक'मिति बुद्धिरुदेति । तादृशं स चेद्भवेत् तदा भगवान् फलपूर्वकं त्रिविधमपि सेवाफलं न दास्यतीति मन्तव्यम् । तेन सेवाप्रतिबन्धवता युक्तिमिर्विचारणीयम् । तदान्येषां गुर्वादीनां सेवा चेत्तदर्थं कुर्यात्तदा सापि व्यर्था । एतत्फलरूपार्थविरहितेति मन्तव्यमिति पूर्वेण सम्बन्धः । तदाय जीव 'एव पञ्चविधं लिंग'मिति चतुर्थस्कन्धवाक्योक्तश्चेतनायुक्तसघात आयुर इति निर्धारः कार्य इति प्रायपाठादायाति । तदा ज्ञानमार्गेण स्वात्मनि प्रपञ्चे चाक्षरब्रह्मत्वभावनपरेणास्थूलादि-सदाबुधासनपरेण वा स्यात्तच्च शोकाभावाय । आत्मज्ञानस्य शोकनाशकत्वश्रावणात्तया स्थितौ तस्मिन् सघाते निवृत्ते एतसाक्षरसायुज्यं वा तत्र स्थितिर्वा भवतीति विवेकः सेनाफलात् पृथक्करणमित्यर्थः ।

अत्रैतद्बन्धदर्शनेन गमेद प्रतिभाति । आयुरजीना हि पुष्टिप्रवाहमर्यादायां 'जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे प्रवृत्तिं चेति वणिता' इत्युक्तलक्षणका अज्ञदुर्ज्ञेभेदेन द्विविधा निरूपिता । ते तु नोपदेशार्हाः । 'सात्त्विका भगवद्भक्ता ये गुक्तावधिकारिणः । भवान्तसम्भवा दैवात्तेषामर्थं निरूप्यते' इति प्रतिज्ञावाक्येन तथा निश्चयात् । अत पर 'प्रवाहेपि समागत्य पुष्टिस्त्वैर्न शुच्यते । सोपि तैस्तत्कुले जात कर्मणा जायते यत' इत्युक्तोवगिष्यते । यथा अलीखानादिः । अतस्सादृश तद्देश्य प्रति वायमुपदेश इति ॥ ४ ॥

एवमलौकिकभोगभगवत्कृतप्रतिबन्धयोस्त्यागानहत्वे वीज व्याख्याय साधारण-प्रतिबन्धलौकिकभोगयोस्त्याग्यत्वे वीज वक्तुमवतारयन्ति ।

सविमोल्पो घातकः स्याद् घलादेतौ मदा मता ।
द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

साधारण इत्यादि । कथमिति हेतुरूपप्रकारबोधकम् । तथा चैतयोस्त्यक्त-
व्यताप्रयोजकः प्रकारः क इत्यर्थः । अन्यथा त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति पूर्व-
ग्रन्थनिरोध आपयेतेति । व्याकुर्वन्ति सविमत्त्वादित्यादि । कालादिकृतविमसाहित्यात्
स्वरूपतः साधनतः फलतश्चात्पत्वात् तथेत्यर्थः । एष भोगे त्याज्यत्ववीजद्वये व्याख्याते
शिष्टो घातकत्वरूपो हेतुः साधारणप्रतिबन्धनिष्ठ इत्यर्थादेव बोधितम् ।

ननु प्रतिबन्धकत्यागप्रकारस्य पूर्वमुक्तत्वात्पुनस्तत्कथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः
घलादेताविति । व्याकुर्वन्ति एतावित्यादि । यत एतौ लौकिकभोगसाधारण-
प्रतिबन्धौ सदा क्षणे क्षणे प्रतिबन्धकावतो बुद्ध्या उपायचातुर्येण घलाद् द्वात्
त्याज्यौ । यथाधिकं मुक्तं चेन्ममेदानीन्तना सेवा गता, मया गानाघासत्तया जागरः
कृतश्चेदिदानीं निद्रायाति, तस्मादेवं न विधेयमित्येवं बुद्ध्योपायचातुर्येण सर्वथा त्यक्त-
व्यावित्येतदर्थं पुनः कथनमित्यर्थः । द्वितीये सर्वथेति व्याकुर्वन्ति । द्वितीय
इत्यादि । पूर्वं भोगप्रतिबन्धयोरुभयोरुक्तत्वात् कोन द्वितीय इति शकानिरासायैतदुक्तम् ।
ननु भगवत्कृते प्रतिबन्धे यादृशी स्थितिरपेक्षिता सा तु पूर्वं विवृतैवेति पुनस्तदुक्तेः किं
प्रयोजनमत आहुः ज्ञानेत्यादि । तथा च पूर्वोक्तादपि यो हीनः सिद्धान्तमुक्तावल्यां
'भक्त्यभावे त्वि'ति कारिकयोक्तस्तस्य ससारेत्यन्ताभिनिवेशनिवृत्त्यर्थमिदमित्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु पूर्वमुद्देगादित्रय ससाधन त्याज्यत्वेनोक्तत्वाग्रे तत् त्याज्यत्वात्याज्यत्वविभागं च
कृत्वा पश्चाद्द्वयोरेवावश्यं त्याज्यत्वं यन्निरूपितं न तूद्देगस्यापि, तत् कृत इत्याकांक्षायामाहुः ।

न त्वाये दातृता नास्तीति,

अत्र प्राञ्चः पाठं द्विधांगीकुर्वन्ति केचिन्नन्विति । केचिच्च न त्वेति । तत्रापि नु इति
मिच्छं पदं निश्चयार्थकमिति मम प्रतिभाति । आद्ये उद्देगे । नुः शकानिरासे । नु निश्च-
येन वा न, चिन्ता फलसाधनविपयिणी न त्याज्या । तत्र हेतुः । दातृता नास्तीति ।
अदातृता नास्तीति वा । तदेतद्भाकुर्वन्ति । आद्यफलेत्यादि । आद्यं यत् फल-
मलौकिकसामर्थ्यरूपं, तस्माभावे अप्राप्तौ, भगवतो दातृत्वं नास्ति, तदा तस्मिन् दानसमये
सेवा अनाधिदैविकी ।

उद्देगे हि मानसो, मानस्या एव विरुद्धसामग्रीजनकः, सा दानसमये 'चेतस्त्र-
क्षण' 'ता नाविदन्' इतिवद्भवति लीन न करोति, तेन सा सेवा अनाधिदैवि-
कीत्युक्तं भवति । अत उद्देगे तत्रिवृत्त्यर्था चिन्ता भगवद्भावनरूपा न त्याज्या, किन्तु

सदा कर्तव्यैव । द्वितीयपक्षे उद्वेगेन कृत्वा फलाभावे मुख्यफलाप्राप्तौ भगवतोऽदातृत्वं नास्ति किन्तु तदोद्वेगदशायां सेवानाधिदैविकीत्युक्तं भवति । अतस्तस्या आधिदैविकीत्व-सम्पादनायोद्वेगनिवृत्त्यर्था चिन्ता न त्याज्या किन्तु कार्यैव । तथा चोद्वेगस्य मुख्य-फलातिरिक्तफलाप्रतिबन्धकत्वाद् मुख्यफलस्य केवलं दानमात्रसाध्यत्वाद् दित्सायाश्च 'अनिच्छतो गतिमर्षी प्रयुक्त' इतिवाक्येन 'कहिंचित् स्म न भक्तियोग'मिति वाक्येन च ज्ञातुमशक्यत्वान्नोक्तमित्यर्थः । अत्रानाधिदैविकीत्युक्तं भवतीति कथनेन सेवाया अनाधिदैविकीत्वसम्पादकस्वरूपमुद्वेगत्याज्यताधीजमप्युक्तं ज्ञेयम् ।

ननु तत्त्वनिर्धारविवेकाम्यां प्रतिबन्धत्यागे यतमानस्यापि त्रयाणां त्याज्यधीजं जान-तोपि यदा न प्रतिबन्धनिवृत्तिः तदानेन किं कार्यमित्यत आहुः ।

तृतीये बाधकं गृहमिति ।

तदेतद्विवृण्वन्ति भोगाभाव इत्यादि । उद्विग्नः साधारणप्रतिबद्धोपि निरुपधि यथाकथञ्चन भक्तिमान् सेवेत तदापि तृतीयं फलं भक्तिमत्त्वाद्भवति तस्मिन्नपि भोगो लौकिकः प्रतिबन्धं करोति । अतस्तृतीये भोगरूपे प्रतिबन्धेऽशक्यत्यागे सति भगवता गृहत्याग एवानेन प्रकारेण बोध्यत इत्यनुसन्धाय बाधकभूतं गृहं त्याज्यम् । यतो भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्यागः । तथा च तदानीमयमेवोपायो नेतर इत्यर्थः । अयं त्यागो न भक्तिमार्गीयसंन्यासरूपः, अधिकाराभावात्, किन्तु 'तादृश-स्यापि सततं गेहस्थानं विनाशन'मित्यादि भक्तिवर्धिन्युक्तभक्तिसाधनसम्पादनार्थे इति ज्ञातव्यम् । एवमत्र यावान् कठिनांशः सोत्र स्वय व्याख्यातः ।

अतःपरं य एवं गृहत्यागमपि न कर्तुं शक्यतात् तदर्थं मूले उपायमुपदिशन्ति ।

अवश्येयं सदा भाव्येत्यादि ।

इयं फलत्रयी प्रतिबन्धकत्रयी च अवश्या, यथायथं भगवदनुग्रहैकलभ्यत्वा-द्भगवद्विचारमात्रसाध्यत्वाच्च अवश्या, न स्वकृतसाधनाधायत्ता । अतः सदा भाव्या प्रतिबन्धोपस्थितावश्यत्वेनैव स्वदेन्याय तदा तदा विचारणीया । अत्र सदापदेनेदमेव बोध्यते, न तु कालनैरन्तर्यम् । 'निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वदे'त्यादीनां विरोधापत्तेः ।

सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

फलस्य स्वकृतसाधनायतत्वभावनं प्रतिबन्धस्य स्वकृतसाधनान्तरनाश्यत्वभावनं च मनोभ्रमश्चित्प्राप्तिर्मुख्यसम्पादकं चाश्ल्यमात्रम्, भगवदिच्छां विना कथमपि केनापि किञ्चिदपि कर्तुमशक्यत्वात् । 'एष उ एव साधु कर्म कारयती'त्यादिश्रुत्या तथा बोधनात् । 'अनन्याश्रित्यन्तो मा'मिति वाक्ये तादृशां योगक्षेमवहनस्य स्वकर्तव्यताया उक्तत्वाद्वा प्रतिबन्धनिवृत्त्यादियोगक्षेमस्यापि भगवतैव कर्तव्यत्वादेकादशस्य विशेष्याये 'जातश्रद्धो मत्कस्यासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु । वेद दुःखालकान् कामान् पाल्यागेप्यनीश्वरः ॥ ततो

भजेत मां भक्त्या श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः । जुपमाणश्च तान् कामान् दुःखोदकाश्च गर्हय'त्रि-
त्यन्तेन तथा करणस्त्राज्ञापनाच्च ॥ ६ ॥

ननु यद्येवं तदा भावनास्यापि किं प्रयोजनम् । नहि जीवकृतया भावनाया सत्य-
संकल्पो भगवान् स्वविचारितादन्यथा किमपि करोति । तथा सति किं भावनोपदेशेनेत्यत
आहुः तदीयैरपीत्यादि ।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

एते हि तदीयाः, सर्वसमर्पणात् सर्वप्रकारेण भगवत एव भावनाच्च भगवदीयाः,
तैरपि तदुक्तं भावनं कार्यम् । तत्र हेतुः । पुष्टौ अनुग्रहविषये, भगवान्नैव विलम्बयेत् ।
एतच्छ्रुत्या विलम्बं न कारयेत्, न कुर्याद्वा । रामो राज्यमचीकरदितिवत् स्वार्थं णिच् ।
तथा च पुष्टिमर्यादायां स्वयमेव साधनानामुपदेशादस्मात् साधनद्वारा बोधिधीर्षति, तानि
विना वा न वेति न ज्ञातुं शक्यते, अतो विलम्बामावायायमुपदेश इत्यर्थः ।

ननु 'सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे । चित्तजा येस्तु गूतानां सज्जमानो
निबध्यत' इत्येकादशस्कन्धे भगवद्वाक्यात् चित्तजा गुणाः कालकर्मस्वभाववशात् क्षुभ्य-
माणाः प्रतिबन्धन्त्येव तदा किं कार्यमित्यत आहुः गुणक्षोभेपीत्यादि ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

गुणक्षोभोपि परंपरया भगवदिच्छाधीन इति तत्रापि एतदेव भगवत्कृतं विलम्बन-
मेव कारणत्वेन द्रष्टव्यम् । इति मे मतिः । इदमस्माभिरवोच्यते । अत्र नान्यस्य
सम्मतिरित्यर्थः ॥ ७ ॥

तत्र हेतुः कुसृष्टिरित्यादि ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७ ॥

शास्त्रे तदर्थं साधनान्तरोपदेशदर्शनाद्विरुद्धमुक्तिमुष्टिरत्र वा विकल्पेनोत्पद्येत, परं
स विकल्पोधिकारभेदानवधानाद् वै निश्चयेन भ्रमः । भगवता 'दैवी क्षेपा गुणमयी मम
माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति त' इति गुणमूलनिवृत्तये स्वप्रपत्ति-
मात्रस्यैव साधनस्योक्तत्वात् । साधनान्तरकरणे च निःशेषतस्त्रिवृत्त्यभावात् । भगवत्कृत-
विलम्बभावने तु भगवानेव शरणमिति बुद्धयुत्पत्तेः । अतोस्माभिरिदं भगवदभिप्रेतमेवोच्यत
इति तथैत्यर्थः ॥ ७ ॥

इति तत्प्रेरणप्राप्तबुद्धिस्तु पुरुषोत्तमः ।

सेवाफलोक्तिविद्युतेर्विद्युति चैवमुग्रगौ ॥ १ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मभाचार्यचरणैकतानश्रीपीताम्बरात्मजस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य
कृतौ सेवाफलविद्युतिप्रकाशः सम्पूर्णः ॥

धीहृष्ण्याय नमः ।

सेवाफलम् ।

विवृतिविवरणसमेतम् ।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् विद्वलेशान् निजान् गुरून् ।

सेवाफलस्य विवृतिव्याख्यानं वितनोम्यहम् ॥ १ ॥

अथ दैवोद्धारप्रयत्नात्मानः श्रीमदाचार्या निजानां सुखेन सिद्धान्तमुक्तावस्तुक्त-
सेवायाः सिद्धये तत्फलप्रतिबन्धसाधनानि निरूपयन्तः प्रतिज्ञां कुर्वन्ति यादृशी सेव-
नेति । एतद्व्यन्यस्यातिसंक्षिप्तत्वेन दुर्बोध्यत्वान् स्वयमेव विवृतिं रचयन्तः सेवाया निजग्रन्थेषु
फलत्वांगीकारेण तत्फलेष्वन्येषूप्यमानेषु सेवायाः साधनतामाशंक्य साधनताभ्रमं वारयन्तः
फलनामान्याहुः सेवायामिति ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

सेवायां फलत्रयम्, अलौकिकसामर्थ्यम्, सायुज्यम्, सेवोपयो-
गिदेहो वैकुण्ठादिषु । सर्वत्र साधनान्ते फलम् । फले लब्धे साधनत्यागः । अत्र
सेवासाधकसेवायां क्रियमाणायामित्युक्त्या न तद्भ्रमस्वावकाशः । यादृशी सिद्धान्तमुक्ता-
पत्यां कथिता मानसी सेवा, तन्सिद्धौ मानसीत्वे सिद्धे, तस्यां यत्फलत्रयमलौकिकादि,
तदुच्यते । आद्यफलस्यालौकिकसामर्थ्यस्य प्रशुणा दाने कृते, चकारात्तद्देहेन्द्रियादिषु
स्वरूपे स्थापिते, आदौ उत्तमफले जातो मनोरथः सिध्येत्, तस्यादाने फलं सायुज्यं वा
सिध्येत्, अधिकारः सेवोपयोगिदेहो वा सिध्येदित्यग्रिमेणान्वयः । हि युक्तोपमर्थः ।
अत्र द्वौ वाशब्दैः पूर्वफलतुल्यत्वयोधको ॥ १ ॥

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम्, उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा ।
फलमिति । आद्यफलमनियतम्, परमानुग्रहैकलभ्यत्वान् । एवं चाद्यस्य दानैकहेतुत्वम् ।
फलद्वयस्य साधारणानुग्रहहेतुत्वम् । नन्वधिकारस्य सेवापूर्वकाले स्थितत्वात्कथं फलत्वमित्यत
आहुः न काल इति । अस्मिन्नधिकारे सत्ययुगादिरूपः कालो नियामको न । अतः
कालानियम्यत्वात्फलताधिकारस्य । एवं सोपपत्तिकं फलत्रयमुक्त्वा प्रतिबन्धकत्रयमाहुः
मूले उद्वेग इति, विवृती सेवायामिति । उदधिको वेगः भयम्, अपराधादिना मन-
शास्त्रत्यं वा पापादिना । स च सेवाऽरुचिसम्पादनेन बाधकः । प्रतिबन्धश्च सेवायां रुचौ

सत्यामपि तत्समये लौकिकवैदिककायिकादिकार्यासक्तिरूपः । स च तत्समयरोधनेन
बाधकः । भोगश्च शरीरवृत्त्यनुसारेणाम्बवहारशयनादिरूपः । सोपि पूर्ववद्बाधकः ॥ २ ॥

ननु फलानामनुग्रहलभ्यतयानुग्रहस्य च भगवदिच्छाधीनत्वात्सेवायां क्रियमा-
णायां मम फलं भविष्यति न वेति सन्देहः कथमपेयादतस्तन्निवारणाय तु बाधकमित्या-
रम्य यथा वेत्यन्तमाहुः ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि ।

यथा वाऽतत्त्वनिर्धारोऽविवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

बाधकानां परित्यागः,

त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । भगवतो बाधकत्रयं न करणीयं चेत्
तर्हि मनस अन्यत्र गमनं न, फलं तु यथा वा । येन प्रकारेण सेवा तथा तेन प्रकारेण
फलमिति सन्देहाभावः । यद्वा भक्तिगणो भगवदनुग्रहलभ्यः । तस्मिन् कथं प्रतिबन्धक-
नयमित्यतस्तु बाधकमित्यादि यथा वेत्यन्तमाहुः । वाक्यत्रयमत्र । बाधकं पूर्वोक्तं
भगवतोर्कर्तव्यं चेत्तदा गतिर्नाम सेवायां सायुज्यम् ॥ १ ॥ बाधकं चेत् सर्वथा तदा
न हि फलाभाव इत्यर्थः ॥ २ ॥ यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद्यथा बाधकं तथा चेत्तदा वा नाम
फले विकल्पः ॥ ३ ॥ तथा चैवं भगवदिच्छयानुग्रहस्य त्रैविध्यात् फले त्रैविध्यम् ।
तथा च यस्य जीवस्य यादृशोधिकारः स तादृशीं सेवां करिष्यति, तस्य स्वाधिकारयोग्यं
फलं च भविष्यतीति सन्देहाभावः । एव फलविकल्पे प्राप्ते किं कार्यमत आहुः अतत्त्व-
निर्धार इत्यारम्य बाधकानां परित्याग इत्यन्तम् । निवृत्तौ त्रयाणामिति ।
त्रयाणामुद्वेगादीनां साधनस्मात्तत्त्वनिर्धारस्वाविवेकस्य च तत्त्वनिर्धारस्य विवेकयोरग्यासेन
सर्वतस्त्यागः कर्तव्यः । ननु तत्त्वनिर्धारविवेको किंरूपो? तथा हि, तस्य लोकनेदप्रसिद्धस्य
पुरुषोत्तमस्य भावस्तत्त्वम्, तस्य निर्धारणं निर्धारः । 'सर्वं यत्स्विद ब्रह्म,' 'स हैतावानास,'
'अरण्यं कृष्ण'दित्यादिभिः सर्वत्र भगवद्भाननम् । विवेकस्तु 'हरिः सर्वं निजेच्छातः
करिष्यतीति सर्वत्र भगवत्कृतिः । ननु बाधकानां मध्ये भोगस्यापि त्यागे जाते तं विना
शरीरस्थितेरसम्भवात् सेवाया अविद्यमाशङ्क्य त्यागे व्यवश्यामाहुः भोगेपीति ।

भोगेष्वेकं तथा परम् ।

निःप्रत्यूहं मत्तान् भोगः प्रथमे चिदाते सदा ॥ ४ ॥

भोगो हि द्विविधः, लौकिकोऽलौकिकश्च । तत्र लौकिकस्त्याज्य
पच । प्रतिबन्धोपि द्विविधः, साधारणो भगवत्कृतश्चेति । तत्राद्यो मुद्घना
त्याज्यः । अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशति । भगवत्कृ-
तश्रेष्ठप्रतिबन्धस्तदा भगवान्फलं न दास्यतीति मन्तव्यम् । तदान्य-
मेवापि व्यर्था । तदासुरोपं जीव इति निर्धारः । तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तत्त्वं

शोकाभावायेति विवेकः । भोगप्रतिबन्धयोरैकैकं परित्याज्यम् । अपिशब्देन प्रतिबन्धस्य ग्रहणम् । तथा परं द्वितीयं निष्प्रत्युहं विभ्ररहितम्, तत्र हेतुः, महान्भोगः । एवं प्रतिबन्धरूपं वस्त्वपि निष्प्रत्युहम् । तत्र हेतुः, सदेति । एतत्सर्वं मनसि कृत्वा विवृतौ तात्पर्यमाहुः सूचिकटाहन्यायेन । पूर्वं भोगद्विभिन्धमाहुः भोग इति । लौकिका-लौकिकभेदेन भोगो द्विधा । तत्र अलौकिको भोगो लौकिकासक्तिरूपत्वात् सेवासमय-रोधकत्वात्त्याज्यः । एवं लौकिकभोगं निरूप्य हेतुसहितमलौकिकभोगं निरूपयन्ति तथेति । विवृतौ अलौकिकेति । अलौकिको यो भोगः स तु फलत्रये यदाधमलौकिकसामर्थ्यं तस्मिन् सति भगवत्प्रसादेन गवतीति तत्प्रवेश उक्तः । एवं च तस्यात्याज्यत्वे वीज-शुक्तम् । एवं द्विप्रकारकं भोगं निरूप्य द्वितीयप्रतिबन्धस्य निर्धिन्नत्वे यो हेतुगूले सदा-पदेनोक्तस्तं विवृतौ भगवत्कृत इत्यादिना विशदयन्ति । सेवायां प्रवृत्तस्य यदा दुःसङ्गा-दिना भगवदीयद्रोहे कृते प्रभुः स्वयं प्रतिबन्धं करोति, तदा सेवायामरुचिर्भवति, तदा सर्वथा फलाभावः, तदा तदुपायार्थमन्यसेवनं न कर्तव्यम्, व्यर्थत्वात्, तदार्यं जीव आसुर एव । दैवजीवे सर्वथा फलाभावाभावात् । तदा एतादृशे प्रतिबन्धे चिन्तानिवृत्त्यै आदि-सृष्टौ भगवान् जीवं यथा विचारितवांस्तयैव निजेच्छया करिष्यतीत्यादिरूपेण ज्ञानमार्गेण स्थातयम् । एवमलौकिकभोगभगवत्कृतप्रतिबन्धयोरत्याज्यतामुक्त्वा साधारणप्रतिबन्ध-लौकिकभोगयोस्त्यक्तव्यत्वे विवृतौ वीजमनतारयन्ति साधारणेति । साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकाङ्क्षायामाह सविघ्नोल्पो घातकः स्यादिति । ननु लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धौ केन हेतुना केन प्रकारेण च त्यक्तव्यापिति व्याकुर्वन्ति सचिन्नइति । लौकिको भोगः सविघ्नत्वाल्पन्याभ्यां हेतुग्या गटात्याय । घनकत्वन हेतुना साधारणः प्रतिबन्धस्त्वाज्यः । नन्वेतत्त्यागप्रकारस्तत्त्वनिर्धारनिर्भररूपः पूर्वमुक्त इति पुनः किमर्थमुच्यते ? सत्यम् । पूर्वं यदुक्तः स तु नवीनतदुत्पादकमाधनत्यागरूपः । अयं तूत्पन्नयोस्त्यागप्रकारोत उच्यते ।

सचिन्नोल्पो घातकः स्यादह्लादेनां सदा मर्ता ।

सचिन्नत्वादल्पत्वाद्भोगस्त्याज्यः । एतौ सदा प्रतिबन्धकौ । बलादिति । यत एतौ सदा क्षणेक्षणे सेवासमयरोधकत्वेन मर्ता ज्ञातौ । अतो बलादह्लाद्भ्रूयोपायचातुर्येण त्याज्यौ । तत्स्वरूपं श्रीपुरुषोत्तमा आहुः । तथाहि, 'यथाधिकं भुक्तं चेन्ममेदानींतना सेवा गता, मया गानायासक्त्या जागरः कृतश्चेदिदानीं निद्रायामिति, तस्मादेव न निरेव'मिति । प्रकृतमनुसरामः । अतः परं ज्ञानस्थित्ययोग्यानां भगवत्कृतप्रतिबन्धे स्थितिप्रकारमाहुः ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्याऽसंसारनिश्चयान् ॥ ७ ॥

द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धः । ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभानार्थमाह द्वितीय इति । द्वितीय इति भगवत्कृतप्रतिबन्धे ज्ञानस्थितावपि पुष्टिमागीयफलत्रिपयिणी चिन्ता सर्वथाऽ-

त्याज्या । कुतः ? असंसारनिश्चयात् । अत्रायमर्थः । 'अस्मिन्पातमयं नास्ति मोचकं सर्वथा यत्' इति वाक्येन अलीखानादिरिव जन्मान्तरे उद्धरिष्यति ।

एवं भोगप्रतिबन्धौ त्याज्यत्वेन विचार्य उद्वेगत्यागे चीजं वदन्ति नन्विति ।

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति तदा सेवानाधिदैविकी-
त्युक्तं भवति । अत्र पाठद्वयम् । नन्विति, न त्विति । नु निश्चयेन, आद्ये उद्वेगे
सति फलविषयिणी चिन्ता न त्याज्या । तत्र हेतुमाहुः भगवतो दातृता नास्ति ।
एतदेव विवृतावाद्येत्यादिनोक्तम् । एवं च सेवाया अनाधिदैविकीत्वसम्पादकत्वाद् उद्वेगोपि
त्याज्यः, यदिच्छाकृतो यस्तूद्वेगः, स एवैनं निवारयिष्यतीतिविचारेण त्याज्यः । एवं
जानतोपि यथाकथञ्चित्सेवायां प्रवृत्तस्य यदा लौकिकभोगः प्रतिबन्धं करोति तदा कर्त-
व्यमाहुः तृतीय इति । विवृतौ तदपि भोगेत्यादिना व्याचक्षते । भोगाभावस्तदैव
सिध्यति यदा गृहपरित्यागः । तृतीये भोगरूपे प्रतिबन्धे गृहमेव त्यजेत्, कृष्णा-
र्थमेव गृहं प्रयुञ्जीत । तथा कृते भोगसालौकिकत्वं सिध्येदिति लौकिकभोगस्त्यक्त एव ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ।

एवं कठिनांशं स्वयं व्याकृत्य गृहत्यागेऽसमर्थानां यत्कर्तव्यं तदाहुः अवश्येति ।
इयं फलत्रयी प्रतिबन्धकत्रयी चावस्था, अतो बाधकानामुपस्थितौ स्वदैवसिद्धये
सदा विचारणीया । अन्यत्सर्वमिदं साध्वसाधु वा भक्तमितादिरूपं मनोभ्रमः चित्त-
वाहिर्युत्थमेवेति ज्ञेयम् । ननु भगवान् सत्यप्रतिज्ञः, यथा पूर्वं विचारितवांस्तथैव करिष्य-
तीति किमेतेनेत्याद्यंन्याहुः तदीयैरिति । एते हि समर्पणेन तदीयाः । स्वकीयानां सर्वं
चिन्तनं भगवत एव करणीयम् । अतो भगवदीयैरपि तदुक्तभावनं कार्यम् । एतेनानन्य-
शरणान् ज्ञात्वा पुष्टावनुग्रहे भगवान् बाधकेषु सत्स्वपि नैव विलम्बयेत्, फलं दद्यादेव ।
ननु चित्तज्ञानां गुणानां क्षोभे विचारे कियमाणेषु प्रतिबन्धो भवेदेव तदा यत्कार्यं
तदाहुः गुणेति । सत्त्वादिगुणेषु ध्रुम्यमाणेष्वपि भगवत्कृतः प्रतिबन्ध एव कारणमिति
द्रष्टव्यम् । तदापि भगवदिच्छाविचारणमेवोपायो नान्यः । मम भर्तेरत्रैव पर्यवसानम् ।
सर्वमन्यन्मनोभ्रम इति पूर्वमुक्तत्वात् । अत्रास्मिन्विषये काचित्कुसृष्टिः कुसुद्धियुक्तिः
भगवत्कृतप्रतिबन्धस्य निवारणे अन्योप्युपायोऽस्त्वितद्रथा मनसि जायेत तदा सापि भ्रमरूपै-
वेतिज्ञेयम् । एतेनानन्यभावनपूर्वकं भगवदीयैः श्रेयम् ॥ ६ ॥ ७ ॥

इति श्रीसेवाफलविधृतित्याख्यापानं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

लालूभट्टोपनामश्रीवालकृष्णदीक्षितविरचितटिप्पणीसमेतम् ।

श्रीराधावदनेन्दुश्रीपानमत्तचकोरकम् ।

गोवर्धनधरं वन्दे ब्रजराजकिशोरकम् ॥ १ ॥

श्रीमदाचार्यवर्यश्रीनिष्ठलेशकृपाबलात् ।

सेवाफलस्य विवृतेर्विवृतिं पितनोम्यहम् ॥ २ ॥

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

सेवायां फलत्रयमिति । सेवायां सिद्धायां सत्यामित्यर्थः । मूले यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते इत्यत्र सिद्धावितिकयनात् सिद्धस्यैव सर्वत्र फलसाधकत्वात् । तथा च यादृशी सेवना तृतीयस्कन्धे देवहृतिं प्रति कपिलदेवेन 'देवानां गुणलिंगानामानुश्रनिककर्मणाम् । सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ॥ अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धैर्गरीयसी'त्यनेन भक्तिशब्देनोक्ता, तस्याः सिद्धौ मुख्यमध्यमहीनाधिकारभेदेन फलत्रयं ज्ञेयम् । तदेव फलत्रयमाहुः अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवौपयिकदेहो वैकुण्ठादिष्विति । अलौकिकसामर्थ्यं तु साक्षात् श्रीवृन्दावनादौ श्रीकृष्णस्वरूपदर्शनस्पर्शनादिकृतिक्षमत्वम् । 'पश्यन्ति ते मे रुचिरावतसप्रसन्नवक्रारुणलोचनानि । रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाच स्पृहणीयां वदन्ती'तिवाक्यादिह 'पश्यन्ति त' इति तच्छब्देन 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहा।' इति पूर्वश्लोके उक्ता मोक्षाभिलाषिणो गृह्यन्ते । तेषां मोक्षान्तपुमर्थानभिलाषात् स्वतन्त्रसेवैकाकांक्षया अलौकिकसामर्थ्यं भवति । तेषां पूर्वाक्तभक्त्या प्राकृतलिंगशरीर नश्यति । 'जरयत्याशु या कोश'मित्तिवाक्यात् । ततो लिंगशरीरनाशे सति भगवदर्शनाद्यभावे प्रसक्ते सायुज्ययोग्यतायां यदि भगवान् कृपयति तदा दिव्यान्यलौकिकेन्द्रियाणि सम्पादयति, ततस्तीर्भगवद्दत्तैरप्राकृतेन्द्रियैः 'पश्यन्ति ते मे' इति श्लोकोक्त दर्शनादि सिध्यति । तदेतदुक्तं मूले ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

अर्थस्तु अलौकिकस्येन्द्रियवर्गस्य दाने भगवता कृते सति आद्यः 'पश्यन्ती'त्यादिश्लोकत्रयोक्तेषु त्रिषु फलेषु प्रथमो मनोरथो भगवदर्शनादिनिपयकः सिध्येत्, फलपर्यवसायी भवतीति भगवदर्शनादेः परमफलत्वम् । 'अक्षण्वतां फलमिद'मितिश्रुति-

रूपगोपिकावाक्यात् । अक्षण्वतामिन्द्रियवतामित्यर्थः । तस्मादलौकिकेन्द्रियदानं भगवत्कर्तृकमपेक्षितम्, अन्यथा पूर्वोक्तभक्त्या 'जरयत्याशु या कोश' मितिवाक्याल्लिंगशरीरभंगे दर्शनादिकं न सिध्येदिति भावः । न च मास्तु दर्शनादि, सायुज्यमेवास्त्वितिवाच्यम् । 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि'दितिवाक्येन तेषां तदनभिलाषात् । इह एकात्मतां न स्पृहयन्ति, अपि तु दर्शनादिकमेव स्पृहयन्तीत्यर्थादायाति । 'मत्पादसेवाभिरता' इति वाक्यात् । अत एव मूले स्पृहापदपर्यायः मनोरथशब्दः उक्तः । अत एव वृत्रासुरेणोक्तं 'न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहस्य कांक्षे' इति । अर्थस्तु अपुनर्भवं मोक्षमपि त्वां विरहस्य न कांक्षे अपि तु त्वामेव फलत्वेन कांक्षे इति । एतदेव श्रीब्रजसुन्दरी-भिरुक्तं 'अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदाम' इति । परो मोक्षः सायुज्यादिरिति सुबोधिण्यां व्याख्यातं च । अत इन्द्रियवतामिदमेव रसात्मकं पुरुषोत्तमस्वरूपमेव फलम् । 'भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य चे'ति सुबोधिण्यां सर्वेन्द्रियभोग्यत्वेन कथनात् । अत एवाक्षण्वतामित्यस्य सुबोधिण्यां 'मात्मलाभात् परं विद्यते'तिश्रुतेर्मोक्षस्वैव पुरुषोत्तमस्वरूपमेव फलम्, तद्रहितानां तु मोक्ष एव फलमिति व्यवस्थापितम् । पुष्टिमक्तास्तु भगवद्देवेन्द्रियाणि लब्ध्वा सकलेन्द्रियैः रसात्मकं स्वरूपमनुभवन्ति । न होतादृक्त्वं सायुज्यादाविति । 'ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा संचातस्य विलीनत्वा'दितिनिबन्धात् । अत एव 'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना' इत्यनेन सालोक्यादीनामग्रहणमुक्तम् । न च मोक्षसुखाज्ञानान्न गृह्णन्तीतिवाच्यम् । 'मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम् । नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविद्युत'मितिवाक्ये सेवया पूर्णा इत्युक्त्या तेषां भगवता समाजगात्, अन्यथा अज्ञत्वान्न गृह्णन्तीति भगवान् तेषां निन्दामेव कुर्यान्न स्तुतिम् । अतो ज्ञायते भगवत्सेवायां मोक्षादप्यधिकरसोस्तीति । 'मधुद्विद्वसेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गु'रिति वाक्याच्च । अतः फलदशायामाधिदैविकवृन्दावनदी या फलरूपा भगवत्सेवा सा मोक्षादप्युत्कृष्टा । अतः सा भगवता परमानुग्रहभाजनाय तादृशाधिकारिणे पुष्टिमक्ताय दीयते, न तु सर्वेभ्यः भक्तेभ्य इति ज्ञेयम् । 'अस्त्वेवमंग भगवान् मजतां सुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मिति शुकवाक्यात् । इह भक्तियोगमित्यस्य फलरूपपुष्टिभक्तियोगमित्यर्थां ज्ञेयः । एतस्मिन् श्लोके मुक्तिं ददाति भक्तिं न ददातीत्युक्त्या भगवत्कर्तृकदानं विना तादृशी भक्तिर्न प्राप्यत इत्युक्तं भवति । अत एवात्रापि मूले अलौकिकस्य दाने हि पाच्यः सिध्येन्मनोरथ इत्यनेन दानमेवोक्तम् ।

तथा च सिद्धमेतत् । अलौकिकसामर्थ्यरूपं फलं पुष्टिमागीयसेवायामेव, फलद्वयं तु मर्यादरमक्तानाम् । ननु तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्ये 'देवानां गुणलिंगाना'मित्यत्र भक्तेर्लक्षणमुक्त्वा 'पश्यन्ति ते मे' इत्यादिना भक्तिफलत्वेन फलजनयमुक्तम् । तत् कथ-

मुच्यते सेवायां फलत्रयमिति चेत् । न । भक्तिशब्देन सेवाया एवाभिधानात् । भज सेवायामिति धात्वर्थान् । 'लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य सुदाहृतम्,' 'अहैतुक्यव्यवहित्वा या भक्तिः पुरुषोत्तमे,' 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमुच्यते । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः' 'स एव भक्तियोगस्य आत्यन्तिक उदाहृत' इत्यत्रादौ भक्तिपद-मुक्त्वा, मध्ये सेवनपदं पठित्वा अग्रे स एव भक्तियोगस्य इति भक्तिपदमुक्तम् । अतोपि ज्ञायते भक्तिशब्देन सेवैव । 'देवानां गुणलिंगाना'मिति लक्षणमुक्त्वा 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहा' इत्यत्र 'सेवाभिरता' इत्यनेन सेवैवाभिहिता, अतोपि भक्तिशब्देन सेवैव । तदुक्तं निघन्ठे सर्वनिर्णये, 'भक्तिशब्दस्य धात्वर्थः सेवा प्रत्ययार्थः प्रेमे'ति । तथा च प्रेमसेवा भक्तिशब्दार्थः । इयमेव प्रेमसेवा मानसी सेवेत्युच्यते 'चेतस्तत्प्रवर्णं सेवे'ति सिद्धान्तमुक्त्वाख्यां मनोवृत्तेः सेवात्वकथनादत्रापि 'मनसो वृत्तिः खामाधिकी तु ये'त्यनेन मनोवृत्तेर्भक्तित्वकथनात् । अतो 'यादृशी सेवना प्रोक्ते-त्यत्र सेवनाशब्देन मानसी सेवोच्यते । तस्याः मिद्धौ अलौकिकसामर्थ्यरूपं फलं भवति, तस्यास्तारतम्ये गौणं फलद्वयमुक्तम् । अतो भक्तिशब्देन मुख्यतया मानसी सेवाभिधीयते ।

इदं त्ववधेयम् । 'देवानां गुणलिंगाना'मिति भक्तेः स्वरूपलक्षणमुक्त्वा, 'नैका-त्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरतामदीहा' इत्यनेन भक्तेः कार्यलक्षणमुक्तम् । तथा च मोक्षान्तपुमर्थेस्पृहाराहित्यसम्पादकत्वं तादृग्भक्तित्वमिति भक्तेः कार्यलक्षणम् । एवं सति सर्वपुमर्थान् भक्ता न स्पृहयन्तीत्युक्ते भगवत्स्वरूपमात्रं स्पृहयन्तीति सिध्यति । एवं सकलपुरुषार्थाभिलाषशून्ये पुरुषोत्तमस्वरूपमात्रफलामिलापिणि भक्ते परमानुग्रह-परवशो भगवान् स्वरूपात्मकफलप्राप्तये तत्फलप्राप्तयनुकूलमलौकिकसंपातं सम्पाद्य स्वयं फलरूपेण सर्वेन्द्रियविषयो भवति । तदेतदुक्तम् । अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः इति मूले, अलौकिकसामर्थ्यमित्यनेन टीकायां विवृतं च । ननु तृतीयस्कन्धे अलौकिकविग्रहप्राप्तिनोक्तिं कथमत्राचार्यैरलौकिकसामर्थ्यं फलत्वेनोक्तम् । तत्किंप्रमाणकमिति चेत्, श्रूयताम् । 'पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंस प्रसन्नवक्रास्मलोचनानी-त्यनेन भगवद्दर्शनादीनां फलत्वेनोक्तिरयं मानम् । अन्यथा तादृग्मलौकिकसंपातं विना 'पश्यन्ति ते म' इत्यत्रोक्ता दर्शनाद्युक्तिर्विरुध्यते । लौकिकेन्द्रियवर्गस्य निवृत्तत्वात् । 'जरयत्याशु या कोशं निर्गीर्णमनलो यथे'तिवाक्यात् । अतो दर्शनाद्यन्यधानुपपत्त्या अलौकिक-देहेन्द्रियप्राप्तिराक्षिप्यते । सर्वतो बलवती ह्यन्यधानुपपत्तिः । तथा च मिद्धमलौकिक-सामर्थ्यरूपमुत्तम फलमुत्तमानाम् ॥ १ ॥

एवमुत्तमाधिकारिणामुत्तमफलमुक्त्वा मध्यमाधिकारिणां फलमाहः सायुज्यमिति । 'मद्भक्तिं लभते परा' 'भक्त्या मामभिजानाती'त्युक्त्वा 'विशते तदनन्तर'मित्यत्रोक्तं सायु-

ज्यमित्यर्थः । इदं मध्यम फलम्, अलौकिकसामर्थ्यापेक्षया हीनम्, सेवौपयिकदेहापेक्षयो-
त्तमम् । अतो मध्यमम् । अलौकिकेन्द्रियवर्गस्य दानसापेक्षत्वान्मध्यमानां तदलाभे सायुज्य
भवति । तदुक्तं मूले, फलं वेति ।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

फलशब्देन सायुज्यम् । साधारणमर्यादया सर्वेषां भक्तिमतां तत्प्राप्तेः । 'हृतात्मनो
हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो मे गतिमर्षी प्रयुक्त' इति तृतीयस्कन्धवाक्यात् । न चान
वाक्ये 'अनिच्छत' इतिपदेन मोक्षेच्छाशून्यानां पुष्टिमक्तानां ग्रहणात्तेषामेव सायुज्य-
लाभोस्तीतिवाच्यम् । मोक्षस्पृहयैव तैर्भगवद्भक्तेः कृतत्वात् । अनिच्छाकथनं तु भक्तिमहिम्ना
कदाचित्तादृशभावोदयात् । न ह्ययं भावस्तेषां सार्वदिकः । अतो भगवति प्रेमाप्येतेषां
सोपाधिः । मोक्षदातृत्वेन भगवति ज्ञातत्वात् । अत एतेषां सायुज्यप्राप्तिर्भवति । एतच्च
तृतीयाध्यायमध्ये स्फुटम् । पूर्वोक्तालौकिकसामर्थ्यरूपफलाधिकारिणां तु भगवति निरुपा-
धिक प्रेम । सायुज्यादिपुमर्थस्य स्पृहाराहित्येनैवोत्पन्नत्वात् । अतो भगवत्स्वरूपस्य सकले-
न्द्रियास्वाद्यत्वेन तेषामपेक्षितत्वादालौकिकसघातं दत्त्वा सर्वेन्द्रियास्वाद्यो भवति, येषां
मोक्षदातृत्वेन सोपाधिक हरी प्रेम तेषां सायुज्यमिति विवेकः ।

एष मध्यमानां फलमुक्त्वा हीनानां फलमाहुः सेवौपयिकदेहो वेति । व्यापि-
वैकुण्ठादीं पार्षदादिदेहप्राप्तिरित्यर्थः । 'अथो विभूतिं मम मायाविनस्तामैश्वर्यमष्टांगमनु-
प्रवृत्तम् । त्रिय भागवती वा स्पृहयन्ति भद्रां परस्य मे तेश्रुवते तु लोके' इतिकपिलवाक्यात् ।
एतदामे 'सालोक्यादिरूप फलमाहे'ति सुयोधिन्यामुक्तत्वात् ।

अत्र केचिद्वैकुण्ठशब्देन व्यापिवैकुण्ठेतरवैकुण्ठानां ग्रहणमिति वदन्ति । तन्न ।
'व्यापिवैकुण्ठे सर्वमैश्वर्यादिकमश्रुत इत्यर्थ' इति सुयोधिन्यामुक्तत्वात् । न चालौकिक-
सामर्थ्यं मुख्यफले तादृशप्रग्रहप्राप्तिरुक्ता, एत तृतीयेपि सेवौपयिकदेहस्याप्राकृतस्य प्राप्ति-
रन्येन, अतः प्रथमतृतीययोः साम्यमापतितमिति वाच्यम् । प्रथमफले भगवतः सर्वेन्द्रिय-
मोग्यत्वेन तद्गोणानुगुणदेहलाभः, तृतीये तु सेवामात्रयोग्यदेहलाभ इति विशेषतैलक्षण्यात् ।

इदमत्र ज्ञेयम् । अलौकिकसामर्थ्यरूप फलं व्यापिवैकुण्ठान्तर्गतं नि आधिदैविके
वृन्दाननवृद्धद्वन्दादीं प्राप्यते । 'पश्यन्ति ते मे रुचिरावतसे'त्यस्य व्याख्याने वृन्दाननादीं
भगवन्माक्षात्मगो भवतीति सुयोधिन्यामुक्तत्वात् मूले अधिकारशब्देन सेवौपयिकदेहो
गृह्यते, तादृशदेहस्य गेवाधिकाररूपत्वात् ।

एत फलत्रयमुक्तम् । तत्रालौकिकसामर्थ्यरूप फलं पुष्टिमक्तानाम् । सायुज्यं सेवौ-
पयिकदेहो मर्यादाभक्तानाम् । अत एत नरमनिधये 'देहभावे रदे तु म्याद्रक्तानां
क्रण्णतामता । सायुज्यं चान्यथा तस्मिन् गंगातीरे न संशय' इत्यनेन गंगाभेदात् सायुज्य-
सेवौपयिकदेहप्राप्तिरुक्ता । विद्वान्तमुक्तावस्था 'मर्यादास्यस्तु गंगया श्रीभागवतान्तर'

इत्यनेन मर्यादास्यस्य तु गंगासेवनमुक्तम् । अत एव 'मर्यादाभक्तिमार्गस्य काष्ठा गंगा परा मते'ति निबन्धे उक्तम् । अत एव मर्यादाभक्तेः सायुज्यादिफलम् । पुष्टिभक्तेस्तु नित्यलीलाप्रवेशरूपं फलमिति स्पष्टमेव तृतीयचतुर्थाध्यायभाष्ये निरूपितमिति दिक् ।

न कालोत्र नियामकः । अत्र फलत्रयेपि कालो न नियामकः । फलत्रयं कालपरिच्छेद्यं न भवतीत्यर्थः । 'न कर्हिचित्तत्पराः शान्तरूपे नक्ष्यन्ति नो निमिषो लेटि हेति'रिति कपिलवान्यात्, 'मत्परा न नक्ष्यन्ती'त्युक्त्या मत्परशब्देन फलत्रयप्राप्तानां श्रणात् ॥ १॥ ॥

कार्यमात्रप्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणतास्वीकारात् सेवासिद्धयर्थं सेवाप्रतिबन्धा दूरी-
कर्तव्या इति तदर्थं प्रतिबन्धकात्रिरूपयन्ति ।

उद्देगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥
बाधकानां परित्यागो भोगेऽप्येकं तथा परम् ।

सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम्, उद्देगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा । उद्देगो भगवत्सेवासमये चित्तद्वेषप्रदश्चाञ्जल्यविशेषः । स च भगवत्सेवां प्रतिवधाति । भोगः सुखसाधकतया विषयासक्तिमम्पादकत्वेन भगवदासक्तिविरोधात् सेवाविरोधी । एतत्प्रति-
बन्धकद्वयं दुःखसुखसाधक प्रतिबन्धरूपम् । 'प्रतिबन्धक तूदासीन दुःखसुखे प्रयच्छ-
ती'त्यस्य न नामान्तरेण निर्देशः, किन्तु प्रतिबन्धशब्दवान्यतैव । 'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यत्मना वानुसृतस्वभावा'दित्यत्र वाच्यनसोर्विशिष्टकार्यमादाय इन्द्रिये-
भ्यः पृथक्तया गणनात् । एतमुद्देगभोगयोरपि दुःखसुखप्रदत्वेन विशिष्टत्वात् पृथङ्-
निर्देशः । अन्यथा प्रतिबन्धकशब्देनैव उद्देगभोगयोर्ग्रहणसम्भवात् पृथङ्नामनिर्देशो
व्यर्थः स्यात् । त्रयाणामिति । उद्देगप्रतिबन्धभोगानां यानि साधनानि हेतवस्तेषां
परित्यागः कर्तव्यः । साधनपरित्यागे प्रतिबन्धानामनुत्पत्तेः । मूले बाधकानां
परित्याग इत्यस्य तेषां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति व्याख्यान टीकायाम् ।
प्रतिबन्धकेषु भोगशब्देन लौकिको भोगो ग्राह्यो न त्वलौकिक इत्याहुः भोगो
द्विविध इत्यारभ्य लौकिकस्याज्य एवेति व्याख्यान टीकायाम् । मूलार्थस्तु
भोगे लौकिकालौकिकभोगे एकं लौकिकभोगात्मकं परं प्रतिबन्धक-
मिति । तत्राद्य इति । साधारणप्रतिबन्धभगवत्कृतप्रतिबन्धयोर्मध्ये आद्यः साधारणप्रति-
बन्ध इत्यर्थः । तस्य स्वरूपं तु सुखदुःखाजनकत्वेन सेवाप्रतिबन्धकत्वम् । यथा सेवा-
समये उदासीनेन वागादिव्यनहार क्रियते स सेवां प्रतिवधाति, उद्देगभोगो तु दुःखसुख-
जनकौ, सेवाप्रतिबन्धकाविति निवेकः । युद्ध्या त्याज्य इति । चातुर्येणत्यर्थः । तथा च
व्यनहारचातुर्येण सेवानवसरे लौकिक कार्यं तथा कर्तव्यं यथा सेनावसरे तादृश वागादि-
व्यनहारकार्यमेव न पतेदित्यर्थः । अथवा साधारणप्रतिबन्धो वेदनिन्दारूपः पापरूपश्च । स

तु बुद्ध्या त्याज्य , बुद्धिपूर्वक तस्य त्याग कर्तव्य इत्यर्थ । अलौकिकभोगस्त्विति । भगवत्सेवार्थं मुखदुर्वासनादिदोषनिवृत्तये ताम्बूलभक्षणादिरूप , भगवद्भामित्वादलोकिक । 'मन्निष्ट निर्गुण स्मृत मितिप्राक्यात् । 'कायेन वाचा गनसेन्द्रियैर्वा' इति श्लोके भगवदर्थं कृतस्य दन्तधापनादेरपि भगवद्धर्मत्वस्य नवयोगिप्रसंगे कविनोक्तत्वात् । 'धर्मान् भागवतान् वृते'ति प्रथोपक्रमात् । श्रीमत्प्रभुचरणे स्वतन्त्रे तथा व्याख्यानाच्च । फलानामध्ये प्रथमे प्रविशतीति । साधनत्वेन प्रविशतीत्यर्थ । अलौकिकसामर्थ्यरूपफलसाधको भवतीति यावत् । अतोयमलोकिकभोगो न त्याज्य । तदुक्त मूले ।

निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ।

अर्थस्तु महान् भोगः पूज्यो भोगो भगवत्सेवार्थमगरागलेपादिरूप निष्प्रत्यूहं निर्विघ्नं यथा सात्तथा प्रथमेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे फले प्रविशति, तत्फलसाधको भवतीति यावत् । साधारणप्रतिबन्धस्य बुद्ध्या त्याज्य इत्यनेन निवृत्त्युपाय उक्त ॥२॥३॥

एव भगवत्कृतप्रतिबन्धकस्यापि निवृत्त्युपायो वक्तव्य इत्याशक्य नास्य कश्चिन्निवृत्त्युपाय इत्याहुः भगवत्कृतश्चेदित्यारभ्य चिबेक इत्यन्तेन । तदा भगवान् फलं न दास्यतीति । सेवाफलं मुक्तिरूपं न दास्यतीत्यर्थ । तदान्यसेवापीति । मुक्तिप्राप्त्यर्थं मन्यस्य तीर्थादेरित्यर्थ । तत्र हेतुः । तदाऽसुरोयमिति । आसुरस्य तु 'निग्रन्धावासुरीमते'ति भगवद्वाक्यात् तस्य मुक्तिर्न भवतीति तीर्थादिसेवापि व्यर्थेति भावः । तदुक्त मूले ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हीति ।

ननु यस्य भगवत्कृत प्रतिबन्धः स आसुरः, तस्य सर्वथा मुक्तिर्नास्तीति निरूपितम्, तर्हि फलाशाराहित्यजनितक्लेशः स्यात्, तत्क्लेशनिवृत्तिः कथं स्यादित्याशङ्क्य क्लेशनिवृत्त्युपायमाहुः तदा ज्ञानमार्गणेति । येनाहुमुत्पादितः तेन परमेश्वरेण यद्विचारितं तथैव भविष्यतीति मया तु यत् त्याज्यमित्यादिज्ञानरूपेण साधनेन नेश्चिन्त्येन स्वैयमित्यर्थः । तदुक्त मूले ।

यथा सा तत्त्वनिर्धारो चिबेक माभन मतम् ।

साधनमिति शोकाभावसाधनमित्यर्थः । एव साधारणप्रतिबन्धो बुद्ध्या त्याज्य इत्युक्त्वा भगवत्कृतप्रतिबन्धसाशक्यत्यागत्वात् तन्न्ययशोकनिवृत्तये ज्ञानमार्गेण स्वैयमित्युक्तम् ॥ ४ ॥

अतः परं भोगरूपप्रतिबन्धनिवृत्त्युपायमाहुः साधारणो भोगः कथमित्यारभ्य त्याज्य इत्यन्तेन । भोगस्य सुखहेतुत्वेन त्याज्यत्वं न मनस्यायातीत्याशङ्क्याहुः ।

सविघ्नोत्प्लोघातकः स्वादिति ।

सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगस्य त्याज्यत्वम् । भोगस्य सविघ्नत्वमल्पत्वं च मुहुर्मुहुर्विचार्य त्यागः कार्यः इति भावः । साधारणप्रतिबन्धस्य तु घातकत्वात्त्याज्यत्वम् । साधारण-

प्रतिबन्धश्च वेदनिन्दारूपः पापरूपश्च । स च महादोपरूपत्वात् सेवासिद्धेर्पातकौ भवति । अत एव वेदनिन्दायाः पापानां च जन्मान्तरसम्पादकत्वं निबन्धे सेवाप्रकरणे उक्तम् । 'अत्रापि वेदनिन्दायामधर्मकरणात्तथा । नरके न भवेत् पातः किन्तु हीनेषु जायते' इति । एतस्य सर्वेषु सेवाधिकारिषु सम्भवात् साधारणत्वम्, सकलसत्कार्यमात्र-प्रतिबन्धकत्वाच्च साधारणत्वम् । भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तु असुरमात्रविषयकत्वादसाधारण इति विशेषो ज्ञेयः । एतौ सदा प्रतिबन्धकाविति । लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धौ सदा सेवाप्रतिबन्धकौ । लौकिकभोगस्य वेदनिन्दारूपपापरूपसाधारणप्रतिबन्धस्य च सर्वदा सम्भवात् सर्वदा प्रतिबन्धकत्वमित्यर्थः । तदुक्तं मूले ।

बलादेतौ सदा मतौ ।

सदा प्रतिबन्धकौ मतावित्यर्थः । भगवत्कृतप्रतिबन्धस्याशक्यत्वात्साक्षात्त्वादनिवार्य-त्वेन आसुरजीवस्य सेवाफलाभाव इति निरूप्य तत्कृतशोकनिवृत्तये ज्ञानमार्गेण स्थितिः कार्येति पूर्वं निरूपितम् ।

अतःपरं येन ज्ञानमार्गोपि नाश्रयितुं शक्यम्वस्यासुरस्य चित्तस्वास्थ्यप्रकारमाहुः ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताऽभावाद्येमाहेति । यस्यासुरस्य ज्ञानस्थित्यभावस्तस्य चिन्ताऽभावसम्पादनार्थमित्यर्थः । द्वितीय इतीति । भगवत्कृतप्रतिबन्ध इत्यर्थः ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

अर्थस्तु प्रतिबन्धयोर्मध्ये द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे चिन्ता न कर्तव्या । तत्र हेतुः । संसारनिश्चयादिति । मम संसार एव फलं परमेश्वरेण विचारितं न मुक्तिः । अत आशैव न रक्षणीया । 'निवन्धायासुरी मता' इति वाक्यात् । एवं च चिन्तापि न कार्येति । एवं प्रकारेण स्वास्थ्यं मनसि सम्पादनीयमितिभावः ।

एवमासुरस्य भेदद्वयम् । तत्र 'ज्ञानमार्गेण स्यात्तत्र'मित्येकः प्रकारः पूर्वं टीकाया-मुक्तः । मूले अकर्तव्यं भगवत् इत्यारभ्य विवेकः साधनं मतमित्यन्तेनोक्तः । द्वितीयप्रकारस्तु 'ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताऽभावाद्येमाहे'त्यनेन टीकायामुक्तः । मूले द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयादित्यनेनोक्तः । एवं द्विप्रथम्याप्यासुरस्य सेवाफलाभावो निरूपितः, शोकाभावप्रकारश्चोक्तः ॥ ५ ॥

अतः परमुद्देगरूपप्रतिबन्धे किं कार्यमित्याकांक्षायामाहुः न त्वाद्ये दातृता नास्तीति ।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये वाधकं गृहम् ।

आद्ये त्रिषु वाधकेषु आद्ये उद्देगरूपे प्रतिबन्धे तु चिन्ता न त्याज्येति पूर्वस्याभ्यां

चिन्तापदत्याज्यपदाभ्यामन्ययः । तथा चोद्वेगरूपप्रतिबन्धस्य निवारयितुं शक्यत्वेन तन्नि-
 वृत्तुपायचिन्तां कृत्वा उद्वेगो निवर्तनीय इत्यर्थः । असाध्ये हि चिन्तात्यागो विधेयः ।
 'तस्मादपरिहार्ये न तत्र शोचितुमर्हसी'ति वाक्यात् । साध्ये तु चिन्ता रक्षणीयैव ।
 यद्युद्वेगरूपप्रतिबन्धनिवृत्तिर्न स्यात्तदा किं स्यादित्याकांक्षायामाहुः । आद्यफलाभाव
 इति आद्येन फलाभाव इति तृतीयातत्पुरुषः । आद्यशब्देन प्रतिबन्धेषु आद्य उद्वेग-
 रूपस्तेन कृते फलाभावे भगवतो दानृत्वं नास्ति, भगवान् सेवाफलं न दास्यतीत्यर्थः ।
 तत्र हेतुः । तदा सेवा नाधिदैविकीत्युक्तं भवति । 'मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु
 या । अनिमित्ता भागवती भक्तिर्मुक्तेर्गरीयसी'ति तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्यात् सेवाया
 भगवत्परमनोवृत्तिरूपत्वेन तत्र चित्तस्थैर्यस्यापेक्षणादुद्वेगे च चित्तस्थैर्यनाशात् सेनाया
 आधिदैविकीत्व न स्यात्, अत उद्वेगनिवृत्तिं कर्तव्येति तात्पर्यम् । पूर्वं त्रयाणां
 साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्युक्तं टीकायाम्, बाधकानां परित्याग इत्युक्तं
 मूले । ततश्चोद्वेगत्यागः प्रतिबन्धत्यागो भोगत्यागश्चेति त्यागत्रयमनुमतं भवति । तेषु
 तृतीयस्य भोगत्यागस्योपायमाहुः भोगाभावस्तदैवेत्यादिना । मूले तृतीये बाधकं
 गृहमित्युक्तम् । अर्थस्तु तृतीये भोगत्यागे गृहं बाधकम् । गृहस्यस्य सर्वा-
 त्मना भोगत्यागासम्भवादिति ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ।

अर्थस्तु इयमुद्वेगादिप्रतिबन्धकरणी अवश्या स्ववश्या न भवति । अतः सदा
 भाव्या विचारणीया, एतत्प्रतिबन्धकरण्या साधनपरित्यागो विचार्यः । एतत्प्रति-
 बन्धकरण्यात् सावधानतया श्लेषमिति तात्पर्यम् । ननु तर्हि प्रतिबन्धकरणसम्भवात्
 सोपाय सेवामार्गं त्यक्त्वा ज्ञानादिमार्गं एवानुष्ठेय इत्याशकामपनुदन्तो ज्ञानादिमार्गेण
 सेनासाध्यं फलं न भवतीत्याहुः सर्वमन्यन्मनोभ्रम इति । सेवातिरिक्तज्ञानादिरूप
 साधनं तु न सेनासाध्यफलसाधकम् । अतोऽत्र पूर्वनिरूपितफलत्रयाकाक्षिमिरन्यत्साधनं
 कार्यमितिज्ञानं भ्रममात्रमित्यर्थः ॥ ६ ॥

ननु पुष्टिमार्गाधिभ्यः भगवदनुग्रहप्राप्तस्य भगवत्पुष्टिस्वभावात् सेनाफलं सर्वथा भवि-
 व्यत्वेन प्रतिबन्धकरणी त्वप्रयोजिकेति किमर्थं तद्विचारं कर्तव्यं इत्याशक्यं तादृशस्यापि
 एतत्प्रतिबन्धकरणी विचारणीयेत्याहुः तदीयैरपि तत्कार्यमिति ।

तदीयैरपि नत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

तदीयैः पुष्टिमार्गाधैरपि तत्कार्यम् । प्रतिबन्धकरणीमात्रं कार्यम् । किमर्थं कार्य-
 मित्याकांक्षायामाहुः पुष्टौ नैव विलम्बयेत् । यद्यपि पुष्टौ फलाभावे नास्ति, तथापि
 फलविलम्बस्तु प्रतिबन्धकरणेण भवेदतः पुष्टौ पुष्टिमार्गे न विलम्बयेद्विलम्बं न कार-

येत्, प्रतिबन्धकत्रयादसावधानश्चेत् स्यात्तदा विलम्बो भवेत्, अतः प्रतिबन्धकत्रयीभावान्
सुहृर्षुहुः कृत्वा त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । सोपि शीघ्रमेव, न विलम्बेन । एत-
द्विलम्बे फलविलम्बो भवेदितिभावः ।

ननु प्रतिबन्धकत्रयासाधनपरित्यागेपि सर्वत्र गीताभागवतादौ प्रकृतिगुणानां
सत्त्वरजस्तमसां प्रावल्पस्योक्तत्वात्क्षोभकृतः सेवाप्रतिबन्धो भवेत्तदर्थं किं कर्तव्य-
मित्याकांक्षायामाहुः गुणक्षोभेपीति ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

गुणानां क्षोभेपि एतदेव मद्भक्तमेव द्रष्टव्यं विचारणीयमिति । एतद्विचारे
साधनपरित्याग एवोपायत्वेन स्फुरेत् । गुणक्षोभसाधनं तु सगुणवस्तुसंगः । सगुणं वस्तु
भगवतैकादशे निरूपितं पञ्चविंशध्याये । एवं सति सगुणवस्तुस्वरूपं ज्ञात्वा तत्संगस्य
त्यागः कर्तव्यः । व्यवहारनिर्वाहस्तु 'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृत'मित्यादिवाक्याद्भगवत्सम्बन्धि-
पदार्थस्य निर्गुणत्वाद्भगवदुपभुक्तशिष्टपदार्थैः कर्तव्यः । तथा सति गुणक्षोभदोषोपि न
भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥

ननु भगवदीयाः पदार्था निर्गुणाः, तैः सम्बन्धदोषपरिहार उक्तः, स च न
सम्भवति, सर्वस्यापि पदार्थस्य गुणत्रयात्मकत्वमितिसांख्यसिद्धान्तादित्याशङ्क्याहुः ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७ ॥

भगवच्छास्त्रविरुद्धत्वात् सांख्यसिद्धान्तोक्तप्रमेयकथनं कुसृष्टिः । अतस्तादृशज्ञानं
भ्रम एव । यद्यपि सर्वपदार्थस्य सगुणत्वं, तथापि भगवत्सम्बन्धिपदार्थस्य निर्गुणत्वमेव ।
'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्' 'मन्त्रिकेत तु निर्गुणम्' 'निर्गुणं मदपाश्रय' मित्यादिवाक्येभ्य
इति भावः ।

सेवां गुह्यिष्यप्रोक्तां कारयित्वा निजां फलम् ।

ददातु प्रथमं देवो बालकृष्णो मदीश्वरः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्भोवर्धनधरश्रीवह्यभाचार्यवरश्रीविठ्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन
लाङ्गभट्टोपनामपालकृष्णदीक्षितेन विरचिता सेवाफलविवृति-
टिप्पणी समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

मठपतिश्रीजयगोपालभट्टकृतविवरणसमेतम् ।



बार्हचर्हलसन्मौलि वेशुवादविशारदम् ।
दुःखं दलयन्नादुर्घैस्त्रिभंगललितं महः ॥ १ ॥
नत्वा श्रीवल्लभाचार्यास्तत्सुतान् विड्दलेश्वरान् ।
विवृत्या सहितं सेवाफल व्याख्यायते मया ॥ २ ॥
गीताभागवतादावप्युक्तं पण्डितबुद्धिगम् ।
पुष्टिसेवाफलं ज्ञात्वा विचारे त्वक्षमान् निजान् ॥ ३ ॥
विवोधविपवश्चक्रुर्ग्रन्थं सेवाफलाभिधम् ।
सम्यग्विवरणोपेतं श्रीमदाचार्यपण्डिताः ॥ ४ ॥
पद्गुणाः सप्तमो धर्मो सर्वधर्म्यधिको ब्रजे ।
यथा विराजते नित्यं तत्सेवायाः फलं तथा ॥ ५ ॥
सर्वसेवाफलेभ्योऽत्र ज्ञाप्यतामधिकं पुनः ।
इति ज्ञापयितुं सार्धसप्तपद्यैर्निरूपितम् ॥ ६ ॥

अथ श्रीभगवद्गीताश्रीभागवताणुभाष्यभागवततत्त्वप्रदीपसुषोधिन्वादिसमाकलना-
समर्थैः कैश्चिदतिक्रमामाजनेः स्वीयभगवदीयैः पृष्ठाः श्रीवल्लभाचार्यचरणाः स्वमार्गायसेवाफलं
निरूपयन्ति यादृशी सेचना प्रोक्तेत्यादि सार्धपद्येन ।

यादृशी सेचना प्रोक्ता तद्विसद्भौ फलमुच्यते ।
अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥
फलं वा लघुधिकारो वा न कालोऽत्र नियामकः ।

एतस्य विवरणं तु सेवायां फलप्रयत्नलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेयो-
पपिकदेहो वा यैकगुण्टादिष्विति । अथ सेवापामिति तु यादृशी सेचना
प्रोक्ता तद्विसद्भावित्येतस्य विवरणम् । फलप्रयमिति तु फलमुच्यते इत्यस्य विव-
रणम् । अलौकिकसामर्थ्यमितादि अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्ये-
न्मनोरथ इत्यात्म्य अधिकारो वेत्तेतदन्तस्य च विवरणं बोध्यम् ।

अथ व्याख्या । यादृशी 'कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता, चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धौ तनुवित्तजे' त्यादिना स्वतनुजस्ववित्तजसेवया प्रेम्णि जाते आसक्तिस्वरूपतत्प्रवणचेतस्स्वरूपा फलरूपा मानसी सेवेति सिद्धान्तमुक्तावत्युक्त- प्रकारा सेवना सेवा मया प्रोक्ता तस्याः सिद्धौ पूर्णतयाविभावे सति यत्फलं भवति तदुच्यते कथ्यत इत्यर्थः । ननु सिद्धान्तमुक्तावत्यां तु स्वतनुजस्ववित्तज- सेवोत्तरं प्रेमोत्पत्तिः कण्ठरवेण नोक्तेति कथं भवतोच्यत इति चेत्? अत्रोच्यते । 'यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् तथोपायो निरूप्यते, वीजभावे दृढे तु स्यात् त्यागाच्छ्रवण- कीर्तना'दित्युपक्रम्य 'वीजदारब्धप्रकारस्तु गृहं स्थित्वा स्वधर्मतः, ज्व्यावृत्तो भजे- त्कृष्णं पूजया श्रवणादिभि'रित्यादिना स्वतनुजस्ववित्तजसाधनरूपसेवामुक्त्वा 'ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेदि'त्यनेन साधनरूपसेवोत्तरं प्रेमोत्पत्तिरुक्ता, तदनन्तरमासक्तिरुक्ता, तदनन्तरं व्यसनं चोक्तं श्रीमदाचार्यवर्यैर्भक्तिवर्धिकायामिति । एकत्र निर्णयितः शास्त्रार्थोपरत्रापि प्रवर्तत इति न्यायं मनसिकृत्यास्मत्प्रभुभिः सिद्धान्त- मुक्तावलीविप्रतामुक्तमेतेन निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवती'ति मयाप्युक्तमित्यवेहि । तत्किं फलमित्याकांक्षायामिदमिदं फलमिति फलत्रयं विवक्ष्व आद्य फलमाहुर्मूले अलौकिकस्य दाने हीति । एतद्विवरणं त्वलौकिकसामर्थ्यमिति । अत्र द्वितीयातत्पुरुषस्त्वसम्भव्येव, तृतीयापञ्चमीपष्टी- तत्पुरुषाणां सम्भवित्वेपि क्लिष्टार्थता सम्भवतीत्यलौकिकाय सामर्थ्यमिति चतुर्थीतत्पुरुषा- श्रयणादलौकिके सामर्थ्यमलौकिकसामर्थ्यमिति सप्तमीतत्पुरुषाश्रयणाद्वा अलौकिकविषयक- सामर्थ्यं यावदलौकिकसम्बन्धजनितसुखदुःखानुभवविषयकशक्ततेति यावदित्यर्थो ज्ञेयः । एवं च सति 'निःप्रत्यहो महान्भोगः प्रथमे विशते सदे'ति मूले, तथा च 'अलौकिक- भोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशतीति तद्विवरणे चोक्तो ह्यलौकिकभोगस्य प्रथमफले प्रवेश उपपन्नो भवेत्, तस्याप्यलौकिकपदेन संग्रहात् । कर्मधारयाश्रयणे तु सामर्थ्यमात्र- स्यैवालौकिकत्वात्तदतिरिक्तालौकिकभोगादेरलौकिकसामर्थ्यरूपत्वाभावाद्दलौकिकपदेनासंग्र- हादलौकिकसामर्थ्यरूपप्रथमफले प्रवेशोक्तिरसंगता स्यात् । तस्माच्चतुर्थीतत्पुरुषः सप्तमी- तत्पुरुष एव वाच साधुतरो न कर्मधारय इति बोध्यम् । यद्वा । न लौकिकमलौकि- कम, अलौकिकं च तत्सामर्थ्यं चेति कर्मधारय एवास्तु । न च पूर्वोक्तदूषणापत्तिरिति वाच्यम् । अलौकिकभोगस्त्वलौकिकसुखदुःखसाक्षात्कारस्तु फलानां मध्ये प्रथमे फलेऽ- लौकिकसामर्थ्येऽधिकरणरूपे प्रविशति प्रविष्टो भवति, तदर्थमेवालौकिकसामर्थ्यस्य भग- वता दानात् । एवं च न पूर्वोक्तदूषणापत्तिरिति दिक् । एवं च विवरणे मूलस्यालौकिक- पदस्यालौकिकविषयकसामर्थ्यपरत्वेनालौकिकसामर्थ्यपरत्वेन वा व्याख्यानात् कस्यचि- देतत्संघाते कस्यचिच्चेतदेहपातोत्तरं वृन्दावनादिष्वलौकिकसंघात एव वा ह्यलौकिक-

विषयकसामर्थ्यरूपसालौकिकसामर्थ्यरूपस्य वा फलस्य दाने वितरणे स आद्यः प्राथ-
मिकः सत्संगादिनेदं प्रथमतयोत्पन्नः प्रियतमभगवत्संगमविषयको भक्तस्य मनोरथः स हि
निश्चयेन सिध्येन्मनोरथविषयीभूतपदार्थप्राप्त्या पूर्णो भवेत्, तददाने तु न पूर्णो भवे-
दित्यर्थः । तथा च मनोरथविषयीभूतप्रियसंगमसाधकं प्राथमिकं फलमलौकिकविषयक-
सामर्थ्यप्राप्तिरिति बोध्यम् । अल्पः सिध्येन्मनोरथ इति पाठे त्वलौकिकस्या-
लौकिकविषयकसामर्थ्यसालौकिकसामर्थ्यस्य वा अदाने हि निश्चयेन विप्रयोगोद्रेके
सति कदाचित् कदाचिन्मनसि जायमानत्वादल्पः स्वल्पो मनोरथः प्रियसंगमविषयकः
सिध्येदित्यर्थो ज्ञेयः । चकोरेणैतद्दान एवान्योपि मनोरथः सिध्येदिति व्याख्येयम् ।
अत्रैवं ज्ञेयम् । प्रथमतो मूलेच्छया 'यमेवे'ति श्रुतेर्निरूपधिरसरूपसपरिकरभगवत्कृपया
शुद्धपुष्टिमार्गीयं वरणम्, तदनु सत्संगादिना प्राथमिको भगवत्संगममनोरथः, तदनु
शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यसंश्रयः, तदनु भगवत्प्रासिजनकतिरोहिततापक्लेशानन्दाविर्भावाय
शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यकृतं निवेदनम्, ततस्तदुपदिष्टोस्मिन्मार्गे गोपिकानामैव गुरुत्वमिति
फलप्रकरणीयसिद्धान्ता 'दथ च गोपीभावेन ये भक्ता' इत्याद्यादिपुराणवाक्याच्च मूलरूप-
शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्याणां व्रजभक्तानां यो भावस्तत्सजातीयभावभावनापूर्वकं स्वतनुजस्व-
वित्तजमाधनरूपसेवाकरणेन दृढतरकथाश्रवणादिना वा कस्यचिद्विना प्रेमोत्पत्तिं देहपाते
'स्वयं समुत्तीर्ये'ति श्लोके 'सदनुग्रहो भवा'नित्युक्तत्वात् प्रेमवदाचार्यस्य भगवदनुग्रहवलेन
प्राप्तालौकिकदेहे रसमार्गीयत्वात् पूर्वानुरागमारभ्य सकलप्रेमानुभवाविर्भावः । कस्यचित्तु
भगवदिच्छया प्रेमासक्तयनन्तरमेव पूर्वानुरागजविरहेणैव व्यसनं विनैव देहपाते प्राप्ता-
लौकिकदेहे व्यसनाद्यवस्थाविर्भावः । कस्यचित्त्वैव प्राकृतदेहे प्रेम्णि जाते तदप्राप्त्या पूर्वा-
नुरागजविरहाविर्भावः, ततः स्वसेव्यस्वरूपे वा स्वमादौ वातिभाग्येन साक्षादपि वा प्रभु-
दर्शने 'चक्षुःश्रीतिः स्मृता तत्रातीवादनिरीक्षण'मिति लक्षणानुसाराद्भगवद्रिषयकः परमा-
दरपूर्वकनिरीक्षणरूपश्चक्षुरागरूपप्रथमप्रेमावस्थाविर्भावः । ततश्चित्तासंगः प्रियतमे नित्यं
चित्तस्य त्रिधम' इति लक्षणानुसारात् 'ततः प्रेम तथासक्ति'रित्युक्तत्वात् प्रेमोत्तरोत्पन्ना-
सक्तिस्वरूपतत्प्रवणचेतस्वरूपचित्तासंगरूपद्वितीयप्रेमावस्थाविर्भावः । इयमेवावस्था सेवा-
पदवाच्या । 'अभावस्था निरूप्यन्ते रसानुभवावस्थाविकाः । धीजांकुरः पल्लवश्च वृद्धि-
र्विनर एव च । अवस्था दिनयेन साचक्षुरागादिषु क्रमात् । चक्षुरागो मनःमंगः मंरूपो
जागरस्तथा । तनुता निषयेदो लज्जात्यागस्ततःपरम् । उन्मादमूर्छामरणान्येता दश दशाः
स्मृता' इत्युक्तत्वाच्चक्षुरागचित्तासंगान्यां धीजरूपप्रथमप्रेमावस्थोक्ता । ततः 'संकल्पस्तु
मनोरथ' इति लक्षणानुसारात्कदा प्रियमंगमे एवमेवं भविष्यतीत्यादिमनोरथरूपमंकल्प-
स्वरूपतृतीयप्रेमावस्थाविर्भावः । एतावता किञ्चिदुत्तमितः पूर्वानुरागानन्वो विरहः ।
अथायमलौकिकविषयत्वादलौकिको विरहः प्रलयानन्दाद्यविदुःमदो भारीनि लौकिकः-

सामर्थ्यवता शरीरेण मनसा च सोढुमशक्यो देवकृतसम्भोगो मानुषजात्या स्त्रियेवेति भगवता तापक्षेत्रविशिष्टालौकिकविरहरसभोगसामर्थ्यं प्रथमतो दीयते । तदनृच्छासनिश्चाससृष्ट्याद्यनुभावविशिष्टो 'निद्राछेदस्तु निद्राया अभावः परिकीर्तित' इति लक्षणानुसाराद्निद्राछेदरूपधनुर्थप्रेभावस्याविर्भावः । आभ्यां संकल्पनिद्राछेदाभ्यामंकुरावस्योक्ता । ततस्तनुता निखिलांगानां दौर्घ्यं परिकीर्तित'मिति लक्षणानुसारात् पाण्डुत्वाद्यनुभावविशिष्टतनुतात्वरूपपञ्चमप्रेभावस्याविर्भावः । ततो 'विषयेभ्यो निवृत्तत्वमरतिर्विषयान्तरे' इति लक्षणानुसारात्क्षुर्निमीलनासहनशीलताद्यनुभावविशिष्टविषयनिवृत्तिरूपपञ्चमप्रेभावस्याविर्भावः । आभ्यां तनुताविषयनिवृत्तिभ्यां पल्लवावस्योक्ता । एतावत्पर्यन्तमासक्तिकार्यमेव । अत एव 'सोहाद्रागविनाशः स्वादासत्तया स्वाद्द्वारासुचि'रित्यनेन गृह्यारभ्युपलक्षिता विषयनिवृत्तिरुक्ता श्रीमदाचार्यैर्भक्तियधिन्त्याम् । ततो 'दैहिकान्तकलाञ्च भावाञ्च निजां व्रीडां च दैहिकीम् । परित्यज्य हरिप्राप्त्यै यदेव स्यात्तदेव हि । लौकिकं वैदिकं चापि तत्कर्ता व्यसनी भूत' इति दशमस्कन्धीयभागवततत्त्वदीपसिद्धान्तसिद्धलौकिकवैदिकप्रियप्राप्तिसापनकरणरूपव्यसनद्विर्गोचः । ततः पुनः प्रियप्राप्तिसुखद्वयज्ञानेन 'उपस्थितान्तिके तस्यै व्यसने स्वमवोचते'ति दशमस्कन्धपद्यव्याख्यानसुषोधिन्युक्ताप्रतीकार्यदुःखस्वरूपव्यसनान्तराविर्भावः । येन विना प्रियतमांगसंगं क्षणमात्रमपि स्यात् न शक्नोति, तेन प्रियतमांगसंगं च प्राप्तोत्वेव । अत एव 'यदा स्याद्व्यसने कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदेव ही'त्यनेन तत्रैवानुपदमेयोक्तं व्यसनोत्तरमेव कृतार्थत्वमप्रतीकार्यदुःखस्वरूपव्यसनपदवाच्यान्यव्यसनप्राप्त्या । अत एव व्रतरूपव्यसने जाते प्रियप्राप्तिरेव जाता श्रीमतीनां कुमारीणाम्, तदनन्तरं चाप्रतीकार्यदुःखरूपे व्यसने जाते एव च प्रियतमांगसंगो जात इति श्रीभागवते स्पष्टमेव । अत्र कृष्ण इति विषयसप्तमी निमित्तसप्तमी वा, 'चर्मणि द्वीपिन'मित्यत्रेव । तथा च कृष्णविषयकं कृष्णनिमित्तं वा यदा प्रथमव्यसनोत्तरमप्रतीकार्यं तापसहितं दुःखरूपं हेतुपरपर्यायं द्वितीयं व्यसने स्यात्तदा 'लज्जत्यागोतिवैषय्यात् व्रतानाशोभिधीयत' इति लक्षणानुसारादाकस्मिन्कहसनरोदनाद्यनुभावविशिष्टव्रतानाशस्वरूपसप्तमप्रेभावस्याविर्भावः । तदन्वयेतनेषु प्रश्नादिरुन्मादः परिकीर्तित' इति लक्षणानुसारादाकाशाङ्गिनाद्यनुभावविशिष्टोन्मादरूपाष्टमप्रेभावस्याविर्भावः । आभ्यां व्रतानाशोन्मादाभ्यां बृह्णवस्योक्ता । ततः 'प्रलयो रागदुःखादेरिन्द्रियास्तमयो मत' इति लक्षणानुसारात्त्रिष्वेष्टत्वाद्यनुभावविशिष्टमूर्छापरपर्यायप्रलयरूपनवमप्रेभावस्याविर्भावः । ततः 'प्राणत्यागोतिदुःखेन मृतिस्तु परिकीर्तित'निलक्षणानुसारान्मृतिरूपदशमप्रेभावस्याविर्भावः । आभ्यां मूर्छासृतिभ्यां विस्तारवस्योक्ता । तथा 'सैतादृशातुभावविशिष्टव्यसनोत्तरं प्राकृतदेहहृते सच्चिदानन्दस्वरूपालौकिकदेहत्यागे च सति भगवत्स्वरूपानन्दप्राप्त्या कृतार्थः स्यादित्यर्थः । अत एवेदमप्रतीकार्यदुःखमेव प्रार्थितं निरोधलक्षणारूपे ग्रन्थे श्रीमदाचार्यैश्चरणैर्वैद्यैः संयतोदाया नन्दा-

दीनां च गोकुले । गोपिकानां च यदुःखं तदुच्यते स्यान्मम क्वचिदि'त्यादिना । अत्रेदमपि ज्ञेयम् । येषां त्वलौकिक शरीरं तेषां तु व्यसनानन्तरं प्रभुसगम एव, न दशमदशाप्राकट्यम् यथा रासमण्डलमण्डनानाम् । येषां तु लौकिक शरीरम्, तेषां तु व्यसनानन्तरं दशमदशो दयो भवत्येव, यथान्तर्गृहगतानाम् । इदमेव ज्ञापयितुमन्तर्गृहगतानां लीला । अन्यथा प्रजस्थानां सर्वेषामप्यलौकिकशरीरमिति तासां प्यलौकिकशरीरवत्त्वात्तथाकृतिर्व्यर्थी नीरसा च स्यादिति दिक् । 'नन्वन्ते या मतिः सा गति'रिति प्रेमवदाचार्यानुग्रहवलेनात्यसङ्गेन पूर्वाणु-
 रागजभगवद्विरहेण वा तत्क्षणमेव देहपाते प्रियसगमो भविष्यत्येव । अन्यथा 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति मर्यादा भज्येतेति किमर्थमलौकिकसामर्थ्यदानं किमर्थं वा न तत्तद्दशानु-
 भावनमिति चेत् । अत्र वदाम् । 'रसो वै स' इति श्रुतेः प्रभो रसरूपत्वाद्रसमर्यादयैव स्वस्वरूपदागमित्यलौकिकसामर्थ्यदानं तत्तद्दशानुभावनं चेति जानीहि । अपि च, तत्क्षण-
 मेव देहपाते चक्षुरागादिकमेणावस्थानुभावाभावरदर्शने रसमार्गीयभगवदीयानां सन्देह-
 स्यात्को वेद रसस्वरूपभगवत्प्राप्तिरेतस्याभवान्यस्वरूपभगवत्प्राप्तिरिति । तदर्थमेव कस्य-
 चिदलौकिकसर्वावस्थानुभवेनैव कार्यते प्रभुणा । तथा सति तत्तदवस्थानुभवस्य प्रत्यक्षतो दृश्यमानत्वेन सर्वेषां रसस्वरूपप्राप्तेर्निश्चयादेतन्मार्गीया प्रवृत्तिरपि निःप्रत्यूहा भवेत्,
 तदर्थमत्रैवालौकिकसामर्थ्यदानं तत्तद्दशानुभावनं चेत्यल पल्लवितेन । एवमेवालौकिक-
 सामर्थ्यं साक्षाद्गन्दावनादिष्वपि दीयते इत्यग्रे व्यक्तीभविव्यति । यद्वा, योस्मिन्मार्गे
 समायाति तस्य तु 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः । अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ।
 व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत् सदा । ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा
 भवेदि'ति भक्तिवर्धिन्यां तनुजनिजसेवाकरणे प्रेमासक्तिव्यसनानि भवन्तीत्युक्तत्वात्तद-
 नन्तरं तत्र 'यदा साङ्ग्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदेव ही'त्युक्तत्वाच्च व्यसनप्राप्तेः कृतार्थी-
 करणम्भवात् प्राथमिको मनोरथो व्यसनप्राप्तिविषयको भवति । तत्र व्यसनानिर्भावे
 महातापोदयात्तत्सहनं लौकिकसामर्थ्येन कर्तुमशक्यमिति दुःसहत्वादिति भगवता व्यसना-
 निर्भावोदव्यवहितपूर्वं तत्समकालमेव वानालौकिकसामर्थ्यं दीयते व्यसनसहकार्यम् । एवं
 चालौकिकस्य दाने हि । हि निश्चयेनालौकिकस्यालौकिकसामर्थ्यस्य दाने आद्यः
 प्राथमिको मनोरथो व्यसनप्राप्तिविषयकः सिद्ध्येन्नित्यन्तो भवेत्, व्यसनप्राप्तिः स्यादिति
 यावत्, तददाने स न निष्पद्यते इत्यर्थः । तथा च शुद्धपुष्टिमार्गीयस्य प्रेमासक्तिरूपायां
 सेनायां सिद्धायां प्रथमफलमलौकिकसामर्थ्यप्राप्तिरिति श्रीभगवाचार्यैरेतस्य प्रथमफलत्व-
 मुक्तमिति भावः ।

अथेतादृशविप्रयोगजनितदेहपातोत्तरं तु वाद्याभ्यन्तरमेदेनेदानीं तु देहस्य लौकिक-
 त्वात्सायिमानात्मकभगरसम्बन्धेना-त-करणम्वैतालौकिकत्वाच्चान्तरेव च भावि परम-
 काष्ठापन्नं फलत्रयेपि मुख्यफलरूपं द्वितीयं फलमाहुः प्लवं चेति । अत्र निवरणे फलत्रयस्य

सायुज्यत्वेन व्याख्यानाद्वितीयं फलं सायुज्यरूपं वा भवेत् । अत्र वाशब्दो विक-
 ल्यार्थः । यद्यतिक्रपाविशिष्टमूलार्थरूपश्रीमद्ब्रह्मभक्तंगितविशिष्टा प्रभोस्तादृङ्गुलेच्छा
 स्यात् । अत्र सायुज्यं शुद्धपुष्टिमार्गीयमेव विवक्षितम्, न त्वन्यत् । शुद्धपुष्टिमार्गीय-
 सेवाफलस्यैव निरूपणात् । ननु सायुज्यमेकविधमेव शास्त्रान्तरेषु श्रूयते, न त्वन्यप्रकारक-
 मतो न त्वन्यदिति निषेधो नोपपद्यत इति चेत् । अत्र वदामः । द्विविधं तावत्सायुज्यं
 स्थूलतया । तत्रैकमभेदसम्बन्धघटितम्, द्वितीयं तु भेदसम्बन्धघटितम् । तत्रार्थं 'ब्रह्म
 वेदं ब्रह्मैव भवती'त्यादिश्रुतिप्रमाणसिद्धम्, साधारणानुग्रहात् केवलमभ्यादात्वरूपमेकविधमेव ।
 द्वितीयं तु त्रिविधम् । तत्रैकं 'ब्रह्ममूतः प्रसन्नात्मे'त्यादिगीतावाक्यसिद्धम् । ब्रह्मभावो-
 त्तरसामयिकोत्तमाकस्मिककृपाजनितपरमभक्तिलाभजन्यभगवदानोत्तरसामयिकभगवत्प्रवेश-
 रूपगृहादिप्रवेशवत् । प्रवेशस्य भेद एव सम्भवाद्भेदघटितत्वं ज्ञेयम् । द्वितीयं तु
 'ब्रह्मविदामोती'त्यादिश्रुतिसिद्धम् । ब्रह्मभावोत्तरसामयिकाकस्मिकोत्तमतरकृपाजनितभक्ति-
 लाभजन्यभगवत्प्रवेशरूपसायुज्योत्तरं तत्सहभानविशिष्टसर्वकामभोगरूपम् । भोगोत्तरं
 स्वस्मिन्प्रवेशश्च मर्यादासंवलितत्वात् । तृतीयं तु 'केवलेन हि भावेने'ति वाक्येन 'न
 जानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'ति वाक्येन चात्युत्तमतमकृपया ब्रह्मभाव-
 ज्ञानवैराग्यादिनिरपेक्षप्रेमासक्तिव्यसनरूपकेवलभावजनितभगवत्सहभावविशिष्टसार्वकालिक-
 सर्वकामभोगरूपं च । तत्र गीतोक्तप्रवेशरूपसायुज्ये पुरुषोत्तमप्रवेशमात्रमेव फलम्, विशेष-
 कृपाऽभावात् । न चाक्षरज्ञानमार्गसायुज्यात् को विशेष इति वाच्यम् । अक्षरज्ञानमार्गे
 त्वभेदेन गणितानन्दाक्षरसायुज्यम् । पुरुषोत्तमज्ञानमार्गे तु भेदेनागणितानन्दपुरुषोत्तम-
 सायुज्यम्, भेदेनानुभूयमानमिति विशेषस्य जागरूकत्वात् । अत एवाचार्याश्चतुर्यस्कन्ध-
 निन्ये 'सायुज्ये तु रसाधिभ्यं भेदेनानुभवात्तत्' इत्युक्तवन्तः । किञ्चाक्षरस्य धर्मरूप-
 त्वाद्धर्मसायुज्यम् । पुरुषोत्तमस्य तु धर्मित्वादेतत्सायुज्यस्य धर्मिसायुज्यरूपत्वान्नासा-
 विभ्यस्यैव विशेषरूपत्वाच्च । ब्रह्मभावोत्तरसामयिकमर्षकामभोगरूपसायुज्ये तु मर्यादा-
 रूपब्रह्मभावोत्तरं सर्वकामभोगस्य मर्यादापुष्टिरूपत्वात् प्रमाणानुरोधिपुरुषोत्तमेन सहो-
 त्सर्गते मर्यादापुष्टिरूपमहिषीसजातीयगर्वकामभोग एव । न तु शुद्धपुष्टिमार्गीयो ब्र-
 भक्तसजातीयसर्वकामभोगः । न च 'ब्रह्मविदामोती'त्वेन ब्रह्मभावोत्तरं सर्वकाम-
 भोग एव श्रूयते, न तु परमभक्तिलाभ इति ब्रह्मभावोत्तरसामयिकभक्तिलाभोत्तरं
 सर्वकामभोगः कथं भवतोच्यत इति वाच्यम् । 'सह ब्रह्मणे'त्यत्राप्रधानतृतीया-
 निर्देशात् । तत्राप्रधानत्वं तु 'अहं भक्तपराधीनो ह्यसतत्र इव द्विजे'त्यादिप्रमाणैर्भक्त-
 विषय एव भगवतो, नान्यविषय इति मध्ये परमभक्तिर्भवतीति तथोक्तत्वात् ।
 ननु श्रुतिवलेन ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकामभोगं विनैव भक्तिं परब्रह्मणोप्रधानत्व-
 मगीक्रियतामिति चेत् ? न । 'इतिहासपुराणान्यां वेदं समुपवृंहये'दिति वाक्या-

दितिहासपुराणादिषु कुत्रापि भक्तिमार्गातिरिक्तमार्गे ब्रह्मणोप्रधानत्वस्याश्रूयमाणत्वात् । अपरञ्च, यदि ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकामभोगो निनैव भक्तिं स्यात्तदा त्वदुक्तं घटेतापि, न तु तथा । यतस्तादृशसर्वकामभोगस्य पुरुषोत्तमज्ञानजन्यभगवत्प्रवेशरूपसायुज्यसाध्यत्वात् । तत्र पुरुषोत्तमज्ञानं च भक्तिसाध्यम् । 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मे'त्यारभ्य 'विशते तदनन्तर'मित्यन्तेन प्रवृत्तेन भगवता पुष्टिमर्यादासर्वकामभोगे एवमेव सिद्धान्तितत्वात् । अन्यथा सर्वेषामेव ब्रह्मभावापन्नाना सर्वकामभोगः प्रसज्येत, नियामकाभावात् । अतो ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकामभोगस्य भक्तिं विना जायमानत्वाभावादप्रधानत्व परब्रह्मणो भक्तिकृतमेव, न तु भक्तिं विना कुत्रापि मद्दुक्तमेव साधीय इति दिक् । अत एवास्वातन्त्र्यमिया 'भुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोग'मिति भगवतो भक्तियोगदानाभावः श्रूयते यस्य कस्यचिदिति दिक् । तृतीये सायुज्ये तु वेदमर्यादास्वल्गनाभावात् प्रमाणातीतस्वरूपेण प्रमाणातीतभक्तानां प्रमाणातीतसर्वकामभोगः । एवञ्च चतुर्विधसायुज्यस्यापि प्रमाणसिद्धत्वेन प्रकृते सायुज्यपदेन भेदघटितसायुज्येषु तृतीयमेव सायुज्य विवक्षितम् । इदमेव च शुद्धपुष्टिमार्गीय सायुज्यमिति । अत्र 'प्राणेन सायुज्यं सलोकतामाप्नोती'त्यादिश्रुतिप्रयोगायुजिर योग इति धातोर्बहुल छन्दसी'ति बाहुलकान्नादे किपा युक्शब्दसिद्धिः, ततः सहशब्देन समासः, ततो वोपसर्जनस्येति सहशब्दस्य सादेशः, ततो भावे प्यञ्प्रत्ययश्च । यद्वा । सहयुनक्तीति सयुक् किपचेतिसूत्रेण कर्तरि किप्, सयुजो भावः सायुज्य सहभाव इति ज्ञेयम् । अत्रैतत्त्वम् । कदाचिदतिक्रपायां पुरुषोत्तमप्रवेशमात्रलक्षणसायुज्ययतो ब्रह्मभावजनितप्रवेशोत्तर सर्वकामभोगरूपसायुज्ययोग्यतावतश्चापि शुद्धपुष्टिफलप्राप्तिः केपाञ्चिद्भवति, मुक्तोपसृग्यव्यपदेशादिति न्यायात्, न तु सर्वेषाम् । अन्यथा मार्गभेदकरणवैयर्थ्यापात इत्यवधातव्यम् । नन्वेतादृशशुद्धपुष्टिफलप्राप्तिसंश्लेषाञ्चिद्भवति तर्हि तत्सायुज्यं किमर्थं दत्तमिति चेत् ? स्वस्य स्वतन्त्रेच्छत्वादि ज्ञापयितुमिति गृह्याणेति सर्वं चतुरस्रम् ।

अथ यस्मिन् जीने यादृशी कृपा तस्मिन्तादृशफलदानौपयिकभावप्राकट्यपूर्वकसेवया तादृग्भगवद्रूप फलमिति सिद्धान्तः, तथा च यस्मिन् व्रजभक्तरत्नेगितविशिष्टा भगवत्कृपा देहपानोत्तरक्षण एव साक्षादगसगत्रिपयिणी तस्य तु पूर्वोक्तप्रणाल्यैतदेहे तत्क्षण एव मनसि स्वमादौ वैतदेहपातोत्तर तु गृन्दावनादौ चाविलम्बेन साक्षादगसग एव भवति । यस्मिंस्तु देहपातोत्तरक्षण एव न साक्षादगसगत्रिपयिणी कृपा, किन्तु विलम्बेन, तस्यापि प्रेमोत्पत्त्यभाव एव वा प्रेमासक्त्यनन्तरमेव भगवदिच्छया वा देहपाते प्राप्तालीकिकदेहे प्रेमाद्यवस्थाविभावेन प्यसनाद्यवस्थाविभावेन वा विलम्बेन च साक्षादगसग एव भवति । यस्मिंस्तु दाम्यसत्त्वित्वाद्यधिकारत्रिपयिणी कृपा तस्य तु तादृग्भावपूर्वकसेवया पूर्वोक्तप्रणाल्यैतदेहपातोत्तर गृन्दावनादौ दास्यसत्त्वित्वाद्यधिकारत्रिपयिणीकिकदेहप्राप्तिरूप

तृतीय फल भवतीत्याहु अधिकारो वेति । सायुज्यरूपफलदानेनाधिकारविशिष्टदेह-
 प्राप्तिर्वा भवतीत्यर्थ । अत्र सेवोपयिकदेहो वा वैकुण्ठादिष्विति विवरणोक्त-
 वैकुण्ठपदेन 'गोकुल वनवैकुण्ठ'मिति कृष्णोपनिषदुक्ते प्रपञ्चार्तातभगवन्निवासस्थान
 व्यापिवैकुण्ठान्तर्गत वृहद्वन नन्दीश्वर चोच्यते । आदिपदेन श्रीवृन्दावनश्रीमद्भोवर्धनादि
 च । तत्र सायुज्यरूपफलादानेऽधिकार सेवोपयिकदेहरूपो वाधवा भवतीत्यर्थ । वैकुण्ठ-
 न्तरस्य शुद्धपुष्टिमार्गायफलरूपभगवलोक्त्वाभावाद् गोकुलस्यैव तादृग्भगवलोक्त्वाद् वैकुण्ठ-
 पदेन श्रीगोकुलम्, आदिपदेन वृन्दावनादिक चाभिप्रेतमिति बोध्यम् । अत्रालौकिक
 सामर्थ्यं यथावान्तरफलरूपम्, मुख्यफल तु मुख्यसायुज्यमेव, एवमेवाधिकारिदेह-
 प्राप्तिरूप तृतीय फलमप्यवान्तरफलरूपमेव, मुख्य फल त्वधिकारिदेहद्वारैवात्रापि मुख्य
 सायुज्यमेव । न्वदत्तादृग्धिकारिदेहकृत 'त्वत्पुष्टप्रियवार्ताकथन च ब्रह्मयज्ञोस्त्वि'त्यादिरूप-
 प्रियतमसेवामन्तुःश्रीमद्ब्रजभक्तरत्नानुग्रहेणैवेति बुध्यस्व । अत एवालौकिकस्य दाने
 हीत्वत्राधिकारो नैत्यत्र च फलपदाप्रयोग सायुज्य एव च फलपदप्रयोगश्च ।
 अत्रातिरहस्यत्वाच्च्रीमदाचार्यरत्नेरलौकिकसामर्थ्यसायुज्यवैकुण्ठादिपदानि परोक्ष
 वादत्वेनैव प्रयुक्तानीति ज्ञेयम् । ननु यत्र परशुरामश्चीपतिविरिञ्चिवदलौकिकसामर्थ्य
 भोगाधिकारा दृष्टास्तत्र न सर्वदा दृष्टा इति सामर्थ्यभोगत्वाधिकारत्वसामान्यादेतेषामपि
 नाश स्वादिति न परमफलत्वमेतेषामित्याश्रम्याहु न कालोत्र नियामक इति ।
 अत्रालौकिकसामर्थ्यभोगाधिकारेषु सर्वोत्तमप्रभुप्रीत्याधायकत्वात् काल आधिभौतिक
 आध्यात्मिक आधिदेविको वा नियामको न भवति, भगवन्नियम्यत्वादित्यर्थ । दृश्यते
 लोकेषु प्रमुदत्तसामर्थ्यं भोगेधिकारे वाधिकारिणो नियामकत्वाभाव । अत एवोक्त
 सगुणम्येव कालाधीनत्वम्, न गुणातीतसेति 'मन्निष्ट निर्गुणं स्मृत'मित्यादिना प्रभुणै
 कादेशे । तस्मात्तेषां कालाधीनत्वमिति त्रयाणां फलत्व नि प्रत्यहमित्यास्ता तावत् ।

यद्वा, अलौकिकस्यालौकिकविषयसामर्थ्यस्य दाने हि निश्चयेन जातो य आद्यः
 शुद्धपुष्टिमार्गायाचार्यसश्रयात्पूर्वमेवैतन्मागायसत्सगादिनेद प्रथमतयोत्पन्नो मनोरथः
 सिध्येत् सिद्धो भवेदित्यर्थ । म आद्यो मनोरथ क इत्याकाशायामाहु फल वा
 वाधिकारो वेति । फलरूपो वाधिकाररूपो वा । नात्र स देह इति भाव । अत्र फल
 विषयकोधिकारविषयको मनोरथोपि फलवदधिकारवदेव सुखजनक इति ज्ञापयितु रूप
 केण निरूपणमिति दिक् । तथा च ब्रजभक्तभावसनातीयभावे शुद्धपुष्टिमार्गे भजन
 कर्तव्यमिति सिद्धान्त सम्पन्न । तत्र त्रयभक्तेषु 'नन्दगोपसुत देवि पतिं मे कुरु ते नम'
 इति वान्यादनन्यपूर्वा कुमाया भगवति पतिभावयुक्ता । अन्तर्गृहगतरूपा अन्यपूर्वास्तु
 'जारधर्मेण सुखेह सुदृढ सर्वतोधिकम् । मयि सम्प्राप्य सर्वेषु कृतकृत्वा भविष्येति
 वृहद्दामनपुगगादथ च 'तमेन परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सगता, मत्कामा रमण जार

मस्वरूपविदोवलाः । ब्रह्म मां परमं प्रापुः संगच्छतसहस्रशः' इति दशमस्कन्धीयैकादश-
स्कन्धीयभगवद्वाक्येभ्यो भगवत्युपाधिरूपजारभावयुक्ताः । अप्रतिबन्धेन प्रमुसमीपं गता
अन्यपूर्वास्तु सर्वभावप्रपत्तिपूर्वकनिरुपधिप्रियत्वभावयुक्ताश्च भगवति । तत्र परकीयायामेव
रसस्य परमा काष्ठेति रसशास्त्रसिद्धान्तादनन्यपूर्वाणां नन्दाधीनानां भगवति पतिभाव-
युक्तानां कुमारीणामथ च निरुपधिप्रियत्वभावयुक्तानां नित्यमिद्धानां जारभावयुक्तानां च
श्रुतिरूपाणां चान्यपूर्वाणां परकीयात्वात् परकीयात्वधर्मविशिष्टत्वेनैव परमकाष्ठापन्नरसरूप-
भगवत्प्राप्तिः । न तु कुमारीणां स्त्रीयात्वेनान्यपूर्वाणां तु परकीयात्वेनेति भेदः । तथा
सति विवाहितानामेव स्त्रीयात्वात् श्रीभागवते कुमारीभिर्भगवतो विवाह उक्तो भवेत् ।
अन्यपुराणादिषु मूलभाष्यमाहात्म्ये रुक्मिणीविवाहात्पूर्वं कुमारीणां भगवता सम विवाहः
श्रुतो यद्यपि तथापि स कल्पान्तरीयांशावताररूपश्रीकृष्णविषयकः । तत्कल्पीयश्रीकृष्ण-
स्वरूपसांशत्वात् तस्यापि स्वरूपस्य पूर्णत्वेनैव व्यासचित्तप्रसादो जातः स्यात् । तस्मा-
त्सारस्वतादिकल्पान्यकल्पीयावतारा अंशावतारा एवेति जानीहि । निरूपित चैतत्सर्वित्तर
मत्कृतबहिर्मुखमुखमर्दनाख्ये ग्रन्थ इति तत्रैवावलोकनीयम् । ननु यदि भगवति
पतिभाव एव कुमारीणां तदा महिषीप्राप्यप्रमाणानुरोधिभगवत्स्वरूपप्राप्तिः स्यान्न तु
लोकवेदातीतप्रमाणानुरोधिस्वरूपप्राप्तिः स्यादथ च तदनुरोधेनाश्रुतोपि विवाहः
कल्पनीयः स्यादिति चेत् । अत्र ब्रूमः । 'कात्यायनि महाभागे महायोगि-यधीश्वरि ।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ।' 'शूयानन्दसुतः पति'रिति मन्त्रयोर्नन्दसुत एव
पतित्वप्रार्थना भावना च । स श्रीमानन्दसुतस्तु ब्रजे 'एकादशसमास्तत्र गूढार्चिः सबलो-
वस'दिति तृतीयस्कन्धीयश्रीमदुद्धवगक्यादेकादशवर्षपर्यन्तमेव स्थितः । तदुत्तर तु
मथुरायामेव गतः । यज्ञोपवीत च वैश्यानां द्वादशे वर्षे, यज्ञोपवीत विना च न विवाहः ।
स विवाहोपि तत्रातीयानामामसुरपेशाचगान्धर्वभेदेन त्रिनिधः । तत्रापि वैश्यस्यागुरो मुख्यः ।
तत्र द्रव्यादानादासुरः, छलेन कन्याहरणात्तैशाचः. गान्धर्वस्तन्योन्यानुरागेण 'त्व मे
भार्यो त्व मे पति'रितिसमयरूपः । एवं चात्र यज्ञोपवीतकालाभावेन प्रगौर्यज्ञोपवीताभावा-
देकादशवर्षान्यन्तर एव च कुमारीणां भगवत्सम्बन्धाच्च कोपि विवाहो नात्र चक्रे शक्यः ।
तथा च विवाहजनितपतित्वामावात्र महिषीप्राप्यस्वरूपप्राप्तिक्रमं वा विनाहकल्पनेति बुध्यस्व ।
न च 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति मर्यादाभग इति वाच्यम् । भगवत्सकाशात् प्रमाणा-
तीतफलप्राप्त्या तासां पतित्वप्रार्थनेनैव जाना, न तु विवाहजनितपतित्वप्रार्थनेत्युक्त्यनात् ।
अन्यथा 'नन्दगोपसुत देवि पतिं मे कुरु ते नमः' इत्यत्र विवाहोद्देशोपि कृतः स्यात् ।
तस्मादन्याधीनतानिवारणार्थं निःशकृतया सर्वदा मिलनार्थं च 'म वै पतिः म्यादकुनोभयः
स्वयं समन्ततः पाति मयातुरं जन'मित्युक्तलक्षणपतित्वमेव प्रार्थितं ताभिर्न तु विवाह-
जनितपतित्वमिति । अत एव प्रमाणातीनायां रामलीलायामेव तामामाकरणम् । यतश्च

न विवाहितपतिभावना प्रभावत एव च न तासामन्यपूर्वाभिः सह लीलयाभीर्ष्यादिकं जातम् । विवाहितपतित्वे सति त्वीर्ष्यादिकं कासात्रिदपि सर्वदावश्यमुद्भवेदेव, सत्य-
 मामादिवत् । न च 'तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्, यैकापहृत्य गोपीनां
 रदो भुंक्तेऽच्युताधर'मित्यत्रेर्ष्या तासामपि श्रूयत एवेति वाच्यम् । नेयमीर्ष्या सहभोगेपि
 त्वेकैव भुंक्ते इत्यस्मिन्नंशे ईर्ष्या । तथा च समानशीलव्यसनरूपा सखी भूत्वा प्रियविप्र-
 योगजनितात्यसद्भास्मद्विप्रयोगजनितं दुःखं ज्ञात्वापि यदस्मान् विहाय भुंक्ते तत् क्षोभं
 जनयतीति सखीत्वप्रयुक्ततल्लेहजनितेर्ष्या, न तु सपत्निभावजनितेति निर्णयात् । अत
 एव 'ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखी'मित्यत्रे तस्यास्तासां च सखीभाव उक्तः ।
 अत एवाग्रे तत्सहभावेन रासलीला, अन्यथा तथा सहान्याभिः सह वा रासलीलयाम-
 मर्यादरसो न स्यात् । तस्मादस्मदुक्ताभिप्राय एवात्र । विवाहितपतिना सपत्नीसहभावकृत-
 लीलायां तु वाहिरीर्ष्यादिभावाददर्शनेप्यन्तरीर्ष्यासंबलनं तिष्ठत्येव लोके राजमहिषीणाम् । अत
 एव चासरदाननियमोपि तत्र, अत्र तु सर्वदा सर्वसंबलितत्वेनैव लीलाकरणादिति महदेव
 वैलक्षण्यमित्यास्तां तावत्प्रसक्तानुप्रसक्तचिन्तया । एवं चैतादृशपतिभावेनानन्यपूर्वाणां
 कुमारीणां जारभावेनान्तर्दृष्टगतानां निरुपधिप्रियत्वभावेन च रासमण्डलमण्डनानां च
 परमकाष्ठापन्नरसरूपभगवत्प्राप्तिः, तथा च 'गोपीभावेन ये भक्ता' इत्यादिपुराणवाक्यात्
 तादृशभावसजातीयभावेनैवाधुनिकानामपि तादृशभगवत्प्राप्तिरिति सिद्धम् । तत्रायं रसो-
 परिच्छिन्न इत्यपरिच्छिन्नस्वरूपसर्वभावप्रपत्त्यैकलभ्यः । तत्र जारभावो न सर्वभावप्रपत्तिरूपः
 कामैकमात्रप्रपत्त्येनैव तस्योद्भवात्, परिच्छिन्नस्वरूपत्वात् । अत एव तेन भावेनास्य
 रसस्य न प्राप्तिरिति तासां प्रतिबन्धोपि जातः । तस्य देहस्य च सगुणभावाश्रयत्वेन
 सगुणत्वादेव तत्यागानन्तरमेव सर्वभावप्रपत्त्या निर्गुणतादृशरसरूपप्रियप्राप्तिस्तासामजनि,
 धन्यया तद्भावस्य सर्वभावप्रपत्तिरूपत्वेन निर्गुणत्वे तच्छरीरस्य च निर्गुणत्वे तेनैव
 शरीरेण प्रियप्राप्तिः स्याद्रासमण्डलमण्डनानामिव । अत्राधिकपूर्वपक्षसमाधानानि तु फल-
 प्रकरणीयसुबोधिन्व्यामवलोकनीयानि । तथाचातिप्रतिकूलद्वेषादिभावेनापि चेत् प्रभुर्योगीन्द्र-
 प्रार्थ्यां मुक्तिं ददाति तदातिप्रेमसंबलितजारभावेन कथं न गुणातीतरसरूपस्वरूपं
 दद्यात् । परन्त्वेतदेहप्राप्तानन्तरमेव सर्वभावप्रपत्तिमुत्पाद्यैव दास्यति । एतादृशस्वरूपस्य
 सर्वभावप्रपत्त्यैकलभ्यत्वात् । एवं च सति यद्येतदनन्तरापि सर्वभावप्रपत्तिरेव भाविनी,
 तर्हि भगवति सर्वभावप्रपत्तिरेव कार्या, न तु जारभावः । 'प्रक्षालनाद्धि पंकसे'ति न्यायात् ।
 यदि कुत्रापि सर्वोपमर्देन जारभाव एवोदेति तदा भगवदिच्छैव तथा, परन्तु सर्वभाव-
 प्रपत्तिमुत्पाद्यैव तत्रापि फलं दास्यतीति ज्ञेयम् । न च 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति
 प्रतिज्ञाविरोध इति वाच्यम् । सर्वभावप्रपत्तिलभ्यप्रसुरूपप्राप्तौ जारभावजन्यकामपूर्तिरूप-
 फलस्याप्यन्तर्भूतत्वात् प्रतिज्ञाविरोधाभावात्, तस्मान्नारभावेन भगवद्भजनं न कर्तव्यमेव ।

अत एव सर्वभावप्रपत्तिसहितानां रासमण्डलमण्डनानामपि कामपूर्तिरूपफलमपि दत्तं प्रभुणा, अन्यथा तन्न दत्तं स्यात्, ततो ज्ञायते सर्वभावप्रपत्तिलभ्ये फले तदप्यन्तर्भूतमिति । न च पतिभावेपि न सर्वभावप्रपत्तिः, पतित्वभावस्यापि परिच्छिन्नत्वादिति शंकनीयम् । पतिव्रतानां पत्न्यौ भगवत्तान्ज्ञानपूर्वकभजनस्य विहितत्वात् सर्वत्र सर्वदा सर्वसमयेषु च मम पतिरेव गतिरिति सर्वभावप्रपत्तेः सत्त्वात् । एवं च सति यत्र विवाहिते लौकिकेपीयं रीति-स्त्रत्रालौकिके साक्षाद्भगवति पतिभावे सर्वभावप्रपत्तिरिति किं यक्तव्यमिति । न च तर्हि महिषीणां कुतो न सर्वभावप्रपत्तिजनितं फलं जातमिति वाच्यम् । विवाहरूपसंस्कारस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वादिति दिक् । तथा चानन्यपूर्वैकुमार्यभिप्रेतकुमारीसजातीयपतिभावे-नान्यपूर्वैजसीमन्तिनीनिष्ठनिरुपधिप्रियत्वभावेन वा भजनं कर्तव्यमिति निष्कर्षः । तत्रेदं भजनं श्रीमद्भक्तभक्तभजनोपेक्षया स्वातन्त्र्येण न कर्तव्यम्, यत एतादृग्भावेन भजने 'मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम् । जानन्ति गोपिकाः पार्थं नान्ये जानन्ति मर्मणी'त्यादि पुराणेऽर्जुनं प्रति भगवता स्वसपर्यां गोपिका एव जानन्तीत्युक्तत्वाद्वज्रमक्ता एव गुरवः । तथा च तत्समकक्षतया स्वातन्त्र्येण भजने गुरुहेलनरूपापराधः प्रसज्येत । तथा च भगवान् फलं न दद्यात् 'दाचार्यं मां विजानीया'दिति वाक्यात् । किञ्च, 'न पारयेऽहं निरवयसंयुजां स्वसाधुकुलं विबुधायुषापि वः । या मामजन् दुर्जगेहशृङ्खलां संवृश्य तद्वः प्रतियातु साधुने'त्यादिफलप्रकरणीयप्रभुवाचन्यादयं प्रभुरेतदधीन एव सर्वदा क्रीत-जनवन्न त्वन्याधीनः, अतोपि न तदुपेक्षया भजने फलप्राप्तिः । न च 'अहं भक्तपराधीनो ह्यखतन्न इव द्विज । साधुभिर्ग्रेस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः । नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना । श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा । ये दामागारपुत्रासान् प्राणान् वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे । मयि निर्वैद्भृद्वदयाः साधवः समदर्शिनः । वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्यति यथे'त्यादिनाम्बरीपादिभक्ताधीनत्व-मपि श्रूयते, न त्वम्बरीपादेरेतत्स्वरूपप्राप्तिरिति वाच्यम् । 'भक्तिभेदो बहुविधो मार्गैर्भीमिनि भाव्यते । स्वभावगुणभेदेन पुंसां भावो विभिद्यत' इतिवाक्याद्भक्तिमार्गोनेकविधः, तेषु च भक्तिभेदेत्वेतासां भक्तिरत्युत्तमा, परमकाष्टापन्नस्वरूपलाभात् । अत एवैताः परं तनुभृतो ननु गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः । बाण्डन्ति यद्भवमियो मुनयो पर्यं च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकधारसस्त' । अत्रैता गोपवध्वः परमतिशयेन तनुभृत इत्य-नेनान्ये भक्ता अतिशयेन तनुभृतो न भवन्तीत्युच्यते । नन्वत्र किं कारणमित्याकांक्षायामाहुः गोविन्द एवेति । गोविन्द एव निरूढभावाः, न त्वन्यस्मिन् । निरूढः यत्क-मशक्त्यो भावो यासां ताः । यथा निरूढशब्दे व्युत्पत्तिर्न कर्तव्या तादृगर्थभावात्तथैतासां भावेपीति भावः । गोगोकुलेन्द्रवाचकेन गोविन्दपदेन च धर्मिमात्रपरता तासां निरूपिता । नन्वन्यभावभक्ता अपि महिष्यादयो धर्मिपरा एवेत्याशङ्कयामाह निखिलात्मनीति ।

निखिलानामन्येषां धर्मिणा धर्माणामप्यात्मा मूलरूपधर्मित्वर्थ । तादृशत्व श्रीयशोदा-
 नन्दने श्रीकृष्ण एव, 'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमग््निलालम्ना'मिति वाक्यात् । तथा चान्ये
 धर्मिपरा अपि न निखिलात्मस्वरूपश्रीकृष्णरूपधर्मिपरा इति भाव । नन्वेव किमित्यय
 भाव स्तूपते, भिन्नरुचिर्हि लोक इति न्यायाद्यस्य यद्वोचते स तमेव भाव तमेव स्वरूपं
 च सर्वोत्कृष्ट जानातीति चेत्प्राह वाञ्छन्ति यद्भवमियो मुनय इति । पूर्वं ससार-
 भयेन मुनय. मननशीला भूत्वा प्राप्तज्ञाना निवृत्ताविद्या शुकादयोपि यद्यस्मात्कारणात्
 वाञ्छन्ति य भावम् । तथा च येन नि शेषानिद्याभावनन्तस्त एवान्यप्रकारक भावमन्यप्रकारक
 भगवत्स्वरूप च सर्वोत्कृष्टत्वेन परमकाष्ठापन्न जानन्तीति भाव । किञ्च, वयमपि वैश्या
 पेशयोत्कृष्टा क्षत्रिया लौकिका आप वाञ्छाम । यतोऽनुभावदर्शनं विना नोत्कृष्ट मन्यते
 कोपि कमपि । तस्माद्यत्र लौकिकालौकिकाना वाञ्छास्वभावस्तत्स्वरूपमेव तदासक्ताश्च
 सर्वोपरि विराजमाना इति किं वाच्यमेतत्भावस्यैतत्स्वरूपस्य तन्निष्ठानामासा सर्वाधिकत्व
 इति निगर्व । अत कारणादनन्ता कया यस्यासावनन्तकथ श्रीकृष्णस्तस्मिन् यो
 रसोद्बोधाभावात् तस्य ब्रह्मजन्ममि सहस्रमुखचतुर्मुखादिजन्ममि किम् ? न किमपी
 त्वर्थ । यद्वा, जन्ममि पुन पुनर्जन्मभिरनन्तकथारसस्य तस्य किं ब्रह्म अक्षरस्वरूपम् ?
 न किमपि । नेपा मनसि ब्रह्मस्वरूपमप्रयोजक मासत इत्यर्थ । तथा चानन्तकथारस-
 निष्ठत्वे जन्मैव वरम्, न तु मुक्तिरिति । तथा चैतन्मार्ग एतासामेव गुरुत्वेनान्यस्वरूपस्या
 न्याधीनत्वेत्येतासा भावस्य सर्वोत्तमत्वात् परमकाष्ठापन्नरूपभगवत्स्वरूपमेतदधीन
 मेवेत्यपि त्रिचार्यासामेवात्तिदैन्येन दास्यकरणे तत्स्वरूपप्राप्तिस्तदनुग्रहेण, न तु स्वातन्त्र्ये
 पेति ज्ञेयम् । अपर च 'आसामहो चरणरेणुजुषामह सा वृन्दावने किमपि गुल्मलतौ-
 पधीनाम् । या दुस्त्यज स्वजनमार्थपथ च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवी श्रुतिभिर्विमुग्ध्याम्',
 'वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणा पादरेणुमभीक्ष्णश । यासा हरिकथोद्गीत पुनाति सुवनत्रय'मित्या
 दिना व्रजभक्ता स्वजनस्वार्थपथस्य च परमकाष्ठापन्नस्य त्यागेन मुकुन्दस्य मोक्षदातुरपि
 पदवीयेन मार्गेण भगवान् गच्छति त मार्गमेव तच्चरणरेणुसबलित भेजुर्न तु मुक्तिम् । तथा
 च मुक्त्यपेक्षयापि भगवच्चरणरेणुरेव सर्वोत्कृष्ट इति सिद्धम् । एव चेतादृक्चरणरेणोरेता
 दशानुभावज्ञापने व्रजसीमन्तिन्य एव गुरव इत्येतासामनुवृत्तैव भगवच्चरणरेणुप्राप्तिरिति
 श्रीभक्तचरणरेणुसम्बन्धि गुल्मलतौपधिजन्मापि प्रार्थितमतिदीनतया श्रीमदुद्धवैर्वन्दन
 च तच्चरणरेणोरेव च कृतमन्यया गुर्वेवज्ञाकृतप्रताजनितापराधेन न भगवच्चरणरेणुप्राप्ति-
 रिति दिक् । तस्मादेतासा गुरुत्वादेतदधीनत्वाच्च तच्चरणरेणुदास्येनैवेतादृशभगवत्प्राप्तिर्ना-
 न्यवेति नि प्रत्यहम् ।

सादेतत् । अय सर्वापि यत्रो रस्वरूपप्रमुखस्वरूपफलप्राप्त्यर्थमेव । 'रसो वे स,
 रस क्षेत्राय लब्ध्वानन्दीभनती'ति श्रुत्या रस्वरूपभगवत्प्राप्तेरेव परमफलत्वात् । सा -

प्राप्तिं 'स्तेनैः सर्वभावेन परमानन्दमश्नुते' इति नादनिन्दूपनिषच्छ्रुत्या 'सोश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा निषधिते'ति तैत्तिरीयोपनिषच्छ्रुतेऽथ सर्वभावप्रपत्तिलभ्यसर्वकामभोग-
रूपा । स च पूर्णसर्वकामभोगोपि तेषां ब्रजसीगन्तिनीसदृशभावेनैव, नान्यभक्तभावसत्ता-
तीयभावेन । एतदतिरिक्तस्थले प्रभुरशेनैव, न तु पूर्णस्वरूपेणेति । तथा च तत्कामनया
भजने क्रियमाणे ब्रजसीमन्तिनीदास्यकरणेपि मगसि तत्समताभावनासत्त्वात् कापठ्य-
सिद्धौ तामा गुरुरूपत्वेन सकपटमजने फलसिद्धेरभावस्तत्समकक्षता च स्यादिति चेत्,
अत्र वृम् । परमकाष्ठापन्नरसरूपो भगवान् हि लोकेतिरहस्यतमा पुष्टिलीला यत् प्रकटित-
वान् तत्किमर्थमिति वृच्छाम । न च 'आगामिनि निरिषी तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यते ।
कल्प सारस्वत प्राप्य ब्रजे गोप्यो भविष्यथ । पृथिव्या भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले ।
वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान् वो रासमण्डले । जारधर्मेण सुयेह सुदृढ सर्वतोधिकम् । मयि
सम्प्राप्य सर्वेपि कृतकृत्या भविष्यथे'ति बृहद्ब्रामनपुराणोक्ते श्रुतीनामनुग्रहार्थमिति वाच्यम् ।
अनुग्रहस्य श्रुतिनिमित्तप्रदर्शितप्रकृत्यतीतलोकेपि कर्तुं शक्यत्वात् । न च 'पुरा महर्षयः
सर्वे दण्डकारण्यवासिनः । दृष्ट्वा राम हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम् । ते सर्वे स्त्रीत्व-
मापन्ना समुद्रताश्च गोकुले । हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवादि'ति । 'अग्निपुरा
महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे । भर्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमज विभुम् । कृष्णस्य
रमणार्थं हि सदस्त्राणि च षोडश । गोप्यो रूपाणि चतुश्च तत्राकीडन्त केशव'मित्यादि
पञ्चपुराणोत्तरखण्डमहाकौर्मादिवाराहपुराणादिवचनसिद्धदण्डकारण्यवास्तव्यमहर्षीणामनु-
ग्रहार्थमित्यपि वाच्यम् । दण्डकारण्यस्यमहर्षीणामपि तत्रैव स्त्रीदेह सम्पाद्य रामरूपेणैव
न रमण कृतम्, किन्तु तद्देहपातानन्तरं स्त्रीदेह सम्पाद्य ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिवृन्दावन एव
श्रीकृष्णरूपेणैव रमण कृतम् । एव च तद्देहपातानन्तरमलौकिकदेह सम्पाद्य श्रुतिप्रदर्शित-
वृन्दावन एव कुतो नानुग्रह कृतवानिति प्रश्ने तयोत्तराभावात्, न च स्वतन्त्रेच्छो भगवा
निति वाच्यम् । 'अनुग्रहाय भक्तानां मानुष देहमाश्रित । भजते तादृशीं कीडायां श्रुत्वा
तत्परो भवेदि'ति फलप्रकरणीयवाक्याद्भक्तानुग्रहार्थमेवैतादृशलीलाविशिष्टप्रभुप्राकट्यात् ।
प्रपञ्चे नि प्रयोजनकप्राकट्यस्याश्रुतत्वाच्च । न चानुग्रहं विना नैतादृशफलप्राप्तिरित्यनुग्रहेण
प्रापञ्चिकजीवानामप्येतद्देहपातोत्तरं तादृशफलदानं तत्रैव स्थित्वा कुतो न करोतीति
वाच्यम् । भगवान् हि रसरूपस्वरूप प्रापञ्चिकजीवानामपि केपाश्रितान् विचारितवान्
स्वमुख्यभक्तेच्छापूर्वकत्वेच्छया । तत्र रसरूपभगवत्प्राप्तिस्तु रसरूपभावेनैव योग्या,
नान्यादृशभावेन, 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति वाक्यात् । तत्र रसरूपभावस्वरूप साधन
वेदादिषु कुनापि नोक्तमतं प्रपञ्चे वृन्दावन रसरूपस्वरूप रसरूप परिकरं च तत्राप्यनु-
गुण रसरूप साधनं च प्रकृतं कृत्वा तादृशसाधनेन तादृशस्वरूपप्राप्तिं महर्ष्यादीनां कृत-
वान् प्रभुः, तदनन्तरं तादृशसाधनस्याविर्भावादतिभाग्यवता जीवानां तदनुष्ठाने तत्स्वरूप-

भोगस्य चैककालावच्छेदेनैव सम्भवेन 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति मर्यादाया अमंगात् । न 'चाचार्यं मां विजानीयादि'त्यनेनाचार्यस्य भगवत्त्वेन तदास्यपूर्वकमेव जीर्विर्भवद्दास्यं क्रियते साधनदशायाम्, फलदशायां तु भगवद्दास्यमेव तिष्ठति, न त्वाचार्यदास्यम्, तत्र केयं मर्यादा, तथात्रापि भविष्यतीति वाच्यम् । सर्वेषां भगवद्रूपाणां नित्यत्वेनाचार्यरूपस्य भगवद्रसानुगुणभगवद्गीलान्तर्गतत्वात् स्वरूपस्य चालौकिकसामर्थ्येन तदास्यकरणसापि सम्भवात् । एवमेव सर्वभावप्रपत्त्या भजनमिति प्रमुदतालौकिकविषयकसामर्थ्येन सर्वविध-लीलास्वप्येतस्य भजनकर्तुः साक्षिष्यं सिद्धम् । किं बहुनांशावतारादिलीलायामप्यंशेनैव च भक्तोपि तत्तल्लीलानुभवं करोतीति न कस्यामपि लीलायामेतादृशभक्तासहभावो भगवतः । न चैवं श्रीनारायणादिभक्तस्यापि श्रीनारायणे सर्वभावप्रपत्तेः सत्त्वात् सर्वत्र तत्सहभाव-प्राप्तौ पुरुषोत्तमसहभावोपि सादिति वाच्यम् । 'ये यथा मां'मित्येषे मामिति पदेन पुरुषोत्तमत्वेनांगुल्या स्वस्वरूपप्रदर्शनपूर्वकमुक्तत्वादेतस्याः प्रतिज्ञायाः पूर्णपुरुषोत्तम-मात्रसम्बन्धित्वात्, अन्यथा दण्डकारण्यस्पर्षीणामपि तेनैव स्वरूपेण रसदानं कृतं स्यात् कोसलेन्द्रकुमारेण । किञ्चित्साः प्रतिज्ञायाः सर्वभगवत्स्वरूपसम्बन्धित्वे पूर्णत्वांशत्वादिविभागोपि न स्यात् । न चेष्टापत्तिः, तदान्यस्वरूपाणामंशरूपश्रीकृष्ण-स्वरूपाणामपि श्रीमता व्यासेनोक्तत्वेन चित्ताप्रसादो न सादिति सर्वमनवद्यम् । एवञ्चैक-भक्तसम्बन्धिन्या अपि लीलाया न परिच्छेदस्तर्हि सर्वभक्तसम्बन्धिन्या लीलायाः परिच्छेदः केन कर्तुं शक्येतेति किं वाङ्मनसागोचरमाहात्म्येषु प्रभुतत्परिकरतद्भक्तेषु विचारचातुर्येण । किञ्च 'त्रैलोक्ये भगवद्भक्ताः के त्वां जानन्ति मर्मणि । केषु वा त्वं सदायतः केषु प्रेम तवातुलमि'ति श्रीमदर्जुनेन पृष्ठो भगवानुवाच 'न तथा मे प्रियतमो ब्रह्मा रुद्रश्च पार्थिव । न च लक्ष्मीर्न चात्मा च यथा गोपीजनो मम । भक्ता ममानुरक्ताश्च कति सन्ति न भूतले । किन्तु गोपीजनः प्राणाधिकप्रियतमो मम । न मां जानन्ति मुनयो योगिनश्च परन्तप । न च रुद्रादयो देवा यथा गोप्यो विदन्ति माम् । न तपोभिर्न वेदैश्च नाचारैर्न च विद्यया । वशोस्मि केवलं प्रेम्णा प्रमाणं तत्र गोपिकाः । मन्माहात्म्यं मन्मया मन्मद्भ्यां मन्मनोगतम् । जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति मर्मणि । निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते । ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम् । मम भक्तास्तु ये पार्थ न मे भक्तास्तु ते मताः । मम भक्तस्य ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मता' इत्यादि-पुराणप्रघट्टकान्मद्भक्तपूजाभधिकेति श्रीभागवताद्भजक्तानां भक्तशिरोभूषणत्वात् प्रभोरतिप्रियत्वाच्चापि एतासां दास्यं कर्तव्यम् । एवञ्च सति एतदास्यकरणे प्रभोरत्या-नन्दाविर्भावेन तासामत्यानन्दाविर्भावान्मनसि सन्तोषेण तदनुग्रहात् तत्पूर्वोक्तं फलं भगवान् ददातीत्यपि तदास्यकरणम् । तथा चैतासां गुरुत्वात् प्रभोरेतदधीनत्वाद्भक्त-शिरोभूषणत्वादतिप्रियत्वाच्च सर्वथैतदास्यकरणपूर्वकमेव प्रभुदास्यकरणमिति सिद्धम् ।

अथ श्रीमत्स्वामिन्यादीनां सर्वासां समतयैव दास्यं कर्तव्यमथवा न्यूनाधिकभावेनेति
 पृच्छसि चेत् । अत्रोच्यते । 'यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा । सर्व-
 गोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवद्भवे'ति पञ्चपुराणवचनात् । अथ च 'त्रैलोक्ये पृथिवी धन्या
 तत्र वृन्दावनं पुनः । तत्रापि गोपिकाः पार्थ तत्र राधाभिधा ममे'त्यादिपुराणवचनात् ।
 'सर्वश्रेष्ठा गान्धर्व्युवाचे'ति गोपालतापिन्युपनिषच्छ्रुतेश्च गान्धर्व्यपरनामिकायां श्रीस्वामि-
 न्यामेव सर्वापेक्षया भगवतो ममतातिशयात् तत्रैव निजदास्यं मुख्यतया स्थापयित्वाऽ-
 न्यासु ब्रजसीमन्तिनीषु 'मोहितां दुःखितां सखीमि'त्यादिना सखीत्वोक्तेः सख्याश्च
 समानशीलव्यसनवत्त्वात् तासां स्वामिनीसमानशीलव्यसनवत्त्वात् तासां श्रीमत्स्वामिन्या
 अतिप्रियतमानां दास्यमपि स्वामिन्यनुग्रहाकांक्षया स्वामिनीदासांगत्वेन स्वामिनीवदेव
 कर्तव्यम् । तासां समानशीलसखीत्वात्तद्दास्यकरणे श्रीस्वामिन्यत्यन्तमनुगृह्णाति । स्वामि-
 न्यनुग्रहे च ता अनुगृह्णन्ति । तदनुग्रहे च ब्रजराजकिशोरानुग्रह इति न कदापि कुत्रापि
 केनाप्यंशेन फलविच्छेदः । अत एव कैश्चिद्भगवदीयैः सिद्धान्तितं श्रीमच्चन्द्रावल्यादिषु
 स्वामिनीप्रतिपक्षात्वमपि न सम्भवति, सखित्वोक्तिविरोधात् । अत एव 'यदैव श्रीराधे
 मिलति रहसि त्वां मधुपतिस्तदैवाकार्याहं निजचरणदास्येतिगदिता । मुदा चन्द्रावत्ये'ति
 पद्ये अस्मत्प्रभुभिः सखीत्वमेव स्फुटीकृतम्, न तु प्रतिपक्षात्वम् । अत एवास्मत्सर्व-
 स्थायिताः प्रभुचरणाः श्रीमत्स्वामिन्यष्टकतद्दास्यप्रदपद्यादौ तद्दास्यमेव सविस्तरं प्रार्थयन्तो
 'यावन्ति पदपद्मानी'त्यादिनाऽन्यासामपि दास्यं प्रार्थितवन्तः । अन्यथा श्रीस्वामिन्या
 इवान्यासामपि पृथक्तया दास्यं प्रार्थयेयुर्न तु तदास्यप्रार्थनाप्रसंगे । सर्वासामपि सम-
 प्राधान्यात् । तस्मादन्यासां दास्यमंगत्वेनैवेत्यस्मद्भुक्त एव पन्थाः । ननु एवं चेत् सर्वा-
 स्वपि सखीत्वं तदा रसान्तर्गतामानसखण्डिताकलहान्तरितादिलीला नोपपद्येतेति चेत्,
 अत्र वदामः । हृदयादिस्थिताभरणमणिगणप्रतिबिम्बितदृष्टनिजरूपे प्रतिनायिकाभ्रमात्
 संकेतस्थलानाभमनाद्वा मानोदयात् । एवमेव बन्धविशेषाकास्मिकललाटसंक्रान्तस्वचरणतल-
 लाक्षारसे सुरतसमयसमुद्भूतनिजदन्तनरक्षतादिषु च कदाचिदतिविस्मरणेन रासस्थनिखिल-
 ब्रजभक्तातिरिक्तपरकीयाकृतत्वभ्रान्त्या मानसखण्डिताकलहान्तरितादिलीलानां सम्भवात् । न
 च लाक्षारसदन्तनरक्षतादिषु स्वयूथकृतत्वभ्रान्तिरेव कुतो न जायत इति वाच्यम् । तथा
 भ्रान्ततायामपि तामु परस्परं दृढतरसखीत्वजनिततिप्रेम्णा ईर्ष्यानुदयेन तथालीलासम्भवात् ।
 किञ्च 'योगमायामुपाश्रित' इत्यनेन रसलीलायां योगमायामाश्रितो भगवान् । एवञ्च
 योगमाया यथा यथा येषां येषां पदार्थानामुपयोगो रसलीलायाम्, तथा तथा करोतीति
 परकीयासम्भोगादिदर्शनजमानादिरसानुभवार्थं परकीयासम्भोगादि प्रदर्श्य मानादिरसानु-
 भवं कारयतीत्यनेनापि प्रकारेण मानादिलीलानां सम्भवाच्च । यदि चात्यन्तमाग्रहो भवतां
 यच्चन्द्रावल्यादिसम्भोगदर्शनेन मानादिरस्तास्वैव च प्रतिपक्षात्वं तदा तत्सर्वं कल्पान्तरीयांश-

रूपकृष्णाप्रतारीयरमलीलायामेव, न सारस्वतस्त्रीयपूर्णानतारसम्बन्धिरमलीलायामिति सुद्धताम् । यदि सारस्वतकल्पे भवदुक्तप्रकारः स्यात्तदा श्रीभागवते स्फुटमुपलभ्येत । उपलभ्यते तु सस्त्रीत्वमेव परस्परं फलप्रकरण इति सर्वं चतुरसमिति कृतं प्रसक्तानुप्रसक्त-चिन्तया । अत्रेदं ज्ञेयम् । अत्र फलत्रये फलद्वयमेतदेदेषु भवति परन्तु मनसैव रमरूप-भगवत्सम्बन्धेन मनसोलीङ्गिकत्वाभावात् । सेवोपधिकदेहद्वयतृतीयं फल त्वेतदेहपातो-त्तर एव भवति सर्वथा । सर्वत्र लीङ्गिकदेहपातोत्तर एवालीङ्गिकदेहसम्बन्धसम्भवा-दिति दिक् ॥ १॥ ॥

अथ प्रकृतमनुमरामः । ननु बाधके गति कार्यानुदयाद्बाधकाभावात् सर्वत्र कारणतेन्यत्र यद्बाधकं तनुजनिचक्ररूपसाधनमेवायाम्, तद्वक्तव्यम्, यद्भावं सम्पाद्य मानससेवारूपं तत्कार्यं सम्पाद्यतामित्याकांक्षायां तनुजनिचक्ररूपसाधनमेवाभाषकमाहुः उद्वेगः प्रतिबन्धो वेति ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तुबाधकम् ॥ २ ॥

एतस्य निवरणं तु सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम् । उद्वेगो वा प्रतिबन्धो वा भोगो वा । अथाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्यन्तम् । तत्र तनुजनिचक्र-रूपसाधनसेवायां येन क्रियमाणेन उद्वेगप्रतिबन्धभोगा भवन्ति तस्य परित्यागः कर्तव्यः । तत्परित्यागे तत्साध्योद्देशानुदयात्तनुजनिचक्ररूपसाधनसेवासम्पत्तां सत्यां मानससेवासिद्धिर्भवतीति भावः । तत्रोद्वेगः शोकदुःखादिजनितो भवति, तेषु शोकादिषु जातेषु 'चित्तोद्वेगं विधायापि दृरिष्यत् करिष्यति तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां हुतं त्यजे'दिति नवरत्नोक्तेर्भगवल्लीला यथा सर्वा तथेयमप्येका भगवल्लीला भगवतः सुखा-धायिकेति ज्ञात्वा शोकादित्यागः कर्तव्यो, न तु शोकादिदरीकरणार्थं यत्रः कर्तव्य इति । अन्यथा यद्यपि भविष्यति तदेव यत्प्रभुणा निचारितमस्वतः तस्य स्वरूपेण विघटनं तु न कर्तुं शक्यम्, तथापि अनुसुखाधायकलीलारदार्यविघटनेच्छायामपि स्वामिद्रोहो भवेदत-प्रभिवच्छां ज्ञात्वा तादृशशोकदुःखादिकेषु स्वल्पेषु सत्सद्देगकारणाभावाद्देगाभावात्स जाय-मानत्वादुद्वेगसाधनपरित्यागः कर्तव्यः । यद्वा, बलिष्ठम्लेच्छबलिष्ठवेदाद्भजनितोपद्रवेण साधनरूपसेवायामुद्वेगो भवति तद्भावात् तत्सान्निध्यरूपसाधनपरित्यागः कर्तव्य इत्ये-तदर्थं साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्युक्तम् ॥ २ ॥

तत्रोद्वेगकारणानामनन्तत्वाच्चक्रन्योद्देशानामप्यनन्तत्वात् परिगणना कर्तुमशक्येति सर्वविधमप्युद्वेगमुद्वेगत्वेनैकविधमेव निरूप्य द्वितीय प्रतिबन्धरूप तनुजनिचक्रसेवायां बाधकमाहुः अकर्तव्यमिति ।

अकर्तव्यं भगवत सर्वथा चेद्भक्तिर्न हि ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

एतस विवरण तु प्रतिबन्धोपि द्विविधः, साधारणो भगवत्कृतश्च, तत्राद्यो बुद्ध्या त्याज्य । भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम् । तदान्यसेवापि व्यर्था । तदासुरोयं जीव इति निर्धारः । तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तव्यं शोकाभावायेति विवेक इत्यन्तम् । अत्र भगवतः सर्वथा चेदकर्तव्यं भगवत्कृतप्रतिबन्ध इति यावत्, तदा गतिः तदभावसम्पादकसाधन किमपि नास्तीति मूलार्थः । अत्र उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकमित्यनेन पूर्व सेवाया बाधकत्रय यदुक्तं तच्च तत्रयाभावसम्पादनार्थमेव । अत एव त्रयाणां साधने त्यक्ते तदभाव सम्पद्यत इति त्रयाणां साधनपरित्याग कर्तव्य इति निवृत्तौ स्फुटीकृतम् । न च बाधकत्रयत्याग एव कुतो नोक्तं, तत्साधनपरित्याग किमर्थमुक्त इति वाच्यम् । जाते उद्वेगे जाते च प्रतिबन्धे जाते च भोगे सेवाभावस्तत्समयावच्छेदेन सिद्ध एव जाते तस्याग कर्तुमशक्योप्युत्तरसमये तत्राद्योपि स्वयमेव भविष्यतीति व्यर्थस्तत्परित्याग कर्तव्य इति पुरुषप्रयत्नोपदेश इति मनसिकृत्य सेवाविषये बाधकत्रय न यद्योत्पद्यत एव तथा कर्तव्यं पुरुषेणेत्येतदर्थं त्रयाणां साधनपरित्याग कर्तव्य इत्युक्तत्वात् । एव च सति अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्नहीत्यनेन भगवत्कृतप्रतिबन्धाभाससम्पादनार्थं गतिर्नास्तीत्युक्तत्वादन्यकृतप्रतिबन्धाभावसम्पादने गतिरस्तीत्यर्थतः सिद्धत्वाद्द्विविध प्रतिबन्धकामागतमेवेति कण्ठरनेण मूलेनुक्त्वा निवरणे प्रतिबन्धकरूपसेवाबाधकद्वैविध्यमाहुः प्रतिबन्धोपि द्विविधः । साधारणो भगवत्कृतश्चेति । तत्र भगवत्कृतप्रतिबन्धाभाव सम्पादयितुमशक्यं, साधारणस्तु शक्य इति विवरणे आहुः तत्राद्यो बुद्ध्या त्याज्य इति । तत्र प्रतिबन्धकरूपसेवाबाधकभेदद्वये आद्यः साधारण प्रतिबन्धो भगवद्विमुखभार्यादिकृत प्रतिबन्धस्तत्र साधनपरित्यागस्योक्तत्वात् तत्याधनरूपो यो भार्यादि स त्याज्यस्त्यक्तुं शक्य । तत्यागेन प्रतिबन्धाभासरूपबाधकाभाव सम्पादयितुं शक्य इत्यर्थो ज्ञेयः । अत एवोक्तं 'भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद्भगवत्किंयाम् । उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिबन्धे गृहे त्यजे दिनि भागवततत्त्वदीपे ।

अथ भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तु न केनापि त्यक्तुं शक्य इत्याहुः भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यमिति विवरणे अर्थ स्पष्टः । ननु भगवत्कृत प्रतिबन्ध कस्य फलाभावसम्पादकः ? किं कायवाद्यनोभिर्भजनं कुर्वत पुरुषस्याहोस्त्रिभुवनेषु च्छावतो वा ? तत्र नाथ । 'इति निश्चिन्तय मनसा कृष्ण परिचरेत्सदे'ति भागवततत्त्वदीपकारिकाव्याख्याने 'एकापि सकृत्कृता परिचर्या परमं पुण्यार्थदेति । परं विद्यमानदेहस्य निःकृत्यर्थं सदा परिचरे'दित्याचार्यं सिद्धान्तितत्वात् किञ्चित्कालिकभजनोत्तरं यावज्जीव कथाचिद्भगवद्विन्द्या भगवत्कृतसेवाप्रतिबन्धेपि परमं

पुरुषार्थलामस्य सिद्धत्वादन भगवान् फल न दास्यतीति निषेधस्य विरुद्धत्वात् । अत एव
 'न ह्यगोपक्रमे ध्वंसो भद्रमसौद्धवाणपी'ति एकादशस्कन्धीयप्रभुवचनं 'यानास्थाये'ति
 वचनं 'सकृदिद्वादिपुरुष पुरुषो याति साम्यतां सवत्सर किञ्चिदूर्णं दित्वा यद्दरिचित'
 इति षष्ठस्कन्धीयाष्टाध्यायीयशुकवचनं च । न द्वितीयः, त्रिना भगवत्कृपां भजनेच्छानु-
 दयात्, तदुदये च भजनस्य भविष्यत्प्रतिबन्धेनापि निषेधस्य वैयर्थ्यापातात् । तथाचापि
 निषेधो भगवत्कृतप्रतिबन्धे कालविलम्बेन फलदानेच्छामेव घ्ननक्ति, न तु तददाने-
 च्छामिति भावः । अन्यथा भजनेच्छानुकूलकृपावैयर्थ्यं प्रसञ्जेतेति । न च विनैवानुग्रह
 भजनेच्छोदय इति वाच्यम् । अवतारदशाया स्वरूपदर्शनेनैवेच्छोदयसम्भवेऽप्यनवतार-
 दशाया सत्तगश्रीभागवतादिश्रवणं त्रिना शुद्धपुष्टिभजनेच्छोदयस्यादृष्टत्वादश्रुतत्वाच्च । यदि
 पुनर्विनादर्शनश्रवणादिकमपि शुद्धपुष्टिमार्गीयभजनेच्छोदयः स्यात् तदा पुरुषोत्तमावता-
 रोपि न स्यात् । अत एवानुग्रहाय भक्तानां मानुष देहमाश्रित'इत्युपक्रम्य 'मिक्रीडित
 प्रजवधूमिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोतुगृणुयादयं वर्णयेद्य' इत्यत्र य इतिपदेन यस्य-
 कस्यापि श्रवणवर्णनाभ्यां भक्तिं परामित्येनेन भक्तिलाम उक्तं, स त्रिच्छोत्पादनपूर्वक एव ।
 तस्माद् व्यर्थं भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध इत्यादिनिरूपणमिति चेत्, अत्र वदामः । पुनादि-
 जन्माद्युत्तर केनापि प्रतिबन्धेनाकृतपुनादिनिवेदनस्य कस्यचिन्महत्तमस्य पुरुषस्य तदनन्तर
 मतिक्रमया पुनादिस्नेहेन वा कदाचित् तदनिवेदनस्मरणे मनसि स्यान्मम पुनादि- शुद्धपुष्टि-
 भजनेन भगवन्तं प्राप्नोत्विति मयास्मै नागनिवेदने दत्त्वा भगवत्सेवा कारणीया तदा त्व
 सेवा कुरु मत्तो नामनिवेदने गृहीत्विति कथने यदि तस्य हृद्यत्पोष्युत्साहो न दृश्यते कदापि
 प्रत्युत द्वेष तदोन्नेयमिदम्, यदस्य भगवत्कृत प्रतिबन्धोस्ति भगवान् फल न दास्यती-
 तस्मै नोपदेष्टव्यं किमपीति ज्ञापनार्थत्वेन भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध इत्यादिनिरूपणस्य
 सार्थकत्वात् । ननु तदा शुद्धपुष्टिमार्गीयपूर्णस्वरूपसेवाफलं मा भवत्वस्याशस्वरूपसेवा-
 फलं तु भविष्यतीत्यशेषोपदेश एव कर्तव्यस्तेनेति चेदित्याशक्याह तदान्यसेवापि
 व्यर्थेति । अशाशिनोरभेदादशस्याशयधीनत्वावाशिकृतप्रतिबन्धेशस्य फलदानासमर्थ-
 त्वान्महाराजकृते प्रतिबन्धे सचिवादिरेवेत्यर्थः । नन्वशिनो न स्वस्वरूपपरमफलदानेच्छा
 किन्तु स्वल्पफलदानेच्छाशङ्करा तदाशेन फलदानं कर्तव्यमेव, महाराजस्य महाफलदानेच्छा-
 भावेपि सचिवादिद्वारा स्वल्पफलदानेच्छाया सचिवादिनेवेति चेत्, सत्यम्, यत्राश-
 यिरोधेनाशभजनं तत्रैवाशेन फलदानं महाराजाप्रियोधेन सचिवादिभजने सचिवादिनेव,
 न तु तद्विरोधेन भजने । तथा चैतस्य भगवत्सेनाकर्तव्यत्वकथनेपि कदाप्युत्साहाभावात्
 प्रत्युत द्वेषोद्भवान्नाशेनापि फलदानमित्यन्यसेवावैयर्थ्यात् सापि नोपदेष्टेयेति सुदृक्त
 तदान्यसेवापि व्यर्थेति । किञ्च, तदैतादृशस्य यत्स्वरूपं तस्य तिधोरोपि भवतीत्याह
 तदा आसुरोपं जीव इति निर्धार इति । आसुर आसुरावेशी आसुरभाववान्

वा सहजासुरो वेति निर्धारो निश्चय इत्यर्थः । अत्र कदाचिद्भक्तसन्निधौ यस्य मनसि भगवति सद्भाव उत्पद्यते द्वितीयक्षणे तदमन्निधौ तु नश्यति स आसुरावेशी आसुरभावात् न वा ज्ञेयः । यस्य तु सत्संगेऽपि भगवति न सद्भावः कदापि स तु सहजासुर इति ज्ञेयः । ननु तर्हि महत्तमकृपावैयर्थ्यप्रसंग इत्याशङ्क्याहुः यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतमिति । वा अथवा यथा आसुरस्य तत्त्वनिर्धार उक्तस्तथा विवेको विचारो ज्ञानमिति यावत् । तत्साधनमासुरस्य शोकाभावरूपफलाय मतं सम्मतमित्यर्थः । अत्रैवं ज्ञेयम् । 'मायेत्यसुरा' इति श्रुतेःसुराणां माया सेव्या, सैवेश्वरः, तत्कृतत्वाजगन्मायिकम्, तेषां मुक्तिश्चा'न्वन्तमः प्रविशन्ति ये सम्भूतिमुपासत' इति श्रुतेर्देवेष्वनाविष्टानां सहजासुराणां कामनाभावपूर्वकं सम्भूत्युपासकानां तदुपासनारूपसाधनघलेनासुरज्ञानमार्गप्रवेशे सति शोकाभावरूपवान्तरफले जाते सुरादुःखात्यन्ताभावस्वरूपपुनरावृत्तिरहितप्रकृतिलयरूपान्धन्तमःप्रवेशरूपा मुक्तिः । आसुराविष्टानां दैवजीवानां तु निरुपधिःकृपया भगवता हतानां मध्ये दैवस्य दैवज्ञानाभावात् स्वरूपघलेनाक्षरब्रह्मणि लयरूपा मुक्तिः, तदाविष्टासुरस्य त्वासुरज्ञानाभावात् स्वरूपघलेनैवापुनरावृत्तिरहितान्धन्तमःप्रवेशपरपर्यायप्रकृति-लयरूपा मुक्तिः । अन्येषां सकामानां सहजासुराणामासुराविष्टदैवजीवानां च 'असुर्यानां ते लोका अन्धेन तमसा घृताः । तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्त्यविद्वांसोऽसुधा जनाः', 'तानहं द्विपतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् क्षिपाम्यजस्रमसुरानासुरीष्वेव योनिष्विति' श्रुतिभगवद्वाक्याभ्यामन्धन्तमोवृत्तकैवलदुःखात्मकलोकरूपनरकप्राप्तिस्तद्गोचानन्तरं पुनरासुरयोनिप्राप्तिरेवेति कृतं पल्लवितेन ।

एवं च सर्वं मायिकमेकोऽस्मदाद्यात्मा स एव परमार्थो मायैवेश्वरो नान्य ईश्वरः कोऽप्येवं तत्त्वनिर्धाररूपो विवेकः सोऽस्य साधनं मतं सम्मतं यावज्जीवं शोकाद्य-भावाय, तदनन्तरं तादृशमुक्तये वेतिज्ञेयः । तथा च तादृशपुत्रमार्गादेः संसाराविष्टत्वा-न्महत्तमकृपया तेषां संसाराभावेन शोकाद्यभावपूर्वकतादृशमुक्तिनिमित्तमासुरज्ञानमार्ग-मुपदिशेदिति भावः । अत एव श्रीमद्भक्तसुदेवैरासुरज्ञानमार्ग एव कंसस्य श्रीमद्देवकीवधो-घतस्योपदिष्टो न तु दैव इति ज्ञेयम् । इदमेवाहुर्विवरणे तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तद्व्यंशोकाभावायेति विवेक इति । तदा तेष्वसुरावेश्यासुरभाववत्सहजासुरजीवत्व-निर्धारे सत्येतैरासुरज्ञानमार्गेण स्यात्तद्व्यमित्यर्थं विवेको विचारः सिद्धान्तमृत इत्यर्थः । तथा च तान् प्रत्यासुरज्ञानमार्ग उपदेष्टव्य इति भावः । यद्वा पूर्वमासुरोऽयं जीव इति निर्धार इत्युक्तं तर्हि तेन किं साधनमनुष्ठेयमित्याकांक्षायां तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तद्व्यमि-

१ आवेशिनीवास्ते सर्वे देहानां वपुषि स्थिता, आवेशेन विना ये च मूलदेहा इति स्मृताः, तेषां तमघ-
साम्रोके नान्ये प्रेषादिनल्लक्ष, तेषां स्थानं च स्वर्गादि तत्र परमवामासुरावृत्तिपुनरावृत्तिरहितप्रकृतिलय-
आसुरावेशिनां मुक्तिरासुराणामन्धन्तमोहपरकप्राप्तिरुक्तत्वात् ।

त्यासुरस्यैव साधनमुपदिशन्ति तदा ज्ञानेत्यादिना । एवं च ज्ञानमार्गपदेनासुरज्ञानमार्ग
 एवायातीति तथा व्याख्यातमिति ज्ञेयम् । न ह्यासुरस्य सर्वं ब्रह्मेलक्षरज्ञानमार्गं पुरुषोत्तम-
 ज्ञानमार्गं याधिकारः, तस्य तामसत्वात् । अत एवेश्वरत्वेनाभिमततामसमायाशक्त्युपास-
 कास्तेषु सत्त्वाभावात् सत्त्वजनितज्ञानाभावे 'नोर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था' इत्युक्ता नोर्ध्वगतिः,
 किन्तु तामसशक्त्युपासनाजनितज्ञानस्य तमोगुणजनितत्वेन तामसत्वाद्दयो गच्छन्ति
 तामसा' इत्यधोगतिरूपनिरयान्धन्तमोरूपप्रकृतिलयान्यतरप्रवेश एव, 'ये यथा मां प्रपद्यन्त'
 इति वाच्यत्वात् । अत्र अध.पदेनाधममेव विवक्षितम्, न तु नीचस्थानम्, निरयाणां
 नीचस्थानत्वेऽपि अन्धन्तमःप्रवेशरूपासुरसुक्तेः सुखदुःखाभावरूपत्वेन नीचस्थानत्वाभावात्,
 सर्वं ब्रह्मेलक्षरब्रह्मज्ञानमार्गं तु 'दैवी सम्पद्भिमोक्षायै'ति वाक्याद्देवसम्पद्युक्तजीवा-
 नामेवाधिकारः । अत एव 'जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः । सात्विकः स तु
 रिज्येयो भवेन्मोक्षापाधिष्ठित' इतिमोक्षधर्मीयनारायणीयवाक्यान्मोक्षाधिकारिणां सात्विक-
 त्वेन 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञान'मित्युक्तसत्त्वगुणजनितज्ञाने 'नोर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था' इति
 वाच्योक्तोर्ध्वगमनरूपा स्वर्गमुत्तयन्तरप्राप्तिर्भवतीति । अत्रोर्ध्वपदस्योत्तममित्यर्थो न तृष्ण-
 स्थानम्, स्वर्गलोकस्योर्ध्वलोकत्वेऽपि 'यन्न दुःखेन सम्भिन्न'मित्यादिवाक्योक्तस्वर्गसुख-
 स्य मुक्तेशोर्ध्वलोकत्वाभावात् । तस्मादूर्ध्वपदेनोत्तमत्वमेव विवक्षितमिति ज्ञेयमिति
 दिक् ॥ ३ ॥

तथा च यस्माद्वाधकेषु सत्सु न सेवामिद्धिरतस्तत्र यत्साधनपरित्यागः कर्तव्य
 इत्याहुः बाधकानां परित्याग इति । एवं द्विविधमपि प्रतिबन्धरूपं सेवाबाधकमुक्त्वा
 लौकिकभोगरूपं सेवाबाधकं वदन्तो द्विविधं भोगमाहुः भोगेष्वेकं तथा परम् ।
 निःप्रत्यूहम् । एतद्विवरणं तु भोगो द्विविधो, लौकिकोऽलौकिकश्च ।
 तत्र लौकिकस्तथाज्य एव । अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे
 प्रविशतीत्यन्तम् । अत्र यथा प्रतिबन्धे साधारणस्याज्यो, भगवत्कृतस्तु फलविप्र-
 मेयं जनयेत्, तथा भोगेषु सुखदुःखसाधकाररूपभोगरूपवस्तुन्यपि एकं साधारणं
 लौकिकमिति यावत्, तत् तथा त्याज्यम्, तत्साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्यर्थः ।
 परं द्वितीयं साधारणाद्विभक्तमलौकिकमिति यावत्, तादृशभोगरूपं वस्तु निष्प्रत्यूहं
 निर्गतः फलप्राप्ती विगो यस्मात्तत्फलप्रतिबन्धकमिति यावदेतादृशमित्यर्थः । तथा च
 तत्फलानुभूतमेवेत्यर्थ इति भावः । एवं द्विविधोऽपि भोगो मूले कण्ठरेवोक्तो यन्ममेव
 भोगं विवरणे भोगोऽपि द्विविधो लौकिकोऽलौकिकश्चेत्यादिना स्फुटीकृत्य तत्र
 लौकिकरुस्याज्य एवेत्यनेन लौकिकभोगस्यापि तत्साधनपरित्यागेन त्याज्यत्वमुक्तम् ।
 ननु कथमलौकिकस्य द्वितीयस्त भोगस्य फलप्रतिबन्धकत्वमित्याशङ्क्यापामाहुः महान्
 भोगः प्रथमं विद्वाने मदेति । महानलौकिको भोगस्तु प्रथमं अलौकिकरमोप-

भोगसामर्थ्यरूपे पूर्वोक्तफले निषयत्वेन प्रविशतीत्यर्थः । नन्वलौकिकभोगस्तु नेह भवति किन्त्वेतदेहपातोत्तरं माक्षाद्भगवत्सम्बन्धे सति भवति । तथा चानालौकिकभोगप्रसक्ते-
रेवाभावात् तद्भोगप्रसक्तौ सत्यामेव लौकिकभोगवदन्यापि त्यागाशंकायां प्राप्तायामेतस्य
प्रथमफले प्रवेशवचनं सार्थकं स्यात्तस्मान्महान्भोगः प्रथमे निशते सदेति वचनं व्यर्थमिति
चेत्, अत्र वदामः । अलौकिकभोगस्तत्रापि मनोमानस्य स्थायिभावात्मकभगवत्सम्बन्धे-
नालौकिकत्वान्मनोमात्रे त्वात्मनि द्वारा भवति, तत्सहनार्थमेवालीकिकसामर्थ्यं भगवता
दीयते, अत एनालौकिकभोगस्य प्रथमफलान्तरभावोक्तिः संगता भवति । अन्यथा प्रथम-
फलान्तरभावोक्तिरसंगता स्यात् । तस्माद्यदा तनुजवित्तजसेवया प्रेमोत्पत्तिस्तदनन्तर-
मलौकिकभोगरूपे अपूर्वानुरागरूपविरहजडुःखसाक्षात्कारे विषयत्वेन प्रविष्टस्य दुःखस्य
तापविशिष्टस्य सहनार्थमलौकिकसामर्थ्यं भगवता दत्ते स्वसेव्यश्रीनिग्रहे स्वप्नादिपु वा सर्शादि-
जनितविलक्षणसुखभोगप्राप्तिरत्रापि भवति तदाचार्यभोगः प्रतिबन्धकत्वेनोक्तोऽथ भोगो-
पि गम प्रतिबन्धकः स्यादिति कदाचित् कस्यचिन्मनसि भवेत्, प्रेमभरेण च स भोग-
स्वक्तुमशक्यस्तदा व्याकुलतया महान्प्रेद उत्पद्येत, तेन च विरहानुभवप्रतिबन्धः स्यादिति
तत्प्रेदनिवारणार्थं महान्भोगः प्रथमे विद्वान्ने सदेति मूले, अलौकिकभोगस्तु
फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशतीत्येतद्विरणे चालौकिकभोगस्य प्रथमफले प्रवेश
उक्त इति तथोक्तेः सार्थकत्वस्य सिद्धत्वात् त्वदुक्त्ययकाशः कथमपीति बुध्यस्व । ननु
लौकिको भोगो न तनुजवित्तजसेवायाः प्रतिबन्धकः किन्तु 'ता नाभिद'सित्याद्युक्तप्रकारक-
चेतस्तद्व्यवणत्वतद्रूपायां गानससेवायां प्रतिबन्धकः । यदि तनुजवित्तजसेनाप्रतिबन्धक-
स्यात्तदा लौकिकसुखसाक्षात्काररूपभोगाभावे देहस्थितेरभावात् तनुजवित्तजसेवाश्रवण-
कीर्तनादीनां चामात्रे सिद्धे कारणाभावेन प्रेमोत्पत्तेरभावान्मानससेवासिद्धेश्चाभावात् परम-
फलप्राप्तिर्न भवेदेव कस्यापीति न कोप्यस्मिन्मार्गं प्रयततेति मार्ग एवायमुन्विष्येत, तस्मात्
तत्प्रतिबन्धको लौकिको भोगः । सति च लौकिकं भोगे 'निषयविश्वचित्ताना नावेशः
सर्वदा हरे'रिति वचनात्कारणनिषयावेशेन भगवद्विषयकतनुजवित्तजसेवाभावे कथ
पूर्वोक्तं फलं स्यादिति चेत्, अत्र वदामः । लौकिकविषयभोगो द्विविधः, एकः केवले-
न्द्रियपोषको, द्वितीयो भगवत्तनुजवित्तजसेवोपयोगी । नत्र केवलेन्द्रियमात्रपोषकविषय-
भोगो न कर्तव्यः, किन्तु प्रनुसेवोपयोगित्वबुद्ध्या अथ च स्वस्य दासत्वेन दासधर्मत्व-
कारणत्वात् गृहम् । तावन्मोहोऽग्निगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः । त्वयोपभुक्तसम्बन्ध-
वामोऽकारचर्चिताः । उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव नाया जयेमही'त्यादिवचनानि च
धर्मभगवत्सेवोपयोगित्वेन दासधर्मत्वेन बन्धकमायाजयसाधकत्वेनानर्धनिवारकत्वेन च भगव-
न्निवेदितलौकिकविषयभोगस्य निहितत्वात् । तस्मात्केवलेन्द्रियमात्रपोषकलौकिकभगवद-

निवेदितविषयजभोग एव त्याज्यत्वेनोक्तोत्र, स तु तनुजवित्तजसेवावाधक एवेति स एव त्याज्यो न तु भगवत्सेवौपयिकत्वेन दासधर्मत्वेन च प्राप्तो विषयजभोग इति बाधकत्वाभावेन पूर्वोक्तफलस्य निःप्रत्युहत्वात् । अत एव 'वीजदार्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः, अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभि'रित्यादिना भक्तिवर्धिन्यां तनुजवित्तजसेवाकरणे गृहस्थितिरुक्ता । प्रेमासत्तयनन्तरमेव च 'तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् । त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थिकमानसः । लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोम्यधिकां परा'मित्यनेन भगवद्भजनान्यविषयकव्यासंगजनकत्वेन सर्वविधस्यापि गृहस्य त्याग उक्तः सर्वविध-भोगाभावसाधकत्वेनेति कृतं पल्लवितेन ॥ ४ ॥

ननु भगवता साक्षात्सम्बन्धेपि यदि सुखदुःखसाक्षात्काररूपो भोग एव भवति तदा लौकिकभोगः किमर्थं त्याज्यत्वेनोच्यत इत्यनतिपण्डिताशंकां परिहरन्त आहुः ।

सविभोल्पो घातकः स्याद्दलादेतौ सदा मतौ ।

एतद्विवरणं तु साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाह सविभोल्पो घातकः स्यादिति । सविभ्रत्वाद्ल्पत्वाच्च भोगस्त्याज्यः । एतौ सदा प्रतिबन्धकावित्यन्तम् । लौकिकसुखभोगसुखभोगसाधनानां नाशस्त-विभो, अथ च लौकिकभोगः किञ्चित्कालिकत्वात् परिछिन्न इत्यल्पश्च । अथ च परमफल-वाधक इति घातकः । एवमेव लौकिकदुःखभोगस्तु यद्विषयक उत्पद्यते तद्विषयस्य कस्यचिदेव प्राप्तिर्न सर्वस्येति सविभो, अथ च लौकिकविषयस्य तुच्छत्वात् तुच्छविषयक इति अल्पस्तुच्छश्च । अथ च परम्परया मानससेवाप्रतिबन्धकत्वात् फलप्राप्तिघातकश्चेति मूले हेतुगर्भविशेषणानि । अत एवात्र भावप्रधानो निर्देश इति ज्ञेयमिति मनसिकृत्वाचार्याः सविभ्रत्वाद्ल्पत्वाद्घातकत्वाच्चेति हेतुत्वेनैव विवरणे व्याख्यातवन्तो भोगविशेषणानि । अत एव एतौ भगवत्कृतप्रतिबन्धसाधारणभोगौ बलाद्धेतोः सदा बाधकाविति भावः । नन्वत्रैको भोगः एवोक्तः पूर्वमव्यवहितः, तथा सति सदायं प्रतिबन्धक इत्येकवचनमेव वक्तव्यम्, न त्वेताविति द्विवचनमित्याशंकायामाहुः द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इति । द्विवचनाकान्तैतच्छब्दे द्वितीयो द्वित्वसंख्यापूर्को भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इति तात्पर्यात् द्विवचनस्य सार्थक्यमिति भावः ।

ननु भगवत्प्रतिबन्धे ज्ञाते संसारभावायातिक्रमया तस्यामुरज्ञानमार्ग उपदेष्टव्य इति पूर्वमुक्तम्, तत्रापि तस्य चेन्न स्थिरता तदा महत्तमैः किं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः द्वितीय इति ॥ ५ ॥

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

एतद्विवरणं तु ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावात्तन्माह द्वितीय इत्यन्तम् । द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे आमुरज्ञानोपदेशपर्यन्तं चिन्ता कर्तव्या महत्तमैरतिक्रमया ।

यदासुरज्ञानेपि भार्यादेः स्थितिर्न दृश्यते किन्तु 'कामोपभोगपरमा' इति वचनसिद्धकामोप-
भोगमात्रपरत्वं दृष्टम्, तदास्यासुरसुक्तिरपि न देया भगवता किन्तु मरणानन्तरं 'मसुर्या
नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः । तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्त्यविद्वांसोबुधा जना' इति
श्रुत्युक्तान्धन्तमोवृतकेवलदुःखात्मकलोकप्राप्तिपूर्वकं 'तानहं द्विपतः क्रूरानि'त्यादिवाक्योक्तः
संसार एव देयोत्येति संसारनिश्चयं प्राप्य सर्वथैव चिन्ता त्याज्या । तादृशपुत्रादिरुपेक्ष्य
इति भावः ॥ ५ ॥

एवं प्रसंगादासुरस्य पुत्रादेरुद्धारोपायस्य कर्तव्याकर्तव्यत्वं निरूप्य प्रकृतं विचार-
यन्ति । ननु यथासुरस्यासुरसुक्तिसंसारयोर्निश्चयः कृतः कामोपभोगपरत्वापरत्वादिलिङ्गैस्तथा
शुद्धपुष्टिमार्गीयेष्वेतस्य शीघ्रं फलमेतस्य विलम्बेनेति केन लिङ्गेन ज्ञेयमित्याकांक्षायामाहुः ।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति ।

तुशब्द आसुरप्रसङ्गनिवारणार्थः । आद्ये अलौकिकमामर्थ्यरूपे फले जाते सति
भगवतः दातृत्वं नास्तीति न, किन्तु दातृत्वं वर्तत इति ज्ञेयम् । नन्वाद्य इति पाठे नु
निश्चयेन दातृता नास्तीति न, किन्तु वर्तत एवेत्ययो ज्ञेयः । एतद्देहे मनसि एतद्देह-
पातोत्तरं चालौकिकसंघात एव फलं भविष्यतीति भावः । अयं मूलार्थः सप्त एवेति
मत्वाद्ये दातृता नास्तीत्येतस्यार्थमनुक्त्वा आद्यफलाभावे एतद्देहे मनसि एतद्देहपातोत्तरं च
भगवतो दातृता नास्तीति शिरश्चालनेनोक्त्वा किन्तु विलम्बेन दातृता वर्तत इत्यर्थतः
सिद्धमर्थमाहुर्विपरणे आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति तदा सेवा-
नाधिदैविकीत्युक्तं भवतीत्यन्तेन । यतश्चायमार्थिकोर्धे उक्तोत एव इत्युक्तं भवतीत्युक्तं
न त्वित्यर्थ इति । यद्वा आद्यफलाभावे तनुजनिताजसेवाजनितप्रेमासक्त्यनन्तरमलौकिक-
सामर्थ्यदानाभावे भगवतो दातृताभावे नास्ति किन्तु विलम्बेन दातृत्व वर्तत इत्यकार-
प्रक्षेपेण व्याख्येयम् । नन्वाद्यफलाभावे दातृत्वं कुतो नास्तीत्याकांक्षायामाहुर्विपरणे तदा
सेवानाधिदैविकीत्युक्तं भवतीति । व्यमनपर्यन्तं स्वतन्त्रेच्छत्वेन प्रेमावस्थानामा-
निर्भाव्यत्वाभावात् पूर्णप्रेमाभिर्भोगाभावाद्द्रसरूपताभावात्सेवाया आधिदैविकत्वाभावादिति
हेतोर्दातृत्व नास्ति, यत आधिदैविकसेवायैनाधिदैविकस्वरूपप्राप्ति र्थि यथा मा प्रपद्यन्ते तांस्त-
थैव भजाम्यहं'मिति वाक्यादित्यनेहि । रसरूपस्यैनाधिदैविकत्वे 'रसो वै स' इतिश्रुतिस्थ-
परमकाष्ठापन्नरत्नस्वरूपनिश्चयवाचकत्रैडत्यव्ययशब्दः प्रमाणं परमकाष्ठापन्नस्यैव पर्यन्ततः
सर्वाधिदैविकत्वात् । एव चाद्यफले जाते फल शीघ्रं भविष्यति तदभावे भगवदिच्छाभावेन
कस्यचिद्विलम्बेन भविष्यतीत्याद्यफलोत्पत्त्यनुत्पत्तिरूपलिङ्गाभ्यां शुद्धपुष्टिमार्गीयस्यापि भक्तस्य
शीघ्रफलोत्पत्त्यनुत्पत्ती ज्ञेये इति दिक् ।

अथ उद्वेगाभावाप्रतिबन्धाभावाभोगाभावाणां बाधकाभावत्वेन पूर्वं कारणत्वमुक्तम् ।
तत्र सर्वस्यापि भगवद्गीलात्वेन ज्ञानादुद्वेगाभावात् सिद्धस्तत्र न गृहलागः । सेवाप्रतिबन्धका-

सुरपुनादेस्त्यागात्प्रतिबन्धाभावसिद्धेश्च तत्र पाक्षिको गृहत्यागः । दैवपुत्रादिषु ससु
गृहत्यागाभावात् । भोगाभावस्तु लौकिकभोगत्वावच्छेदकावच्छिन्नाभावः । स तु लौकिक-
गृहत्वावच्छेदकावच्छिन्नत्यागेनैवेत्याहुः ।

तृतीये वाचकं गृहम् ।

तृतीये वाचकाभावत्वेन कारणे लौकिकभोगाभावे लौकिकं गृहं वाचकम् ।
तादृशगृहे सति तादृशभोगाभावाभावात्, सर्वेन्द्रियाणां लोकवेदसंकोचेनापि स्वस्वविषये
प्रवृत्तिसम्भवादिति भावः । एतद्विवरणे इदमेवाहुः भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा
गृहपरित्याग इति । अत्र पर्युपसर्गो वेदमन्त्रीतत्रस्थपुत्रादिवाचको ज्ञेयः । अन्योर्थः स्पष्टः ।

ननु एतादृशसेवनातिदुर्लभेत्वाशकायामाहुरवश्येयं सदा भाव्येति ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

अत्र विवरणमावादस्माभिरेव व्याख्यायते । इयमव्यवहितक्षण एवोक्ता बुद्धिस्था
मानसी सेवना 'न रोधयती'त्यादिवाक्येभ्यः कस्यापि कर्मज्ञानादेरवश्याधीना यद्यपि न
भवति, ब्रजभक्तरूपसाधुक्रुपामात्राधीनत्वात्, तथापि श्रीप्रभुवजभक्तदासपूर्वकं भाव्या
चिन्तनीया । एतादृशीं सेवनां कदास्मत्प्रभुरस्मत्स्वामिन्योस्मन्थं दास्यन्ति, कदा भगवति
चक्षुरागः, कदा वा चित्तासंगः, कदा वा 'भगवता सह संलापो दर्शन मिलितस च ।
आद्यैः सेवनं चापि स्पृश्यापि तथाविधः । अथरासृतपान च भोगो रोगोद्गमस्तथा ।
तत्कृजितानां श्रवणमात्राण चापि सर्वतः । तदन्तिकगतिर्नित्य'मित्यादिः संकल्पः, कदा
निद्राच्छेदः, कदा तनुतनुता, कदा विषयनिवृत्तिः, कदा व्रपानाशः, कदोन्मादमूर्च्छामृतय
इत्यासुक्तप्रकारेण सदा देहपातपर्यन्तं भाव्या, भावनया मनसि स्थापनीया ।
अतिदीनतया ज्ञानविषयत्वमापदनीयेति यावत् । यदा इयं मानसी सेवा सदा
भाव्या, प्रेमाद्यभावेपि प्रेमाद्यतस्यानुकरणकरणेन च चिन्तनीया । तथा च मनसे-
तादृशभावनापूर्वकं तनुजन्तजसेनाकरणे 'तं यथा यथोपासते तथैव भवती'ति श्रुतेर्ये
यथा मां प्रपद्यन्ते तान्मर्थेन भजाम्यह'मिति गीतास्यभगवद्वाक्यादय च 'यादृशी भावना
यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'त्यादिवचनाच्चैतदेष्टपातोत्तरमलौकिकदेहप्राप्ती वा कस्यचित्कस्य
चित्तु जन्मान्तरे वा फुहतरभगवत्कृपायामस्मिन् जन्मन्यपि वा 'ता नागिन्द'त्रिलो-
सुक्तप्रकारा फलरूपा सेवना मिद्धा भविष्यतीति भावः । अथवा इयं स्मरूपा
प्रेमामक्तिव्यमनाभिज्ञा सेना सदा सर्वदा अः भगवान् वश्यो यस्यां या भाव्या
ज्ञेया । एतादृशज्ञानेनापि फलमिद्धिरित्यर्थः । तथा चान्यप्रकारकमेत्यायां न सर्वदा
भगवान् वश्यो भवति, न या तज्ज्ञानमात्रेण च फलमिद्धिमिति भावः । ननु ज्ञानादि-
मार्गप्रयोगेणापि भेदा प्रभुं न्यसेन करिष्यन्ति प्रभुसेवनाभिज्ञेपादिन्यायार्थक्याः सर्वमन्य-
न्मनोभ्रम इति । अन्यन् सर्वं मनोभ्रमन्मभेत् । तथा च भगवन्मावाभादितानामेवाय

सिद्धान्तो यदन्यत्रापि मार्गं प्रभुर्वश्यो भवतीति । अत एवास्मिन्मार्गे मार्गान्तराच्छ्रेयम् ।
अत एव च 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्य न भक्तियोग'मिति वचन चेति दिक् ॥६॥

एवं मानससेवाभावनाया माहात्म्यमुक्त्वा पूर्वोक्तसेवाबाधकत्यागस्वावश्यकतामाहुः
तदीयैरपि तत्कार्यमिति ।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

वाल्योद्योगान्ये 'समर्पणादात्मनो हि तदीयत्व भवेद्भुव'मित्युक्त्वा 'देव धर्म-
मनुष्याणा'मित्यादिभगवद्वाक्याच्च पुष्टौ पुष्टिमार्गे तदीयैरपि आत्मसमर्पण कृतवद्विरपि
तत् पूर्वोक्त बाधकत्रितयत्वारूप यत् तत् कार्यं कर्तव्यम्, न तु मयात्मसमर्पणं
कृत तदीय च सर्वं जातमत. पर प्रभुर्यथा ज्ञास्यति तथा करिष्यति मम का चि-तेति
निश्चिन्ततया श्येयम् । तथा सति भगवति भरदाने पुष्टिमार्गस्य प्रेमात्मकत्वात् प्रेममार्ग-
निरोध आपद्येत । सर्वथा स्वाश्रयार्थे हि भगवति भरदानम्, न तु स्वशक्येपि,
स्वशक्येर्षेपि तत्र भरदाने स्वामिन्यादीनां स्वप्राणप्रियस्वायासादर्शनेन महान् खेद उत्पद्येत,
तेन तदधीनत्वात्फलस्य तत्फलदाने भगवतो विलम्बस्वरूपेददानजनित स्वामिनीप्रापद्येतेति ।
अत एवाग्रे आहुः पुष्टौ नैव विलम्बयेदिति । पुष्टानिति देहलीदीपन्यायेनात्रापि
सम्बध्यते । अन्यमार्गस्थस्तु कृतात्मसमर्पणो प्रिक्रीतपञ्चादिवत् स्वदेहभरणपोषणादिचिन्ता-
रहितो विलम्ब कुर्यादपि, पुष्टौ शुद्धपुष्टिमार्गं तु तन्मार्गस्थो नैव विलम्बयेन्न विलम्ब
कुर्याद्बाधकत्रयापनोद इत्यर्थः । यद्वा स्वयमेवात्मसमर्पणा बाधकत्रयापनोदे कृते स्वप्राण-
प्रियस्वायासादर्शनात् स्वामिन्यादीनां खेदाभावात् तदधीनफलदाने प्रभुर्न विलम्बयेन्न
विलम्ब कुर्यादिति वार्थः । अत एव 'मदर्थपरित्यागो भोगस्य च मुरस्य च'त्येकादश
स्कन्धीय प्रभुवचनमात्मसमर्पणो भोगादित्यागनुपदिशति, न तु स्वस्मिन् भरदानेन
निश्चिन्ततयावस्थानम् । अन्यथा तासा खेदे सति तनुजचित्तजसेवाया प्रतिष्ये जाते
सति फलरूपसेवाप्राप्त्याशा दूरापास्ता । तथा च यत्र तनुजचित्तजसेवायामपि नाधक
त्यक्तन्य जात तत्र फलरूपसेनासिद्धौ सत्या प्रत्यायासस्फुरणाद्विलम्ब न कुर्यादेवेत्यर्थः ।
अतैतानुज्ञेयम् । साधनरूपसेवाया 'प्रतिक्रमे गृह लजे'दित्युपदेशे भजनप्रतिबन्धक
गृहस्यैव त्यागो, न भजनानुफलगृहस्य । फलरूपसेवाया तु भजनानुफलम्यापि गृहस्य
त्याग इति । एतद्यथा तथा मत्तु 'भक्तिवर्धिनीटीकायां' 'तादृशस्यापि सतत मेहस्थान
विनाशक'मिति श्लोके द्रष्टव्यम् ।

अथ तनुजचित्तजसेवाया प्राप्तमानसमेवम्य व्यसने जाते दशावस्थासु महादुःखानु
भवाददिततापेन कदाचिदतिनिष्ठुर प्रियो यदेतानुत्पर्यन्तमपि न मिलति, मया खेतानुदु स
मनुभूयते तदर्थमित्यादिको दोषारोपो भगवति भगवदीयस्य सात सोपि बाधक
एवेत्याहुः गुणशोभेपीति ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

गुणैः रसावस्धारूपैर्निद्रालेदादिभिर्मनःक्षोभेपि प्रियदोषारोपेपि एतदेव भगवदप्राप्तौ प्रतिषन्धकत्वमेव द्रष्टव्यं दोषारोपस्य । तथा च तादृशावस्थायामपि प्रिये दोषारोपो न कर्तव्यः । यतः प्रियस्य निर्दोषपूर्णगुणवत्त्वात्तत्र दोषारोपे स्वामिन्यादीनां रोपे फलप्राप्ति-
विलम्बः स्यात् । किन्तु धन्योह यत्प्रियार्थमेतादृशावस्थामनुभवाभीतिगुणारोप एव कर्तव्यं इति भावः । इदं व्रतानाशावस्थापर्यन्तमेव कर्तव्यत्वेनोपदिश्यते । उन्मादावस्था-
प्रादुर्भावे तु देहानुसन्धानाभावाच्च तत्र दोषो दोषारोपेपीति ज्ञेयम् । अत एवोद्धवद्वारा
व्रजसीमन्तिनीनां ज्ञानोपदेशो दोषाभावाथमेव कृतः प्रशुणा ॥ ७ ॥

नन्विदं सर्वं प्राकृततुल्यमेवेति किमेतादृशावस्थाप्राप्त्याप्युत्कर्ष इत्याशङ्क्याहुः ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७ ॥ ॥

अत्र या काचित् कुसृष्टिरुच्येत सा भ्रमो ज्ञेयः । यतो 'रसो वै स' इति श्रुते रसरूपो भगवान् सिद्धस्तादा सर्वा अपि रसावस्था भगवद्रूपा एव, रसस्य विभावा-
नुभावव्यभिचारिभावसमूहालम्बनरूपत्वादिति सिद्धः सर्वोत्कर्षोऽस्य मार्गस्यास्य फलस्य
चेति सर्वं चतुरस्रम् ॥ ७ ॥ ॥

अत्र केचिदस्मच्छ्रीमदाचार्यमार्गीया भगवदीया यादृशी सेवनेति मूले
सेवायां फलत्रयमिति तद्विवरणे च पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदमिन्नमार्गसम्बन्धिनिविध-
सेवानां क्रमेण फलत्रयमुक्तमिति व्याचक्षते । तच्चिन्त्यम् । एव सति मूले यादृशी
सेवनेत्यत्र तद्विवरणे च सेवायामित्यत्र चैकरचन श्रीमदाचार्यैर्न दत्तं स्यात् । मूले
कदाचिच्छन्दोऽनुरोधेनैकवचनदानेपि विवरणे सेवासु फलत्रयमिति बहुवचनमेवोक्तं स्यात्,
विवरणस्य मूलाभिप्रायप्रकटनार्थमेव क्रियमाणत्वात् । अतो मूलविवरणयोरेकवचनदाना-
न्यथानुपपत्त्या तत्रत्यैकरचनान्यां शुद्धपुष्टिमार्गसेवाफलमाननिरूपणमेवात्र श्रीमदाचार्य-
चरणानामभिप्रेतं स्वीयमानेभ्यो ज्ञापनार्थमिति ज्ञायत इति सारम् । अन्ये त्वेतन्मार्गीया
भगवदीया मूलविवरणोक्तैकरचनानुरोधेन शुद्धपुष्टिसेवाफलत्रयमेवात्र श्रीमदाचार्याणाम-
भिप्रेतमधिकारभेदेनोत्तमत्वमध्यमत्वसाधारणत्वभेदमिन्नम् । तत्रोत्तम फलमलौकिक-
सामर्थ्यम्, तत्र सेनाया क्रियमाणायामेव प्रशुसम्पादितालौकिकशरीरनिष्ठस्वरूपानुभव-
सामर्थ्यं प्रमाणानुरोधिप्रमेयसाध्यम्, यथा रासमण्डलमण्डनायमानानाम्, मध्यम फलं तु
सायुज्यम् । तद्यु सह युनक्तीति सहयुक्, सेनाया क्रियमाणायामेव भगवता सह सतत-
स्थितिं सार्वादिक्मयोगरमानुभव इति यावत् । तथा च भक्तिमार्गीयेण प्रकारेण युगपद-

१ इत परं 'इति धीवत्तमनु रवरवि' इत्याद्याङ्गिरेणु उच्यते । जयगोपाल इत्येवम् । इति प्रथम
निमित्तं, हरितलेख पत्रागणितम् । एत परं विद्यमानं श्रीरामायणं या राज्य, गण्यतः स्वयमेव निर्मितं,
सादृशाद्यं गणितं यति प्रतिभाति । एतं मे तत्र तु परमतदुपपन्नं समतरीदीकरणम् ।

खिलपुण्यपापक्षयद्वारा पात्रमौक्तिकं देहं निवर्त्यालौकिकं दत्त्वा स्वस्मिन्नेव स्थितिं विधाय ततो निष्कास्य प्रमुकारितखलीलानुभवरूपं प्रमाणानुरोधिप्रमेयसाध्यम्, यथा लक्ष्म्या अन्तर्यृहगतगोपिकानां वा । अत्र मध्यमत्वं चास्य फलस्य विप्रयोगरसानुभवाभावाज्ज्ञेयम् । साधारणफलं तु सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु । ततु सेवायां क्रियमाणायामे-
 धानुग्रहविशेषाभावात् साक्षात्सेवानुपयोगेन्यैस्तादृशसाक्षाद्रसानुभवकर्तृभिः क्रियमाणायाः सेवाया उप समीपे योगः सम्बन्धस्तदच्छरीरप्राप्तिस्तरूपम्, यथा वृन्दावनस्थपक्ष्या-
 दीनाम् । तस्य चान्तररमणानुकूलत्वात्फलत्वम्, वहिःसाक्षात्सम्बन्धाभावादधिकाररूपत्वं च ज्ञेयमिति वदन्ति । तत्रान्तर्यृहगतानां मध्यमं फलमिति त्वस्मदाचार्यचरणसिद्धान्त-
 विरुद्धम् । तथा हि । यद्यस्मदाचार्याणामेवमेवामिप्रायः स्यात्तदा कुत्रापि दशमस्कन्धसुचो-
 धिन्यां श्रीमदाचार्यैस्तद्विष्णुयां च तत्तनुजवरैः स्फुटीकृतः स्यात् । न 'चान्तर्यृहगताः
 काश्चिदित्यस्याभासे 'यासां कालः प्रतिबन्धकः, पूर्वमेव भक्तियुक्तास्ता भजनानन्दमननु-
 भूयैव प्रतिवद्धा एव भगवत्सायुज्यं प्राप्तवत्य इत्याहे'त्यत्रत्यसायुज्यपदेन, पुनरेतस्यैव
 पदस्य व्याख्यानान्ते 'ततो मुक्ता जाता' इत्यारम्य 'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि
 सङ्गता' इति पद्यव्याख्यानान्तप्रयुक्तैर्मुक्तापदैश्च मुख्यफलापेक्षया मुक्तिरूपफलस्यैव प्राप्ति-
 कथनेनायमेवामिप्रायः स्फुटीकृतः श्रीमदाचार्यचरणैरिति वाच्यम् । अत्रत्यसायुज्यपद-
 मुक्तापदानां परोक्षवादरूपत्वमिति सायुज्यपदस्य भगवत्सहभावपरत्वेन मुक्तापदानां
 'अदुर्गुणमयं देह'मित्यत्रोक्तगुणमयदेहत्यागोत्तरप्राप्तगुणातीतसङ्घातनिष्ठभगवद्रसानन्दानुभव-
 विशिष्टत्वपरत्वेन च प्रयुक्तत्वात् । न च पूर्वोक्तानां पदानां परोक्षवादत्वे प्रमाणाभावः ।
 'लक्षणां नैव वक्ष्यामि न न्यूनादन्यपूरणम् । आर्थिकं तु प्रवक्ष्यामि परोक्षकथनादत'
 इति प्रथमस्कन्धीयसुचोधिनीप्रारंभप्रघट्टकपद्यस्य 'परोक्षकथनादत' इति श्रीमदाचार्यप्रति-
 ज्ञाया एव प्रमाणत्वात् । अस्यार्थः । अहं श्रीभागवते कुत्रापि लक्षणां नैव वक्ष्यामि,
 न कथयिष्यामि । लक्षणा हि मुख्यार्थवाधे भवति, तत्रात्र प्रतिपाद्यस्य भगवतः सर्व-
 शक्तिमत्त्वेन सर्वभवनसमर्थत्वेन मुख्यार्थवाधाभावात् । 'पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेद-
 धिकित्सितम् । आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि युक्तिभि'रिति गौतमस्मृतिवचनेन
 पुराणेषु लक्षणावृत्त्याश्रयणस्य निषिद्धत्वात् । अथ च न्यूनात्पुराणान्तरकथया न्यूनाच्चयूनं
 प्राप्य भावप्रधानो निर्देशो, त्यव्लोपे पश्वमी । यद्वा, न्यूनात्पुराणान्तरकथया न्यूनाच्चयूनं
 प्रमेयं प्राप्यान्यपूरणमन्येन पुराणान्तरेण पुराणान्तरकथयेति यावत्तेन पूर्णं श्रीभागवतस्य
 भगवदीयान्तरकृतश्रीभागवतव्याख्यानं इव न वक्ष्यामि । यदि सा कथैतत्कल्पीया स्यात्
 तदा व्यासचरणैरेव निबद्धा स्यादतो न वक्ष्यामीति भावः । केचित्तु न्यूनाच्छब्दादर्धी-
 चान्यस्य तस्य पूर्णं नेत्यर्थः, अध्याहारं शब्दस्य वार्थस्य वा न करिष्यामीत्याहुः । तत्र
 'जन्माद्यसे'ति प्रथमस्कन्धीयाद्यस्योक्त एव 'भीमहि' इति तिद्वाच्यकारकवाचिनो-

स्मच्छब्दस्य चाध्याहारदर्शनात् सोक्तिश्चिन्त्या, किन्त्वार्थिकं वाच्यार्थसिद्धमेवार्थं प्रवक्ष्यामि प्रकृत्यत्वेन वक्ष्यामि । अगोप्यत्वादिति भावः । परन्तु परोक्षकथनादते परोक्षकथनमप्रत्यक्षकथनं वाचकशब्देतरशब्देन कथन गोप्यकथनमिति यावत् तद्विहायेत्यर्थः । तथा च परोक्षकथनेनानधिकारिभ्यो गोपनार्थं लक्षणां लक्षणावृत्तिविशिष्टशब्दानथ च न्यून प्रमेयं प्राप्यान्वेन पुराणान्तरेण पूरणं न वक्ष्यामि परन्तु तात्पर्यग्राहकलिङ्गादिसिद्धमेव, न तु तदसिद्धमपीत्येतावदधिकं बोध्यम् । तथैव सुबोधिण्यां दृश्यमानत्वात् । तादृक्कथायाः कल्पान्तरीयत्वात् । एतत्कल्पीयत्वे तु 'गोप्यः संस्पृष्टसलिला अगेषु करयोः पृथक् । न्यस्यात्मन्यथ घालस्य बीजन्यासमकुर्वत' 'इति मघ्र जपन्त्यस्ताः पूजां चकुः कुमारिका' इत्यादिमन्त्रद्रष्टृत्वादिरूपलिङ्गं कुमारिकानामभ्रिकुमारत्वे, अथ च 'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गता' इत्यत्रत्यजारबुद्धिरूपं लिङ्गमन्तर्गृहगतानां 'जारधर्मेण सुखेहं सुदृढ सर्वतोधिक । मयि सम्प्राप्य सर्वेपि कृतकृत्या भविष्यथे'ति बृहद्दामनोक्तभगवद्भरदानविशिष्टश्रुतित्वे च यथोक्तं तथोक्तमेव स्यादतो ज्ञायते तन्नैतत्कल्पीयमिति तादृशपुराणान्तरकथया पूरणं न करिष्यामीति ज्ञेयम् । अथ च परोक्षकथने वाच्यार्थसिद्धमेवार्थं न प्रकृत्यत्वेन वक्ष्यामि किन्तु गोप्यत्वात् प्रकटतया न कथितमीदृश तात्पर्यवृत्त्या सिद्धमप्यर्थं वक्ष्यामीति भावो ज्ञेयः । एवञ्च फलप्रकरणीयलीलायामतिगोप्यत्वादुपक्रमे फलप्रकरणीयसुबोधिनीस्यसामुज्यमुक्तापदा'न्युक्तं पुरस्ता'दित्यारभ्य 'यत् एतद्विमुच्यत' इत्यन्तं मध्ये प्रयुक्तानि मुक्तिमुच्यतइत्यादिपदानि, अथ च रासलीलोपसंहारे च 'ब्रह्मराम उपावृत्त' इतिपद्यत्याख्याने 'यतो भगवान् मोक्षदाता ताश्चेदासन्ध्यमन्तःस्मरण करिष्यन्ति तदा मोक्षाधिकारिभ्यो भविष्यन्तीति वासुदेवानुमोदिता' इत्यत्रत्यमोक्षपदं च न लोकप्रसिद्धलयरूपसायुज्यपरत्वेन लयरूपमुक्तिविशिष्टत्वपरत्वेन लयरूपमोक्षपरत्वेन च न प्रयुक्तानि, किन्तु परोक्षवादेन भगवत्सहस्रिनिपरत्वेन गुणमयदेहत्यागोत्तरप्राप्तालौकिकदेहनिष्ठभगवद्रसानुभवविशिष्टत्वपरत्वेन त्रिप्रयोगोत्तरप्राप्तभगवद्दर्शनानन्दपरत्वेन च प्रयुक्तानीति ज्ञेयम् । पश्चात्प्यायीव्याख्यानस्यसामुज्यमुक्तामुक्तिमोक्षपदानि परोक्षवादरूपाणीति ज्ञापयितुमेत पश्चात्प्यायीसमाप्तिश्लोकव्याख्यानीयश्रीमदाचार्यतनुजरसकृतफलप्रकरणीयसुबोधिनीटिप्पण्यां व्याख्यात 'दिवा त्रिप्रयोगजातीं मत्यां दिनान्ते त्रियसङ्गमे य आनन्दो, न स सर्वदा दर्शनं इति मोत्र मोक्षपदेनोच्यत' इति मोक्षपदस्य तादृगानन्दपरत्वमेव । एवञ्च सामुज्यमुक्तामुक्तिमोक्षपदानां परोक्षवादत्वं सिद्धम् । अन्यथा 'न येन विस्मय' इति पद्यव्याख्याने 'एतत्परिदृश्यमानं जगत् सर्वमेव यतो विमुक्तिं यास्यति, भावनया गोकुले स्थित आह, ज्ञानदृष्ट्या वेत्यत्र विमुक्तिपदस्योपसंहारश्लोकव्याख्याने श्रीमदाचार्यचरणी-मोक्षपदस्य चोक्तप्रसंगमण्डलमण्डनापमानानां च लोकप्रसिद्धमोक्षप्राप्तिविशाख्याये यज्ञपदीप्रसङ्गिपे 'तथैका निवृत्ता भवे'तिपद्यव्याख्यानसुबोधिण्या'मतलस्य मुक्तिः सिद्धे'त्युक्तत्वा-

द्विप्रभार्याया अपि मोक्षप्राप्तिरंगीक्रियताम् । तस्मात् परोक्षवादरूपाण्येवात्र सायुज्यादि-
पदानीति न लोकप्रसिद्धमोक्षरूपमध्यमफलप्राप्तिरन्तर्गृहगतानामिति चोध्यम् ।

ननु मुक्तिवाचकपदैरेवात्रपरोक्षवादकरणे किं बीजमिति चेत्? श्रीभागवतमेव
बीजमिति गृह्याण । तथाहि । 'न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्सज' इतिपद्ये 'यत्
एतद्विमुच्यते' इतिपदमुच्यते, तेन च सर्वस्यापि गोकुलस्य मुक्तिः प्रतिपाद्यते, न हि
भवतापि सर्वस्य गोकुलस्य मुक्तिरंगीक्रियते लोकप्रसिद्धा । एवं च विमुच्यतेइतिपदं
परोक्षवाद्रूपमेव । तथा सति श्रीव्यासचरणैरत्र प्रकरणे मुक्तिवाचकपदेनैव परोक्षवादः
कृत इति श्रीमदाचार्यैरपि मुक्तिवाचकपदैरेव परोक्षवादः कृत इति सुप्रकृतं श्रीभागवत-
मेव बीजमिति । ननु न वयमेवंरूपं मध्यमं फलं तासां वदामः, किन्तु प्रकारान्तरेण
मध्यमफलं वदामः । तच्च भक्तिमार्गीयेण प्रकारेण युगपदखिलपापपुण्यक्षयद्वारा पाश्च-
भौतिकं देहं निवर्त्य तदनन्तरं चालौकिकदेहं दत्त्वा स्वस्मिन्नेव स्थितिं विधाय ततो
निष्कास्य प्रभुः संयोगरसलीलानुभवमेव कारयति, न तु विप्रयोगरसलीलानुभवम्, एवं च
रसरूपभगवत एकदलानुभवरूपं फलं मध्यममेव, द्वितीयदलानुभवाभावात् । मुख्यानां तु
दलद्वयानुभवस्यापि जायमानत्वान्मुख्यं फलमिति चेत्, अत्र पृच्छामः । अलौकिकदेह-
प्राप्त्यनन्तरं भगवत्कृता स्वस्मिन् स्थितित्वासां केन रूपेण, सार्वदिकलयरूपेण वा, रस-
व्यभिचारिभावलयरूपेण वा, 'सायुज्ये तु रसाधिक्यं भेदेनानुभवात् तत' इति श्रीमदा-
चार्यसिद्धान्तितभेदविशिष्टसायुज्यरूपेण वा, सर्वदा कण्ठलग्नेन वा, 'चैत्यस्य तत्त्वममलं
मणिमस्य कण्ठे, कौस्तुभव्यपदेशेन स्वात्मज्योतिर्विभर्त्यज' इत्यत्रोक्तानां स्वाङ्गीकृतात्मनां
तत्त्वरूपकण्ठस्थितकौस्तुभे लयरूपेण वा, लक्ष्मीवद्वक्षःस्थलस्थितिरूपेण वा, शिवोमा-
वदर्धनारीश्वररूपेण वा, पूतनासुपानसमानातीतभगवदुदरस्थितपूतनाभक्षितामिकुमाररूप-
कुमारीपुंस्त्वधर्मरूपबालकवद्वा । तत्र नाद्यः । पुरुषोत्तमे सार्वदिकलयरूपेण स्थितिस्तु
केवलजीवात्मनामेव, सा त्वेतासामसम्भावितैवालौकिकदेहप्राप्तिप्रविष्टत्वात्, न हि शरीर-
विशिष्टानां लयः कुत्रापि वेदादौ श्रुतोस्ति । पुरुषोत्तमे लयस्य पुरुषोत्तमविषयक-
मर्यादाभक्तिफलत्वाच्च । भवद्विस्त्वेतासां शुद्धपुष्टिमार्गीयमध्यमफलविशिष्टत्व सिद्धान्ति-
तमस्ति । न द्वितीयः । एतादृशलयस्यास्मानिरप्यत्राङ्गीक्रियमाणत्वान् । न च तर्हि मध्यम-
फलप्रसक्तिः । एतादृशलयस्य रासमण्डलमण्डनायमानास्वप्यसावहमित्यादौ दृष्टत्वेन
तत्समकक्षत्वान्मध्यमफलत्वाभावात् । न तृतीयः । तादृशसायुज्यस्य मर्यादापुष्टिफल-
त्वात् । न चतुर्थः । सर्वदा कण्ठलग्नेन स्थिते रसाभासरूपत्वात् । न पञ्चमः । देह-
विशिष्टत्वेन तत्रापि लयासम्भवात् । न षष्ठसप्तमौ । तत्र प्रमाणाभावात् । शिवोमयोरर्ध-
नारीश्वररूपेण स्थितौ च निखिलपुराणेतिहासदीनां प्रमाणत्वान्न तथान प्रमाणमस्ति ।
न चार्धनारीश्वरदेतासां स्थितौ 'त्वर्ध शोणमथार्धमम्बुदनिभं पदं ललाटे सजा यर्हा-

कल्पतया विलाससदनं स्त्रीपुंमयं वाञ्छयम् । हस्तैर्वेणुवराभयानि दधतं लावण्यवारा-
निधिम् । ध्यायामि स्मितशोभितास्यकमलं गोपालचूडामणि'मितिसुन्दरीगोपालमन्त्रसम्बन्धि-
ध्यानप्रतिपादकागम एव प्रमाणमिति वाच्यम् । 'अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी'ति
श्रुतौ यज्ञसम्बन्धयुक्तायाः स्वविवाहिताया एवार्धत्वमुक्तमिति लक्ष्म्या एवार्धनारीत्वेन
स्थितिरागमेन प्रतिपाद्यते न त्वेतासाम्, स्वविवाहितत्वाभावेन पत्नीत्वाभावादित्यस्या अपि
भवदुक्तेरनवकाशात् । नाप्यष्टमः । तेषामपि केवलजीवरूपाणामेव स्वोदरे पूतनया समान-
यनम्, न तु बालकदेहसहितानाम्, तदनन्तरं भगवतापि तदसुपानद्वारा तादृशानामेव
स्वोदरे समानयनम्, पश्चाद्भयस्यैरागतस्तत्रेत्यत्र व्रतचर्याप्रसङ्गे त्वलौकिकदेहं दत्त्वा तल्लीला-
प्रदर्शनं कारितवानिति निश्चयस्य दृढतरत्वेनासापि दृष्टान्तत्वाभावात् । शरीरविशिष्टानामेव
तेषां स्वोदरानयनमित्यस्य कण्ठरवेणाश्रूयमाणत्वात्, प्रत्युत पण्डितशमस्कन्धीयाध्यायसुबो-
धिण्यां 'तया स्वस्मिन्नानीता ये बालकानां जीवास्ते स्वजीवमर्मस्थाने स्थापिताः सन्तीति
तान् स्वस्मिन्नानेतुं भगवांस्तन्निष्पीडनमेव कृतवानित्यभिप्रेतार्थे' इत्यनेन केवलजीवाना-
मेवानयनस्य श्रीमदाचार्यैरुक्तत्वाच्च । न च लालनमृदूक्षणलीलाप्रदर्शितस्वमुखस्यसर्वव्रजे
भगवति देहसहितानामपि स्थितिरस्त्येव, एवं चालौकिकदेहसहितानामप्येतासां स्थितिर्ना-
सम्भावितेति वाच्यम् । स्वमुखारविन्दप्रदर्शितसर्वव्रजे रासमण्डलमण्डनायमानानामपि
स्थितत्वात् तासामपि मध्यमफलप्राप्तवेत्तुं शक्यत्वादिति न किञ्चिदेतत् । अथ यद्यपि
भगवतोऽचिन्त्यशक्तित्वात् केनापि प्रकारेणैतासां भगवति स्थितिः सम्भवेदपि, तथापि
यद्येतासां मध्यमफलं स्यात् तदाऽचिन्त्यशक्तिमत्त्वपर्यन्तं धावना समञ्जसा स्यात्, तदेव
तु सपुण्यायमाणम्, यत एतासां सगुणदेहत्यागोत्तरं निर्गुणदेहप्राप्त्यनन्तरं तु सर्वभाव-
प्रपत्तिरूपसाधनस्य सर्वभावप्रपत्तिलभ्यस्यैव च फलस्य प्राप्तिः श्रीमदाचार्यैः सिद्धान्ति-
तास्ति । तथाहि 'कृष्णं विदुः परं कान्त'मितिपञ्चश्लोकीसुबोधिण्यां प्रथमव्याख्याना-
भिप्रायविशदीकारकद्वितीयव्याख्याने 'उक्तं पुरस्ता'दितिपद्यव्याख्यायां 'यथा भगवति
गुणातीत एव परिनिष्ठबुद्धित्वेति द्वेषस्य तत्र प्रयोजकत्वात् सगुणत्वमेवेति लक्ष्यते,
अयं च रसः सर्वभावप्रपत्तिलभ्यः । नहि जारत्वबुद्धौ सर्वभावप्रपत्तिः । कामपू-
कत्वेनैव तत्सम्भवात्, अत्र च सगुणत्वस्य प्रतिबन्धकत्वाद्यथा चैद्यादीनां स्वाधि-
कारानुसारेण तादृशशरीरनाशे तत्पदप्राप्तिः स्वाधिकारानुसारेण, तथैतासामपि स्वाधि-
कारानुसारेण तथात्वं सगुणत्वोपरमेण सर्वभावप्रपत्त्यैव, ततो निजपतिमजनमिति सर्वमव-
दातम्, अन्यथा 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तन्मैव भजाम्यह'मिति मर्यादा भज्येते'त्युक्त्या,
अथ च ननु तथापि तादृशप्रपत्तेरेव मूलत्वात् कथं सर्वभावप्रपत्तिमाप्त्यं फलं भविष्यतीत्या-
भासं दत्त्वा 'द्विपन्नपी'त्यादिप्रतीकव्याख्याने 'मोक्षसुखज्ञानमीप्सुस्तद्विरुद्धपदार्था च चैव-
त्तास्मै यथा ज्ञानिनामपि दुर्लभां मुक्तिं दत्तवानेवं तादृक्प्रपत्तिमूलानामप्येतासां तादृशं

फलं दत्तवा'नित्युत्तया, तदनु क्रियाग्रे 'यदि सर्वभावप्रपत्तिलभ्यफलमेव दित्सितं भगवत्-
स्तदा पूर्वमेव स एव भावः किमिति नोत्पादित इति चे'दिति पूर्वपक्षीकृत्य 'अत्र वदामो,
यासां साक्षाद्भगवत्सम्बन्धस्तासां सर्वासांमेव रासमण्डलमण्डनायमानानां शरीरमपि
गुणातीतमेवेति ज्ञापयितुं भगवानेव कतिपयगोपीः सगुणदेहाः स्थापयित्वा पूर्वोक्तानां
भावोपि निर्गुण इति ज्ञापयितुमासां सगुणभावमुत्पाद्यैतन्निवर्तकोपि स्वयमेव नान्य
इति ज्ञापयितुं तन्निवृत्तिं विधायग्रे भाविस्वविरहजडुःखस्वसङ्गमजसुखयोः कर्माजन्यत्वमपि
ज्ञापयितुं कर्मक्षयप्रकारेण स्वप्राप्तिं विधाय मत्साम्येव सर्वं कृतवा'नित्युक्त्या च सर्वभाव-
प्रपत्तिरूपं साधनं सर्वभावप्रपत्तिलभ्यमेव च फलमेतात्तामिति ष्ठीकृतं श्रीमदाचार्यचरणै-
रिति तद्विरुद्धा भवद्भ्याख्यानपद्धतिर्नादरपदवीमारोहति । तस्मान्नान्तर्ग्रहगतानां सर्वदा
संयोगरसानुभवमात्ररूपं मध्यमं फलम्, किन्तु पूर्णसंयोगविप्रयोगरसात्मकमुत्तमफलमेव ।
उचितं चैवमेव यत्सर्वभावप्रपत्तिर्नाम सर्वांशेन प्रपत्तिः, तस्यां सत्यां सर्वांशेनैव प्रमुणा
फलदानं कर्तव्यम्, न तु केनाप्यंशेन न्यूनफलदानं सम्भवति, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते
तांस्तथैव भजाम्यह'मितिमर्यादा यतोस्तीति दिक् ।

अपरञ्च । 'या मया क्रीडता रात्र्यां बनेस्मिन् व्रज आस्थिताः । अलब्धरासाः
कल्याण्यो मापुर्मदीर्यचिन्तये'तिभ्रमरगीतस्थपद्यव्याख्याने 'भवत्यः समागता अन्तर्ग्रह-
गतास्तु गृह एव स्थितास्तदैव सर्वप्रकारेण मां प्राप्नुवन्त्यो न तु भवलोनेनैव निदर्शनेन
भवतीभिरप्यहं प्राप्तव्य' इति श्रीमदाचार्यैरुक्तम् । तत्र सर्वप्रकारेण भगवत्प्राप्तिरन्तर्ग्रह-
गतानां न तु केनाप्यंशेन न्यूनप्रकारेणेत्युक्तत्वात् सार्वदिकसंयोगरसमात्रानुभव एवैतासा-
मिति भवदुक्तिः कथं सङ्गच्छताम् । भगवतो रसरूपत्वाद्रसस्य द्विदलत्वाद्भवन्मते
विप्रयोगप्रकारेण प्राप्त्यभावादिति कृतं पल्लवितेन । अत्र तदैवेतिपदमेव न तु भवत्य
इत्यत्रापि सम्बध्यते । तथा च तदैव तत्क्षण एव तासां मत्प्राप्तिः सर्वप्रकारेण जाता ।
भवतीनां तु तत्क्षण एव न जाता क्रमेणैव मद्द्विषयकदोषारोपरूपदोषनिवृत्तौ सत्यां
भविष्यति, तासां तु मयि दोषारोपो नासीदिति निर्दोषत्वात्तदैव जाता । अन्यथा तदैवेति
पदस्यात्रानुपज्ञाभावे तासां सर्वप्रकारेण मत्प्राप्तिर्भवतीनां सर्वप्रकारेण न जातेत्येवमर्थे
सम्पन्नेन्तर्ग्रहगतानामेव रासमण्डलमण्डनायमानाभ्योधिकत्वमापद्येत । तदैवेतिपदस्य
त्वत्रानुपपत्तने तासां तदैव जाता, भवतीनां तु दोषनिवृत्तौ क्रमेण भविष्यतीति न न्यूनता
फले प्राप्नोतीति ज्ञेयम् । ननु साधारणानामपि भक्तानां दोषान् भगवान्न गणयति, रास-
मण्डलमण्डनायमाना'स्त्वेताः परं तनुभूतो ननु गोपबन्धवः', 'आसामहो चरणरेणुजुषामहं
स्याम्,' 'वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्षणश' इत्यादिप्रकारेण श्रीमदुद्धवैः स्तुतानां
प्रणतपादरेणुनामथ च तदोपस्य विप्रयोगरसान्साररूपत्वेन निर्दोषाणां च तादृशं भावं
दोषत्वेन किमर्थं भगवानगणयदिति चेत् । अत्र वदामः । केपाश्चिदतिकृपानिपयानां

(अत्र एकं पत्रं शुद्धिमिति प्रतिभाति)——प्रानामन्तर्गृहगतानां रासानुभवोत्तरं भवन्मते कुत्र स्थितिर्भवतोच्यते, अस्मन्मते तूक्तस्थानान्यतमस्थाने लयाद्भगवता सह ब्रज एव समा गमनम्, पुना रासलीलासमये भगवता सह तत्र गमनम्, तदा त्वलौकिकदेहप्राप्त्या रमणम्, पुनरपि तत्रैव लय इति चेत्, अत्र ब्रूमः । यावद्ब्रजीयैरलक्षितत्वेन केवलप्रपञ्च-मात्राविर्भावितलीलादर्शनाभावविशिष्टत्वेन चास्मिन्नेव ब्रजेन्तर्गृहगतानां स्थितिः । न च विशेषणद्वयविशिष्टत्वेनास्मिन्नेव ब्रजे तासां स्थितौ किं मानमिति वाच्यम् । 'या मया क्रीडता रा'या'मिति भ्रमरगीतपद्यसुवोविनीस्वश्रीमदाचार्यकृतव्याख्यानस्यैव प्रमाणत्वात् । तथा हि, यदि ब्रजीयैरन्तर्गृहगतानां सगुणदेहत्यागोत्तरप्राप्तनिर्गुणदेहसम्बन्धिनी लीला दृश्येत तदा रासमण्डलमण्डनायमानाः प्रति त्रन्तर्गृहगताविषयकस्वकृतक्रीडाब्रजस्थिति-कथनपूर्वकं किमिति स्वप्राप्तिसाधनं बोधयेत्, स्वप्राप्तिसाधनमात्रमेव तु बोधयेत्, साकृतक्रीडाब्रजस्थित्योस्तु ताभिर्दृश्यमानत्वादतो नैतासां तल्लीलादर्शनमिति भगवतासां स्वक्रीडाब्रजस्थिती अपि बोध्येते इति यावद्ब्रजीयैरलक्षितत्वं सिद्धम् । अथ च भवत्य-समागताः अन्तर्गृहगता गृह एव स्थितास्तास्तदैव सर्वप्रकारेण मां प्राप्तवत्यो न तु भवत्यः अनेनैव निदर्शनेन भवतीभिरप्यहं प्राप्तव्यस्तस्मान्मदर्थं जीवनस्थापनमिति पक्षो निरर्थकः । अन्यथा समागतानां भवतीनां पुनः क्लेशो न भवेदनुभवसिद्धश्च क्लेशः । ननु ताः प्रति-बन्धेन तथाभूताः कथं स्तुत्या इत्याशक्याह कल्याण्य इति । तासां महद्भाग्यमस्तीत्य-वश्यप्रतिबन्धरूपं दुर्गितं दृष्ट एतेषुपक्षीणमिति कण्ठकेन कण्ठकोद्धारजद् देहनिराकरण एवो-पक्षीणम्, भवतीनां तु तदुदितमिमाभवस्थां प्रापितवत्, अतो मद्भक्तप्रकारेण दोषं परित्यज्य तामनस्था प्राप्य मां प्राप्स्यथेति भाव इति श्रीमदाचार्यव्याख्यानपर्यालोचनेन्तर्गृहगतानां नाकूरागमनरूपमधुरोदेश्यकभगवन्नयनरूपप्रपञ्चमात्राविर्भावितलीलादर्शनमस्ति । यदि तददर्शनं म्यात् तदा भवतीनां तु तदुदितमिमाभवस्थां प्रापितवत्, तास्तु महाभाग्य-वत्यन्नासामवश्यप्रतिबन्धरूपं दुर्गितं सगुणदेहनिवृत्तायेवोपक्षीणमतस्ता इमामवस्थां न प्रापितवदिति भगवान्न कथयेदेव । अकूरागमनभगवन्नयनदर्शनजोक्शस्यैतासामप्यवश्य-मिद्धत्वात् । तस्मादन्तर्गृहगतानां न प्रपञ्चमात्राभिर्भूतलीलादर्शनमित्यपि सिद्धम् । उचितं चैवमेव यत् श्रुतिरूपाभिरन्तर्गृहगताभिर्'यथा त्रल्लोकरामिन्यः कामतरणेन गोपिकाः । भजन्ति रमणं मत्वा चिक्रीपां जनिता तथे'त्यनेन प्रकृत्यतीनाक्षरब्रह्मव्यापिनेकुण्ठान्त-र्गतप्रज्ञानस्तप्रपञ्चान्तर्गतवृन्दाने तत्रस्थनानागसरमोन्मत्तगोपीकृदन्मकभानमजातीय भावेन भगवता सह रमणं प्राथितम्, तद्यदि तासां प्रापभिरुपदार्थदर्शनं म्यात्, तदा प्रपञ्चान्तर्गतवृन्दाने तादृशभावेन भगवता सह रमणं न प्राप्तमेव म्यात्, एव च 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मिति मर्यादाभंगः स्यादिति न तासां प्रपञ्चमात्रा निर्भूतलीलादर्शनमिति साधीयसी पूर्वात्तोक्तिः । एवमेवास्मिन्नेव ब्रजे ता आस्थिता इति

भवतीनामपि निर्धन्येनैवात्र स्थापनमित्यनेनास्मिन् ब्रज आस्थिता इत्यस्य व्याख्याने-
नास्मिन्नेव ब्रजे स्थितत्वमपि सिद्धम् । इदमेवाभिप्रेत्य पूर्वमेवोक्तं यज्ञपत्नीप्रसंगे विशा-
ध्याये, 'तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं ययाश्रुतम् । हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धन'-
मितिपद्यव्याख्यानसुबोधिन्यां भगवत्सङ्गतायाः स्थानान्तरं न सृग्यम्, तच्छक्तीनामिव ।
अत्र यत्र भगवांस्तत्र तच्छक्तयः ह्यादयो गोप्यादयो वेल्यर्षो ज्ञेयः । एवं चात्र भगवान्
ब्रजे तिष्ठतीति ता अपि ब्रजे एव चेति ब्रजे स्थितत्वमायालेवेति दिक् । एवं च सिद्धा
विशेषणद्वयविशिष्टत्वेनास्मिन्नेव ब्रजे स्थितिरन्तर्गृहगतानाम् । तथा च गोपसाहित्येन
गोचारणलीलार्थं भगवतो गमने रासलीलानन्तरं भगवतो गृहगमने च दिवा विप्रयोग-
रसानुभवः, सार्यंसमये परावृत्य भगवदागमने रात्रौ च घृन्दावन एव महानन्दसन्दो-
हानुभवश्चेतासामपीति संयोगरसमात्रानुभव एवेतासामिति कथं वक्तुं शक्यत इति कृतं
विस्तरेणेति सर्वं चतुरस्रम् ।

स्यादेतत् । वयमन्तर्गृहगतानां यन्मध्यमं फलं वदामो न तूत्तमफलम्, तत्र यतो-
न्तर्हिते भगवतीति फलप्रकरणीयद्वितीयाध्यायस्थप्रारम्भः, व्याख्यानसुबोधिन्यां सन्ति च
सिंहास्तथात्र काल इति श्रीमदाचार्यैरुक्तम् । व्याख्यातं चैतत् तत्तनुजरत्नैः स्वकृततट्टि-
प्पण्यामवतारसम्पूर्तिकाल इत्यर्थं इति, तत्रापूर्णाविप्रयोगसंयोगात्मकः पूर्वावतारः समाप्त
इदानीं पूर्णविप्रयोगात्मकपूर्णसंयोगात्मकपुरुषोत्तमावतारो जात इत्युच्यते, तत्रान्तर्हिते
भगवतीत्यनेन पूर्णविप्रयोगात्मकस्तदनन्तरं 'तासामाविरभू'दित्यनेनैकोनविंशत्याध्याये पूर्ण-
संयोगात्मकपुरुषोत्तमावतार उक्तः । एवं च पूर्वस्वरूपाङ्गिन्नमेवेदं भगवत्स्वरूपं परम-
काष्ठापन्नम्, एतत्तु अन्तर्गृहगताः प्रति न प्रकटमेव, अतस्त्वासां नैतादृशभगवत्स्वरूपप्राप्तिः,
किन्तु न्यूनसंयोगविप्रयोगरमात्मकत्वेनासम्पूर्णत्वात् तादृशभगवत्स्वरूपप्राप्तिरेवेति न सम्पूर्ण-
फलप्राप्तिरिति तासां मध्यमफलप्राप्तिरित्युच्यते । न चेद स्वरूपं पूर्वं न प्रकटमिदानी-
मेवाविर्भूतमित्यत्र किं प्रमाणमिति वाच्यम्, 'गायन्त्य उच्चै'रितिपद्यव्याख्यानसुबोधिनीस्थ-
शब्दो हि धूमवह्लोक इति श्रीमदाचार्यतनुजरत्नकृतश्रीमदाचार्यकारिकाटिप्पण्यां 'अत्रेदमा-
हृतम्, एतावत्कालपर्यन्तं भगवता स्वरूपानन्दो न प्रकटितः । तस्य स्वरूपात्मकत्वेन
तत्प्राकट्यं त्रिना तदनुभवासम्भवात्, 'तथा परमहंसाना'मिति वाक्याद्यादृशेन भक्तियोगेन
तत्प्राप्तिस्त्वाह्क् तत्प्रकटनायाधुनैव पुरुषोत्तमावतारादित्यादित्तनुजरत्नप्रतिपादनान्तर्ग-
तैतावत्कालाधुनापदवाच्यान्तर्धानकालतदधिकरणकपुरुषोत्तमावतारोक्तेरेव प्रमाणत्वादिति
चेत्, अत्र वदामः । आगामिविरिञ्चिष्टद्युपतविरिञ्चिदिनरूपसारस्वतकल्पे भवन्तो
ब्रजे गोप्यो भविष्यथ तत्र पृथिवीस्थभारतक्षेत्रान्तर्गतमापुरमण्डलान्तर्गतवृन्दावनेहं
भवतां प्रेयान्वासमण्डले भविष्यामीति प्रकृत्यतीताक्षरब्रह्मान्तःस्थानन्दमयव्यापिवैकुण्ठलो-
कस्थशुद्धपुष्टिस्थानरूपश्रीमद्वोवर्धनयमुनासहितनानारासरसोन्मत्तोपीकदम्बकविशिष्टकेवल-

जीवानां शुद्धपुष्टिमार्गफलं दिव्सुर्भगवान् प्रपञ्चे लीलासहित आविर्भवति । अन्यथा सर्व-
 भावप्रपत्तिरूपसाधनस्य सर्वभावप्रपत्तिलभ्यफलस्य चाज्ञायमानत्वात् कथमेतन्मार्गप्रवृत्ति-
 हेतुभूतफलज्ञानं स्यात्, कथं वा एतन्मार्गीयं साधनं च ज्ञातं स्यात् । तत्रैतन्मार्गीयं फलं
 तु ब्रजभक्तसजातीयभावेन भजने भवतीति तद्भावानुसारेण भजने क्रियमाणे भगवत्ताज्ञानेपि
 तासां दोषारोपो न बाधको जातः, एवं गमापि न भविष्यतीति कदाचिच्छीघ्रं भगवता
 फलादाने तनुजवित्तजसेवाकरणसमय एव भगवति दोषारोपं कुर्याद्यन्मया त्वेतावदुःख-
 मनुभूयते सेवाकरणे, भगवांस्त्वितिनिष्ठुर एतावत्पर्यन्तमपि प्रेमासक्त्यादिकं नाविर्भावयति
 येन फलं स्यात्तदा भगवतो निर्दोषपूर्णगुणत्वेन तत्र दोषारोपे तस्य फलप्राप्तौ विलम्बः
 स्यादतो भगवति कस्यामप्यवस्थायां दोषारोपो न कर्तव्य इति ज्ञापयितुं यथान्तर्दृष्टगतानां
 जारभावोत्पादनेन रासमण्डलमण्डनायमानानामपि शरीरादि निर्गुणमिति ज्ञापयितुं तासां
 जारभावमुत्पादितवानेवमेव रासमण्डलमण्डनायमानानामपि तादृशरसावस्थारूपमपि दोषा-
 रोपरूपं भावं दोषत्वेनाख्यापयच्छ्रीमदुद्धवमुखेनेति सर्वं सुखम् । तस्मादन्तर्दृष्टगता-
 नामपि मुख्यमेव फलमिति सिद्धम् । अन्यच्च 'जारधर्मेण सुखेहं सुखं सर्वतोधिकं मयि
 सम्प्राप्य सर्वेषु कृतकृत्या भविष्यथे'ति श्रुतीः प्रति भगवदुक्तेस्तद्भावज्ञापकजारबुद्ध्यापि
 सङ्गता इति फलप्रकरणीयवचनस्यजारबुद्धिसङ्गतत्वोक्त्या च श्रुतिरूपा एता अन्तर्दृष्टगता
 इति ज्ञायते । एवं च श्रुतिकृतस्तुतिसन्तुष्टप्रकृत्यतीताक्षरमध्यस्थेन श्रीवृन्दावनगोवर्धन-
 यमुनानानारासरमोन्मत्तगोपीकदम्बकविशिष्टेन किशोराकृतिना भगवता किं करवाणी-
 त्युक्ते 'कन्दर्पकोटिलावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः । कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्य-
 संशयम् । यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः । भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षा
 जनिता तथे'त्यादिना श्रुतिभिः स्वस्व कामिनीभावपूर्वकः स्मरक्षोभ उक्तस्तत्र मा कदा-
 चिद्भगवानेवं जानातु यदेतासां लौकिककामाभिलाष इति शङ्कां वारयितुं यथा त्वल्लोक-
 वास्तव्या गोपिकाः कामतत्त्वेन कामस्य तत्त्वं परमकाष्ठापन्नं रूपमाधिदैविकमिति यावत्
 तादृशकामाधिदैविकेन रूपेण रमणं रमणकर्तारं मत्वा त्वां भजन्ति तथा भजनेस्माकं
 चिकीर्षा जनितोत्सादिता त्वद्रूपदर्शनेनेति श्रुतिभिः प्रार्थितम् । तत्र भगवल्लोकस्थनित्य-
 सिद्धगोपिकाभावसजातीयभावेन भजनचिकीर्षितासाम् । तत्र भगवल्लोकस्थनित्यसिद्धगोपि-
 कानां न भगवति जारभावः किन्तु सर्वभावप्रपत्तिरूपो भावः । एव च यद्येतासां मध्यमं
 फलं भगवान् दद्यात् तदा 'ये यथा मा'मिति मर्यादा भज्येत । तस्मादपि न तामां मध्यमं
 फलं किन्तु तममेव । अत्रेपि 'दुर्लभो दुर्घटक्षैप सुष्णाकं गुमनोरथः । मयानुमोदितः
 सम्यक् सलो भवितुमर्हती'त्यत्र मनोरथस्य दुर्लभत्वं दुर्घटत्वं चोक्तम्, सुमनोरथ इत्यनेन
 मनोरथस्य सुष्ठ्व चोक्तम् । यदि जारभावेन भजन एव मनोरथः स्यात् तदा दुर्लभत्वं
 दुर्घटत्वं च नोक्तं स्यात् । कदाचित् तदानीं श्रुतीनां विवाहितपतेरभावात् स्वस्मिन्

जारभावो दुर्घटोत एव दुर्लभश्चेति दुर्लभत्वदुर्घटत्वोक्तिः सङ्गच्छेतापि, परन्तु सुमनोरथ इत्यत्र मनोरथे सुदुत्वं तु न सङ्गच्छेत, जारभावेन भजनमनोरथस्य दुष्टत्वेन सुदुत्वाभावात् । तस्मात् सुमनोरथपदेन सर्वभावप्रपत्तिपूर्वकभगवत्लोकवास्तव्यगोपिकाभाजसजातीयभावमनोरथ एवोक्तोनेति निश्चितम् । अत एवाग्रे मयानुमोदित इत्यनेन पूर्वं महोक्तवामिगोपीभिर्मादितो अनु पश्चान्मया मोदितो अत एव सम्यक् समीचीनः सत्यो भवितु योग्यो भवति । ममैतदधीनत्वादेतासा मोदन विना न सयो भवितु योग्य म्यादिति भाव । अन्यथा तामा मोदन नापेक्ष्येत, निरुष्टमनोरथस्य सत्त्वात् । एतदग्रे तु 'आगा मिनि निरिञ्चो तु जाते सृष्टयर्थमुच्यते । कल्प सारस्वत शण्ड्य ब्रजे गोप्यो भविष्यथ । पृथिव्या भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले । वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान्यो रासमण्डले, नारदमैत्रेय सुखेह सुखे सर्वतोधिकम् । मयि सम्प्राप्य संवेपि कृतकृत्या भविष्यथे'त्यनेन प्रयच्छेत्तेताभिरप्रार्थित क्रिञ्चित्कार्यार्थं जारभावो भगवतेव दत्त इति प्रतीयते स्फुटमेव । तत्राय भगवदभिप्राय । मया त्वागाभिविचित्रिदिनरूपसारस्वतरूपे पृथिवीस्वभारतक्षेत्रस्य माथुरमण्डलान्तर्गतवृन्दावने सर्वभावप्रपत्तिस्तःफल च प्रकटनीय जीवविशेषोद्धारार्थम् । तत्र सर्वभावप्रपत्तिर्निर्गुणा, तद्भाववता देहादिक च निर्गुणम्, तादृशीना भगवत्सङ्गम निरहङ्गन्य सुख दुःख च निर्गुणमिति ज्ञापनीयम्, अन्यथा रासमण्डलमण्डनायमानाना भावादिषु सगुणत्वबुद्ध्या सर्वेषा प्रवृत्तिर्न स्यात्, तथा च मदवतारोपि व्यर्थ स्यादत एता एव श्रुतीस्त्रास्मिन्कल्पे अवतारयित्वैतासा भावादिक च सगुण विधाय सगुणभाव सगुणदेह सुखदुःखादिक च कर्मजन्यमिति ज्ञापनीयम् । एव सत्येतासा तद्भावतद्देहादिनाथे लौकिकभिन्नशरीरप्राप्ते सर्वभावप्रपत्तिरूप साधन तलम्य फल भविष्यति, मुख्याना भावादेर्निर्गुणत्व च ज्ञापित भविष्यतीत्युभयमपि कार्यं सेत्स्यति । अन्यथा तज्ज्ञापनार्थं प्रयत्नान्तरकरणमापद्येतेति जारभावो भगवतैव दत्तो, न तु तासा जारभावप्रपत्ति साहचर्यमिति बोध्यम् । एव च बृहद्भगवन्पुराणीयकथानिचारेणापि नैतासा मध्यमफलमायाति किञ्चूतमफलप्राप्तिरेवेति कृतमधिकतराभिनियेक्षेण । अत एव युनोधिन्त्यामुक्त पुरस्तादित्यस्य द्वितीयव्याख्याने श्रीमदाचार्यैरुक्त 'यासा साक्षाद्भगवत्सम्बन्धस्तासा मर्धासा मेन रासमण्डलमण्डनायमानाना शरीरमपि गुणातीतमेवेति ज्ञापयितु भगवानेव कतिपय गोपी सगुणदेहा स्थापयित्वा पुरोक्ताना भावोपि निर्गुण इति ज्ञापयितुमासा सगुण भावगुत्पाद्यैतन्निवर्तकोपि स्वयमेव नान्य इति ज्ञापयितु तन्निवृत्ति विधायग्रे भावि स्वविरहजडु खससङ्गमसुखयो कर्माजन्यत्वमपि ज्ञापयितु कर्मक्षयप्रकारेण स्वप्राप्ति विधाय मस्त्राम्येव सर्वं कृतवानिति निर्गर्व । अत्र पुष्टिमार्गाङ्गिकारान्मर्यादामार्गाया अनुप पत्तयोनिवसरपराहता इति सर्वमनवध'मिति । न च तासा यदा सगुणदेहनाशस्तदैव भगवति सर्वजीवतत्त्वरूपभगवत्कौस्तुभे वा 'मणिधर वचिदागणयन्मा' इत्यनोक्तगोपि-

(अत्र एकं पत्रं शुद्धिमिति प्रतिभाति)——ष्टानामन्तर्गृहगतानां रासानुभवोत्तरं भवन्ते कुत्र स्थितिर्भवतोच्यते, अस्मन्मते तूक्तस्थानान्यतमस्थाने लयाद्भगवता सह ब्रज एव समागमनम्, पुना रासलीलासमये भगवता सह तत्र गमनम्, तदा त्वलौकिकदेहप्राप्त्या रमणम्, पुनरपि तत्रैव लय इति चेत्, अत्र ब्रूमः । यावद्ब्रजीयैरलक्षितत्वेन केवलप्रपञ्चमात्राविर्भावितलीलादर्शनाभावविशिष्टत्वेन चास्मिन्नेव ब्रजेन्तर्गृहगतानां स्थितिः । न च विशेषणद्वयविशिष्टत्वेनास्मिन्नेव ब्रजे तासां स्थितौ किं मानमिति वाच्यम् । 'या मया क्रीडना राज्या'मिति भ्रमरगीतपद्यसुवोधिनीस्थश्रीमदाचार्यकृतव्याख्यानस्यैव प्रमाणत्वात् । तथा हि, यदि ब्रजीयैरन्तर्गृहगतानां सगुणदेहत्यागोत्तरप्राप्तनिर्गुणदेहसम्बन्धिनी लीला दृश्येत तदा रासमण्डलमण्डनायमानाः प्रति त्वन्तर्गृहगताविषयकत्वकृतक्रीडाव्रजस्थितिकथनपूर्वकं किमिति स्वप्राप्तिसाधनं बोधयेत्, स्वप्राप्तिसाधनमात्रमेव तु बोधयेत्, स्वकृतक्रीडाव्रजस्थित्योस्तु ताभिर्दृश्यमानत्वादतो नैतासां तल्लीलादर्शनमिति भगवतासां स्वक्रीडाव्रजस्थिती अपि बोधयेते इति यावद्ब्रजीयैरलक्षितत्वं सिद्धम् । अथ च भवत्यः समागताः अन्तर्गृहगता गृह एव स्थितास्तास्तदैव सर्वप्रकारेण मां प्राप्तवत्यो न तु भवत्यः अनेनैव निदर्शनेन भवतीभिरप्यहं प्राप्तव्यस्तस्मान्मदर्थं जीवनस्थापनमिति पक्षो निरर्थकः । अन्यथा समागतानां भवतीनां पुनः क्लेशो न भवेदनुभवसिद्धश्च क्लेशः । ननु ताः प्रतिबन्धेन तपाग्ताः कथं स्तुत्या इत्याशङ्क्याह कल्याण्य इति । तासां महद्भाग्यमस्तीत्यवश्यप्रतिबन्धरूपं दुर्गितं दृष्ट एवोपक्षीणमिति कण्टकेन कण्टकोद्धारवद् देहनिराकरण एवोपक्षीणम्, भवतीनां तु तदुरितमिगामवस्थां प्रापितवत्, अतो ममुक्तप्रकारेण दोषं परित्यज्य तामवस्थां प्राप्य मां प्राप्स्यथेति भाव इति श्रीमदाचार्यव्याख्यानपर्यालोचनेन्तर्गृहगतानां नाशूरागमनरूपमधुगोदृश्यरुभगवत्प्रयत्नरूपप्रपञ्चमात्राविर्भावितलीलादर्शनमस्ति । यदि तद्दर्शनं स्यात् तदा भवतीनां तु तदुरितमिगामवस्था प्रापितवत्, तास्तु महाभाग्यवत्सन्नामामवश्यप्रतिबन्धरूपं दुर्गितं सगुणदेहनिवृत्तावेवोपक्षीणमतस्माद् इमामवस्थां न प्रापितवदिति भगवान् कथयेदेव । अकूरागमनभगवत्प्रयत्नदर्शनजज्ञेहस्यैतामामप्यवश्यमिद्धत्वात् । तस्मादन्तर्गृहगतानां न प्रपञ्चमात्राभिर्भूतलीलादर्शनमित्यपि सिद्धम् । उचितं चैयमेव यतः श्रुतिरूपाभिरन्तर्गृहगताभिर्विद्या त्वलौक्यामिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः । भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षा जनिता तथे'त्यनेन प्रकृत्यतीताश्रमसम्बन्धव्यापिरेकुण्डान्तर्गतत्रजान्तस्वप्रमान्तर्गतवृन्दान्ते तत्रस्थनानागमरमोग्मतगोपीरुदम्परुभाउगजानीयभावेन भगवता सह रमणं प्रार्थितम्, तद्यदि तासां प्राप्यिरूपदर्पदर्शनं स्यात्, तदा प्रपञ्चान्तर्गतवृन्दानं तादात्म्यावेन भगवता सह रमणं न प्राप्तमेव स्यात्, एवं च 'ये यमा मां प्रपन्नन्ते तान्मधैर भजाग्यह'मिति मर्यादाभंगः स्यादिति न तासां प्रपञ्चमात्राभिर्भूतलीलादर्शनमिति सापीपमी पूर्वोक्तोक्तिः । एवमेवाग्निहोत्रे ब्रजे ता आश्रिता इति

भवतीनामपि निर्बन्धेनैवात्र स्थापनमित्यनेनास्मिन् ब्रज आस्थिता इत्यस्य व्याख्याने-
नास्मिन्नेव ब्रजे स्थितत्वमपि सिद्धम् । इदमेवाभिप्रेत्य पूर्वमेवोक्तं यज्ञपत्नीप्रसंगे विशा-
ध्याये, 'तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम् । हृदोपगृह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धन'-
मितिपद्यव्याख्यानसुबोधिन्यां भगवत्सङ्गतायाः स्थानान्तरं न शृण्वम्, तच्छक्तीनामिव ।
अत्र यत्र भगवांस्तत्र तच्छक्तयः श्यादयो गोप्यादयो वेत्यर्थो ज्ञेयः । एवं चात्र भगवान्
ब्रजे तिष्ठतीति ता अपि ब्रजे एव चेति ब्रजे स्थितत्वमायात्येवेति दिक् । एवं च सिद्धा
विशेषणद्वयविशिष्टत्वेनास्मिन्नेव ब्रजे स्थितिरन्तर्गृहगतानाम् । तथा च गोपसाहित्येन
गोचारणलीलायै भगवतो गमने रासलीलानन्तरं भगवतो गृहगमने च दिवा विप्रयोग-
रसातुभवः, सार्यसमये परावृत्य भगवदागमने रात्रौ च वृन्दावन एव महानन्दसन्दो-
हातुभवश्चैतासामपीति संयोगरसमात्रानुभव एवैतासामिति कथं वक्तुं शक्यत इति कृतं
विस्तरेणेति सर्वं चतुरस्रम् ।

स्यादेतत् । वयमन्तर्गृहगतानां यन्मध्यमं फलं वदामो न तूत्तमफलम्, तत्र यतो-
न्तर्हिते भगवतीति फलप्रकरणीयद्वितीयाध्यायस्यप्रारम्भः, न्याख्यानसुबोधिन्यां सन्ति च
सिंहास्तथात्र काल इति श्रीमदाचार्यैरुक्तम् । व्याख्यातं चैतत् तत्तनुजरत्नैः स्वकृततट्टि-
प्पण्यामवतारसम्पूर्तिकाल इत्यर्थे इति, तत्रापूर्णाविप्रयोगसंयोगात्मकः पूर्वावतारः समाप्त
इदानीं पूर्णाविप्रयोगात्मकपूर्णसंयोगात्मकपुरुषोत्तमावतारो जात इत्युच्यते, तत्रान्तर्हिते
भगवतीत्यनेन पूर्णाविप्रयोगात्मकस्तदनन्तरं 'तासामाविरभू'दित्यनेनैकोनविंशत्याध्याये पूर्ण-
संयोगात्मकपुरुषोत्तमावतार उक्तः । एवं च पूर्वस्वरूपाद्धिन्नमेवेदं भगवत्स्वरूप परम-
काष्ठापन्नम्, एतत्तु अन्तर्गृहगताः प्रति न प्रकटमेव, अतस्त्वासां नैतादृशभगवत्स्वरूपप्राप्तिः,
किन्तु न्यूनसंयोगविप्रयोगरमात्मकत्वेनासम्पूर्णत्वात् तादृशभगवत्स्वरूपप्राप्तिरेवेति न सम्पूर्ण-
फलप्राप्तिरिति तासां मध्यमफलप्राप्तिरित्युच्यते । न चेद स्वरूपं पूर्वं न प्रकटमिदानी-
मेवाविर्भूतमित्यत्र किं प्रमाणमिति वाच्यम्, 'गायन्त्य उचै'रितिपद्यव्याख्यानसुबोधिनीस्व-
शब्दो हि धूमवह्नोक्त इति श्रीमदाचार्यतनुजरत्नकृतश्रीमदाचार्यकारिकाटिप्पण्यां 'अत्रेदमा-
कृतम्, एतावत्कालपर्यन्तं भगवता स्वरूपानन्दो न प्रकटितः । तस्य स्वरूपात्मकत्वेन
तत्राकट्य विना तदनुभवासम्भवात्, 'तथा परमहंसाना'मिति वाक्याद्यादृशेन भक्तियोगेन
तत्राप्तिस्तादृक् तत्प्रकटनायाधुनैव पुरुषोत्तमावतारादित्यादित्तनुजरत्नप्रतिपादानन्तर्ग-
तेतावत्कालाधुनापदचान्यान्तर्धानकालतदधिकरणकपुरुषोत्तमावतारोक्तेरेव प्रमाणत्वादिति
चेत्, अत्र वदामः । आगामिविरिञ्चिष्टपुन्यतविरिञ्चिदिनरूपसारस्वतकल्पे भवन्तो
ब्रजे गोप्यो भविष्यथ तत्र पृथिवीस्थभारतक्षेत्रान्तर्गतमाधुरमण्डलान्तर्गतवृन्दावनेहं
भवतां प्रेयान्वासमण्डले भविष्यामीति प्रकृत्यतीताक्षरब्रह्मान्तःस्थानन्दमयव्यापिवैकुण्ठलो-
कस्थशुद्धपृष्टिस्थानरूपश्रीमद्भोवर्धनयमुनासहितनानारासरसोन्मत्तगोपीकदम्बकविशिष्टकवल-

शृंगाररसानन्दमयेन सारस्वतकल्पानुसारिश्रीभागवतीयकृष्णस्तु भगवान् स्वयमितिवचन-
सिद्धपरमकाष्ठापन्नत्वेन भगवता वेदान् प्रति वरो दत्तः । एवं च ब्रह्मकल्पादारभ्य सार-
स्वतकल्पपर्यन्तं न पूर्णपुरुषोत्तमावतारो जातः, सारस्वतकल्प एव च जात इति सिद्धम् ।
एवं चेदं प्रघट्टकमेव मनसिकृत्यैतावत्कालाधुनापदे उक्ते । तथा चैतावत्कालपर्यन्तपदस्य
ब्रह्मकल्पादारभ्य सारस्वतकल्पपर्यन्तमित्यर्थोऽधुनापदस्य च सारस्वतकल्पे इत्यर्थः सम्पन्नः ।
तथा च बाल्यमारभ्य कृता लीला सर्वापि रसालतामापद्यते । भवदुक्तप्रकारे त्वेतदवतार-
पूर्वसामयिकी सर्वापि लीला स्वरूपान्तरसहभावेन कृतत्वाद्रसाभासतामाविष्करोति । किञ्च ।
रासमण्डलमण्डनाभिः कृतं 'कस्याश्चित् पूतनायन्त्या' इत्यादिलीलानुकरणमपि न सङ्गच्छते ।
इदानीमाविर्भूतविप्रयोगसंयोगात्मकस्वरूपेण तत्तल्लीलाया अकृतत्वात् । स्वप्रियकृत-
लीलानुकरणस्यैव लीलाहाररूपत्वमिति रसशास्त्रसिद्धान्तात् । अपरञ्च । विचयनसामयिक-
नन्दसुनुगंतो हृत्वा रामानुजो गानिनीनां, गोविन्दचरणप्रिये इत्यादिषु नन्दसुतबल-
मदानुजगोकुलेन्द्रादिनामकथनस्याथ च 'विपजलाप्ययाद्वालाक्षसा'दित्याद्युक्तकालीयादि-
भयरक्षितत्वगोचारणगमनकर्तृत्वादिकथनस्य तत्समयप्रकटस्वरूपे सम्भवाभावेन भ्रम-
रूपत्वापातात् । न चास्तु भ्रमरूपत्वमिति वाच्यम् । तथा सति रासमण्डलमण्डनाय-
मानानां भावानुसारेणेदानीन्तनमजनकर्तृभिरैतादृशभवत्सिद्धान्तस्य ज्ञायमानत्वेन नन्द-
सन्वादिनामाग्रहणस्य बाललीलामारभ्य रासलीलाप्रारम्भपर्यन्तकृतलीलानामभावनाप्रसक्तेः ।
अन्यच्च । श्रीमन्नवनीतप्रियश्रीमद्रौवर्धनोद्धरणस्वरूपभजनाप्रसक्तेश्च महाननर्थः प्रसज्येत ।
न च तदन्तर्गतमिदमपि स्वरूपं वर्तते एवेति वाच्यम् । तथा सति तत्तल्लीलाविशिष्ट-
स्वरूपाणां तत्तल्लीलाश्रवणादीनां तत्तत्स्वरूपभजनस्य च गौणलीलात्वगौणश्रवणादित्व-
गौणस्वरूपभजनत्वापत्तेश्च । अपरञ्च । 'जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम् ।
तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो युधा' इतिपद्येन श्रीमदाचार्यैर्यशोदोत्सङ्गलालितस्य
सिद्धान्तितायाः परमतत्वताया भङ्गप्रसङ्गश्च । न हीदानीमाविर्भूते स्वरूपे यशोदोत्सङ्ग-
लालितत्वमस्तीति तद्विरुद्धा भवद्भ्रान्तान्तपद्धतिः कथं भव्यतामुपेयात् । अथ च 'सखि
कापि सापि सम्प्रति वरिवर्ति किमु भ्रजाधिपप्राणा । या नन्दसुनुमुरलीतरलं चेतः
समादध्या'दिति तत्तनुजराजोक्ता स्वस्य तरलचेतस्त्वे नन्दसुनुमुरत्या हेतुत्वोक्तिरपि कथं
सगद्यसा स्यात् । श्रीमदाचार्यरत्नानां तत्तनुजराजानां च भ्रजमत्तभावात्मकभगवत्स्वरूप
एव निष्ठावत्त्वात् । ननु तर्ह्यवतारसम्पूर्तिकाल इत्यस्यास्मत्प्रसङ्गततयात्र काल इत्यत्रत्य-
कालपदव्याख्यानस्य का गतिरिति चेत् । अत्रोच्यते । पृ. पालनपूरणयोरितिधात्वर्थानु-
सारात् सम्पूर्तिश्चन्दस्य सम्पूर्णता धर्षः, सा च केनचित् प्रकारेण न्यूनस्य भवति ।
तत्रास्मदाचार्योक्तमार्गो हि फलमार्गः । तत्र फलरूपो भगवानेव साधनम्, फलरूपो
भगवानेव च फलम् । तत्र परमकाष्ठापन्नस्य फलरूपभगवतो 'रसो वै स' इति श्रुते

रसरूपत्वात् स्वभादिसंयोगविशिष्टप्रेमासक्तिव्यसनपर्यन्तावस्थासंवलितपूर्वानुरागजविप्रयोग-
रूपेण साधनता । तदनन्तराविर्भूतपरस्परपोष्यपोषकभावविशिष्टविप्रयोगातिपुष्टपूर्णपूर्णतर-
पूर्णतमसंयोगतादृशसंयोगातिपुष्टपूर्णपूर्णतरपूर्णतमविप्रयोगपरम्परारूपेण च फलता । तत्रापि
परम्परायां परमफलता तु संयोगरूपस्यैव । इदं यथा तथानुपदमेव प्रतिपादयिष्यते ।
एवं च चाल्यमारभ्य पौगण्डान्तं पूर्वोक्तप्रकारकपूर्वानुरागजविप्रयोगरूपसाधनविशिष्टत्वमेव
ब्रजभक्तानाम् । तत्र फलात् साधनं न्यूनमेवेत्यनुभवसिद्धम् । अन्यथा साधने प्राप्ते फला-
काङ्क्षा न स्यात् । तथा चैतासां पूर्वानुरागविशिष्टस्वप्नादिसंयोगसुखे प्राप्तेपि बाह्यसंयोग-
सुखस्याभिलषितस्वाजातत्वादेतावत्पर्यन्तं साधनरूपत्वमात्रेणैव भगवत् आविर्भावात् पुरुषो-
त्तमावतारो न्यून एव स्थितः । अतःपरं तु 'बाहुप्रसारपरिरम्भे'त्याद्युक्तेन तदभिलषितपूर्ण-
बाह्यसंयोगसुखरूपेण, तदनन्तरमेतत्संयोगसुखपोषार्थमुक्तसंयोगु 'ध्वान्तहिते भगवती'त्याद्यु-
क्तेन पूर्णविप्रयोगस्वरूपेण, तदनन्तरं 'तासामाविरम्भू'दित्याद्युक्तेन रासावसानपर्यन्तं पूर्वपूर्ण-
संयोगसुखस्वरूपादपि कोटिगुणेन पूर्णविप्रयोगपुष्टेन पूर्णतरसंयोगसुखरूपेण, तदनन्तरं
च गोप्यः कृष्णे वनं यात इत्याद्युक्तेन पूर्वाक्तपूर्णतरसंयोगसुखपुष्टेन परार्धगुणमाविसंयोग-
सुखपोषार्थं पूर्णतरविप्रयोगस्वरूपेण, ततः पुनः पूर्वोक्तपूर्णतरविप्रयोगपुष्टेन गोचारणपरावृत्ति-
जनितवदुपरार्धगुणपूर्णतमसंयोगसुखरूपेणाविर्भूतः, ततः पुनरप्यक्रूरकृतमथुरानयनजनितेन
पूर्णतमसंयोगसुखपुष्टेन पूर्णतमविप्रयोगरूपेण पुनरपि भावभरणानन्तगुणान्तरबाह्यसंयोग-
सुखस्वरूपेण चेतैवं संयोगपरम्परारूपेणाविर्भविष्यति भगवान् । एवं चेदानीमेव रस-
रूपावतारस्य पूर्वं बाहुप्रसारेत्यादिना एकदलरूपसंयोगावतार उक्तः, इदानीं'मन्तहिते
भगवती'त्यादिना द्वितीयदलरूपविप्रयोगावतार उच्यते इति सम्पूर्णाता जायत इत्यवतार-
सम्पूर्तिकाल इत्यल्लयसम्पूर्तिशब्देन सम्पूर्णतोक्ता, न तु पूर्वावतारसमाप्तिर्जातेत्युच्यते ।
समाप्तिरूपार्थस्यैव विवक्षितत्वैवतारसमाप्तिकाल इत्येवोक्तं स्यात् । तस्मादवतारसम्पूर्ति-
काल इत्यस्वावतारसम्पूर्णताकाल इत्यर्थः सम्पन्न इति नन्वित्यादिभवत्प्रश्नोत्तरस्य सिद्धे-
रिति सर्वं भव्यम् । यत्पुनर्विप्रयोगस्यैव फलत्वम्, न संयोगस्य, संयोगस्तु तडिल्लतावत्
किञ्चित् कालं मध्ये मध्ये जायमानो भक्तानां देहस्थित्यर्थमुपयुक्तो भवति । भगवद्विषयक-
विप्रयोगस्यातिदुःसहत्वात् । अत एव भगवतो मथुरातः परावृत्त्यानागमनम्, संयोगस्यैव
फलत्वे मथुरातः परावृत्त्यागमनमेव स्यात् । नन्वथ किं प्रमाणमिति चेत् । 'भवतीनां
वियोग' इति पद्यव्याख्यानसुबोधिण्यामथदेहभावेनात्मा गौण इति देहेन सह वियोग
आविर्भूतस्योच्येत । तदपि न पठते । समवायिकारणत्वेन तेषु वर्तते इति । अन्यथा देहा
निःस्वभावाः स्युः । आविर्भूतेन वियोगस्तु हितकारी । अन्यथा स्वरूपनाश एव स्यात् ।
यथाभिकाष्ठयोः । पूर्वसम्बन्धेनैवैता अर्षदग्धाः, पुनः सम्बन्धेन सर्वदाह एव स्यात् ।
सुखानुभवस्तु स्वान्तःस्थिताभ्यमिच्छित्वत् स्वान्तःस्थितभगवदभिव्यक्त्या । सर्वयाभि-

व्यक्तौ काष्ठांशे ज्वलिष्यतीति न सम्बध्यते, यतो भगवान् प्रलयकर्तेत्यादिप्रचट्टकपर्या-
लोचने काष्ठान्तःस्थिताग्नेरभिव्यक्तिर्यथा बाह्योपाधिसम्बन्धाभावे किञ्चित्कालिकी, एवं स्वान्तः-
स्थितभगवदभिव्यक्तिरपि तडिलतावद्भगवत्संयोगादिप्रयोगस्यैव सार्वकालिकत्वाद्भिप्रयोगस्यैव
फलत्वं न संयोगस्येति श्रीमदाचार्यचरणोक्तेरेव प्रमाणत्वात्, आविर्भूतेन वियोगस्त्वित्या-
देरयमर्थः । यथाविर्भूतस्वरूपेण संयोगः स्यात् तदा मथुरात आगमनज्ञानेऽस्मान् विहाय
गत इति निश्चयजनितमहादुःखेन देहपातः स्यात्, तदेवोक्तमन्यथेत्यादिना सद्यष्टान्त-
मतेयं वियोगो हितकारीति भावः । पूर्वसम्बन्धेनेत्यादेरयमर्थः । राससामयिकवियोगोत्तर-
सञ्जातसम्बन्धेनैवैताः स्वत्यागजनितमहादुःखेन स्मरणपथगतेनार्धदग्धाः, अतःपरमिदानी-
न्तनसम्बन्धे मथुराविषयकगमनज्ञानेन कोटिगुणे दुःखे जाते सर्वदाहः स्यादिति ज्ञेयापे-
स्पष्टोर्थे इति वदन्ति । तत्रापि वदामः । भगवद्रूपरसो ह्यग्निरूपः । तत्र यथाग्निस्तापजनकः
शीतलताजनकश्चेति द्विविधः । तत्रान्नादिपरिपाकजनकोग्निस्तु तापजनकः । हिमादि-
रूपोग्निस्तु शीतलताजनकः । तत्र यावत्पर्यन्तं देहादिषु तापस्तावत्पर्यन्तं हिमरूपोग्निः
स्वसम्बन्धेन देहादिस्थितिकारकः । सर्वथा स्वसम्बन्धेन देहादिनिष्ठतापनिवृत्तौ शीतलता-
गुणेन देहादिनाशकरश्च । एव रसरूपो भगवद्रूपोऽग्निरपि विप्रयोगसंयोगरूपेण द्विधः ।
तत्र विप्रयोगात्मको रसरूपो बन्दिस्तापकारकः, संयोगरूपो वह्निस्तु शीतलताकारकः । तत्र
यावत्पर्यन्तं देहे विप्रयोगजनितस्तापसम्बन्धस्तावत्पर्यन्तं तापनिवर्तकस्वशीतलतागुणेन देह-
जीवात्मनोः स्थितिकारकः । स्वसम्बन्धेन सर्वथा तापनिवृत्तौ संयोगरूपो वह्निस्तु जीव-
लयसम्पादकस्वभावत्वात् स्वसम्बन्धेन सर्वथा जीवस्य लये सम्पन्ने स्थितोपि भक्तिमार्गीय-
जीवात्मा रसानुभवाभावाद्वा एव भवतीति तत्राशकारकः । अस्मिन् पक्षे श्रीमदाचार्योक्त-
सर्वदाह एव स्यादित्यत्रलदाहपदेन' स्वरूपनाश एव स्यादित्यत्राप्याचार्योक्तनाश-
पदेनापि लय एव ज्ञेयः । जीवस्याविकृतत्वान्नित्यत्वात् काष्ठादिदाहवदाहस्य देहादिनाश-
घञ्जाशस्य वाऽसम्भवात् । एव च सति यदि भगवानेतामिः सह संयुज्येत तदा पूरानुमूला-
नन्दात् कोटिगुणानन्दप्रादुर्भावे सर्वथा तापनिवृत्तौ भक्तात्मनां लय एव भवेद्, एवं च रस
मार्गीयफलाभासः सम्पद्येत्यानिर्भूतेन वियोगस्तु हितकारीत्युक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः । न
च लयसम्भावनायामेव पुनरपि विप्रयोगानिर्भावे पूर्वोक्तफलमभव इति वान्यम् । यदि
पुनरपि परिहारनिर्भूतस्वरूपविप्रयोगानिर्भावावदपकत्वम्, तदैतेनैव विप्रयोगेण चारितापर्वात्
पिष्टपेपणन्यायप्रसक्तेः । न च सुरानुभवार्थं परिहारनिर्भूतस्वरूपेण संयोगो देय एवेति
वान्यम् । अन्तःस्थिताभ्यभिव्यक्तिरदन्तःस्थितभगवदभिव्यक्त्या सुरानुभवसिद्धिरिति
श्रीमदाचार्यैरेवोक्तत्वाद्दिहाराभिर्भूतस्वरूपसंयोगस्य निःप्रयोजनकत्वादिति दिक् । यद्वा ।
परिहारनिर्भूतस्वरूपेण वियोगस्तु हितकारीत्यस्यायमर्थः । प्रथमप्रादुर्भूतमथुरागतभगव-
त्सम्बन्धे महासुरानुभवे जाने पुनरपि रसरूपभगवत्स्वभावाद्भिप्रयोगे जाते यथा यथा

संयोगानन्दाधिक्यम्, तथा तथा विप्रयोगे तापाधिक्यम्, यथा यथा विप्रयोगे तु दुःखाधिक्यम्, तथा तथा संयोगे आनन्दाधिक्यम्, इत्यनुभवान्मथुरागतस्वरूपेण विप्रयोगे पूर्वतापादपि कोटिगुणे तापे जाते देहनाश एव स्यात्, एतत्तापस्य प्रलयामितापादपि प्रबलत्वात् । यथा बाह्याग्निकाष्ठसम्बन्धे काष्ठनाशः । अस्मिन् पक्षे पूर्वसम्बन्धेनैवेता अर्धदग्धाः, पुनः सम्बन्धे सर्वदाह एव स्यादित्यत्र पूर्वसम्बन्धेनेत्यस्य पूर्वविप्रयोगसम्बन्धेनेति पुनः सम्बन्धे इत्यस्य च पुनर्विप्रयोगसम्बन्धे इति चार्थो बोध्यः । तस्माद्दहिराविर्भूतस्वरूपेण भगवान्न सम्बन्ध्यते । सुखानुभवस्त्वन्तरनुसन्धानेन्तःस्थिताभ्यभिव्यक्तिवदन्तःस्थितभगवत्स्वरूपाविर्भावानन्तर्पहिरनुसन्धाने भगवत्सङ्गमाकाङ्क्षायामप्यन्तःस्थितस्य बाह्यप्राकट्यादेव बहिरपि भविव्यत्येवेति बहिराविर्भूतस्वरूपेण वियोगो हितकारीत्युक्तं श्रीमदाचार्यैः । न चान्तःस्थस्वरूपप्राकट्येन तत्सम्बन्धजनितसुखातिशयोत्तरसञ्जातविप्रयोगादपि देहनाशप्रसक्तिर्भविष्येवेति वाच्यम् । बाह्यतृणतूलरूपोपाधिसम्बन्धाभावे मथनाविर्भूतकाष्ठान्तःस्थवह्निर्न काष्ठदहनसमर्थः, तथात्र बाह्योपाधिरूपसर्वमुक्तिदानसम्बन्धाभावे बहिराविर्भूतस्वरूपमप्यमित्वान्न देहनाशकरम्, किन्तु प्रपञ्चातीततापक्षेशनाशरूपरसधर्मपुरस्कारेणैव प्रकटमिति तदेव करोतीति भवदुक्त्यप्रसक्तेः । यद्वा । आविर्भूतेन वियोगस्तु हितकारीत्यादेरयमभिप्रायः । प्रपञ्चाविर्भूतस्वरूपं हि सर्वमुक्तिदानाय प्रकटम्, तत्र सर्वमध्ये गोपिकानामपि सत्त्वादेतासामपि लयरूपमुक्तिमेव प्रतिक्षणं ददाति भगवान्, परं तस्मात् पृथक्कृत्य भजनानन्दमनुभावयति । 'ये यथा मा'मिति प्रतिज्ञातः । अत्रोपष्टम्भकरूपा 'यत् एतद्विगुच्यत' इतिफलप्रकरणीयपञ्चाध्यायीपद्यव्याख्यानसुबोधिनी द्रष्टव्या । एवञ्च तस्मात् पृथक्करणकेशः प्रतिक्षणं प्रभोर्भवतीति प्रक्षालनाद्धि पङ्क्त्येति न्यायाद्बहिःप्रपञ्चाविर्भूतस्वरूपेण भगवान् न सम्बन्ध्यते, तेन गोपिकानां लयनिवृत्तेर्हितं भवतीति प्रपञ्चाविर्भूतस्वरूपेण वियोगो हितकारीत्याचार्यैरुक्तम् । बाह्याननुसन्धानेनुसन्धाने वा भावभरेणान्तर्पहिःप्रकटरसरूपस्वसंयोगं तु करोत्येव प्रभुः । तासामभिलषितत्वाद्द्रस्यमार्गीयपरमफलरूपत्वाच्च । तस्मान्न विप्रयोगस्य परमफलत्वम्, किन्तु संयोगस्यैव । संयोगसाधनत्वात् पूर्वानुरागजनितविप्रयोगस्य संयोगपोषकत्वात् संयोगानन्तराविर्भूतस्य विप्रयोगस्य च परमफलत्वमुच्यते । अन्यथा भगवत्संयोगोस्माकं भवत्वितिच्छोदयवद्भजमक्तानां भगवद्विप्रयोगोस्माकं भवत्वितिच्छोदयोपि श्रीभागवते श्रुतः स्यात् । इदानीन्तनानां भगवद्विप्रयोगेच्छोदयस्तु भगवत्संयोगसाधकत्वपोषकत्वज्ञानादेव भवतीति न काप्यनुपपत्तिः । यद्यपि भगवतो रसरूपत्वात् संयोगविप्रयोगात्मकत्वाद्द्रसरूपभगवत्प्राप्तौ विप्रयोगोप्याग्रादिफले त्वग्नीजादिचदन्तर्गतो भवति तथापि त्वग्नीजादिप्राप्त्या यथाप्रफलरसाकाङ्क्षा भवत्येव, तद्द्रसप्राप्त्या तु त्वग्नीजाचाकाङ्क्षा न भवति, तथा विप्रयोगप्राप्त्या संयोगाकाङ्क्षा भवत्येव, संयोगप्राप्त्या तु विप्रयोगाकाङ्क्षा तु न भवतीति संयोगस्यैव परम-

फलत्वं वक्तुं शक्यते । ज्ञाते सति स्ववृत्तितयेष्यमाणस्यैव फलत्वात् । न त्विदं विप्रयोग इति न विप्रयोगस्य फलत्वम् । अत एव फलप्रकरणीयप्रथमाध्यायसुबोधिनीप्रारम्भस्थाया-
 'मतो हि भगवान् कृष्णः स्त्रीषु रेमे ह्यहर्निशम् । बाह्याभ्यन्तरभेदेन ह्यान्तरं तु महाफल'-
 मितिकारिकायां रमणपदवाच्यबाह्याभ्यन्तरसंयोगस्यैव फलत्वं महाफलत्वं च क्रमेणैवोक्तम् ।
 एवमेव 'स्नानन्दस्थापनार्थाय लीला भगवता कृता । स बाह्यो जनितः पुष्टो यथान्तर्निवेश-
 त्युनः । तदर्थं भगवांस्तासु लीलया सहितोविश'दित्येतद्वितीयाध्यायसुबोधिनीप्रारम्भ-
 कारिकायां विप्रयोगस्य संयोगपोषकत्वमेव, फलत्वं तु संयोगस्यैव श्रीमदाचार्यवर्यैरुक्तम् । अत
 एव 'भयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठ' इति भ्रमरगीतपद्यव्याख्यानसुबोधिन्यामपि फलसाधकत्वाद्भ-
 क्तिमार्गं विरह एव पुरुषार्थ इति किमिति निराक्रियते तत्राहेत्याभासे विप्रयोगस्य फलसाध-
 कत्वमेवोक्तं श्रीमदाचार्यचरणैर्न तु फलत्वमिति भवत्सिद्धान्तिता विप्रयोगस्यैव परमफल-
 रूपता कथं सङ्गच्छेततराम् । अतःपरं विप्रयोगान्तर्गतभगवत्स्वरूपप्राकट्यं तडिलतावत्
 किञ्चित्कालिकमेव भवति, अन्यथा देहनाशः स्यादिति यदुक्तम्, तदपि न विचारक्षमम् ।
 ताभिः किञ्चित्कालिकसंयोगसानाकाङ्क्षितत्वात्, बहुकालिकसंयोगस्यैव तदाकाङ्क्षाविपय-
 त्वात् । इदं तु दशमस्कन्धीयपदत्रिंशत्तथाध्याये 'अहो विधातस्तव न क्वचिदया संयोज्य
 मेन्या प्रणयेन देहिनः । तांश्चाकृतार्थान् वियुनह्यचपार्थकं विचेष्टितं तेर्भकचेष्टितं यथे'-
 स्यारम्य श्लोकचतुष्टये 'निवारयामः सगुपेत्य माधवं किञ्चो करिष्यन्कुलवृद्धवान्धवाः ।
 शुफुन्दसङ्गात्रिमिपार्थदुस्त्यजादैवेन विध्वंसितदीनचेतसाम्, यस्यानुरागललितस्मितवल्गु-
 मञ्जलीलावलीकरिरमणरासगोष्ठ्याम् । नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं गोप्यः
 कथं न्वतितरेम तमो दुरन्त'मितिश्लोकद्वये च प्रकटमेव । एवमपि सति यदि किञ्चित्काल-
 लिकमेव संयोगं दद्यात् तदा 'ये यथा मा'मिति भगवत्प्रतिज्ञाहानिः स्यात् । तडिलताव-
 देतासां संयोगो भवतीत्यादिप्रकारस्य श्रीमदाचार्यस्तत्तनुजरलैश्च कण्ठरवेण कुत्राप्यनुक्त-
 त्वाच्च । तस्मादन्तर्बहिर्दिवा रात्रौ चातृप्तिसंयोगरूपेण प्रकटः, पुनस्तत्संयोगपोषार्थं विप्र-
 योगरूपेण च प्रकटः, पुनः पूर्वप्रकारसंयोगरूपेण पुनर्विप्रयोगरूपेणेति परम्परया गोपि-
 कामिः सह श्रीडति भगवानिति कृतं विस्तरेण । ननु तथापि नान्तर्गृहगतानामेवंविध-
 सन्पूर्णरूपभगवत्प्राप्तिरेतासां मुत्तयनन्तरमेवैतादृशरसलीलाप्राकट्यादिति तत्रासफलस्य
 मध्यमफलत्वमस्माभिरुच्यते इति चेत्, अत्रोच्यते । सगुणशरीरत्वागोचरतत्क्षणप्राप्त-
 गुणातीतदेहेन भगवन्निकटगतानामन्तर्गृहगतानामपि 'ताभिः समेताभिरुदारचेष्टिन'
 इत्यादिलीलासौभगजन्ममदमानलीलाप्राप्तसुत्तरसागधिकान्तर्धानलीलाभारम्य 'वामथाहु-
 कृतवामकपोले'त्यापुक्तयुगलगीतलीलान्तसर्वलीलानामपि प्राप्तिरेतासामिति श्रीमदाचार्य-
 तत्तनुजरसानां हि निदान्तः । अत एव 'ता ह्युपान्तिरुमायाता' इतिफलप्रकरणीय-
 पद्यव्याख्यानसुबोधिन्यां 'यास्तु समाहताः सयागतान्ता न निवार्यन्ते, याः पुनः सगुणा

अन्यसम्बन्धिन्यस्ताः शब्दश्रवणात् समागता इति शब्देन निवारणीयाः, अन्यशेषतया भजनमयुक्तमिति । करिष्यमाणलीला तु सर्वभावप्रपत्तिसाध्या, अतो निवारणार्थं यत्नमाहे'ति श्रीमदाचार्यैर्व्याख्यातम् । विवृतं चैतत् तत्तनुजरत्नैः स्वकृतटिप्पण्यां 'यदन्तर्गृहगता अनाकारिता एव नादं श्रुत्वोद्युक्ता इति प्रतिबन्धोभूदिति शङ्कानिरासायाहुः याः पूर्वोक्तास्ता अप्याहुताः, तत्रोपपत्तिमाहुः समागता इति । अन्यथा तथा न स्यादिति भावः । गेहस्य देहसम्बन्धित्वात् तस्य च नष्टत्वे नैतासां गृहामावात् तत्र गमनं बाधितमिति न निवार्यन्ते' इति । एवं चान्तर्गृहगता न निवार्यन्ते इति स्फुटमेव प्रतीयते, तत्र तन्निवारणं च भगवन्निकटप्राप्तौ सति सम्भवति । भवदभिमतसिद्धान्ते त्वेतासामिदानीं लय इति तन्निवारणप्राप्तैरभावाच्चश्रीमदाचार्यांक्तिस्तत्तनुजरत्नोक्तिश्चासमञ्जसा स्यात् । तस्मादन्तर्गृहगतानां गुणातीतदेहप्राप्त्या भगवन्निकटगमनं सिद्धम्, तदा तन्निवारण-प्रसज्जनं च सिद्धम् । एवं च तदुत्तरसामयिकी सर्वापि लीलैतासु सिद्धेति न मध्यमफल-त्वमेतत्फलस्य, किन्तुत्तमफलत्वमेवेति व्यर्थ एवैतासां मध्यमफलप्राप्तिरिति सिद्धान्ता-भिमानः केषाञ्चिदिति सर्वमवदातम् ।

श्रीवल्लभतत्सुतवरविष्टलनाथाङ्घ्रिरेणुलवयलतः ।

जयगोपालः कृतवान् सविवृतिसेवाफलव्याख्याम् ॥ १ ॥

मूर्ध्न्यञ्जलिं ननु निधाय निधाय भूयो

भूयः कृपालुपु महत्सु निवेदयामि ।

यत्किञ्चिदत्र लिखित मयका भवद्भिः

तत् पुष्टिमार्गपथिकैः परिशोधनीयम् ॥ २ ॥

इतिश्रीवल्लभाचार्यचरणकमलैकतानमानसश्रीमन्महाप्रभुश्रीविष्टलेश्वर-
कृपाकटाक्षोद्बुद्धिना सुबुद्धिना मठपतिजयगोपालेन
विरचिता सविवृतिसेवाफलटिप्पणी समाप्ता ॥
॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

१ इदं पद्यं जयगोपालकृतबहिर्मुखमुख्यसन्देशेऽपि विद्यते । आरम्भस्य 'बहिर्बहुलतन्त्रिति'पद्यं तत्कृत-
तेतिरीयमाव्यस्यम् । इदं पद्यद्वयं तत उद्धृत्यासां टीकायां ग्रन्थकृता पद्यान्निवेशितमिति प्रतिभाति ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

मठेशश्रीलक्ष्मणभट्टविरचितसेवाफलविवृतिविवरणसमेतम् ।

विचार्य श्रीमदाचार्यप्रोक्तं सेवाफलाभिधम् ।

ग्रन्थं तद्विवृतिं चापि विवृणोमि यथामति ॥ १ ॥

साह्ययोगावभेदार्यौ भक्तिर्भेदकरी हरौ ।

स्नेहासक्तिव्यसनिनी तसिद्धौ स्वाह्ववित्तजा ॥ २ ॥

व्यसनं मानसी सेवा माहात्म्यज्ञानभक्तितः ॥ ३ ॥

अथातः श्रीवल्लभाचार्याः स्वसिद्धान्तमुक्तावल्यां 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'त्यादिना ब्रह्मवादसिद्धान्ततः सत्ये जगति कृष्णस्य सेवामक्तिं निरूप्य तसिद्धौ मुख्यं फलं सपरिकरं निरूपयितुकामाः सेवाफलनिर्णयग्रन्थं सविवरणमाहुः ।

घाट्टशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते !

सेवना च प्रागुक्ता त्रिविधा, अत्यन्तरङ्गा अन्तरङ्गा बहिरङ्गा चेति प्रशब्देन सूच्यते, या नित्यश्रीस्वामिन्यन्तरङ्गस्य स्वस्वामिनः पुरुषोत्तमस्य 'प्रतिकृतिरूपस्य' काश्मीर-चन्दनसुगन्धतैलाभ्यङ्गस्नानपूर्वकशृङ्गारादिज्ञानक्रियारूपा साक्षादङ्गेषु सृष्टु संस्पृश्य लोकवत् सखेहं कियमाणा सैषा प्रथमा । मन्दिरपात्रसम्मार्जनोपलेपनचित्रकरणपूर्वक-सिंहासनादिशय्यान्तरणश्रीडनोपस्करणपीठखण्डाक्षिभृङ्गारादियोजनान्नादिपयःपाकसामग्री-साधनज्ञानक्रियारूपा परिचर्या द्वितीया । पुष्पगन्धताम्बूलफलकन्दमूलशाकामान्नरस-संशोधनधनवसनभूषणसम्पादनज्ञानक्रियारूपा परिचर्या बहिरङ्गा तृतीयेति यादृशपदसार्थः । सैव स्वतनुवित्तजेति तत्रोक्ता । तत्सिद्धौ 'तत्र प्रेमासक्तिव्यसनात्मना परिणतायां मानस्यां सत्यां' सेवकस्य यादृक् फलं तदुच्यते । यद्यपि तत्र 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्म-बोधन'मिति फलमुक्तं तथापि तदवान्तरमेवेति मुख्यं फलमुच्यत इत्यर्थः ।

तदपि त्रिविधमिति सविवरणं निरूपयितुमाहुः ।

अलौकिकस्य दाने हि चात्यः सिद्ध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

फलं वा अधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

विवरणमत्र मेधायां फलत्रयमलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोप-योगिदेहो वा वैकुण्ठादिष्विति । अलौकिकसामर्थ्यं प्रथमायाः फलम् ।

एवं भोगं निरूप्य प्रतिबन्धं निरूपयन्ति प्रतिबन्धोपीति । स च साधारणोऽ-
साधारणश्च । साधारणः सेवासमये लौकिकवैदिककर्मानुरोधरूपस्त्वाज्य एव, स्वाधीन-
त्वात् । असाधारणो भगवत्कृतः, स सद्य एवेति भावः । ननु कथमेतेषां सिद्धानां
त्याग इत्याशङ्काहुः त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति । साधनमत्र तज्जनन-
हेतुभूतं यत् तत्परित्याग इत्यर्थः । नन्वावश्यकस्य लोकवेदसिद्धतया अशक्यत्यागत्वात्
कथं त्याग इत्याशङ्क्य तदुपायं विवृण्वन्ति तत्रायो बुद्ध्या स्याज्य इति । सेवाया
अवसरे त्याज्यः, अतवसरे विधेय इति चातुर्येणेत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं साधारणप्रतिबन्धं निरूप्य भगवत्कृतप्रतिबन्धं निरूपयन्ति ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

प्रगोरेव अकर्तव्यं स्वसेवाकारणमचिकीर्षितं चेत् तदा स्वस्य गतिर्न हीति
निश्चयः । तदा ज्ञानमार्गेण स्यातव्यं शोकाभावायेति । वक्ष्यन्ति चाग्रे
तदान्यसेवापि व्यर्थेति भावः । नन्वासुरेष्वेवं न तु दैवे तथेत्याशङ्काहुः तदा
आसुरोऽप्यमिति । एवंविधप्रतिबन्धरूपलिङ्गेन स्वसासुरत्वमनुभेयमितिभावः । तत्रा-
सुरत्वमागन्तुकं वा साहजिकमिति निर्धारार्थं विवेकः, सांख्यज्ञानमिति केचित् । तेन
शोकाभावमाह न तु मोक्षः ॥ ३ ॥

पूर्वोक्तमेव निगमयन्ति ।

याधकानां परित्यागो भोगेऽप्येकं तथा परम् ।

भोगयोरपि पूर्वसमतामाशङ्क्य वैलक्षण्येनाहुः ।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशन्ते सदा ॥ ४ ॥

प्रथमे अलौकिकसामर्थ्ये भोगो भजनानन्दातुभवरूपो महान् सदा स्वरू-
पतः साधनतः फलतः, इत्यर्थः । पाठान्तरे अल्पो भोगः सविधः सप्रतिबन्धः ॥ ४ ॥

सचिभ्रोल्लपो घातकः स्यादिति ।

सचिभ्रोल्लपो घातकः स्याद्वलादेतौ सदा मतौ ।

अत एवेताविति विवृती । भगवत्कृतप्रतिबन्धे अन्यफलचिन्तया शोकः कदाचित्
तस्य स्यादिति तदमावार्थं चिन्ता न कार्येत्याशयेनाहुः ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

भगवत्कृतप्रतिबन्धे । तत्र हेतुः । स्वस्य संसारनिश्चयादिति । संसारोऽहंम-
तया जन्मकर्मप्रवाहमार्गस्वरूपः, तस्य निर्धारणादित्यर्थः ॥ ५ ॥

एवं प्रतिबन्धं विचार्य उद्देगरूपप्रथमं प्रतिबन्धेन फलमावे भगवतो दातृत्वाभावं
हेतुत्वेन निरूपयन्ति ।

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

अत्र आद्यफलाभाय इति विवृतम् । आद्येन वा प्रतिबन्धेन फलाभाव इत्यर्थः । नन्विति विरोधोक्तौ । आद्ये उद्वेगरूपप्रतिबन्धे, भगवतः सर्वसमर्थस्यापि सेवाया अमानसीत्वेन अनाधिदैविकीत्वे तत्प्रयुक्तः प्रभोः फलदातृत्वाभाव इत्यर्थः । एतदेव विवृण्वन्ति तदा सेवा नाधिदैविकीत्यादि । तृतीये लौकिकभोगे गृहमेव बाधकम् । गृहमत्र पश्यादिकं विष्णुवहिर्मुखमेव त्याज्यम् । अत एवोक्तमाचार्यैर्निबन्धे 'गृहं सर्वात्मना त्याज्य'मित्यादि ।

एवं फलत्रयं प्रतिबन्धकत्रयं च प्रासङ्गिकं निरूप्य एतद्विचारमावश्यकत्वेन वक्तुमुपसंहरन्ति ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

(इयं दातृता हरेः यद्वा भक्तिः मनुक्तिर्वा) । सेवा पूर्वोक्ता तथ्यी वा विचिन्त्येत्यर्थः । एतदतिरिक्तं सर्वं मनोभ्रमः । भक्तिमार्गे त्रिविधसेवाया एव पूर्वोक्तं फलत्रयं नान्यत्, प्रतिबन्धकं चोद्वेगादिकमेव न पापादिकं । 'स्वपादमूलं भजतः प्रिय-स्ये'ति भागवतवाक्यादिति भावः ॥ ६ ॥

ननु भगवदीयैर्नैयं भाष्येत्युच्यतां किन्त्वन्यैरेवेत्याशङ्क्याहुः तदीयैरपि तदित्यादि ।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

कलौ देशदीनामसाधकत्वात् तथा । पुष्टौ सितः प्रसुस्तु नैव विलम्बयेत् । मध्यस्यैरेवेह तथेति भावः ।

एतदेव निमित्तमन्यत्राप्युपदिशन्ति ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

एतद्भावनेन मनसो भगवत्त्वपरतायां गुणक्षोभोपि न भवितेति भावः । अत्र स्वसंमतिरेव मानमाहुः इति मे मतिरिति ॥ ७ ॥

नन्वत्र काचित् कुतर्ककल्पना उत्पद्येत तदा कथं विचारणीयेत्याशङ्क्यामाहुः ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७॥ ॥

स्पष्टार्थः ॥ ७॥ ॥

इति श्रीशाचार्यवर्यमतमार्गानुवर्तिना ।

सेवाफलं सविवृति विवृतं च यथामतिः ॥ १ ॥

इतिमठेशश्रीनाथभट्टात्मजगोपीनाथसुतलक्ष्मणभट्टविरचितं
सेवाफलविवृतिविवरणं समाप्तम् ॥

धीरुण्याय नमः ।

सेवाफलम् ।

विवरणटिप्पणीसमेतम् ।



श्रीमदाचार्यचरणान् सेवारसफलप्रदान् ।

नमामि तद्रजोलेशलवस्पर्शसमीहया ॥ १ ॥

श्रीमदाचार्यचरणैस्त्रिधा सेवा फलत्रयम् ।

निर्णीतं तत्र मे बोधस्तथाहि कृपयोच्यते ॥ २ ॥

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

यादृशी सेवनेत्यस्य विवरणे सेवायां फलत्रयमिति । अयं भावः । भक्तिमार्गेण पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदेन जीवेषु भगवदङ्गीकारस्त्रिधा । तत्रापि पुष्टिमार्गफलार्थं यद्वरणं तत्पुष्टौ मर्यादायामेव, न तु प्रवाहमार्गेपीति विवरणे स्फुटीकरिष्यत इति । तेषां साधनरूपा सेवापि त्रिधा प्रोक्ता । अतस्तादृशतत्प्रकारकसेवासिद्धौ फलमुच्यते । तत्किमित्याकाङ्क्षायामुक्तमलौकिकसामर्थ्यमित्यादि । तत्र पुष्टिमार्गाद्दीकृतस्य साधनदशाया-माचार्योक्तप्रकारेण सेवाकरणे मानसीतत्सिद्धौ फलं साक्षाद्भगवत्सम्बन्धरूपं भवेदिति । तस्मिन्नेव अलौकिकसामर्थ्यं यदाधुनिकजीवस्य तादृशपूर्णलौकिकैश्वर्यवीर्यादिगुण-धता समं साम्येन रतिः रसोद्बोधश्च भवतीति तथोक्तं विवरणे, न हि साधारणस्य तादृशेन महता सममेतत् कर्तुं शक्यम्, रसामासेहेतुत्वात् ।

ननु पूर्वं मानससेवायाः सिद्धिः कथं तत्राहुः अलौकिकस्येति ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

‘मानसी सा परा मते’त्युक्त्या सा सेवा स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपेणलौकिकस्य प्रभो-र्दाने परमकाष्ठान्नस्वरूपसम्बन्धाभिलाषरूपभावदाने सः आद्यः पुष्टिफलरूपः सर्वो-त्कृष्टो मनोरथः सिध्येत् । मनोरथपदेन प्रेमासक्तिव्यसनसंकल्पादिरूपः सन् सिद्धिं प्राप्नोति, फलसम्मुखो भवतीत्यर्थः । अत एव मनोरथपदमुक्तम् । इयमेव मानसीतत्सिद्धिः । तदुक्तं ‘चेतस्तत्प्रवर्णं सेवे’ति । यद्यपि मानससेवासिद्धौ तनुजा वित्तजा च द्वे अङ्गे, तथापि मुख्यमङ्गं दानम्, यतस्तत्करणेषु यदा दानं भवति, तदैव तादृशी सा भवति, अन्यथा मर्यादामार्गीभक्तानामपि निरन्तरं तत्करणे पुष्टिरूपायां तस्यां को विशेष इति

१ अयमेतद्विवरणकृता नाम न ज्ञायते तथापि क्यगोपात्मदृष्टतद्गुणस्यातादृश प्राचीनत्व निधीयते ।

तद्भावोदये नैव सा भवेदित्यर्थः । तेन तत्करणेपि दानेनैव तादृशभावः सिद्ध्येन्नान्यथेति त्रेयम्, परन्तु तत्कृतिस्तु सर्वदा कर्तव्या, अकरणे भावः क उद्भवेद्, विषयाभावाद्, अत एवाङ्गभूते ते उक्ते ॥ १ ॥

ततः किमित्यत आहुः फलमिति ।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

तादृशप्रचुरभावे सति फलं स्वरूपसम्बन्धरूपम्, अधिकारः अलौकिकदेहवयो-
गुणादिक भवेत्, तत्राहुः न काल इति । अत्र कालः वयोवस्थादिसमयरूपः
नियामको न, भगवदिच्छयैव सर्वं लीलोपयोगि तदैव भवेत्, न कालापेक्षा । तादृश
प्रति भगवतोपि विलम्बानामहिष्णुत्वात् ।

एव पुष्टिफल निरूप्य मर्यादाफल निरूपयन्ति । तथा हि, मर्यादामार्गाङ्गीकृतस्य
माहात्म्यज्ञानपूर्वकसेवाकरणे भगवति माहात्म्यभावसहितस्त्रेहेन तदात्मतया सायुज्यं
साक्षात्पुरुषोत्तमस्वरूपे भवेन्न त्वक्षरे । तत्र तदालौकिकदानेच्छाभावात् स्वरूपसम्बन्धा-
त्मक फल न भवेदित्यर्थः । यदा पुन भगवान् कदाचिद् दातुमिच्छति तदा स्वस्वरू-
पात् पृथक्कृत्य तादृश प्रचुरभावदानं कृत्वा फल प्रयच्छति, यतोस्मिन्नापि दातृत्वाभि-
प्रायेणैव वरणकार्यत्वात् । एव भक्तिरसे स्फुटीकृत श्रीमत्प्रभुचरणैर्भक्तिमार्गीयभक्तकृते-
त्यारभ्य, अत्रापवर्गवर्त्मनी'त्यन्तम् ।

प्रवाहभक्तिमार्गलक्षणकथनेन व्यापिवैकुण्ठस्य लोकत्वेनाक्षरात्मकत्वादक्षरमुक्तिरेव
फले, न तु पुरुषोत्तमसायुज्यम् । अक्षरमुक्तौ तु आद्यफलदानेच्छाभावात्तदर्थं वरणमेव
नास्तीति नाद्यफलसम्भ्रानेति मर्यादातो हीनत्वमुक्तम् । पुरुषोत्तमसायुज्ये तत्सम्भावना
वर्तते इति प्रवाहभक्तिमार्गसेवाफलादुत्कृष्टत्वम् । यत् एतत्फलदानेच्छया यद्वरण तन्मार्ग-
द्वये एव, न तु प्रवाहमार्गं, तदप्युक्त भक्तिरसे 'विवरणे चास्ति प्रकारद्वय'मिति ।

एव सेवास्वरूप साधनफलसहित मार्गत्रयेपि निरूपितमिदानीं तादृशसेवासिद्धौ
प्रतिबन्धकत्रय निरूपयन्ति उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वेति ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

श्लोकनिवरणे सेवायां प्रतिबन्धरूपप्रथमित्यादि । एतन्नित्यनिवारणे त्रयाणां
साधनपरित्याग इति निवरणे निवृत्तम् । तत्रोद्वेगसाधन लौकिकशोकदुःखादिकम् ।
तस्य भगवदिच्छाधीनत्व ज्ञात्वा तत्त्यागेन तस्यापि त्यागो भवत्येवेति । 'चित्तोद्वेग'मित्यु-
क्तत्वात् न विशेषतो निवृत्तम् । तथा अपर प्रतिबन्धः । स च द्विविधः ।
साधारणो भगवत्कृतश्च । साधारणो बुद्ध्यया त्याज्यः । बुद्धिस्तु यस्मिन्कृते सेवा
प्रतिबन्धोऽभूच्चैत् स न कर्तव्य इति निचाररूपबुद्ध्यया त्याज्य । भगवत्कृतमग्रे वदिष्यन्ति ।
लौकिकभोगस्तु निषयरूपत्वात् बाधक इति तत्साधनवस्तुमानत्यागादेव तत्त्याग इति
तदेव त्याज्यमित्यर्थः । एव तत्रय त्याज्यमित्युक्तम् ॥ २ ॥

याधकानां परित्यागो भोगेऽप्येकं तथापरम् ।

एतन्नयाणां साधनपरित्यागेनैव याधकानां परित्यागो भवतीति शेषः । ननु सेवायां वस्तुमात्रोपयोगान्तत्यागे कथं तन्निर्वाह इत्याशङ्क्यामाहुः भोग इति । तत्रापि भोगे एकं लौकिकं त्यजेदपरं नेति शेषः । यतस्तेषां स्वार्थमुपयोगे लौकिकत्वम्, भगवदर्थमुपयोगे अलौकिकत्वम्, अतः स्वार्थं ते त्याज्याः, भगवदर्थमुपयोग्या इति भावः । तदनन्तरं याधकत्वमाहुः निःप्रत्यूहमिति ।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ३ ॥

निःप्रत्यूहमिति प्रतिबन्धरहितं प्रत्युत साधकम् ॥ ३ ॥

एवं याधकानां परित्यागे निर्विघ्नसेवासम्भवे तस्यैव भोगस्य प्रतिबन्धत्यागे च हेतुं निरूप्य भगवत्कृतप्रतिबन्धे हेतुं निरूपयन्ति अकर्तव्यं भगवत इति ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि ।

यथा चा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ४ ॥

अस्य विवरणे भगवत्कृतश्चेत्यादि विवेक इत्यन्तम् । असायमर्थः । यदि भगवतः तत्फलदानं न कर्तव्यं भवेत् तदा तादृशसेवायां सर्वथा सर्वप्रकारेणापि गतिर्न भवति । तत्र यथा तथा प्रतिबन्धकमेव भवेत्, न तु निर्वाहः । ननु स्वमार्गीयसेवायां तस्य भगवान् प्रतिबन्धं करोतु, परन्तु अन्यमार्गीयसेवायां न करिष्यतीति चेत्, तत्रोक्तं विवरणे तदा अन्यसेवापि कृता व्यर्थेति । प्रवाहादिमार्गेषु कृतापि व्यर्था । यतः सकलमार्गेषु फलदाता भगवानेव । तस्य त्वकर्तव्यमेवेतीति तथा । यदा यत्ने कृतेपि प्रतिबन्धकं भवेत् तदा यथा तत्त्वनिर्धारो भवेत् तथा कर्तव्यम् । तत्त्वनिर्धारः कथमित्याकाङ्क्षायां विवरणे विवृतम् । आसुरोऽयं जीव इति । एवं तस्य विवेकेन ज्ञानस्थितिरूपमेव साधनं मतम्, यतः पूर्वमासुर एव जीवः । यथासुरदेह-युक्तम्लेच्छादिषु कस्यचिद्देवजीवत्वात् भगवत्परता दृश्यते, तथासुरजीवस्यापि कदाचिद्देव-वशाद्भगवद्भक्तसङ्गेन सेवायां प्रवृत्तिर्भवति, परन्तु आसुरे भगवतो दातृत्वाभावात्तत्र प्रतिबन्धकमेव जायते । यतस्तेषामन्यदेव फलम् । तदे'वासुरी योनिमापन्ना' इत्यादिनो-क्तम् । तथापि भगवद्भक्तसङ्गानुभावात् ज्ञानमार्गेषु स्थितिरुक्ता ॥ ४ ॥

तत्रापि चेत् स्थितिर्न भवेत्तदा तत्पूर्वोक्तफलविषयिणी चिन्तापि सर्वथा त्याज्ये-त्याहुः द्वितीय इति ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

विवरणे ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताऽभावात् द्वितीय इति । तत्र हेतुः । संसारनिश्चयादिति । स्वस्य पूर्वोक्तसंसाररूपस्य फलस्यैव निश्चयात् सा न कार्या, पुनस्तदाशोच्छेद एवेति सर्वयत्सुक्तम् ॥ ५ ॥

ननु यथा द्वितीयप्रतिबन्धे पूर्वोक्तप्रकारेण आसुरजीवस्य सर्वथा फलविपयिणी चिन्ता त्याज्या, तथा साधारणप्रतिबन्धेपि सा त्याज्या, अन्यथा सा कथं भवेदित्याशङ्कानिरासायाहुः न त्वाद्य इति ।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये दाधकं गृहम् ।

आद्ये साधारणप्रतिबन्धे दातृता भगवतो नास्तीति न किन्तु वर्तते, परन्तु फलस्य कियञ्जन्मानन्तरभावित्वात् तद् भवति । तदपि प्रतिबन्धकं साधारणं निवारयितुं शक्यम् । तेन भगवद्भूत एव तस्मिन् दातृत्वाभावो, न साधारण इति ज्ञेयम् । अतो यस्य आद्यफलदानार्थं मर्यादयाङ्गीकारः तस्य तथैव सेवाकरणे साधारणप्रतिबन्धश्चेद् भवेत्, तदा तन्निवारणेन सेवानिर्वाहात् पूर्वं सायुज्यफलं तदनन्तरं तत्फलं भविष्यतीति सा चिन्ता न त्याज्येति भावः । यस्य पुष्टौ अङ्गीकारस्तस्य तन्निवारणेन तादृशतस्मिद्धौ तत्फलं भवेदिति सा तथेत्यर्थः । एवं सति प्रवाहमार्गसेवायामपि सेवायाः साधनदृश्यमानत्वात् साधारणप्रतिबन्धे दातृत्वं भविष्यतीति शङ्कानिरासाय आद्यफलाभाव इति विवृतम् । आद्यफलस्याभावो यत्रैतादृशे प्रवाहमार्गे तदर्थमङ्गीकार एव नास्तीति नाद्यफलसम्भावनापीति न दातृत्वम् । सा सेवापि नाधिदैविकी, तत्र पूज्यस्वरूपेपि नाधिदैविकत्वम्, किन्तु विभूतिरूपत्वमिति महद्वैलक्षण्यात् कुतः साम्यमिति ज्ञेयम् ।

एवं साधारणप्रतिबन्धस्य व्यवस्थामुक्त्वा प्रथमवृत्तौ सर्वथा लौकिकभोगत्यागासम्भवात्, तत्रापि भगवतो दातृत्वाभावमाशङ्क्य तन्निवारणाय तद्व्यवस्थामाहुः, तृतीय इति । तृतीये लौकिकभोगेपि दातृता नेति न, यत एतन्मार्गे द्वये तादृश एवाङ्गीकारः, किन्तु तत्र मूलभूतं साधनं यद्गृहं तद्दाधकमिति तत् त्याज्यमिति शेषः । तस्याग्रे सर्वथा भोगाभावात् प्रतिबन्धकाभावेन तादृशभगवद्भक्तसङ्गेन सेवानिर्वाहात् तत्फलमपि भवेदिति भावः । एतदेव विवरणे विवृतं भोगाभावस्तदैवेति ।

अत्र कश्चित्पूर्वपक्षी शङ्कते । तथा हि । स्वमार्गायपरित्यागस्तु प्रेमासक्तिव्यसनात्मकभक्तौ सत्यां कर्तव्यो, न तु साधनभक्तौ । तदुक्तं सञ्ज्ञासन्निर्णये 'सञ्ज्ञासवरणं भक्तौ' 'अतोत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावह' इति च । तत्र करणे विपरीतफलमपि भवेदित्यपि । प्रकृते तु तत्पूर्वमेव भोगाभावार्थं सेवानिर्वाहार्थं च त्याग उच्यते इति कथमेकवाक्यतायां विरोध इव प्रतिभाति ?

तत्रोच्यते । प्रथमं स्वमार्गायभक्तिसिद्धौ मुख्यं कारणं सेवा । सा सेवा 'गृहे स्थित्वा अध्यावृत्त्या गृहव्याघृत्त्यभावे न, प्रत्युत पुत्रकलत्रादीनां भगवदर्थमुपयोगेन स्वधर्मतः करणे सिध्येत्, तच्चेदनुकूलं भवेत्, नो चेत् गजनप्रतिबन्धकत्वेन सर्वात्मना तस्य त्याग एवोचितः । अन्यथा तत्सङ्गेन पुत्रकलत्रायुपभोगे स्वस्य गजनासम्भवे शरणगतिर्भज्येत, तदा सेवाऽभावे प्रेमासक्तिव्यसनात्मिका भक्तिरपि न भवेत्, तदभावे तन्मार्गायपरित्यागोपि न, तदभावे फलाभाव एव च स्यादिति मार्ग एवोच्छिद्येत इति । तन्नोगाभा

सिद्धयर्थं तथा तत्सेवासिद्धयर्थं च कथनम्, तदनुकूलतद्ग्रहणाभिप्रायेणैवेति, न तत्राश्रम-
स्वीकार, सेवाभावानुपपत्ते, साधनभक्तौ निषेधाच्च । एतदेवोक्तं तत्त्वार्थदीपेपि 'प्रति-
कूले गृह लजे'दित्यनुकूलतत्प्रागाभावाभिप्रायेणान्ते प्रेम्णि जाते अङ्गेपि यत्किञ्चित्
भोगस्यापि बन्धकत्वात् तेनैव तन्नाशे सति ततो यथा साधारणप्रतिबन्धनिवारणेन सेवा
करणं तदान च, तथा लौकिकभोगत्यागेनापि निर्निर्गमसेवाकरणे सति तत्फलं भवेदिति
ज्ञेयम् । तत्र पुष्टिमर्यादाया भगवति लीलामाहात्म्यगुणादिभावेनैव प्रेम भवेत्, न पुष्टि-
रीत्येति तादृशस्य तादृशप्रेम्णा क्रमेण सर्वत्रिपयत्यागे, ततो तत्सभावेन तदात्मकतया
श्रीकृष्णे सायुज्यं भवेत्, ततो यदा दानेच्छा तदा स्वरूपात् पृथक्कृत्य तद्दानदत्ते तत्
त्फलानुभवकारिष्यतीति मर्यादाङ्गीकारे आद्यफलदानप्रकार उक्तः । तदुक्तं तत्त्वार्थदीपे
'सर्वत्यागेऽनन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसे सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुव फल'मिति
सायुज्यानन्तरं ध्रुव फलं तदेवेति भावार्थः । यस्य शुद्धपुष्टावगीकारस्तस्य तदारभ्यैव पूर्वोक्त-
भोगादिप्रतिकूलग्रहत्यागेनानुकूलग्रहे स्थित्वा सेवाकरणे भावात्मिकैः प्रवृत्तिर्भवेत्, ततो
यदा प्रेमासक्तिव्यसनानि भावात्मकतया पुष्टानि भवेयुः, तदा तत्र स्थितो यत्किञ्चिद्भोग-
सम्बन्धेनापि भावनाश इति तदभावेन तद्विगाढभावपोषादिना पूर्णनिरहानुभवार्थं सन्यास-
निर्णयोक्तप्रकारेण परित्यागस्य आवश्यक उक्तः । अन्यथा क्षणमात्र भावान्तरसम्बन्धे
भावशथित्याद् विरहानुभवभावात् फलाभाप इति । ततस्तत्पूर्णाभवे दशभावस्थया प्रति-
बन्धकदेहनिवृत्तौ अलौकिकतत्प्राप्त्या तत्फलानुभवो भवतीति पुष्टिभार्गाङ्गीकारे फलदान-
प्रकार उक्तः । अत एव मर्यादाया 'मदर्थंऽर्थपरित्याग' इत्यादिना भोगाभावाार्थं भगवत्प्राप्त्यर्थं
च सर्वसमर्पणरूप एव त्याग उक्तः, न तु सन्यासप्रकारः । यत् सन्यासे तस्य पुष्टाभावा-
दतोपि तादृशेरेव सम्भोगे भवतीत्युक्तवाधकत्वात् । अतः कलो स मन्यास पश्चात्तापाय
इति निषेधोप्युक्तसिद्ध एव । अत्रेपि त्वयोपभुक्तेपि विरोधो भवतीति । सन्यासस्तु तादृश-
भक्तवेवेत्युक्तम्, 'सन्यासवरणभक्ता'विति मार्गद्वयभेदेन परित्यागस्य भिन्नत्वाच्च कोपि
विरोध इति ज्ञापितम् ।

एव मार्गत्रयसेवाफलभेदं त्यागभेदं च निरूप्योपसहरन्ति अवश्यमिति ।

अवश्यमेव सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

इयं पूर्वोक्ता त्यागपूर्वनिरूपिका मनुक्तिः अवश्यं भाव्या, सर्वथा सदा,
भाव्या कर्तव्या । अथवा अवश्यं यद्यपि स्वप्नेन कर्तुं न शक्यापि तथापि
भाव्या, भावयितुं मनसि चिन्तयितुं योग्या । तत एव सर्वं भविष्यतीति सर्वथा
कर्तव्यमुक्तम् । आवश्यककरणे हेतु एतदन्यत् सर्वं मनोभ्रम एव न तु फलम् ।
मनुक्तप्रकारातिरिक्तकरणे सर्वोक्तफलमाप्तौ न, प्रत्युत मनसो भ्रम एवेत्यर्थः ।

ननु कथं भ्रमः ? सर्वैस्तदेव त्रियते तत्राहुः तदीयैरपिनि ।

तदीयैरपि तत्कार्यं पुष्टं नैव विलम्बयेत् ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥
कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७॥ ॥

तदीयैः पुष्टिमार्गतिरिक्तजीवैः भ्रमसम्बन्धिरपि कार्यं तदेव, सर्वलागपूर्वकं मद्दुक्तीरैव भजनं कार्यम् । न क्रियते चेत् तदा अज्ञानाद्भ्रम एव, न तु फलम् । यदि तदीयरपि तदेव कार्यं तदा यः पुष्टौ स्थितः कोपि मद्दुक्तप्रकारसेवाकरणजनितप्रेमासक्तिव्यसनदिभाववान् स तु विशेषतः क्षणमात्रमपि न विलम्बयेत्, मद्दुक्तकरणे विलम्बं न कुर्यात् । यदि विलम्बयेत् तदा पुष्टिभावान्तरत्वागाभावे विजातीयसङ्गेन भावशैथिल्यात् फलाभाव एव भवेदित्यर्थः । यतस्तादृशस्य स्वरूपव्यतिरिक्तवस्तुमात्रस्मरणस्यापि फलप्रतिबन्धकत्वम् । तदेवाहुः गुणक्षोभेपीति । अयं भावः । तादृशपुष्टिमार्गीयस्य व्यसनानन्तरं विरहानुभवार्थं त्यागे कृते स्वरूपसङ्गाभिलाषायाः प्राचुर्याद्विगाढभावेन देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणानि स्वरूपात्मकान्येव भवन्ति, यतः विकलत्वास्वास्थ्यादिकं निरन्तरं भवति तदा तादृशशायां मध्ये कदाचित्तस्य भगवद्गीलागुणादिस्फूर्तिर्न भवेत्, तदा मनःस्वास्थ्येन भावशैथिल्यात् स्वरूपान्तरायो भवेदित्येव गुणक्षोभः गुणैः कृत्वा मनःस्वास्थ्यरूपोऽविकारस्तस्मिन्नपि एतदेव द्रष्टव्यम्, फले प्रतिबन्धकमेव, द्रष्टव्यमिति-पदं प्रत्यक्षप्रमाणत्वेनोक्तम् । एतेन लीलागुणस्मरणस्य बाधकत्वं कथं वक्तुमुचितमित्याशङ्का निरस्ता । एतदेव सङ्ग्यासनिर्णये 'ज्ञानं गुणाश्चे'ति बाधकत्वमुक्तम् । एवं सति यत्र स्वरूपगुणस्मरणेपि फलाभावः, तत्र गृहादीनां प्रतिबन्धकत्वेन त्यागविलम्बे फलाभाव इति किं वाच्यमिति भावः । अत एव सर्वथा भोगाभावस्त्याग एवेत्याशयेन विवृताबुक्तं भोगाभावस्तदैवेति । अत्र प्रमाणं मे मतिरिति । स्वस्यैव तादृकप्रकारकालुभवात् स्वमतिरेवोक्ता । यदि मन्मतिप्रमाणत्वेन य एव करिष्यति तर्हि तस्य सर्वं सुष्टेव भविष्यतीति भावः । अकरणे बाधकमाहुः कुसृष्टिरिति । अत्र एतत्प्रकारकसेवाफलनिरूपणरूपमद्दुक्तौ कथं किमित्यादिरूपा कुसृष्टिश्चेदुत्पद्येत वै निश्चयेन स भ्रम एवेति सा न कार्येत्यर्थः । करणे सर्वस्वहानिरेवेति निश्चयः ॥ ७॥ ॥

एतद्विवृतेरर्थो यद्यपि विवृतो महश्चरणैः ।

तदपि तदेव हि गूढं दृष्ट्वा भावः स्फुटीकृतः कृपया ॥ १ ॥

सोपि तथेतरथा वा नो जाने सद्विरीक्षणीयस्तत् ।

कृपया च मार्जनीयस्तेन ततोहं विभूषणीयश्च ॥ २ ॥

श्रीमदाचार्यचरणे सरोजे मानसे मम । तिष्ठतां विकल्पे नित्यं तत्प्रभावोत्र भानुना ॥ ३ ॥

इति श्रीमदाचार्यकृतसेवाफलनिरूपणविवृतौ टिप्पणी समाप्ता ॥

प्रथमं परिशिष्टम्

सेवाफलविवरणत्रयम्

श्रीरूपाय नमः ।

सेवाफलम् विवृतिसमेतम् ।

नैसर्गिकी मधुमिदध्वरणस्य सेवा जीवस्य तत्र सुतरां हरिमार्गलिप्सोः ।

धुष्येत नो विषटनं च फलं यदासां नो सेवनाप्रथनमत्र तदर्थमिष्टम् ॥ १ ॥

यद्विर्वमूल जगतो हितकारणाय पारीक्षितस्य विवृतिं पदशुधकार ।

यः सूत्रयोर्निगमसंशयवाधनाय संक्षिप्य च प्रकरणानि नुमस्तमीशम् ॥ २ ॥

सिद्धान्तमुक्तावल्यादिग्रन्थेषु निबन्धेषु सेवाया उक्तत्वेपि तत्फलानां प्रतिबन्धानां
चेतस्ततो निप्रकीर्णत्वेन तत उद्धर्तुमशक्तान् स्वान् संक्षिप्य तदुपदेष्टुं सेवाफलनिरूपणं
प्रतिजानते यादृशीत्यादि, नोच्यत इति । तत्फलं तु श्रोत्रमिद्युलीकरणं निरूप्या-
र्थस्य यावतः प्रतिशोचिता, नत्वेकदेशसेति तु न शक्यम् । यतः फलमेव प्रधानं प्रति-
बन्धकं तु तद्विषटकतया त्याजनार्थं निरूपितमिति तच्छेषस्य न पृथक्प्रतिज्ञानम्, स्वप्र-

सेवाफलम् विवृतिसमेतम् ।

धानत्वेनानिरूपणात् । फलमिति जालैकवचनम् । यादृशी यत्प्रकारिका उक्ता सिद्धान्त-
मुक्तावत्यादौ, अकरणे प्रत्यवायः प्रार्थः । स च ह्यय इवेत्यादि निन्दया बोध्यः । त-
स्तिद्धौ तस्या यावज्जीवनिर्वाहे व्यसनरूपत्वसिद्धौ फलमुच्यते । फलं चात्र वक्ष्यमाणत्र-
यमेव बोद्धव्यम् । यत्तु सेवाया एव फलरूपत्वेन तत्फलकयनमनुपपन्नमित्याशंकनम्,
तत्तु केवलपौष्टिकाभिप्रायेण, पुष्टिमर्यादास्थितस्य तु साधनरूपत्वमेव सेवायाः । न चैवं
गौणत्वम् । पुरुषोत्तमस्यैव साध्यसाधनोभयरूपत्वात् । कर्तृतावच्छेदकमेव परं गौणम्,
फलस्य मूले स्पष्टतयाऽकथनादुक्तं विवरणे सेवायां फलत्रयमिति । अलौकिकसामर्थ्यं तु
अपारतेजसः फलदित्सायां सलीलस्य हृदि प्रवेशे तदनुभवसामर्थ्यम् । अघानुभवश्च म-
नसा तदध्यक्षीकरणम् । न चैतदेतच्छरीरेण संभवति, अप्राप्य मनसा सहेति वचनात् ।
तदर्थं च तद्भोगयोग्यत्वमलौकिकत्वं मुग्यम् । तच्च संपाते अलौकिकसंपातस्य विज्ञाने
चानन्दमयस्य प्रवेशात् स्पर्शसंबन्धेऽप्यसम्भामीकरत्वमिव सम्पद्यते । एतच्च प्रत्येकसंपाद्य-
मित्याहुः अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येद् मनोरथ इति । चस्त्वर्थे ।
हि सुक्तश्चायमर्थः । 'यमेवैष घृणुते तेन लभ्य' इति श्रुतेः । 'तमेव विदित्वे'ति तु मार्त्यादि-
कस्य । तथा चोक्तम् 'गतेरर्थवत्त्वमुभयथा अन्यथा हि विरोध' इति । सायुज्यं त्वन्तर्दृग्गत-
नामिव मध्यमं फलम् । तच्च द्विविधम् । बाह्यसाम्यन्तरं च । बाह्यमलौकिकशरीरप्राप्तिरू-
पम्, आन्तरं तु व्युत्तरणसामयिकपरिच्छिन्नानन्दादिमत्त्वेन अणुत्वेन च विशिष्टस्य ब्रह्म-
णि लयः । अत एव च निरस्तधर्मस्य ब्रह्मणि लयरूपात् कैवल्याद्भेदः । न च भक्तस्य न
लयः । ज्ञानिनोऽक्षरे भक्तस्य पुरुषोत्तमे लयादिति भाष्योक्तेः । एतच्च 'सोऽश्रुते सर्वान्
कामान् सह' 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'ति वाक्याभ्यां गम्यते । परं ब्रह्मोपैति तद-
नन्तरं साम्यमुपैतीति वाक्ययोजनां कृत्वाशेषैर्ब्राह्मैः कतिपयैर्वेति संदिग्ध 'न तत्सम' इति
नियेधादशेषैः साम्यासंभवात् कतिपयैरेव साम्यं निश्चित्य, न च कतिपयैरपि धर्मैर्जायमानं
साम्यं तदभेदगमकमित्यर्थं 'कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवदि'ति सूत्रावयवयोजनायामान्तरसायु-
ज्यस्य 'हानी तूपायन'यूत्रभाष्य एव स्पष्टत्वात् । तृतीयं सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठा-
दिषु । सेवाया उप समीपे योगवत् शरीरप्राप्तिरूपम्, पश्वादीनामिव । ननु प्रत्येकस-
म्पाद्यपूर्वफलस्यान्यानधीनत्वेपि सायुज्यसेवोपयोगिदेहयोः फलतदधिकाररूपमध्यमावा-
न्तरफलयोस्तु ज्ञानादीनामिव कदाचित् कालकर्मसाध्यत्वं भवेदिति नेत्याहुर्मूले फलं वा
ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामक इति । फलं सायुज्यम् । अधिकारः सेवो-
पयोगिदेहः । अत्र एतदुभयोः कालो न नियामकः, फलदः प्रतिबन्धको वा नेत्यर्थः ।
अत्र वाद्वयं फलतदधिकारयोरुभयोरपि भगवत्समक्षत्वचोपनाय । यद्वा, वाद्वयं क्रियाक्षेपकम्,
फलं वा स्वादधिकारो वा स्वात् । कालेनेति नेत्याहुः यतस्तयोरनियामक इति । अत्र
एतयोः । उद्वेगः प्रतिबन्धो वैति वाक्यं विवृण्वन्ति सेवायां प्रतिबन्धकत्रयमिति ।

उद्वेगः सेवायां क्रियमाणायां मनोवृत्तेरस्थिरता । प्रतिबन्धभोगयोः प्रकारभेदानां बहु वक्तव्यत्वेन प्रथमतः सिद्धानां दोषाणां दुर्विनाश्यत्वात् प्रयाणां साधनेत्यादिना तत्सामग्रीत्यागमेवोपदिश्य पाठरुममनपेक्ष्य चरमोदिष्टमपि भोग सनिहिततरत्वेन लौकिकालौकिकभेदेन विभज्य 'भोगो द्विविध' इत्यादिना लौकिकस्य त्याज्यत्वं 'तत्र लौकिके'त्यादिना निर्दिश्य प्रतिबन्धद्वैविध्यं वक्तुं 'प्रतिबन्धोपि द्विविध' इत्यादिना तत्स्वरूपं निर्दिश्य द्वयं विभजन्ते साधारणो भगवत्कृतश्चेति । तत्र साधारणो दुरदृष्टजन्यः, भगवत्कृतस्तु उत्तम मार्गं दृष्ट्वा सङ्गतः प्रवृत्तासुरमात्रविषयकः । न च तादृशस्य नात्र प्रवृत्तिरिति रागतः प्रवृत्तेरनिवार्यत्वात् भगवत्कृतसाधने वक्तव्यत्वात् तत्स्वरूपमात्रं निर्दिश्य साधारणमाद्यपदेनोहितस्य बुद्ध्या त्याज्य इत्याहुः । आद्यत्वं तु प्रतिबन्धकमे, बुद्धिस्तु सेवायामायतनस्य लौकिकवैदिकादेरनावश्यकसाकारणम्, आवश्यकस्य तु अनवसरे प्राग्वा करणम् । निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदेत्यस्य व्याख्यानमलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे विशतीति । अस्य व्याख्यानस्य व्याख्येयानुसारित्वाभावात् तदर्थमात्रप्रकाशकत्वाच्चादोषः । अक्षरार्थस्तु भोगो महान् स्वरूपतः फलतः साधनतश्चेति । स्वरूपं स्वरूपानन्दानुभवः । साधनं प्रभ्वनुग्रहः । निषयानन्दब्रह्मानन्दापेक्षया स्वरूपानन्दसोऽल्लङ्घ्यत्वात् । फलं तु 'सोऽश्रुते' इत्यादि प्रथमेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे फले विशते । निःप्रत्यूहं क्रियाविशेषणमेतत् । जायमान इति क्रियाध्याहर्तव्या । विशतौ विशेषणदानस्याप्रयोजकत्वात् तत्रापि विशेषणस्य संभवादर्थवत्ता, न च कश्चिद् व्यभिचारोस्ति । एतस्मिन् भोगे कालरुमादीनामविघातकत्वात् । अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्नहीत्यस्य व्याख्यानं भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यमिति । अक्षरार्थस्तु भगवतश्चेत् फलदानमकर्तव्यं सर्वथा न तदा गतिः प्रमुप्राप्तिः । अकर्तव्यतानिर्धारस्तु निरन्तरं सेवां कुर्वणस्याचिन्तितस्यापि लौकिकवैदिकादेर्मुहुरापतनात् । ननु भगवत्सेवासिद्धौ इतरसेवा भगवत्प्राप्त्यर्था कर्तव्येत्याशङ्क्याहुर्विवरणे तदान्येति । भगवत्कृतफलसंतरसाधनासाध्यत्वेन अनुग्रहमात्रसाध्यत्वेन च सेवायां प्रतिबन्धकरणादनुग्रहानिश्चयेन तत्साधनार्थं प्रयासस्य तदसाधकत्वात् व्यर्थतेत्याशयः । अत एवोक्तमासुरोऽयं जीव इति निर्धार इति । यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधने मत्तमेतस्य निवरणं तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तद्व्यं शोकाभावापेति । विवेक इति । ज्ञानमार्गश्च जीवब्रह्मणोरभेदज्ञानं जगन्मिथ्यात्वज्ञानं नित्यानित्यवस्तुविवेक इहामुनफलभोगविराग इत्यादिः । सांख्येन योगेन वा सिद्धिः, नौपनिषदः, तस्मिन्साख्यानविकारित्वात् । मूले वा शन्दोनादरे । इतोपि न ज्ञानमार्गीया मुक्तिरपि तु शोकात्मा एवेत्याहुः शोकाभावापेतिपदेन । कथमेवमिति चेत्, निबन्धायासुरी मतेति वाक्यादिति गृह्याण । भगवदर्थिनः पश्येन निरूपणमुचितम्, न प्रतिबन्ध-

निरूपणमित्याशंक्य त्यागार्थमेतन्निरूपितमित्याहुर्बाधकानां परित्याग इति । परित्यागस्तु साधनपरित्यागरूपः पूर्वमेवोक्तः । नन्वेवमलौकिकभोगस्यापि त्याज्यत्वमागतं, नेत्याहुर्भोगेष्वेकं परं विहाय । तथेति त्याग इत्यर्थः । बाधकानामिति वाच्यं सुगमत्वादन्याख्याय निष्प्रत्यूहमिति वाक्यस्य च अलौकिकभोगस्त्वित्यादिना पूर्वमेतद्व्याख्यातत्वात् तत्प्रतीकमपि अगृह्य सविघ्नोऽल्प इति वाच्यं व्याख्यातुमाभासयन्ति साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाहेति सविघ्नोऽल्पो घातकः स्यादिति प्रति-
 कग्रहणम् । तदर्थस्तु सविघ्नत्वात्प्रत्यघातकत्वादिभिर्हेयतावच्छेदकरूपावुक्तौ । द्वितीये सर्व इति वाच्यं विवृण्वन्ति । द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्ध इति । द्वितीयत्वं चात्र प्रतिबन्धक्रमेण बोद्ध-
 व्यम् । एवं द्वितीयपदमात्रं व्याख्याय कृत्स्नं वाच्यं व्याख्यातुमवतारयन्ति ज्ञानस्थि-
 त्यभावे चिन्ताभावाद्येमाहेति । द्वितीय इतीति स्पष्टत्वात् न व्याख्यातम् । भगव-
 त्कृतप्रतिबन्धे जायमाने संसृतेरवश्यभाविस्त्वेव फलान्तरस्यासंभवात् तद्विपरिणी चिन्ता
 नैव कर्तव्या, ध्यर्थत्वादित्यर्थः । नन्वाद्ये दातृता नास्तीति वाच्यव्याख्यानमाद्यफ-
 लाभावे भगवतो दातृत्वं नास्तीति । मूले आद्यपदं प्रतिबन्धकत्रये आद्यपरम् । तथा चाद्ये
 उद्देशे जायमाने सतीत्यर्थो बोध्यः । विवृत्तौ तु आद्यफलाभाव इत्यत्र फलाभावपदयोः प-
 ण्डीतत्पुरुषं विधाय समस्तस्य आद्यपदेन तृतीयातत्पुरुषो बोध्यः । आद्यफलस्य अभाव
 इति तु न प्रमितव्यम् । फलाभासस्याप्रत्यक्षत्वेन दातृत्वाभावे लिंगत्वासंभवात् । तथा च
 सेवायां क्रियमाणायाम् मनस उद्देशे जायमाने अमानसीत्वादानाधिदैविकीत्वसंपत्तौ शौ-
 तिक्याश्च फलाजनकत्वेन भगवतो दातृत्वाभावः स्पष्ट एव । प्रभोः का वा शक्तिर्मानसोद्दे-
 गनिवारणे यतः । तदेवोक्तं विवरणे तदा सेवाऽनाधिदैविकीत्युक्तं भवतीति । तृतीये
 बाधकं गृह्णमिति वाक्यस्य आशयं विवेचयन्ति । भोगाभावस्तदैव सिध्यति
 यदा गृहपरित्याग इति । तथा च मूले प्रतिबन्धकतृतीयापेक्षं तृतीयपदं बोध्यम् ।
 यदर्थमेतावन्निरूपितं तत्रयोजनमाहुरवश्येति । इयं फलत्रयी प्रतिबन्धकत्रयी चावस्था,
 न स्ववशा, भक्तिमार्गीयफलप्रतिबन्धानिधृत्वोर्भगवदधीनत्वात्, तथापि निरन्तरं भाव्या
 फलप्रतिबन्धयोः सङ्घेपारांघेपार्थम् । नन्वितोपि किञ्चिदफलान्तरं प्रतिबन्धान्तरं वा भक्तिमार्गी
 स्यादिति नेत्याहुः सर्वमन्यन्मनोभ्रम इति । मोक्षपापादेः फलत्वप्रतिबन्धकत्वयोरसं-
 भवादिति भावः । तथा च 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपी'ति 'विकर्म यच्चोत्पतित'मिति च भक्तिमार्गीय-
 सैतदेव फलम्, उत्तममध्यमसाधारणादिभेदेन । न च निरस्तसमस्तविशेषे कथं तारत-
 म्यमिति वाच्यम् । एतद्विना लीलात्रुपपत्तेः । तथा चोक्तम्, 'अहो मायागुणा विष्णोरा-
 कारश्चिच्छरीस्ता । निर्दोषत्वं तारतम्यं मुक्तानामपि चोच्यते' । 'मुक्ता अपि लीलाविग्रहं

सेवाफलम् टिप्पणसमेतम् ।

कृत्वा भजन्त' इति च । स्पष्टं चैतदाकरे । प्रभुसमर्पितदेहादेः फलनैयत्यात् न तेनैत-
द्भाव्यमिति नेत्याहुः तदीयैरपीति । तत्प्रतिबन्धकत्रयस्य फलत्रयस्य च भावनं कार्यम्, पु-
ष्टिमर्यादाश्च साधनद्वारैव फलनैयत्यात् । तथा चोक्तमाकरे 'स चिरकालोत्तेत्यारभ्य सुधां
ववर्ष तथैव सर्वत्र वर्षिष्यतीति न ज्ञातुं शक्यम्, अतो मर्यादया तद्भजनमेव सर्वेषां क-
र्तव्यत्वेन श्रेयमिति दिगित्यन्तेन । न चायं पुष्टिश्च एवेति वाच्यम् । तस्य फलविलंबा-
संभवादिति आहुः पुष्टौ नैव विलम्बयेदिति । फलं प्रसुरिति शेषः । एवं सत्वरजस्त-
मसां परस्परभिवनोद्रेकनिमित्तमनःखेदेपि एतद्भावनमेव कर्तव्यम्, तत एव भगवत्परे
चित्ते जायमाने मनःक्षोभनिवृत्तेः । क्षोभश्चायं फलविलंबादेव, नान्यस्मात् । अतस्तत्रापि
नान्यत्साधनं, किन्त्वेतदेव कर्तव्यमित्याहुः गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मति-
रिति । ननु भगवदीयत्वस्य फलावश्यंभावनियमात् फलविलम्बे च भगवदीयत्ववैय-
र्थ्यात् प्रतिबन्धानामसंभव एव, ततश्चैतन्निरूपणं व्यर्थमेवेति चेत्, इयं नाशंका, अपि
तु सिद्धान्ताधोधजग्रमजन्त्या कुसृष्टिरेवेत्याहुः कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्यते
स वै भ्रम इति । भ्रमत्वं तु खतधेच्छस्य प्रमोर्भक्तवैचित्र्यं विना लीलानुपपत्तेर्वैचित्र्य-
सावश्यवाच्यतया मर्यादापुष्टेरनोधत्वात् तादृशभक्तस्य च प्रतिबन्धफलविलम्बानामपरि-
हार्यत्वात् तस्य तथा निरूपणमनुचितमिति कथनस्य सिद्धान्तानवधोधविजृम्भितत्वात् पुष्टौ
नैव विलम्बयेदित्यादिनोक्तोप्यर्थोवसरे स्मारितः ।

वृष्ण्यन्ववायजलधिप्रविभूतचन्द्रश्चन्द्रावलीरमणकौशलमादधानः ।

राधाननेन्दुसुपमासृतपानमत्तो नन्दात्मजो हृदि तमोहृतये समेऽस्तु ॥ १ ॥

इति श्रीसेवाफलटीका ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् टिप्पणसमेतम् ।

बह्वभाचार्यचरणाः प्रसीदन्तु सदा मयि । यदाश्रयकधामात्रेऽप्यलिलाः पुष्टिसिद्धयः ॥ १ ॥
यद्यपीश्वराक्यार्थाः सतोऽज्ञेयास्तयाप्यहम् । सेवाफले टिप्पणं तत्कृपया बह्नुमुत्सहे ॥ २ ॥

अथ श्रीनरहभाचार्यनिरूपितं सेवाफलार्थं प्रकरणं तन्निरूपितयैव टीकया सहितं
मुगनल्लय विनियते । ग्राह्यतीति । यादृशी सेवा मया मुख्यसेवासाधनीभूता तदुवि-
द्यया सिद्धान्तमुक्ताप्लादिषु प्ररूपेणोक्ता तस्याः सिद्धौ परिणामदशायां इदामुन च य-
त्फल भानि तदुच्यते । अत्र फलमिति जालभिप्रायेणैकवचनम्, तेन फलत्रयमुक्तं भ-
यति । तदेवोक्त टीकायां सेपायां फलत्रयमित्यनेन । नन्वेकस्या एव सेवाया त्रिसदृशं
फलत्रयं कथं मन्त्रियुर्मर्तीति चेत्, इत्यम्, भगवानस्मिन् भक्तिमार्गे शुद्धपुष्टिमर्यादा-

पुष्टिप्रवाहपुष्टिभेदेन भक्तानंगीकरोति । तत्र शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यप्रकटितत्वात् साक्षात्पर-
म्पराभेदेन सद्यो विलम्बेन वा पुरुषोत्तमसम्बन्धावश्यंभावरूपः पुष्ट्यंशस्त्रिष्वप्यनुस्यूत
एव । इतरावग्रे वक्ष्यमाणबाधकसम्भवान्यथापत्यवधेयौ फलत्रयकथनेन च । साधन-
फलयोस्त्रिले वस्तुतो नियमिका विचित्रा तदिच्छैव । तथा च यं मत्तं यस्मिन्मार्गे भ-
गवानंगीकरोति तस्मै तदनुसारेण फलं प्रयच्छतीति न काप्यत्रानुपपत्तिः । अयं तत्रयं
किरूपमित्याकांक्षायामुच्यते । अलौकिककस्येत्यारभ्याधिकारो वेत्यन्तेन । तद्विर-
णमलौकिकसामर्थ्यमित्यादि वैकुण्ठादिष्वित्यन्तम् । अर्थस्तु भगवानलौकिकं लोकवेदातीतं
पूर्णं सर्वात्मभावैकलभ्यं फलं साधनरहितं यदा वरवत् दातुमिच्छति तदैव आद्यः फला-
प्यमिचरितपूर्वजन्मसंघंधी सकलफलाग्रगण्यो ब्रजभक्तसदृशो यो मनोरयः स सिध्येत् ।
तदवान्तरफलं अलौकिकसामर्थ्यं भजनानन्दानुभवयोग्यतारूपं सिध्यतीत्यर्थः । अत्र दि-
रसायां वक्तव्यायां दान इति सिद्धवन्निर्देशस्तु भगवतः स्वतन्त्रत्वात् तद्दानस्य नित्यत्वात्
निरपेक्षत्वादनंतत्वाच्च । तथा चास्मिन्नेव जन्मनि भगवान् साक्षात् स्पर्शदिसुखं कदा
कदाचित् तमनुभावयतीति इह लोक एव तेषां सकलपुरुषार्थाधिकफलसिद्धिर्भवति, किमु
वाच्यमग्र इति कैमुतिकन्यायेन आमुष्मिकफलसानिर्वचनीयत्वं सूचितम् । अत एव पुष्टि-
मार्गीयामुन्निकफलसात्र न स्फुटोक्तिः अनुक्तसिद्धत्वादवचनीयत्वाच्च । हि युक्तश्राय-
मर्थः । यत् परमोत्कृष्टं फलं भगवद्भक्तमेव प्राप्यते, नान्यथापीति । चकारस्त्वप्यर्थे ।
तथा चाद्योपि श्रेष्ठोपि जीवस्वरूपविचारे भवितुमयोग्योपि श्रीमदाचार्यपक्षपाताद्भगवता
दीयते चेत्, सिध्यत्येव, केन वा रोद्धव्यः, नान्यथापीति भावः । अल्प इति पाठे पुष्टि-
मार्गीयसाक्षाद्भगवत्संबन्धिफलभगम्यत्वात् जीवैर्मनोरथीकर्तुमपि न शक्यते । अतः फ-
लापेक्षया स्वल्पोपि मनोरयः भगवान् स्वानुरूपमेव फलं ददातीति पूर्ण एव सिध्यति,
न तु जीवविचारितरूपमात्र इत्यर्थः । इत्येकमविहितभक्तसदृशं फलमुक्तम् । विहितभक्त-
विहितं द्वितीयमाहुः फलं वेति । तद्विद्वृत्तिः सायुज्यमिति । सायुज्ये फलोक्तिस्तु लो-
कवेदयोस्तस्यैव फलत्वेन प्रसिद्धेः । तेन यं मर्यादापुष्टावंगीकरोति तस्मै 'मामेवैष्यसी-
त्यादिवाक्योपदिष्टं पुरुषोत्तमसायुज्यं पूयच्छतीत्यर्थः । तृतीयं फलमाहुः अधिकारो
वेति । तट्टीका सेवोपधिकदेहो वैकुण्ठादिष्विति । वैकुण्ठादिषु किञ्चित् परिचरणं कु-
र्वन् तिष्ठतीत्यर्थः । आदिपदान्नाभावपि जन्मान्तरान् चेदवशिष्टान् प्राप्नोति तदापि सेवा-
पर एव भवतीति ज्ञापितम् । अथवा देहाध्यासस्योक्तत्वात् जीवन्मुक्तो भवतीत्यर्थः । पु-
ष्ट्यंशस्य सत्त्वाद्ये यथाधिकारं पुरुषोत्तमसंबन्धो भावीति ज्ञेयम् । तदुक्तं सिद्धान्तमुक्ता-
वल्यां 'उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यतीति । यद्वा, यादृशीति पूर्ववत् । फले
त्रित्योक्तिरैहिकामुष्मिकामिप्रायायान्तरपरमफलाभिप्राया वा । वस्तुतः परमफले विहिता-
विहितभक्त्यधिकारके सायुज्यमजनानन्दरूपद्विविधे एव । तथा चैकमैहिकमवान्तरफलं

वा । अग्रे आमुष्मिकमधिकारिभेदेन द्विविधं परमफलमिति त्रैविध्यं फले । अत एव नि-
 वन्धे विहितभक्तानां सायुज्यमुक्तं, परमफलत्वेन, अविहितभक्तानां गोपिकादितुल्यानां भज-
 नानन्दरूपमेव । फलद्वैविध्ये कारणं, सर्वात्मभावतदितरभावसाध्यपदार्थतारतम्यज्ञापनमेव ।
 अथ कश्चिद्ब्रह्मिलस्तत्फलस्य द्विविधत्वे तत्रात्मी चान्यतरसेवैव वा भिन्नप्रकारा कारणम-
 स्त्विति वदति चेत्, तत्राहुः अलौकिकस्येति । इदं फलत्रयमप्यलौकिकं भवति, अत-
 स्तद्भवतैव दीयते चेत् प्राप्यते, नान्यथा । तत्रैकं प्रथमं फलमिह लोके एव भवति,
 इतरे त्वमुत्र । तत्राग्रिमफलद्वयस्य प्रत्येकं सूचकम् । ऐहिकफलेपि द्वैविध्यमाहुः आद्य
 इति । आद्यः सिध्येत्, मनोरथश्च सिध्येत् । अयमर्थः । यस्य सायुज्यं भावि स आद्यो
 मुख्यः भक्तिमार्गीयसकलसाधनसंपन्नो भवति । यस्य पुनः साक्षाच्छ्रीपुरुषोत्तमसंबन्धिमु-
 ख्यरसानुभवो भावी तस्य संन्यासनिर्णयोक्तप्रकारकातिविरहजवैकल्यादिसाहता परमार्ति-
 रूपाधिकारसंपत्तिर्भवति । अल्प इति पाठे अल्पस्तुच्छो दास इति यावत् । तथाच
 माहात्म्यपूर्वकेवलदासभावयुक्तो भवतीत्यर्थः । अग्रे पूर्ववत् । एवमवान्तरफलद्वयं
 निरूप्य अग्रिमपरमफलद्वयमाहुः फलं सायुज्यं वा पुरुषोत्तमस्य । अधिकारः
 सेवोपयिकदेहो वैकुण्ठादिषु वा । अत्र वैकुण्ठपदं लोकवेदप्रसिद्धभ्रमिप्रायेण ।
 वस्तुतस्तु ब्रह्मात्मके स्वधामनि । तथाच 'यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः' इति
 श्रुतिनिरूपिते परमपदे मुख्याधिकाररूपसाक्षाद्भजनानन्दालुभवयोग्यस्वरूपावाप्तिरूपः ।
 सिध्येदिति सर्वत्रारुपद्मः । आदिपदात् यवैव - साक्षात् पुष्टिपुरुषोत्तमसांनिध्यं
 तत्रैव सेवां कुर्वन् तिष्ठतीति ज्ञापितं भवति । यद्वा । आद्य इति । आदिपदेन अ-
 ग्रिमफलाधिकरणकस्थितपेक्षया प्राथमिकं सयोलुभ्यमानं जन्मोच्यते । तत्सम्बन्धी यो
 मनोरथः यथाधिकारमग्रिमफलविषयकामिलापरूपः स सिध्यतीत्यर्थः । पाठान्तरे तु पूर्वा-
 र्थवत् । इममेव सर्वमर्थमनुसन्धाय टीकायामुक्तमलौकिकसामर्थ्यमिति । सायुज्यप्रापकं
 भक्तिमार्गीयसाधनसम्पत्तिरूपं स्वरूपप्रापकं तद्रससहिष्णुतारूपं चेति । अत्र साधनफ-
 लयोः सम्पत्तौ कालकर्मादयो नियामका भविष्यन्तीत्याशङ्क्यामाहुः न कालोऽत्रेति ।
 सर्वोपजीव्यत्वात् काल एवोक्तः । तेन भगवदिच्छाव्यतिरिक्तः कोऽपि न नियामक इ-
 त्युक्तं भवति । तदत्र स्वच्छन्दचारित्वं भविष्यतीत्याशङ्क्य तन्निरासपूर्वकं साधनतया
 सिद्धिज्ञापनाय मध्ये अन्तरायोत्पत्तिमाहुः उद्येग इति । तस्य विवरणं सेवयामित्यारभ्य
 भोगो वेत्यन्तम् । एतत्रितयमपि पापकमस्ति । यथा तदनुत्पत्तिर्भवति तथा यतनीयमि-
 त्याशयः । ननु उद्येगप्रतिषन्धभोगाः क्रमेण मनोजन्मत्वात् दैवागतत्वात् क्षुदादिनिवर्त-
 कत्वाद्याशयपरिहारास्ते कर्म त्यक्तव्या इत्याशङ्कायां त्यागप्रकारमाहुः अग्रे साधकानां
 परित्याग इति । तटीका त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति । सिद्धाधेत्युक्तम-
 शय एव । अतस्तत्साधकस्तूनां त्यागे तदनुत्पत्तिर्भवतीत्यर्थः । अथ तेषु प्रत्येकं त्या-

ज्यात्याज्यभेदेन द्वैत्रिभ्यमस्तीति सामान्यतो वदन्तः प्रथमं त्याज्यवस्तुस्वरूपमाहुः अ-
 कर्तृरूपमिति । व्याकृतिः भगवत्कृतधेत् प्रतिबन्ध इत्यारभ्य विवेक इत्यन्ता । अर्थस्तु
 यत्कार्यं सर्वथा भगवान् कर्तुं नेच्छति तत्र यानद्द्विजन्तोदयं जीवैः दृष्टाद्योपायैः प्रयत्ने कृतेपि
 प्रतिबन्धराहित्यपूर्वकं तत्कार्यं न भिष्यति, तदा भगवत्कृतोऽयं प्रतिबन्धोऽयमित्यवधेयः ।
 तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम् । तदा अन्या तदनन्तरं कृता या सेना सा
 व्यर्था । यतः फलशून्या । तदा किं कर्तव्यं तेनेति प्रश्ने उच्यते । तदायं परिदृश्यमानो
 महक्षणी वा जीव आसुर इति मनसि निर्धार्यं ज्ञानमार्गेण वेदोक्तेन खेपम्, तत्र मयेयान्
 प्रयासः कृतस्तथापि क्रिमिति न स सिद्धिं प्राप्त इतिरूपखेदाभावाय हरिः सर्वं निजेच्छ-
 यैव करोति करिष्यति अकार्षीदित्येवं विवेकः कर्तव्य इत्यर्थः । अत्रामुत्त्वमावेशजन्यं
 ज्ञेयम् । अन्यथा सहजासुरस्य ज्ञानाघनधिकारित्वेन श्रीमदाचार्यास्तस्य कर्तव्यत्वं
 नोपदिशेयुः । तेनासुरत्व आवेशिसहजभेदेन द्विषिं ज्ञेयम् । द्वितीयमग्रे वक्ष्यंति
 द्वितीयेत्यनेन । अन्यथा पूर्वं विवेकः साधनं मतं इत्युक्तम्, अग्रे सर्वथा चिन्ता
 त्याज्येति वक्ष्यते तेनान्योन्य विरुद्धवाक्यकथनेन वदद्ब्याधातः प्रसज्येत । तथा च स-
 र्वथा भगवान् यत्कर्तुं नेच्छति तस्याचार्योक्तसकैतेर्भगवदीयद्वारा वा यथा तत्त्वनिर्धारो
 भवति तथा कृत्वा सर्वथा असाध्यत्वे ज्ञाते तदुपक्रम एव न कार्यः, किन्तु विवेकपूर्वकं
 खेयमित्यर्थः । अथ त्याज्यात्याज्यभेदान् तत्स्वरूपाणि च विनित्य प्रकटमाहुः भोगे-
 प्येकमित्यादि तृतीये धाथकं गृहमित्यन्तेन । तद्वास्तुमानं भोगो द्विविध इत्या-
 रभ्य आग्रन्यपरिसमाप्ति । अर्थस्तु योगप्रतिबन्धो लौकिकालौकिकभेदेन साधारणभगव-
 त्कृतभेदेन च प्रत्येकं द्विविधो । तत्र लौकिको भोगः स्वच्छन्दतया यथेष्टं सर्वेन्द्रियसंतर्प-
 णादिरूपः । स सर्वथा त्याज्यः । तदुक्तं श्रीमदाचार्यैः 'स्वयमिन्द्रियकार्याणि', 'विपया-
 क्कान्तदेहाना'मित्यादिवाक्यैः । साधारणप्रतिबन्धस्तु वैवर्गिकायासासकत्वादिरूपः, सोपि
 तथा । एतस्य भगवद्दर्मापेक्षयातिनिर्वलत्वेन सेवाघासकस्य वृथा कालक्षेपजनकत्वमस्ति ।
 तदुक्तं 'तावत्कर्माणि कुर्वति' 'मत्कर्म कुर्वतां पूसा'मित्यादिवाक्यैः । ननु तर्हि
 धर्मादिशास्त्रमयवैयर्थ्यं स्यादिति चेत् । न । यतो बुद्ध्वैत्युक्त टीकायाम् । लोकसंग्रहा-
 र्थकरणाभिप्रायेण । तदेव गीतायामुक्तं 'सक्ताः कर्मण्यविद्वांस' इति । अन्यथा तत्तत्प्रियत-
 कारणकमेव फलं स्यात्, नैतन्मार्गायम् । अथालौकिकभोगस्तु वस्तुमानस्य भगवदुप-
 योगे तदयोग्यत्वे च जाते तद्वत्प्रसादत्वेन स्वोपयोगादिरूपः, स न त्याज्यः । यतः स
 भोगः फलानां मध्ये प्रथमफलेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे प्रविशति, तदङ्गतां प्राप्नोति । काय-
 वाग्मनःशोधकत्वात्, स्वधर्मत्वाच्च । तदुक्तं 'तस्योपमुक्तस्रग्भ्ये'त्यादिवाक्यैः । 'यत्क-
 रोपि यदश्वासि' 'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा' इत्यादिभिर्भोगस्य यथाकथञ्चित् कर्तव्य-
 तास्युक्ता । द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धः, स स्वरूपतः फलतश्च पूर्वमुपपादितः । नन्व-

सामर्थ्यरूपं फलमुच्यते । यतो हि निश्चितम् । अलौकिकसामर्थ्यस्य दाने सति तनुवित्तजा-
सेवाप्रारम्भे जातो यो मनोरथः ममानया सेवया मानसीसेवा सिध्यत्वेवरूपः स सिध्येत्,
अत इदं फलमङ्गभूतमुच्यते । अथवा सायुज्यं फलमङ्गभूतमुच्यते । अथवा साक्षात्सेवोपयो-
ग्यधिकाररूपदेहोद्भूतं फलगुच्यते । यत एतयोरपि दाने प्रथमं जातो मनोरथः सिध्येत्,
नान्यथा । तस्मादेतयोरपि मानसीसेवायामङ्गभूतत्वम् । अस्मिन् फलत्रये कालो न नियामकः
संपादको न भवति । यतः पुष्टिमार्गीयदैवजीवे मानसीसेवार्थं भगवदुत्पादितमेवैतत्फलत्रयम् ।

एवं मानसीसेवायामङ्गभूतं फलत्रयमुपपाद्य मानसीसेवायां प्रतिबन्धकत्रयमुप-
पादयन्ति सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम् । तदेव विशदयन्ति उद्वेग इति । मानसी-
सेवायां तु उद्वेगः बाधकं भवेत् । अथवा प्रतिबन्धः बाधकं भवेत् । भोगो वा बाधकं
भवेत् । एवं बाधकत्रयं सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम् । तुशब्दीन्यव्यावृत्त्यर्थम् । बाधकानां
परित्याग इति । बाधकत्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । भोगो द्विविधः । लौकि-
कोऽलौकिकश्च । द्विविधेषु भोगे एकं लौकिकभोगरूपं बाधकं तथा त्याज्यम् । अपरं
द्वितीयमलौकिकभोगस्वरूपं निष्प्रत्यहं निर्विघ्नं भगवतैव निर्वाहात् । स अलौकिकभो-
गस्तु महान् भोगः सदा निरन्तरं सर्वेन्द्रियाणां भगवत्परतारूपः । फलत्रयाणां मध्ये
प्रथमे फलेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे प्रविशति । अतो न त्यक्तुं योग्यः । प्रतिबन्धोपि द्विविधः ।
साधारणो भगवत्कृतश्च । तत्र प्रतिबन्धद्वये आद्यः साधारणः बुद्ध्या उपायेन त्याज्यः ।
भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम् । तदेवाहुः अक-
र्तव्यमिति । भगवतो जीवकर्तृकं भजनं कर्तुमयोग्यं चेत्तदा सर्वप्रकारेण गतिर्नहि ।
फलं नेति निश्चयः । यदा भगवत्कृतप्रतिबन्धः सर्वथा निवारयितुमयोग्यस्तदा तत्प्रति-
बन्धनिवारणार्थं कृता या अन्यदेवतासेवा सापि व्यर्था । अन्यफलदायिणामपि देवानां
भगवदधीनानां भगवत्कृतप्रतिबन्धानिवारकत्वात् । किञ्च, यदा भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तदा
आसुरोयं जीव इति निर्धारः । अयं जीवो दैवः पुष्टिमार्गीयजीववत् सेवादिना प्रती-
यमानोऽप्यासुर इति निर्धारः । दैवजीवे भगवत्कृतप्रतिबन्धासंभवात् । ननु यदा भक्ति-
मार्गीयभजने भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तदा शोकाभावाय तेन किं कार्यमित्याकांक्षायामाहुः
यथा वेति । वेलनादरे । यथा येन प्रकारेण वेदान्तश्रवणादिना अन्येनापि येन केन-
चित्प्रकारेण तत्त्वनिर्धारः स्वरूपनिर्धारो भवति तेन प्रकारेण तस्य विवेकः साधनं संमतम् ।
विवेकस्वरूपं तदेव विवृतं तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तस्यम्, शोकाभावायेति विवेकः । यदा
भक्तिमार्गीयभजने भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तदा शोकाभावाय ज्ञानमार्गेण मया स्यात्तस्यमिति
विवेकरूपं साधनम् । साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाहुः स्वधिमोल्पो
घातकः स्यादिति । सन्निगत्वाद्दल्पत्वाद्भावविपातकत्वात् साधारणो भोगस्त्याज्यः ।
पलायेतौ सदा मती । एतौ साधारणप्रतिबन्धसाधारणभोगरूपौ-सदाप्रतिबन्धकौ संमतारत-

स्वाज्यौ । द्वितीय इति । द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तस्मिन् सति ज्ञानमार्गेणापि स्थित्य-
संभवे चिन्ता भवति । तदभावार्थमाहुः द्वितीय इति । ज्ञानमार्गेणापि स्थितौ भगवत्कृ-
तप्रतिबन्धे सर्वथा चिन्ता त्याज्या । संसारनिश्चयात् । सर्वत्र भगवत्कृतप्रतिबन्धादयं जीव
आसुर इत्यस्य संसार एव भवति, नतूद्धार इति निर्धारात् सर्वथा चिन्ता त्याज्या । भगव-
त्कृतप्रतिबन्धस्य ज्ञापकमाहुः नन्वाद्य इति । नन्विति विरोधोक्तौ । दैवजीवे सर्वेन्द्रियाणां
भगवत्परत्वं, तेन तत्कृता सेवा आधिदैविकी, आधिदैविको भगवान् तत्संबन्धिनी भवति ।
आसुरजीवे भगवत्कृतप्रतिबन्धादाद्यफलाभावे सर्वेन्द्रियाणां भगवत्परत्वाभावे सति तत्र
भगवतः फलदातृत्वं नास्ति । तदा तत्कृता सेवा नाधिदैविकी भगवत्संबन्धिनी न भवती-
त्युक्तं भवति । तस्य प्रपञ्चासक्तत्वात् । तृतीय इति । ननु तृतीये-भोगाभावे बाधकं
गृहम् । भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्यागः । अचक्षुष्यमिति । इयं फलत्रयी
प्रतिबन्धकामावत्रयी अवश्या, न स्वशक्या । तथापि भाव्या विचारणीया । मम फलत्रयं
भवतु, प्रतिबन्धकामावत्रयं भवतु, एवं विचारणीया । फलत्रयप्रतिबन्धकामावत्रयाम्याम-
न्यत् सर्वं फलभावनं प्रतिबन्धकभावनं स्वान्तर्ग्रान्तिरित्यर्थः । ननु पुष्टिमार्गीयाणां किमर्थं
भावनं, तं विनैव फलसिद्धेरित्याशंकायामाहुः तदीयैरिति । पुष्टिमार्गीयैरप्येतद्भावनं का-
यैम् । एतद्भावने भगवान् पुष्टिमार्गे फलदाने विलम्बं न करोत्येव । अतः पुष्टिमार्गीया-
णामेतद्भावने शीघ्रं फलं भवत्यतस्तैरपि भावनं कार्यम् । ननु सत्त्वादिप्राकृतगुणकृतचित्त-
क्षोभे सति कयं भावनं कार्यं तत्राहुः गुणक्षोभेपीति । चित्तस्य गुणत्रयकृतक्षो-
भेप्येतदेव फलप्रतिबन्धकत्रयप्राप्तिनिवृत्तिभावनं तन्निवारणे साधनरूपं द्रष्टव्यम् । एत-
द्भावनयैव गुणत्रयक्षोभोपि नश्यतीति मे मतिः । एवंप्रकारिका मम बुद्धिः । कुसृष्टिरिति ।
अत्रैतद्भावनकृतगुणत्रयक्षोभनिवारणे काचित् कुसृष्टिरेतद्भावनयैव गुणत्रयकृतक्षोभो नश्य-
तीति कयं, गुणत्रयकृतक्षोभनिवारणे साधनान्तराण्यपि भविष्यन्तीत्येवंरूपानुपपत्तिरुत्पद्यते
चेत्, निश्चयेन स वै भ्रमः । स्वान्तर्ग्रान्तिः । अत्र न काप्यनुपपत्तिरिति दिक् ।

इति श्रीसेवाफलविवृतिप्रकाशः ।

निषिद्धसुखत्यागी पशुरेवेति न्यायेन साधारणो भोगः किमर्थं त्यक्तव्यः, तत्राहुः सवि-
 श्रेति । अस्य टीका सविघ्नत्वादादिप्रतिबन्धेत्यन्ता । अर्थः सविघ्नत्वात् बहुन्तरायवत्त्वात्
 तत्रापि स्वरूपतः कालतश्च स्वल्पत्वात् घातकोयं लाज्य एवेत्यर्थः । तथाच साधारणभो-
 गभगवत्कृतप्रतिबन्धौ प्रसङ्ग फलाभावजनकौ । यतस्तौ मतौ संमतौ न, प्रतिबन्धक-
 त्वात् । अथवा मतौ प्रतिबन्धकत्वेन संमतावित्यर्थः । तत्र तयोराद्यः स्वसाध्यत्वात् त्याज्य
 एव । इतरोसाध्यत्वात् मर्यादामार्गेण स्थित्वा सोढव्य इति । पूर्वं यदुक्तं तत् 'प्रवृत्तिं च
 निवृत्तिं चे'त्यादिमगवद्वाक्यैः सहजासुरेषु मर्यादामार्गोपि याथातथ्येन न सिध्यतीति
 ज्ञानस्थित्यभावेत्याभासेनानूद्य तेषां कर्तव्यमाहुः द्वितीयेति । द्वितीये वाधके भगव-
 द्कृतप्रतिबन्धे, अथवा द्वितीये आसुरत्वे साहजिके जाते फलविपयिणी चिन्ता साधनान्वे-
 पणं न कर्तव्यम् । यतः फलं तस्यैतन्मार्गीयं न भवत्येव । तर्हि तस्य किं भवतीति प्रश्ने
 आहुः संसारेति । तस्याविघ्नकोऽहंममात्मकः संसार एव भवति, अग्रेपि तदनुसारेणैव
 फलम्, नान्यदपीत्यर्थः । नन्वन्यथाधकद्वये द्विरूपत्वं विविच्योक्तं नत्वादिनैतत्कुतः इ-
 त्यत्राहुः नत्वाद्य इति । तटीका आद्य इति । आद्यो यः फलस्वाभावो यस्मादिति फल-
 भावः प्रतिबन्ध उद्वेग इति यावत् । स यद्यपि साहजिकदुःसङ्गकृतभेदेन द्विविधोऽस्ति त-
 द्दशात्तत्र चित्तशुद्धभावेन कदाचित् स्वधर्मत्यागनिन्दादिकमपि भवति, तथापि द्वैविध्येपि
 भगवान् सर्वार्थमना फलं नैव संपादयतीति न, किन्तु किञ्चिद्भूनाधिकं भवत्येव । अत-
 स्त्र भगवतोऽदातृत्वं फलविपयकं नास्ति, किन्त्वग्रिमजन्मान्तरेषु फलमुत्तमं मध्यमं वा
 भवत्येवेत्यर्थः । तदेवोक्तं निबन्धे 'अत्रापि वेदनिन्दायामधर्मकरणात्तथा । नरके न भवेत्पातः
 किन्तु हीनेषु जायते । पूर्वसंस्कारतस्तत्र भजन्नुच्येत जन्मभिरिति । तर्हि सद्यस्तस्य
 किं भवतीत्याकांक्षायामाहुस्तदेति । तदा तनुचित्तजा सेवा आधिदैविकी न भवति ।
 यसां कदा कदाचित् साक्षात्स्वरूपाणुभवः सर्वदा तत्सङ्गमार्थं परमार्तिश्च नियता तादृशी
 साम्प्रतं न भवतीत्यर्थः । अथ लौकिकभोगत्यागप्रकारमाहुः तृतीय इति । तत्राकृति-
 भोगमाव इति । एहे त्यक्ते तदधीनत्वात् सोपि त्यक्तो भवतीत्यर्थः । अथ अवश्येत्याद्य-
 वशिष्टमूलध्यास्याः श्रीगदाचार्यकृता न लभ्यत इति तद्गद्याख्यायते । इयं सेवा सदा
 अवस्था जीवकृत्यसाध्यैति भावनीया । अथमाशयोऽत्र । तस्याः कृतौ स्वस्य कर्तृत्वामि-
 माने जाते कृताप्यकृतप्राया भवतीति भगवत्येव सर्वं भारं निक्षिप्य तदिच्छेयैव सर्वं सम्प-
 दत इति निश्चित्य तत्परतया श्रेयमिति । तदुक्तं 'अशक्ये वा सुशक्ये वे'त्यादिवाक्यैः ।
 एतदन्यप्रकारा भावना मनोन्नमरूपा । यदा । इयं सेवा सदा अवस्था, जीवकृत्यसाध्या
 माध्या च, भावसम्बन्धिनी तत्प्रधाना च ज्ञेयेति शेषः । एतस्मादन्यजीवसाध्यत्वविष्यधी-
 नत्वज्ञानं मनसो भ्रमः । इति संक्षिप्य सेवास्वरूपमापातन उक्तम् । एवं स्वरूपमुक्त्वा
 तस्मा एतदकारेणैव ज्ञानं कर्तव्यतां प्राज्ञापयति तदीयेरिति । अत्राप्रस्तुतत्वेन प्रतीय-

मानोप्यपिशब्द एतत्प्रकारकज्ञानविशिष्टत्वमाक्षिपति । तथाचैवं ज्ञानपूर्णेतरपि तन्मदुक्तमेव कार्यम्, नान्यदित्यर्थः । नन्वन्यमार्गाद्वये ययोक्तकरणं युक्तं, लोकवेदानुसारित्वात्, न तु शुद्धपुष्टी, लोकवेदातीतत्वात् । अतस्तत्र ययोक्तकरणं नोपदिश्यत इति चेत्, तत्राहुः पुष्टाविति । एवकारेण विचारान्तराभावपूर्वकमवश्यकर्तव्यत्वं सूच्यते । तथा च पुष्टि-मार्गे एतदुक्ताचरणे विलम्बो न कार्यः । यतस्तत्र मार्गाचार्यप्राधान्यमेवोत्कर्षः, तदेव च निर्वहति । तथाकरणेनैव भगवान् प्रसीदति, नान्यथा । अतस्तादृशदुक्तकरणे सर्वथा विलम्बो न कार्यः । ननु पूर्वं यदुक्तं भगवत्कृतप्रतिबन्धसंभवे तत् सोढा स्वयमिति, तत्र युक्तम्, यतस्तपोऽनशनदेहाभिघातादिभिराग्रहे क्रियमाणे देवव्रतादेरिवास्यापि प्रतिज्ञा-पालनं भगवान् करोत्येवेति चेत्, तत्राहुः गुणेति । गुणानां सत्त्वादीनां क्षोभेऽतिक्रान्त-मर्यादत्वे जाते अर्थात् गुणाधिक्येन क्रोधमदमात्सर्यादिविकारसंभवेपि स्वामाविकं त्यक्त्वा मदुक्तमेव कार्यमित्यर्थः । दर्शनमालोचनज्ञानं दृष्ट्वा कर्तव्यमित्यर्थः । तत्र प्रमाणं मे मतिरिति । पूर्वं यदाक्षिप्तं तत्सर्वं सगुणभाववद्भक्तकृत्यम्, मदीयास्तु निर्गुणभावा इति तैर्मदुक्तमेव विधेयम् । तत्राज्ञानमन्ययाज्ञानं च वारयन्ति कुसृष्टिरिति । अत्र मदुक्तौ या कुसृष्टिर्हेतुवादादिरूपयेत स वै निश्चयेन भ्रम एव । श्रीमदाचार्योपदिष्टप्रकारेषु यत्प्र-माणान्तरान्वेषणं तद्भ्रमरूपमेवेति दिक् ।

इति सेवाफले मूले टीकायां च कृतं मया । टिप्पणं श्रीमदाचार्यपदपञ्चानुसारिणा ॥ १ ॥

इति श्रीसेवाफलटिप्पणम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् विवृतिप्रकाशसहितम् ।

प्रणम्य पुष्टिमार्गायिं सस्रतुं बलमं प्रसुम् । सेवाफलस्य विवृतिप्रकाशः क्रियते मया ॥ १ ॥
श्रीमदाचार्याः पुष्टिमार्गायिदैवजीवानां मानसीसेवासिद्धावद्भूमतं फलत्रयं प्रतिब-
न्धकत्रयं तदमार्यं च प्रतिपादयन्ति सेवायां फलत्रयमिति । मानसीसेवायामद्भूमतं
तनुवित्तजासेवासाध्यं फलत्रयम् । अलौकिकसामर्थ्यं सर्वेन्द्रियाणां भगवत्परतारू-
पमेकं फलम् । सायुज्यं सह युनक्तीति सयुक्, सयुजो भावः सायुज्यम्, व्यसनभा-
वानन्तरं देहनाशकेन विगाढभावेनान्यस्कृतिराहित्यपूर्वकं भगवता सह योगः द्वितीयं
फलम् । सेवोपयोगिदेहो चैकृण्ठादिषु । यथा यैकृण्ठव्रजादिषु साक्षात् सेवोप-
योगिदेहस्तथा देहो मानसीसेवायामधिकाररूपस्तृतीयं फलम् । एतत्फलत्रयमेव सार्ध-
श्लोकेन प्रतिपादयन्ति पाददृशीति । याद्व्यप्रकारिका मानसी सेवा 'ता नाविद'न्नित्यादि-
वाक्यैर्भगवता प्रोक्ता तत्सिद्धावद्भूमतं येन विना यन्न संभवति तत्तदद्भमेतादृश्यमलौकिक-

परिशिष्टम् ।

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	पाठः	पाठान्तरम् ।
५	३९	सद्विषयकः	सिद्धिविषयकः
६	८	दर्शनसेवायाम्	दर्शने सेवायाम्
६	२२	अलौकिकसाधन	अलौकिकभोगसाधन
७	५	द्विविध इत्यनन्तरम्,	लौकिकोऽलौकिकश्च । तत्र लौकिकस्याज्य एव । प्रतिबन्धो द्विविधो ।
८	२५	द्रवादस्य	द्रवश्चा
१९	३	प्रयत्नसम्भवेन ।	प्रयत्नासम्भवेन ।
२२	१९	तद्वैयर्थ्य-	तद्वैयर्थ्य-

श्रीबलभगोस्वामिनां टीकाया मुद्रणानन्तरं प्रभुकृपयास्माभिस्तेषां टीकायाः द्वितीया प्रतिः प्राप्ता । सा टीका श्रीबलभगोस्वामिभिः पुनर्लिखिता, इति प्रतिभाति । तन्मध्ये तैः प्रथमटीकापेक्षया केषु केषु स्थलेषु किञ्चिदधिकं लिखितम्, तदत्र वाचकानां जिज्ञासा-तृप्त्यर्थं ग्रन्थरक्षणार्थं चावतार्यते ।

पृष्ठ २३, पङ्क्ति १२, सर्वाभोग्यसुधानन्तरमिदमधिकं वाचनीयम्—‘फलरूपापीयं भगवता साधनतामापादितेति वेणुगीते निरूपितमतोऽलौकिकत्वम् ।’

पृष्ठ २३, पङ्क्ति २४, सेवोपयोगिदेहो—इत्यस्मानन्तरं ‘इति यस्य देहस्य सेवायामेवोपयोगः, अन्यदावयवा अप्रकटा एव स इत्यर्थः । यत्र स्वरूपानन्ददानम्, तत्र फलत्रयमपि, यत्र धर्मभूतानन्ददानम्, स्वयमग्रधानीभूय, तत्र फलद्वयम्, यत्र स्वप्राधान्येन धर्मभूतानन्ददानम्, तत्र सेवोपयोगिदेहगात्रदानमिति ज्ञेयम्’ इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २३, पङ्क्ति २७, लभन्ते—इत्यस्मानन्तरं ‘इमान्येव फलरूपात्मनिवेदनसख्य-दासानि ज्ञेयानि’ इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति ३, भोगः—इत्यस्मानन्तरं ‘भगवदुपयोगिवस्तुपरतायाः प्रति-बन्धकत्वाभावादत्र यद्दम्बुजाक्षेतिश्लोकव्याख्यातः सर्वथा भगवन्तमप्रपन्नः अन्यपदार्यो ज्ञेयः । अप्रपन्नो ननुगतो भगवदुपयोगीति यावत् । नवरत्ने चित्तोद्देगमित्यसामासे चित्तस्य पुत्रादिपरता उद्देगपदार्यो निरूपितः । अन्यपरतेतियावत् । तत्र्यायेन त्रयमपीदं ज्ञेयम् ।’ इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति ५, मूलार्थः—इत्यस्मानन्तरं ‘तत्र द्वयं साक्षात्तद्वाचकं प्रतिबन्ध-रूपम्, एकं च तदाधारस्य साधनस्य धाधेन पापकमिति भेदो ज्ञेयः । सामर्थ्यस्य धाधकयनेन सामर्थ्योत्पत्तेः पूर्वमेतत्सम्भवे सामर्थ्यं नोत्पद्येतेति सिद्धमेवेति गावः । नवरत्ने

तयानिरूपणाद्विदेनपदार्थनाशमाद्येपि तद्वाधस्तु स्यादिति तुशब्दः । तेन जन्मान्तर-
 प्यवधानं भवतीति निबन्धे निरूपितमिति भावः । सामर्थ्यवाधश्च तद्वेतुभूताभ्यासवाधेन
 सेवानम्यस्ता भवतीत्यर्थः ।' इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति ७, लौकिकभोगानाम्—इत्यस्यानन्तरं 'वाधकत्वात्तत्साधनपरि-
 त्यागः कर्तव्यः । मनोदेहेन्द्रियाणि च भगवदसम्बन्धिषु न प्रवर्तनीयानि । तथा सति तेषां
 तत्परता भवति 'विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विपज्रत' इति वाक्यादिति भावः । साधन-
 परित्यागं विवृण्वतो' इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति १२, भोगः—इत्यस्यानन्तरं 'लौकिकस्त्याज्य इति । सिद्धान्त-
 रहस्योक्तप्रकारेण यथासम्भवं भगवदुपयोगं सम्पाद्य भोगः कर्तव्य इत्यर्थः । प्रतिबन्ध
 इति । श्रवणकीर्तनादिना हरिश्रेद्धृदयं निविशते तदा पूजा सर्वदा निर्वहति । एवं जाते
 ततः कार्यान्तरवशाज्जाता तनोरन्यपरता साधारणः प्रतिबन्धः । क्रियमाणेषु श्रवणकीर्त-
 नादौ हरिश्रेन्न निविशेत्तदाभ्यासो न भवति । तेन जाता तनोरन्यपरता या स भगव-
 क्तप्रतिबन्धः ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति १३, विभावनीयेत्यर्थः—इत्यस्यानन्तरं 'बुद्धिर्वा तत्र न स्थाप-
 नीया । यत्नकरणेषु तदनुचिन्तनं न कर्तव्यमित्यर्थः । अलौकिकभोगो न त्याज्य इत्या-
 शयेनाहुः अलौकिकेति ।' इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति २०, प्रतिबन्धः—इत्यस्यानन्तरं 'ध्रुवस्य गता भक्तिः कुबेरेण
 सिद्धेति चतुर्थस्कन्धे निरूपितं तथात्राप्याशङ्क्य नेत्याहुः तदेति' इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति २२, बोध्यम्—इत्यस्यानन्तरं 'ननु दुरदृष्टनाशनार्थं कात्यायनी-
 पूजेति कात्यायनीपदनिरुक्ता सुषोधिण्यां निरूपितम्, दुरदृष्टस्य भगवत्कृतप्रतिबन्धत्वं च
 तत्रैव निरूपितम् । यदि भगवदिच्छयैवेति । स्वेच्छामप्येतदनुगुणां करिष्यतीति च ।
 तथा च कथमन्यसेवावैयर्थ्यमित्यत आहुरयमिति । लीलास्थेषु रसविशेषानुभवार्थं भगवता
 प्रतिबन्धः सम्पाद्यते न त्वासुरत्वं तेषु । आधुनिकीयं त्वासुर एव भगवता प्रतिबन्धयुक्तः
 क्रियते, तदा तु फलाभावनिश्चयात् साधनवैयर्थ्यमिति भावः ।' इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २५, पङ्क्ति १७, बाधकत्वाभावात्—इत्यस्यानन्तरं 'विद्यमानमप्यदृष्टं तस्य
 दुर्बलम् । अत एव प्रारब्धभोजनार्थं प्रमुक्षेदिलम्बत इत्युक्तम् । लोकवेदस्वास्थ्यं हरिर्न
 करिष्यतीति चोक्तम् ।' इत्यधिकम् ।

पृष्ठ	३२	पङ्क्ति	११	दृढाद्	दृढात्
"	३२	"	२८	सा	स
"	९५	"	२१	विवरणे	वरणे